UGSY-04

सामाजिक स्तरीकरण

उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय,
प्रयागराज

खण्ड – एक : सिद्धान्त तथा संकल्पनाएँ 03–94

इकाई 1 : सामाजिक स्तरीकरण-I

इकाई 2 : सामाजिक स्तरीकरण-II

इकाई 3 : प्रस्थिति तथा वर्ग की संकल्पनाएँ

इकाई 4 : वर्ग तथा शक्ति की संकल्पनाएँ

इकाई 5 : शक्ति, प्रजाति, लिंग तथा स्तरीकरण

खण्ड – दो : समाजों में स्तरीकरण 95–146

इकाई 6 : पूर्व आधुनिक समाजों में स्तरीकरण

इकाई 7 : आधुनिक समाजों में स्तरीकरण

इकाई 8 : व्यावसायिक क्रमविन्यास

इकाई 9 : विचारधारा तथा स्तरीकरण : श्रेणीबद्ध एवं समानता

खण्ड – तीन : सामाजिक गतिशीलता 147–194

इकाई 10 : सामाजिक गतिशीलता : अवधारणा एवं मापन

इकाई 11 : पूर्व आधुनिक समाजों में सामाजिक गतिशीलता

इकाई 12 : आधुनिक समाजों में सामाजिक गतिशीलता

इकाई 13 : व्यवसाय, शिक्षा एवं सामाजिक गतिशीलता

खण्ड – चार : भारतीय समाज में स्तरीकरण 195–272

इकाई 14 : जनजातीय समाजों में स्तरण

इकाई 15 : भारतीय समाज में जाति एवं समुदाय : ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य

इकाई 16 : वर्ण और जाति

इकाई 17 : सोपानात्मक व्यवस्था के रूप में जाति

खण्ड–पाँच : भारत में जाति अध्ययन के उपागम 273–336

इकाई 18 : जाति के गुण–धर्मात्मक उपागम-I

इकाई 19 : जाति के गुण–धर्मात्मक उपागम-II

इकाई 20 : जाति के अन्तः क्रियात्मक उपागम-I

इकाई 21 : जाति के अन्तः क्रियात्मक उपागम-II

इकाई 22 : जाति एवं गतिशीलता

इकाई 23 : पृथक्करण एवं अस्पृश्यता

खण्ड – छः : भारतीय वर्ग संरचना 337–386

इकाई 24 : कृषक वर्ग संरचना–भूस्वामी, पट्टेदार और श्रमिक

इकाई 25 : कृषक वर्ग संरचना और परिवर्तन

इकाई 26 : नगरीय वर्ग संरचना-I श्रमिक वर्ग

इकाई 27 : नगरीय वर्ग संरचना-I मध्यम वर्ग

इकाई 28 : नगरीय वर्ग संरचना-II श्रमिक वर्ग

इकाई 29 : अभिजन और शक्ति की असमानता

खण्ड – सात : शिक्षा, सामाजिक गतिशीलता और सामाजिक परिवर्तन 387–436

इकाई 30 : सामाजिक स्तरीकरण और शिक्षा

इकाई 31 : वर्गीय स्तरीकरण और सामाजिक गतिशीलता

इकाई 32 : सामाजिक स्तरीकरण और सामाजिक परिवर्तन

UGSY-04

सामाजिक स्तरीकरण

उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय,
प्रयागराज

खण्ड – 1

सिद्धान्त तथा संकल्पनाएँ

इकाई – 1 **05–26**

सामाजिक स्तरीकरण-**I**

इकाई – 2 **27–48**
सामाजिक स्तरीकरण-**II**

इकाई – 3 **49–70**
प्रस्थिति तथा वर्ग की संकल्पनाएँ

इकाई – 4 **71–84**

वर्ग तथा शक्ति की संकल्पनाएँ

इकाई – 5 **85–94**
शक्ति, प्रजाति, लिंग तथा स्तरीकरण

उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय

उत्तर प्रदेश प्रयागराज

परामर्श समिति

प्रो0 के0 एन0 सिंह (अध्यक्ष) — कुलपति, उ0प्र0 राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज

डॉ० ए० के० गुप्ता — कुलसचिव, उ0प्र0 राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज

सम्पादक

प्रो0 संजय सिंह (अध्यक्ष) — समाजशास्त्रए डॉ० राम मनोहर लोहिया राष्ट्रीय विधि, विश्वविद्यालय, लखनऊ

पाठ्यक्रम निर्माण समिति (अध्ययन बोर्ड)

1. डॉ० एम० एन० सिंह – पूर्व निदेशक, समाज विज्ञान विद्याशाखा, उ0प्र0 राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज
2. डॉ० इति तिवारी – पूर्व एसो० प्रोफेसर समाज विज्ञान विद्याशाखा, उ0प्र0 राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज
3. श्री रमेश चन्द्र यादव – शैक्षणिक परामर्शदाता, समाजशास्त्र, समाज विज्ञान विद्यशाखा, उ0प्र0 राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज

UGSY-04– समाजिक स्तरीकरण

लेखक–

1. डॉ० इति तिवारी – पूर्व एसो० प्रोफेसर समाज विज्ञान विद्याशाखा, उ0प्र0 राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज
2. श्री रमेश चन्द्र यादव – शैक्षणिक परामर्शदाता, समाजशास्त्र, समाज विज्ञान विद्याशाखा, उ0प्र0 राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज
3. डॉ० शैलजा सिंह एसो० – प्रोफेसर, डॉ० शकुन्तला मिश्रा राष्ट्रीय पुनर्वास विश्वविद्यालय, लखनऊ
4. डॉ० विजय कुमार वर्मा – असि० प्रोफेसर, डॉ० शकुन्तला मिश्रा राष्ट्रीय पुनर्वास विश्वविद्यालय, लखनऊ
5. डॉ० विलोक सिंह – असि० प्रोफेसर, स्वामी सहजानन्द पी०जी० कालेज, गाजीपुर (उ०प्र०)
6. श्री अजय कुमार त्रिपाठी – जे० एन० पी०जी० कालेज, लखनऊ
7. डॉ० जया द्विवेदी तिवारी – अवध गर्ल्स डिग्री कालेज, लखनऊ
8. डॉ० श्वेता तिवारी ए०पी० – सेन गर्ल्स मेमोरियल पी०जी० कालेज, लखनऊ
9. डॉ० मपीन्द्र कुमार तिवारी – डी०ए०वी० कालेज, लखनऊ

2020 (मुद्रित)

© उ0प्र0 प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज 2020

ISBN- 978-93-83328-41-3

सर्वाधिक सुरक्षित। इस सामग्री के किसी भी अंश को इंदिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय की लिखित अनुमति के बिना किसी भी रूप में, मिमियोग्राफी (वक्रमुद्रण) द्वारा या अन्यथा पुनः प्रस्तुत करने की अनुमति नहीं है।

उ0प्र0 राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज सर्वाधिकार सुरक्षित। इस पाठयसामग्री का कोई भी अंश उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, की लिखित अनुमति लिए बिना मिमियोग्राफ अथवा किसी अन्य साधन से पुनः प्रस्तुत करने की अनुमति नहीं है।

नोट : पाठय सामग्री में मुद्रित सामग्री के विचारों एवं आमड़ों आदि के प्रति विश्वविद्यालय, उत्तरदायी नहीं है।

प्रकाशन – उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन विश्वविद्यालय, प्रयागराज

प्रकाशक – कुलसचिव, डॉ. अरूण कुमार गुप्ता उ0प्र0 राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज – 211021

मुद्रक – चंद्रकला यूनिवर्सल प्राइवेट लिमिटेड, 42/7 जवाहरलाल नेहरू रोड, प्रयागराज

इकाई–1

सामाजिक स्तरीकरण-I

इकाई की रूपरेखा

1.1 उद्देश्य

1.2 प्रस्तावना

1.3 सामाजिक स्तरीकरण

1.4 परिभाषाएं

1.5 स्तरीकरण एवं विभेदीकरण (Stratification and Differentiation)

1.6 सामाजिक संरचना और स्तरीकरण

1.7 सामाजिक स्तरीकरण की विशेषताएं(Characteristics of Stratification)

1.8 सामाजिक स्तरीकरण के आधार या पद्धति (Bases or Systems of Social Stratification)

1.9 स्तरीकरण के निर्धारक (Determinants of Stratification)

1.10 वैश्विक स्तरीकरण

1.11 वस्तुनिष्ठ बोध प्रश्न

1.12 वस्तुनिष्ठ प्रश्नों के उत्तर

1.13 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1.1 उद्देश्य

इस भाग का उद्देश्य

1. छात्रों को सामाजिक असमानता पर आधारित व्यवस्था के सम्बन्ध में सामान्य ज्ञान उपलब्ध कराना है।
2. इस भाग में स्तरीकरण के साथ–साथ विभेदीकरण के संबंध में भी छात्रों को सामान्य बोध कराने का प्रयास किया गया है।
3. यह भाग स्तरीकरण की विशेषताओं, उनके आधार एवं प्रकार तथा उसके निर्धारक तत्वों पर गहनता से प्रकाश डालता है।
4. इस भाग में स्तरीकरण के पाँच प्रकारों– दास प्रथा (Slavery), वर्ण व्यवस्था (Varna System), जाति (Caste), इस्टेट (Estate) एवं वर्ग (Class) पर संक्षेप में प्रकाश डाला गया है।

1.2 प्रस्तावना

किसी सामाजिक व्यवस्था में प्रतिष्ठा, प्रभाव, शक्ति, सम्पत्ति तथा सुविधाओं आदि की भिन्नता के आधार पर परिस्थितियों एवं भूमिकाओं की एक अपेक्षाकृत स्थाई श्रेणीबद्धता को सामाजिक स्तरीकरण कहते हैं। सामाजिक स्तरीकरण एक विशिष्ट प्रकार के सामाजिक विभेदीकरण की एक व्यवस्था है जिसमें सामाजिक पदों की ऊँच–नीच पर आधारित श्रेणीबद्धता होती है। इन सामाजिक पदों के धारक सामाजिक महत्व की दृष्टि एक–दूसरे से उच्चता, समानता अथवा निम्नता का व्यवहार करते हैं। सामाजिक स्तरीकरण का प्रमुख तत्व श्रेणीबद्ध संस्तरण है। यह संस्तरण असमानता या विषमता को जन्म देता है। जाति–व्यवस्था, वर्ग–व्यवस्था तथा सम्पत्ति व्यवस्था, सामाजिक स्तरीकरण के प्रमुख रूप है।[i]

1.3 सामाजिक स्तरीकरण

प्रत्येक समाज में किसी न किसी रूप में सुविधा, शक्ति तथा प्रतिष्ठा के आधार पर निर्मित श्रेणियों तथा स्तरों का अस्तित्व पाया जाता है। सुविधा तथा शक्ति के उपयोग की दृष्टि से इन विभिन्न स्तरों का सामाजिक संरचना में स्थानक्रम निर्धारित होता है। जिनके पास अधिक सुविधा और शक्ति होती है, उनका सामाजिक स्तर उच्च होता है। कम सुविधा और शक्ति वाले लोगों की श्रेणी अथवा उनका सामाजिक स्तर निम्न होता है। विभिन्न समाजों में इतिहास के विभिन्न कालों में सुविधा और शक्ति के वितरण और उपभोग की पद्धतियाँ भिन्न–भिन्न रही हैं। एक ही समाज के विभिन्न कालों में इनके वितरण और उपभोग की पद्धति के फलस्वरूप श्रेणियों तथा स्तरों की संरचना की पद्धति में परिवर्तन होता रहा है।[ii]

इन उच्च तथा निम्न स्तरों के बीच सामाजिक जीवन में स्पष्ट असमानता दिखाई पड़ती है। समाज में उच्च और निम्न श्रेणियों के निर्माण, उनके स्थान क्रम के निर्धारण, उनके मध्य सुविधा और शक्ति के बँटवारे में असमानता की पद्धति और प्रक्रिया को सामाजिक स्तरीकरण कहा जाता है। सामाजिक स्तरीकरण में असमानता अंतर्निहित है। इस तरह सामाजिक स्तरीकरण की अवधारणा के अंतर्गत सुविधा, शक्ति तथा प्रतिष्ठा के आधार पर निर्मित श्रेणी तथा स्तर, इनमें उच्चता और निम्नता का स्थानक्रम और सामाजिक असमानता के विचार समाहित हैं।[पपप]

संस्तरण और असमानता में भिन्नता है। संस्तरण में सम्पदा, पुरस्कार और संसाधनों का वितरण असमान किन्तु व्यवस्थित होता है। यही नहीं, यह कुछ स्पष्ट सामाजिक प्रक्रियाओं पर आधारित होता है जिनके द्वारा व्यक्तियों को वर्ग, जाति प्रजाति और लिंग जैसी श्रेणियों में वर्गीकृत किया जा सकता है। सिद्धांततः एक समाज में बिना संस्तरण के भी असमानता हो सकती है। सभी को समान अवसर देते हुए भी पुरस्कारों का वितरण कार्य–सम्पदन के आधार पर किया जाना इसका एक उदाहरण है।[iv]

कई बार समाजशास्त्री गैर–बराबरी और स्तरीकरण को अलग–अलग अवधारणा के रूप में लेते हैं। यह कहा जता है कि सामाजिक गैर–बराबरी का मतलब उस गैर–बराबरी से है जो सामाजिक रूप से बनी होती है। इसका अर्थ यह हुआ कि अमुक समूह की गैर–बराबरी परम्परागत है और इसे स्वयं समाज ने बनाया है। चमार और ब्राह्मण की गैर–बराबरी जन्मजात है। मलतब हुआ गैर–बराबरी स्वयं समाज ने निर्धारित की है। इन समाजषास्त्रियों का कहना है कि

इस गैर–बराबरी का एक स्वरूप (Form) सामाजिक स्तरीकरण है। यहाँ हम गैर–बराबरी और सामाजिक स्तरीकरण के बारीक अन्तर को देखना नहीं चाहते। यह कहना ही पर्याप्त होगा कि सामाजिक स्तरीकरण में गैर–बराबरी होती है। इस अर्थ में सामाजिक स्तरीकरण एक खास तरह की गैर–बराबरी है।[v]

समाज का ऐसे वर्गों या स्तरों में विभाजन सामाजिक संरचना की सार्वभौमिक विशेषता है जो प्रतिष्ठा और शक्ति का पदानुक्रम निर्मित करता है। इसने समूचे इतिहास के दौरान दार्शनिकों और सामाजिक सिद्धांतकारों का ध्यान आकर्षित किया है। लेकिन आधुनिक सामाजिक विज्ञानों के विकास के बाद ही यह आलोचनात्मक अध्ययन और विश्लेषण का विषय बना।[vi]

1.4 परिभाषाएं

सदरलैंड और मैक्सवेल के अनुसार स्तरीकरण अंतर्क्रिया अथवा विभेदीकरण की प्रक्रिया है जिसके आधार पर कुछ लोगों का स्थानक्रम अन्य लोगों की तुलना में उच्च होता है।[vii]

विलियम जे. गुडे के विचार में वह पद्धति, जिससे संसाधनों और पुरस्कारों का वितरण और इनका एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी में हस्तांतरण होता है, उसे स्तरीकरण कहते हैं।[viii]

हेरालाम्बोस ने स्तरीकरण को परिभाषित करते हुए लिखा है:

सामाजिक स्तरीकरण का सम्बन्ध उन सामाजिक समूहों से है जिन्हें एक के ऊपर दूसरे की श्रेणी में रखा है। सामान्यतया समूहों को इस भाँति श्रेणियों में रखने का आधार षक्ति, प्रतिष्ठा और धन होते हैं जो व्यक्तियों के साथ पाये जाते हैं। वे लोग जो इन समूहों के सदस्य होते हैं वे इन समूहों के सामान्य हेतुओं से अवगत होते हैं और वे समूहों की पहचान को भी जानते हैं। ये सदस्य एक जैसी जीवन पद्धति को अपनाते है। ओर अपने आपको दूसरे समूह के सदस्यों से भिन्न समझते हैं। भारतीय जाति–व्यवस्था सामाजिक स्तरीकरण व्यवस्था का अच्छा दृष्टान्त है। हेरालाम्बोस ने सामाजिक स्तरीकरण की परिभाषा में जिन तत्वों को स्तरीकरण का आधार माना है, उनमें शक्ति, प्रतिष्ठा और धन मुख्य हैं।[ix]

जब कभी हम सामाजिक स्तरीकरण की चर्चा करते हैं तो बुनियादी प्रष्न उठता है कि विभिन्न समूहों को श्रेणियों में रखने का हमारा आधार क्या है? उच्च वर्ग, मध्यम वर्ग से ऊँची श्रेणी में क्यों रखा जाता है? भारतीय संदर्भ में ब्राह्मणों को क्षत्रियों से ऊपर क्यों रखा जाता है? ये प्रष्न प्रासंगिक हैं। इसके मूल में महत्वपूर्ण बात यह है कि सामाजिक स्तरीकरण को नापने का हमारा आधार क्या है ? इन प्रष्नों का उत्तर एलेक्स इंकेल्स (Alex Inkeles) ने दिया है। उनका कहना है कि विभिन्न सामाजिक समूहों को विभिन्न स्तरों में रखने के प्रायः दो उपागम काम में लिये जाते हैं। पहला उपागम तो वस्तुनिष्ठ (Objective) है। इसके अन्तर्गत हम समूह के सदस्यों की आय, सम्पत्ति, षिक्षा या व्यक्ति की षक्ति लेते हैं। दूसरा आधार व्यक्तिनिष्ठ (Subjective) है। कई बार इसे मनोवैज्ञानिक आधार भी कहते हैं। इसमें यह देखा जाता है कि व्यक्ति जिस समूह का है उसके बारे में उसकी स्वयं की अनुभूति (Feeling) क्या है? वह अपने आपको किस वर्ग का समझता है। दूसरे लोग इस व्यक्ति के समूह के बारे में क्या सोचते हैं? इन दो आधारों पर एलेक्स इंकेल्स स्तरीकरण का सम्बन्ध गतिशीलता (Mobility) के साथ जोड़ते हैं। इधर हमारे देष में योगन्द्र सिंह स्तरीकरण का सम्बन्ध सामाजिक परिवर्तन से मानते

हैं। इन भाँति इंकेल्स ने स्तरीकरण की व्याख्या में लिखा है : 'समाज में व्यक्त्यिों को किसी एक पैमाने (Scale) पर उच्च या निम्न स्थान पर रखना ही स्तरीकरण है।'[x]

एन्थोनी गिडेन्स ने स्तरीकरण का मुख्य आधार शक्ति संरचना को माना है। वे इसे परिभाषित करने से पहले कुछ महत्वपूर्ण प्रष्न उठाते हैं– किसी भी समाज में कुछ समूह अधिक धनवान क्यों होते हैं? या षक्तिषाली क्यों होते हैं? आधुनिक समाज किसी सीमा तक गैर–बराबर है? किसी भी एक पद दलित समाज के व्यक्ति को आर्थिक विकास की सीढ़ी पर ऊपर चढ़ने का अधिकार है। आज के समृद्ध देषों में गरीबी क्यों बनी हुई है? ये और इस तरह के अन्य प्रश्न महत्वपूर्ण हैं और इनका उत्तर समाजषास्त्र को देना चाहिए। ये महत्वपूर्ण इसलिये हैं कि जिन लोगों के पास अधिक भौतिक संसाधन है वे ही अपनी जीवन–पद्धति को निर्धारित करते हैं। कुछ इस तरह के संदर्भ में एन्थोनी गिडेन्स ने सामाजिक स्तरीकरण की व्याख्या दी है।[xi]

समाज में भौतिक या प्रतीकात्मक प्रतिफल के आधार पर समूहों के बीच में संरचनात्मक गैर–बराबरी पायी जाती है। सामान्यतया सभी समाजों में स्तरीकरण के काई न केाई स्वरूप पाये जाते हैं लेकिन किसी देष के विकास के साथ में धन (Wealth) और शक्ति (Power) के अन्तर के कारण स्तंरीकरण विकसित हो जाता है। आज के समाजों में स्तरीकरण का बहुत स्पष्ट स्वरूप वर्ग है।

एन्थोनी गिडेन्स ने स्तरीकरण की जो परिभाषा दी है उसका आषय यह है कि समूहों को उसकी भौतिक या प्रतीकात्मक उपलब्धि के आधार पर श्रेणियों या स्तरों में बांटा जाता है। इस श्रेणीकरण या बंटवारे का आधार गिडेन्स के अनुसार सामान्यतया दोहरा होता है–धन और शक्ति ।[xii]

टी0बी0 बोटोमोर (T.B. Bottomore) ने सामाजिक स्तरीकरण की व्याख्या मुख्यतया एषिया के संदर्भ में की है। ऐसा करने में वे आनुभविक अध्ययनों का उल्लेख भी करते हैं। ष्यामाचरण दुबे, एम.एन. श्रीनिवास और अन्य भारतीय ससमाजषात्रियों का उल्लेख करके वे स्तरीकरण को भारतीय गाँवों के संदर्भ में दखेते हैं। उदाहरण के लिए उनके संदर्भ के अनुसार बेली (F.G. Bailey) ने उड़ीसा में पर्याप्त आनुभाविक कार्य किया है। बेली की प्राप्तियों का उल्लेख करते हुए बोटोमोर ने कहा है कि उड़ीसा में स्तरीकरण का मुख्य आधार अर्थव्यवस्था और राजनीतिक शक्ति है। श्रीनिवास का तो कहना है कि स्तरीकरण के आधार सभी गाँवों में एक समान नहीं हैं। उनमें बराबर अन्तर देखने को मिलता है। सम्पूर्ण रूप से भारतीय संदर्भ को अपना संदर्ष मानते हुए बोटोमोर स्तरीकरण को इस भाँति परिभाषित करते हैः

स्तरीकरण वस्तुतः वर्ग के आधार पर समाज का विभाजन है। यह विभाजन प्रतिष्ठा और षक्ति के आधार पर उच्चोच्च श्रेणी में रखा जाता है।[xiii]

अमेरिकी समाजषास्त्रियों में टेलकट पारसंस (Talcott Parsons), किंग्सले डेविस (Kingsley Davis) और विल्बर्ट मूर (Wilbert Moor) ने स्तरीकरण पर अधिकृत कार्य किया है लेकिन सइन समाजषास्त्रियों के स्तरीकरण का उपागम प्रकार्यात्मक है। सभी प्रकार्यवादी स्तरीकरण को एक ही दृष्टि से देखते हों, ऐसा नहीं है, इसमें भी प्र्याप्त मतभेद हैं। फिर भी यहाँ पारसंस द्वारा दी गयी स्तरीकरण की व्याख्या सभी प्रकार्यवादियों पर समान रूप से लागू होती है :

किसी समाज–व्यवस्था में व्यक्तियों का ऊँचे और नीचे क्रम विन्यास में विभाजन ही स्तरीकरण है।[xiv]

1.5 स्तरीकरण एवं विभेदीकरण (Stratification and Differentiation)

कुछ समाजशास्त्री सामाजिक स्तरीकरण को विभेदीकरण (Differentian) और विभेदीकरण को सामाजिक स्तरीकरण समझ बैठते हैं। कुछ लोग वैसे भी है जो दोनों में ठीक से भेद नहीं कर पाते हैं। इसीलिए दोनों के अन्तर को स्पष्ट करना आवश्यक है।

सामाजिक स्तरीकरण के अन्तर्गत एक प्रकार का दीर्घकालीन उद्देश्य देखने को मिलता है। इसके अन्तर्गत कुछ विशेष स्थिति वाले व्यक्ति या समूहों को अधिक अधिकार, प्रतिष्ठा, पद इत्यादि प्राप्त होते हैं। सामाजिक स्तरीकरण जान–बूझ कर निर्मित की गई व्यवस्था है। इसके विपरीत सामाजिक विभेदीकरण स्वाभाविक रूप से उत्पन्न होने वाली एक अल्पकालीन प्रक्रिया है।

सामाजिक स्तरीकरण में ऊँच–नीच (प्रतिष्ठा), अधीनता या हीनता की भावना पाई जाती है। सामाजिक विभेदीकरण के अन्तर्गत विभिन्न व्यक्तियों या समूहों के बीच एक प्रकार का विभाजन पाया जाता है, जिसमें ऊँच–नीच या हीनता की भावना नहीं भी रह सकती है। यह एक तटस्थ प्रक्रिया है।

सामाजिक स्तरीकरण के आधार जटिल हो सकते हैं। इसके आधार पारिवारिक प्रतिष्ठा, सम्पत्ति, शिक्षा, पेशा, शक्ति इत्यादि भी हो सकते हैं, जबकि विभेदीकरण में ऐसी बात नहीं होती है। सामाजिक विभेदीकरण के आधार कुछ ज्यादा ही स्पष्ट होते हैं। इसका आधार जैविक भी हो सकता है, जैसे– रूप–रंग, उम्र, यौन विभेद, स्वास्थ्य इत्यादि।[xv]

मात्र जैविक आधार पर सामाजिक विभिन्नता को स्तरीकरण नहीं कहा जा सकता है। सामाजिक विभेदीकरण सामाजिक स्तरीकरण की तुलना में अधिक प्राचीन है। दो व्यक्तियों या परिवार के बीच अन्तर या असमानता को विभेदीकरण कहा जायेगा, स्तरीकरण नहीं। स्तरीकरण का स्वरूप सामाजिक होता है जो बहुत बड़े पैमाने पर समाज में देखा जाता है। स्तरीकरण विभेदीकरण की तुलना में एक बहुत ही वृहत्तर सम्बोध है।

स्तरीकरण समाज का एक समस्तरीय (Horizontal) विभाजन है, तो विभेदीकरण विषम स्तरीय या खड़ा (Vertical) बंटवारा है जैसा की नाम से ही स्पष्ट है कि स्तरीकरण विभिन्न स्तरों का नीचे से ऊपर एक प्रकार की श्रेणीबद्ध व्यवस्था है। विभेदीकरण एक खड़ा विभाजन है, जहां विभिन्न खण्डों की श्रेणीबद्धता की बात नहीं हेाती है।[xvi]

1.6 सामाजिक संरचना और स्तरीकरण

कुछ प्रश्न स्वाभाविक रूप से बार बार उठते हैं कि आखिर समाज में श्रेणी तथा स्तर क्यों और कैसे बनते हैं? इनके स्थानक्रम में उच्चता और निम्नता की अवधारणा का प्रवेश कैसे होता है? सामाजिक संरचना में व्यक्तियों और श्रेणियों के पारस्परिक संबंधों में असमानता क्यों पाई जाती है? आदि।

इन प्रश्नों का उत्तर हमें सामाजिक संरचना और स्तरीकरण के पारस्परिक संबंधों में मिलता है। सामाजिक संरचना के मुख्य आधार आवश्यकता, भूमिका, प्रस्थिति तथा प्रतिमान हैं। समाज में सभी आवश्यकताओं का स्थान एक समान नहीं होता है। कुछ आवश्यकताएं अधिक महतवपूर्ण होती हैं। आवश्यकताओं के महत्व का निर्धारण संरचना के प्रतिमानों और मूल्यों के आधार पर हेता है। जनजातीय और आधुनिक, दोनों सामाजिक संरचनाओं में स्वास्थ्य की देखभाल करने वाले, बीमारी का इलाज करने वाले तथा औषधि देने वाले ओझा तथा डाक्टर का स्थान अत्यंत ऊँचा है। जनजातीय समाज में दूसरे समूहों से युद्ध के समय शारीरिक शक्ति, साहस, तथा शौर्य के प्रदर्शन करने वाले लोगों का स्थान दूसरों की तुलना में अधिक महत्वपूर्ण था। ऐसे लोग ही प्रायः सरदार होते थे। इनकी सुविधा, शक्ति तथा सम्मान दूसरों की तुलना में अधिक था। इसी तरह प्राचीन और मध्ययुगीन संरचना में पुरोहित की भूमिका और उसका स्थान अन्य लोगों की तुलना में ऊँचा था। आज भी विभिन्न धर्मों के मतावलंबियों के बीच धर्मगुरूओं का स्थान अत्यंत ऊँचा है। ज्ञान विज्ञान तथा प्रविधि के इस युग में विश्वविद्यालय के प्राध्यापक, वैज्ञानिक और अभियंता की भूमिका का समाज में विशेष स्थान है।[xvii]

सामाजिक संरचना में जो आवश्यकतायें अधिक महत्वपूर्ण मानी जाती हैं, उनसे संबंधित भूमिकाओं को पूरा करने वाले लोगों की प्रस्थिति भी ऊँची होती है। समाज उन्हें अधिक सुविधा, संसाधन, पुरस्कार, शक्ति और प्रतिश्ठा प्रदान करता है। इसके साथ ही साथ जिन भूमिकाओं को संरचना में महत्वपूर्ण माना जाता है और उसे पूरा करने वाले लोगों का अभाव हो और उनकी आपूर्ति न हो पा रही हो तो समाज इन लोगों को अधिक सुविधा, पुरस्कार और प्रतिष्ठा प्रदान करता है। तेल पैदा करने वाले देशों में अचानक धन तथा संसाधनों की वृद्धि के उपरांत भी विश्वविद्यालय स्तर के प्राध्यापकों, डाक्टरों अभियंताओं औरदूसरे पेशेवर मानवशक्ति का अीााव है। इस इस कारण, इन भूमिकाओं को पूरा करने वाले लोगों की इन देशों में बड़ी माँग है। इनकी आपूर्ति की कमी के कारण इन पेशेवर लोगों का वेतन, सुविधा तथा प्रतिष्ठा इन तेल पैदा करने वाले लोगों की इन देशों में बड़ी माँग है। इनकी आपूर्ति की कमी के कारण इन पेशेवर लोगों का वेतन, सुविधा प्रतिष्ठा इन तेल पैदा करने वाले देशों में अन्य विकासशील देशों की तुलना में बहुत अधिक है।[xviii]

जनजातीय समुदायों की सरल सामाजिक संरचना मं लिंग, आयु, अनुष्ठाान, कर्म–काण्ड, शारीरिक क्षमता, शौर्य एवं दासता, मध्ययुगीन यूरोप में इस्टेट, भारत में जाति तथा औद्योगिक समाज की संरचना में वर्गों के आधार पर आवश्यकता की पूर्ति, भूमिकाओं के निर्वाह, प्रस्थिति के निर्धारण, सुविधा, धन संसाधन, शक्ति और प्रतिष्ठा के वितरण की पद्धति विकसित की गई। सामाजिक संरचना और स्तरीकरण पर विचार करते समय यह बात स्मरणीय है कि आद्योगिक संरचना वाले समाजों में भी उनके ऐतिहासिक संदर्भ के अनुरू स्तरीकरण की विभिन्न पद्धतियां विद्यमान हैं। इस दृश्टि से इंग्लैण्ड तथा संयुक्त राज्य अमेरिका की सामाजिक संरचना और स्तरीकरण पर विचार किया जा सकता है। ऐतिहासिक दृष्टि से औद्योगिक सामाजिक संरचना का विकास सर्वप्रथम इंग्लैण्ड में हुआ। मध्ययुगीन, सामंती सामाजिक सरंचना के स्थान पर इंग्लैण्ड में औद्योगिक पूँजीवादी सामाजिक सरंचना विकसित हुई। सामंती सामाजिक संरचना में इंग्लैण्ड में मुख्य रूप से राज्यपरिवार, भूस्वामियों, कारीगरों और दासों के वर्ग थे। औद्योगिक संरचना, आधुनिक शिक्षा और व्यावसायिक गतिशीलता के साथ आज इंग्लैण्ड में उद्योगपतियों, व्यापारियों, पेशेवरों, तकनीकी लोगों, कार्यालयों में काम करने वालों तथा श्रमिकों के विभिन्न स्तर और वर्ग हैं। आज भी इंग्लैण्ड में प्रभु वर्ग के लोगों

का स्तर– निर्धारण उनके जन्म के आधार पर होता है जो सामंती संरचना का अवशेष है। दूसरी ओर सामाजिक स्तर की प्राप्ति लोग अपनी योग्यता तथा क्षमता के आधार पर करते हैं।[xix]

संयुक्त राज्य अमेरिका एक तरह से प्रवासियों का समाज है। इस सामाजिक संरचना में नवीनता तथा प्रावास के कारण जन्म से सामाजिक स्तर के निर्धारण का प्रश्न ही नहीं है। अमेरिका की संरचना में आर्थिक, राजनीतिक और सत्ताधारी अभिजन का स्थान अत्यंत ऊंचा है। इसके बाद पेशेवर लोग हैं। कार्यालयों में काम करने वाले, तकनीकी लोग तथा श्रमिक इसके बाद हैं। भारतीय संरचना में स्तरीकरण का आधार जाति व्यवस्था है। इसमें स्तर का निर्धारण जन्म से होता है। पश्चिमी प्रभाव, नगरीकरण, आधुनिक शिक्षा, राजनीतिक आंदोल, समाज सुधार और उद्योगीकरण के कारण जाति व्यवस्था में परिवर्तन आया है।[xx]

1.7 सामाजिक स्तरीकरण की विशेषताएं (Characteristics of Stratification)

स्तरीकरण का अर्थ इतना जटिल है कि परिभाषा मात्र से इसे ठीक से नहीं समझा जा सकता है अतः यहाँ स्तरीकरण की विशेषताओं की चर्चा की जा रही है।[xxi] स्पेंसर (Spencer) ने स्तरीकरण की प्रमुख विशेषताओं पर इस प्रकार प्रकाश डाला है–

(i) स्तरीकरण का स्वरूप सामाजिक होता है (Stratification is social)– स्तरीकरण के आधारभूत तत्व सामाजिक होते है। सही अर्थ में जैविक आधार पर स्तरीकरण का निर्माण नहीं हो सकता है। उदाहरणस्वरूप रंग, ऊँचाई, मोटापा, उम्र , एवं लिंग–भेद के आधार पर समाज में विभेदीकरण स्थापित किया जा सकता है, स्तरीकरण नहीं क्योंकि वे व्यक्ति के जैविक गुण है। पर यदि जैविक आधार को सामाजिक मान्यता प्राप्त है तो वह स्तरीकरण का आधार माना जा सकता है, जैसे –उम्र के आधार पर बुजुर्ग और जवान लोगों के बीच भारतीय समाज में स्पष्ट रूप से भेद किया जाता है। इसीलिए 'उम्र' को स्तरीकरण का आधार माना जा सकता है। ठीक उसी प्रकार पितृसत्तात्मक समाज में स्त्री–पुरूष के बीच प्रतिष्ठा का काफी बड़ा फर्क होता है, इसीलिए लिंग–भेद एक जैविक आधार होते हुये भी स्तरीकरण का आधार हो सकता है। पर यदि उसमें प्रतिष्ठा का भाव नहीं उम्र या लिंग के आधार पर स्थापित विभाजन को विभेदीकरण (Differentiation) कहा जायेगा, सामाजिक स्तरीकरण नहीं।

(ii) स्तरीकरण एक प्राचीन व्यवस्था है (Stratification is ancient)– सम्भवतः समाज में स्तरीकरण प्रारम्भ से ही चला आ रहा है। इतिहासकारों का मानना है कि प्राचीन बेबीलोन, रोम ,फारस, मिस्र एवं यूनान के समाज में भी स्तरीकरण पाया जाता था। सामाजिक स्तरीकरण को ही मध्यकालीन या आधुनिक युग की ही विशेषता नहीं है।

(iii) स्तरीकरण सर्वव्यापी है (Stratification is ubiquitous)– दुनिया के हर समाज में किसी न किसी आधार पर स्तरीकरण अवश्य पाया जाता है। इस दुनिया में शायद कोई ऐसा समाज हो जहां स्तरीकरण नहीं पाया जाता है। मानवशास्त्रियों का कहना है कि अफ्रीका के बुशमेन (Bushmen) जो 50 या 100 व्यक्तियों के झुण्ड में रह कर जीवन निर्वाह के लिए जंगलों में भोजन इकठ्ठा करते है, वहां भी स्तरीकरण पाया जाता है। यह

स्वाभाविक है क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति के मन में किसी–न–किसी रूप में प्रतिष्ठा, शक्ति एवं सम्पत्ति की लालसा अवश्य पायी जाती है।

(iv) स्तरीकरण का स्वरूप असमान होता है (Stratification is diverse)– सामाजिक स्तरीकरण का स्वरूप विभिन्न समाजों में भिन्न–भिन्न होता है। किसी समाज में यह वर्ग पर यह आधारित होता है, तो किसी और समाज यह जाति व्यवस्था पर। कहीं पर यह अर्जित गुणों के आधार पर होता है तो कहीं यह आरोपित गुणों के आधार पर। किसी समाज में प्रजाति एवं धर्म की भूमिका स्तरीकरण में अहम होती है, तो किसी समाज में शिक्षा, सम्पत्ति, या शक्ति की भूमिका महत्वपूर्ण होती है।

(iv) स्तरीकरण परिणामी होता है (Stratification is consequential)– समाज में स्तरीकरण का आधार जैसा होगा, समाज का स्वरूप भी वैसा ही होगा। सामाजिक मूल्य, प्रतिमान, व्यक्तियों की जीवन–शैली ये सभी उस समाज के स्तरीकरण में प्रतिबिम्बित होते रहते है। यदि सामाजिक स्तरीकरण का आधार वर्ग है तो वहाँ व्यक्ति को आगे बढ़ने का लगभग समान अवसर प्राप्त होता है। समाज में इतना खुलापन होता है कि समाज के उच्च स्तर के लोग और नीचे स्तर के लोग ऊपर खिसकते रहते है। ठीक इसके विपरीत यदि समाज जाति व्यवस्था पर आधारित है, तो वहाँ सभी व्यक्तियों को आगे बढ़ने का समान अवसर नहीं प्राप्त होता है। चूंकि सामाजिक हैसियत (Social status) का आधार जन्म होता है, अतः सामाजिक व्यवस्था का स्वरूप बन्द होता है।

उपरोक्त विश्लेषण से संक्षेप में हम स्तरीकरण की निम्न विशेषताओं को समझ सकते हैं:[xxii]

(1) समाज में सुविधाओं, संसाधनों, पुरस्कारों, शक्ति और प्रतिष्ठा का असमान वितरण होता है,

(2) इसके आधार पर समाज में श्रेणी तथा स्तर का निर्माण होता है,

(3) सामाजिक संरचना में इन श्रेणियों अथवा स्तरों के सोपानक्रम का निर्धारण इनकी सुविधा, शक्ति तथा प्रतिष्ठा के आधार पर होता है,

(4) इन श्रेणियों तथा स्तरों की अंतःक्रिया और पारस्परिक संबंध में उच्चता और निम्नता की अवधारणा पाई जाती है,

(5) श्रेणियों तथा स्तरों के पारस्परिक संबंधों में क्रमबद्ध सामाजिक असमानता दिखाई पड़ती है।

1.8 सामाजिक स्तरीकरण के आधार या पद्धति (Bases or Systems of Social Stratification)

मानवशास्त्रियों एवं इतिहासकारों के अध्ययनों से पता चलता है कि अब तक का समाज मुख्य रूप से पाँच आधारों पर विभक्त रहा है[xxiii] जैसे–

(1) दास प्रथा (Slavery),

(2) वर्ण व्यवस्था,

(3) जाति,

(4) इस्टेट (Estate) एवं

(5) वर्ग।

कभी तो कोई समाज इन पाँच में से किसी एक आधार पर स्तरित रहा है तो कभी एक साथ दो आधारों पर। उदाहरणस्वरूप मध्यकालीन युग में यूरोप कासमाज जहाँ दास प्रथा एवं इस्टेट व्यवस्था पर आधारित था तो आज वही यूरोप मुख्य रूप से वर्ग व्यवस्था पर आधारित है। उसी तरह प्राचीन काल में भारत के सामाजिक स्तरीकरण का आधार वर्ण एवं बाद में जाति हुई तो वहीं आज जाति एवं वर्ग दोनों स्तरीकरण के मुख्य आधार हैं। यहाँ हम पाँच आधारों की संक्षिप्त चर्चा बारी–बारी से करना चाहेंगे।

(1) दास प्रथा या गुलामी (Slavery)– दास प्रथा एक आखिरी किस्म की सामाजिक असमानता का द्योतक है। प्राचीन एवं माध्यकालीन युग में इस प्रथा का प्रचलन कई मुल्कों में था। पर इस प्रथा में भी काफी भिन्नताएँ थीं। कुछ समाज में दासों को कोई भी आर्थिक और कानूनी अधिकारप्राप्त नहीं था तो कुछ समाजों में उसे थोड़ा–बहुत इंसानी हक प्राप्त था। इस प्रथा के तहत आर्थिक और कानूनी दोनों प्रकार की असमानताएँ मोजूद थीं। गुलामों की जिन्दगी कहीं जानवरों की तरह थी, तो कहीं कृषि मजदूरों या घरेलू नौकरों की तरह।[xxiv]

विभिन्न प्रकार के साहित्यों को देखने से ऐसा लगता है कि दास प्रथा के अंतर्गत दासों का जीवन लगभग जानवरों की तरह था। यूनान (Greece) में काफी राजा–महाराजा गुलामों का जानवरों की तरह खरीद–बिक्री किया करते थे। उन्हें पाँव में लोहे की जंजीर डालकर रखते थे। उनसे दिनभर घरों तथा खेत–खलिहानों में काम लिया जाता था। विभिन्न त्योहारों के अवसर पर उन्हें कुश्ती लड़ना होता था, जहाँ शाही परिवार के लोग चारों तरफ बैठकर शराब के नशे में उसका आनन्द लिया करते थे और उन्हें कुश्ती लड़ने के लिए तब तक बाध्य किया जाता था जबतक कि उनमें से एक मर नहीं जाता था। मरे हुए गुलाम के माँस को बोटी–बोटी कर शाही परिवार के कुत्तों को खिलाया जाता था।[xxv]

एल.टी. हाबहाउस गुलाम को तरह परिभाषित करता है, 'ऐसा आदमी जिसे कानून और रिवाज दूसरे आदमी की संपत्ति मानते हैं। जातिवादी मामलों में उसके कोई अधिकार नहीं होते, वह पूरी तरह चल संपत्ति होता है। कुछ मामलों में उसे कुछ सुरक्षा मिलती है लेकिन किसी बैल या गधे को भी वही सुरक्षा मिल सकती है।' इसके बाद वह जोड़ता है,'..... अगर (गुलाम को) कुछ बराबर के अधिकार, मसलन विरासत की संपत्ति प्राप्त हैं जिससे उसे (कुछ गड़बड़ी को छोड़कर) बेदखल नहीं किया जा सकता तो वह ..... गुलाम नहीं रह जाता, भूदास हो जाता है। इस तरह गुलामी असमानता का अतिवादी उदाहरण है जिसमें व्यक्तियों के कुछ समूह पूरी तरह या तकरीबन पूरी तरह अधिकारविहीन होते हैं। छुटपुट तौर पर यह कई समयों और जगहों पर मौजूद रही है, लेकिन गुलामी व्यवस्था के दो बड़े उदाहरण हैं, गुलामी पर आधारित पुरानी दुनिया के समान (खासकर ग्रीस और रोम) और अठारहवीं तथा उन्नीसवीं सदी में अमरीका के दक्षिणी

राज्य।[xxvi] एच.जे. नीबर ने ऐसी व्यवस्था में गुलाम की सामाजिक स्थिति का उत्कृष्ट वर्णन किया हैः

सबसे पहले, हरेक गुलाम का एक मालिक होता है जिसके अधीन वह होता है और यह अधीनता एक खास तरह की होती है। किसी स्वतंत्र मनुष्य का जैसे दूसरे पर अधिकार होता है, उसके विपरीत गुलाम पर उसके मालिक का अधिकार असीमित होता है, कम से कम सिद्धांततः मालिक की सत्ता के स्वतंत्र उपयोग पर कोई भी बंदन गुलामी को कम कर देता है जो इसकी प्रकृति के विपरीत है। उसी तरह जैसे रोमन कानून में अपनी संपत्ति के साथ कोई मालिक वह सब कुछ कर सकता था जिसे करने से विशेष कानून उसे रोकते नहीं थे। इसलिए मालिक और गुलाम के बीच संबंध ठीक–ठीक तब व्यक्त होते हैं जब गुलाम को मालिक की 'जायदाद' या 'संपत्ति' कहा जाए। इन शब्दों से अकसर हमारा पाला पड़ता है। दूसरे, स्वतंत्र व्यक्तियों की तुलना में गुलाम की स्थिति नीची थी। गुलाम को कोई राजनीतिक अधिकार नहीं प्राप्त थे। वह न तो अपनी सरकार चुनता था न सार्वजनिक परिषदों में भाग लेता था। सामाजिक रूप से वह तिरस्कृत था। तीसरे, गुलामी के साथ हमेशा अनिवार्य श्रम की धारणा जुड़ी रहती है। गुलाम काम करने के लिए मजबूर था, स्वतंत्र मजदूर अगर चाहे तो काम करना छोड़ सकता था, भले ही उसे भूखों मरना पड़े। बहरहाल सभी किस्म का अनिवार्य श्रम गुलामी नहीं हैः गुलामी के लिए जैसा कि पहले कहा गया है, उस किस्म की बाध्यता अनिवार्य है जो 'जायदाद' या 'संपत्ति' कहकर व्यक्त की जा सके।[xxvii]

गुलामी का आधार हमेशा आर्थिक होता है, जैसा कि नीबर ने कहा, यह एक औद्योगिक व्यवस्था है। गुलामी के जन्म के साथ ही एक तरह की कुलीनता का भी जन्म होता है जो गुलामों के श्रम पर जिंदा रहती है। लेकिन अधिकांश लेखकों की राय में गुलामों के श्रम की अकुशलता ही गुलामी के क्षय का कारण बनी।[xxviii]

बहरहाल इसी के साथ एक दूसरा प्रभाव भी था जो गुलामी को खात्मे की ओर ले गया। उसे हम प्राचीन विश्व में सबसे अच्छी तरह खोज सकते हैं। गुलाम की संपत्ति संबंधी अधिकारों के विषय के बतौर अवधारणा और गुलाम की अधिकारों के हकदार मानव प्राणी के बतौर अवधारणा के बीच हमेशा एक टकराव रहा। हम ग्रीस और राम देनों में ही कर्ज की गुलामी के विकास के साथ पाते हैं कि विदेशी गुलामों और समूह के भीतर पैदा हुए गुलामों के बीच फर्क किया जाने लगा। एथेंस में सोलन ने कर्ज की गुलामी को प्रतिबंधित कर दिया और अंततः रोम में स्तोइकों के प्रभाव में इसे खत्म कर दिया गया। हाबहाउस ने कहा कि 'कर्जदार गुलामों की पैदाइश ने स्वयं गुलामी की संस्था को कमजोर बनाने वाला प्रभाव पैदा किया क्योंकि जहाँ पकड़ा गया गुलाम कानून और नैतिकता की नजरों में एक दुष्मन और इसीलिए अधिकारविहीन बना रहा, वहीं कर्जदार या अपराधी चूंकि मूलतः समुदाय का ही सदस्य होता था।' प्राचीन विश्व में गुलामी में क्रमशः सुधार आता गया, दंड देने के मालिक के अधिकार पर लगातार बढ़ती बंदिशों से गुलाम को व्यक्तिगत अधिकार (विवाह, संपत्ति के अधिग्रहरण और विरासत) प्राप्त होने से और दास मुक्ति के प्रावधान से। इस प्रावधान को रोमन साम्राज्य में ईसाई चर्च का समर्थन और प्रोत्साहन

मिला और बाद में सामंती यूरोप में भी, कम से कम जहाँ कहीं ईसाई लोग इससे प्रभावित थे।[xxix]

18वीं एवं 19वीं सदी में उत्तरी एवं दक्षिणी अमरीका में दासों से खेती–बारी का काम लिया जाता था, तो दूसरी तरफ प्राचीन यूनान में उनसे बहुत जिम्मेवारी का भी काम लिया जाता था। राजनीति एवं सेना को छोड़कर प्रशासन के विभिन्न विभागों में उनसेकाम लिया जाता था। चूँकि प्राचीन रोम में तिजारत को बहुत ही हेय दृष्टि से देखा जाता था, बहुत सारे गुलामों ने इस काल में इस पेशे से काफी धन–सम्पत्ति इकट् ठा किया। पर साधारणतया गुलामों की जिन्दगी इतनी खराब थी हिक लोगों ने कई बार अपने मालिकों के खिलाफ विद्रोह भी किया था। 19वीं सदी तक पाश्चात्य देश केलोगों ने गुलामों का व्यापार भी किया था। पर आज प्रजातांत्रिक मूल्यों एवं अर्थ व्यवस्था में इतना अधिक विकास हो गया है कि दास प्रथा का करीब–करीब खात्मा हो गया है। आज दासता के आधार पर शायद ही कहीं सामाजिक स्तरीकरण देखने को मिलता है।[xxx]

(2) **वर्ण**– दुनिया के अधिकांश समाज में सामाजिक स्तरीकरण का आधार वर्ग रहा है जबकि प्राचीन काल से भारतीय समाज में वर्ण और जाति रहा है। वर्ण व्यवस्था का उद्‌भव भारतीय समाज एवं संस्कृति के विकास के आरम्भिक दौर में हुआ। ऐसा अनुमान लगाया जाता है कि भारतीय समाज में कृषि विकास के परिणामस्वरूप जो एक नयी उत्पादन प्रणाली आयी, उसके संचालन के लिए श्रम–विभाजन की आवश्यकता पड़ी होगी। जिससे समाज में वर्ण व्यवस्था का उदय हुआ होगा। वर्ण सम्भवतः स्तरीकरण का प्राचीनतम आधार है।

प्रारंभ में ऋग्वेद के अंतर्गत दो ही वर्ण की चर्चा मिलती है – आर्य वर्ण एवं दास वर्ण। पर उसी वेद में समाज के तीन स्तरीय विभाजन की भी चर्चा की गयी है – ब्रह्म, क्षात्र एवं विश। शूद्र जो चौथे या सबसे निम्न सोपान पर खड़े हैं उसकी चर्चा नहीं मिलती है । पर ऐसे सामाजिक समूह की चर्चा अवश्य की गयी है जिसे आर्य लोग घृणा की दृष्टि से देखते थे। जिसे अयोग्य, चाण्डाल एवं निषाद कहकर पुकारा गया है, यही लोग सम्भवतः आगे चलकर शूद्र कहलाए। कुछ विद्धानों का मानना है कि प्रारंभ में शूद्र लोग अछूत नहीं माने जाते थे। वे लोग मजदूर, सेवक, नौकर, या रसोईया का भी काम किया करते थे (M.N.Srinivas, 1962)। प्रारंभ में वर्णों का कोई सोपानक्रम भी नहीं हुआ करता था, वे सभी बराबर हुआ करते थे। विभिन्न वर्णों के बीच आपस में शादियाँ भी होती थीं। जब भारतीय समाज वैदिक काल (4000 B.C.-1000 B.C.) से ब्राह्मण काल (230 B.C.-700 A.D.) में आया तो वर्ण व्यवस्था के अंतर्गत एक निश्चित सापानक्रम विकसित हुआ। वर्ण व्यवस्था को अच्दी तरह समझने के लिए 'वर्ण' के अर्थ को भी समझना आवश्यक प्रतीत होता है।

'वर्ण' शब्द का शाब्दिक अर्थ 'रंग' होता है। इससे स्पष्ट है कि वर्ण व्यवस्था में सामाजिक विभाजन का आधार 'रंग' रहा होगा। इस तरह, आरंभिक काल में गोरे रंग के विजयी या शोषक लोगों का एक वर्ण–समूह तथा श्याम रंग के द्रविड़ एवं काले रंग के मूल निवासियों का दूसरा वर्ण समूह बना। इरावती कर्वे (Karve, 1868: 50-52) का कहना है कि वर्ण शब्द का प्रयोग 'रंग' के अर्थ में नहीं हुआ है। उनका कहना कि इस शब्द का प्रयोग सोपानक्रम (Hierarchy) के सम्बन्ध में हुआ है, जबकि घुर्ये एवं

श्रीनिवास (Ghurye, 1950; Srinivas 1962: 63-69) रंग के ही अर्थ को ज्यादा उपयुक्त मानते हैं।

मानक संस्कृत शब्दकोश के अनुसार वर्ण के दो अर्थ होते हैं। पहला अर्थ है वरण करना या धारण करना, दूसरा अर्थ है जन्मजात वृत्ति या स्वभाव। इस तरह, वर्ण उन चार स्थायी सामाजिक समूहों का नाम है जिसका निर्माण व्यक्तियों द्वारा अपनी स्वाभाविक वृत्ति, स्व एवं गुण के अनुसार स्वेच्छा से चुने हुए व्यवसाय के आधार पर होता है। समय में परिवर्तन के साथ–साथ यह परिभाषा भी अनुपयुक्त हो गयी। आर्थिक एवं सामाजिक विकास के परिणामस्वरूप समाज में श्रम–विभाजन उत्पन्न हुआ। इससे समाज में गुण, व्यवसाय एवं कर्म के आधार पर स्थायी वर्ण–विभाजन उत्पन्न हुआ। इससे समाज में गुण, व्यवसाय एवं कर्म के आधार पर स्थायी वर्ण–विभाजन की व्यवस्था कायम हुई। समय बीतने के साथ यह व्यवस्था जन्म पर आधारित न रहकर कर्म पर आधारित हो गयी। संक्षेप में वर्णव्यवस्था प्राचीन भारतीय समाज में सभी सदस्यों को जन्म, गुण, कर्म, अधिकार, व्यवसाय और पद के आधार पर चार श्रेणियों में विभाजित करने की एक स्थायी व्यवस्था थी।

उपर्युक्त विचारों से स्पष्ट होता है कि भारतीय समाज में व्यक्तियों को चार वर्णों में बाँटा गया, वे हैं – ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य एवं शूद्र। ब्राह्मण वर्ण का मुख्य कार्य पूजा–पाठ करना एवं करवाना तथा मानव एवं ईश्वर के बीच मध्यस्थता का कार्य करना था। क्षत्रियों का कार्य अस्त्र–शस्त्र द्वारा को सुरक्षा प्रदान करना था। वैश्य का कार्य था समाज में आर्थिक उत्पादन एवं सुचारू वितरण के लिए व्यापार का संचालन करना। इसी तरह, शूद्रों का कार्य शारीरिक श्रम करना था ताकि समाज के लोगों को उनकी सेवा का समुचित लाभ मिले। इससे स्पष्ट है कि समाज में धार्मिक, राजनीतिक, आर्थिक, सांस्कृतिक,श्रम एवं सेवाओं की आवश्यकता पूर्ति के निमित्त वर्ण व्यवस्था कायम हुई। पहले यह व्यवस्था गुण एवं कर्म पर आधारित थी जो आगे चलकर जन्म एवं पेशा पर आधारित हो गयी। धीरे–धीरे वर्ण की जगह भारतीय समाज जाति के आधार पर स्तरित हो गया।

(3) **जाति (Caste)** – सामाजिक स्तरीकरण की व्यवस्थाओं में भारतीय जाति व्यवस्था सामाजिक संरचना की मुख्य एवं अनूठी विशेषता रही है। प्राचीन काल से ही हिन्दू धर्म के लोग जातीय आधार पर श्रेणीबद्ध रहे हैं। जैसा कि पहले कहा जा चुका है कि जाति व्यवस्था की उत्पत्ति के पूर्व हिन्दू समाज वर्ण व्यवस्था के आधार पर श्रेणीबद्ध था। जाति व्यवस्था के आने से हमारा समाज हजारों खण्डों में समस्तरीय और विषमस्तरीय रूप से (Horizontally and Vertically) विभक्त हो गया। स्तरीकरण की दृष्टि से विषमस्तरीय बँटवारा (Vertical Division) का महत्व भले ही नगण्य हो, पर समस्तरीय (Horizontal) बँटवारा की महत्ता तो है ही।[xxxi]

सबसे पहले जाति में आर्थिक विभेद से स्पष्टतः जुड़े हुए कुछ सामान्य अभिलक्षण पाए जाते हैं। चाहे हम प्रभावी जाति समूहों पर विचार करें या फिर ब्राह्मण, क्षत्रिय वैश्य, शूद्र के पारंपरिक चार वर्णों पर, यह बात साफ है। जैसा कि सेनार ने क्लासिकी अध्ययन में कहा, वर्ण मूलतः कुछ मामलों में सामंती जागीरों से मिलते–जुलते हैं। उनका चरित्र जागीरों की तरह ही था और बहुत हद तक ये भी समूहों की पदानुक्रमिक व्यवस्था लागू करते थे (पादरी, योद्धा और कुलीन, व्यापारी, भूदास) तथा उनके साथ यह तथ्य

भी था कि ये पूरी तरह बंद समूह नहीं थे, व्यक्ति एक वर्ण से दूसरे में जा सकता था और इनमें आपसी विवाह संभव थे।[xxxii]

पारंपरिक जाति व्यवस्था की बुनियादी इकाई जातियां है जो बाद में विकसित हुई और बढ़ते हुए श्रम विभाजन, जनजातियों के प्रवेष और कुछ हद तक धार्मिक नवीकरण जैसे कारकों के चलते इनकी संख्या बढ़ती रही। आधुनिक भारत में हरेक बड़े इलाके में तकरीबन 2500 जातियां हैं। जाति एक अंतर्विवाही समूह है ओर व्यक्ति का प्रमुख संदर्भ समूह है। इसकी विशिष्ट जीवन पद्धति होती है जिसे रूढ़िगत प्रतिबंधों और प्राचीनकाल में कानूनी प्रतिबंधों के जरिए संरक्षित रखा जाता है। जातियों का आर्थिक महत्व स्पष्ट है, अधिकतर वे पेशा आधारित समूह होती हैं और पारंपरिक ग्रामीण अर्थतंत्र में बहुत हद तक जाति व्यवस्था वस्तुओं और सेवाओं की अदला–बदली की मशीनरी उपलब्ध कराती है।[xxxiii]

वर्ग व्यवस्था की तुलना में जाति व्यवस्था के अंतर्गत श्रेणीबद्ध समूहों की संख्या बहुत ज्यादा है। लेकिन आधुनिक भारत में मात्र जातीय आधार पर ही समाज का विभाजन नहीं हो रहा है, बल्कि वर्ग व्यवस्था के आधार पर भी स्तरीकरण हो रहा है। जैसा कि हट्टन ने बताया है कि भारत में कोई 5000 जातियाँ व उपजातियाँ हैं। विभिन्न जातियों के बीच समाज में लोगों को शिक्षा, पद, आमदनी, पेशा या किसी वैयक्तिक गुण के आधार पर श्रेणीबद्ध किया जा रहा है आज कहीं जाति पर आधारित स्तरीकरण का प्रभाव है तो कहीं वर्ग व्यवस्था पर आधारित स्तरीकरण का प्रभाव दिखायी पड़ता है। परम्परागत स्तरीकरण के आधार में थोड़ी कमी आयी है और वर्ग व्यवस्था पर आधारित स्तरीकरण के प्रतिमानों एवं मूल्यों में वृद्धि हुई है।[xxxiv]

दूसरी तरफ जाति के तत्व उन अन्य समाजों में भी देखे जा सकते हैं जहां खास–खास समूहों में कमोबेष कठोर अलगाव रहता है। उदाहरण के लिए 'दूषित' पेशों में लगे लोगों का अलगाव या किसी विषेष नृजातीय समूह से जुड़े लोगों का अलगाव। लेकिन ऐसी विशेषताओं से जातिव्यवस्था नहीं बनती। भारत के हिंदुओं के अलाव जहां जातिव्यवस्था स्थापित हो सकी है उसके एकमात्र उदाहरण भारत के गैर हिंदू समूह (मसलन मुसलमान) या भारत से बाहर, खासकर श्रीलंका में बसे हिंदू हैं।[xxxv]

(4) इस्टेट (Estate)- कुछ लेखकों ने इस शब्द का हिन्दी अनुवाद 'जागीर' किया है। वैसे इसके कई अर्थ हैं और जागीर उनमें से एक है। लेकिन स्तरीकरण के सम्बन्ध में 'जागीर' एक अनुपयुक्त अनुवाद है। हिन्दी या उर्दू में जागीर इतना संकुचित अर्थ का शब्द है कि यूरोप की स्तरीकरण पद्धति का समस्त भाव अपने–आप में यह शब्द समेट नहीं पाता है। जिस अर्थ में इतिहासकार ओर समाजशास्त्री यूरोप के सन्दर्भ में इसका इस्तेमाल करते आ रहे हैं उसके लिए अभी तक हिन्दी में कोई उपयुक्त शब्द नहीं है इसलिए यहाँ अँग्रेजी शब्द ही उसी रूप में इस्तेमाल किया जा रहा है। यह The Penguin Dictionary of Sociology (1994: 150) में दी गयी इस्टेट शब्द की परिभाषा से स्पष्ट हो जाता है– '' यह यूरोप एवं रूस में पायी जाने वाली स्तरीकरण की ऐतिहासिक पद्धति है जिसमें, जाति की तहर, छोटे स्तरों के बीच स्पष्ट अन्तर एवं कठोर घेरा होता था। जातियों के प्रतिकूल इस्टेट का निर्माण धार्मिक नियम–कानून के बजाय, मानव–निर्मित राजनीतिक कानूनों के द्वारा हुआ।''

इस परिभाषा से यह स्पष्ट होता है कि यूरोपीय समाज कभी इस्टेट के आधार पर स्तरित था। जाति व्यवस्था की ही तरह लोग विभिन्न सामाजिक, आर्थिक एवं राजनीतिक समूहों में इस प्रकार श्रेणीबद्ध थे कि एक सामाजिक स्तर से दूसरे सामाजिक स्तर में जाना काफी कठिन काम था। माध्यकालीन युग में यूरोप का समाज मुख्य रूप से तीन इस्टेट में विभक्त माना जाता था। प्रथम श्रेणी के अंतर्गत राजा–महाराजा, उच्च शासनाधिकारी एवं बड़े–बड़े जागीरदार आते थे। वे सभी कुलीन वर्ग के लोग माने जाते थे। उनके जीवन का तौर–तरीका, सामाजिक मूल्य ओर प्रतिमान सभी कुछ विशिष्ट ढंग के हुआ करते थे। वे लोग अपने ही समूह के अंदर शादी–विवाह किया करते थे।

चर्च के लोग दूसरे इस्टेट के प्रतिनिधि माने जाते थे। अर्थात् पादरी वर्ग (Clergy) के लोगों का स्थान समाज में कुलीन वर्ग के बाद माना जाता था। कुलीन वर्ग के लोगों की तुलना में उनकी सामाजिक हैसियत और सुविधाएँ थोड़ी कम थीं, पर आमलोगों की तुलना में इनका सीान बेहतर था।

तीसरी श्रेणी में समाज के साधारण लोग आते थे, जैसे– दास, मजदूर किसान, व्यापारी, कारीगर इत्यादि। यदि जाति व्यवसाी की तुलना इस श्रेणी से की जाती हैं तो इसमें वेश्यों और दलितों के अलावा वैसे राजपूतों को भी रखा जा सकता है जो उच्च शासन के पदों पर आसीन नहीं थे। इसे साधारण वर्ग (Third Estate) भी कहा जाता है। इस्टेट व्यवस्था जाति व्यवस्था से इस रूप में भिन्न थी कि वैयक्तिक योग्यता, गुण, उपलब्धि के आधार पर इस वर्ग के लोगों को राजा से कभी–कभी उच्च उपाधि भी प्राप्त होती थी और कभी–कभी इन तीन श्रेणी के लोगों के बीच शादियाँ भी हो जाया करती थीं। इस्टेट व्यवस्था का स्वरूप यूरोप के किसी भी देष में राष्ट्रीय या राजकीय पैमाने पर एक समान नहीं पाया जाता था, बल्कि इसका स्वरूप क्षेत्रीय था। अर्थात् सामाजिक स्तरीकरण का स्वरूप स्थानीय था, राष्ट्रीय नहीं। कहीं पर कोई व्यक्ति यदि समाज में निम्न स्तर पर माना जाता था तो वही व्यक्ति राज्य के किसी दूसरे हिस्से में मध्य या उच्च श्रेणी का माना जाता था। लेकिन यूरोप के प्रतिकूल चीन और जापान में इस्टेट व्यवस्था का स्वरूप राज्य स्तर पर एक ही प्रकार का था। यूरोप की तरह इस्टेट व्यवस्था का स्वरूप वहाँ क्षेत्रीय नहीं था।

मध्ययुगीन यूरोप की सामंती जागीरों की तीन महत्वपूर्ण विशेषतांए थीं। पहले, वे कानून द्वारा परिभाषित थीं, हरेक जागीर की एक सामाजिक हैसियत थी, इस अर्थ में कि अधिकारों और कर्तव्यों, विशेषाधिकारों और जिम्मेदारियों का एक कानूनी जाल उनके साथ जुड़ा था। जैसा कि कहा गया है, 'किसी आदमी की वास्तविक स्थिति को जानने के लिए सबसे पहले जरूरी है उस 'कानून' को जानना जिसके तहत वह रहता है।' बारहवीं सदी में जब भूदास प्रथा बढ़ोत्तरी पर थी और सामंती राज्य का कानूनी सिद्धांत पैदा हो रहा था तो अंग्रेज वकील ग्लैनविले ने भूदासों की अक्षमताओं का निम्नवत उल्लेख किया थाः न्याय के लिए राजा से अपील करने की अक्षमता, अपनी चल संपत्ति और सामानों पर अधिकार का अभाव, और मेरखेट तथा हेरिओट नामक अर्थदंड देने की जिम्मेदारी। विभिन्न जागीरों के बीच का फर्क एक ही अपराध के लिए भिन्न–भिन्न दंडों में भी देखा जा सकता है।[xxxvi]

दूसरे, जागीरें एक मोटे श्रम विभाजन का प्रतिनिधित्व करती थीं और तत्कालीन साहित्य में उनके कुछ विशेष प्रकार्य माने जाते थेः 'कुलीनता सबकी रक्षा के लिए बनी है, पादरी सबके लिए प्रार्थना करते हैं और साधारण लोग सबके लिए भोजन उपलब्ध कराते हैं।[xxxvii]

तीसरे, सामंती जागीरें राजनीतिक समूह थीं। स्टब्स ने कांस्टीट्यूशनल हिस्ट्री आफ इंग्लैंड में लिखा हैः 'जागीरों का समुच्चय ... अनेक श्रेणियों, जागीरों या राजनीतिक सत्ता के धारक लोगों की अवस्थाओं का संगठित समूह था।' इस अर्थ में भूदास कोई जागीर नहीं थे। क्लासिकी सामंतवाद में केवल दो जागीरें थीं, कुलीनता और पादरी। बारहवीं सदी में यूरोपीय सामंतवाद के पतन के साथ एक तीसरी जागीर का उदय हुआ लेकिन वे भूदास अथाव कृषिदास नहीं बल्कि नागरिक थे जो सासमंती समाज के भीतर ही एक अलग समूह के बतौर लंबी अवधि तक बने रहे जब तक उन्होंने इसे बदल नहीं या उखाड़ नहीं फेंका।[xxxviii]

सामंती जागीरों की व्यवस्था उससे कहीं अधिक जटिल और विवधतापूर्ण तथा कम कठोर थी जितना इस संक्षिप्त विवरण में दिखाई पड़ती है। जागारों के बीच भेद और सामंतवाद के राजनीतिक पहलू का सर्वोत्तम चित्रण मार्क ब्लाख की ला सोषियते फेउदाल (खंड!!) 'ले क्लास ए ल गूवरनमां दे जाम' में मिलता है। समाज में अपनी स्थिति बदलने के लिए व्यक्ति को मिले अवसरों पर विचार आर. डब्ल्यू. साउदर्न की दि मेकिंग आफ दि मितिडल एजेज (अध्याय2) तथा ए. लेन पूल की आब्लिगेषंस आफ सोसाइटी इन दि ट्वेल्वथ एंड थर्टीथ सेंचुरीज में किया गया है।[xxxix]

कुछ आधुनिक इतिहासकार और समाजषास्त्री यूरोपीय सामंती समाजों और जिन्हें उसी किस्म का समाज माना जा सकता है उनके बीच समानताओ ंकी अधिक चर्चा करने लगे हैं। बारहवीं सदी के जापान की सामाजिक व्यवस्था का अकसर सामंती कहकर वर्णन किया जाता है, उदाहरण के लिए मार्क ब्लाख (ऊपर उद्धत) और आर. कूलबार्न की फ्युडलिज्म इन हिस्ट्री में। भारत में सामंतवाद की मौजूदगी ज्यादा विवादास्पद रही है। सबसे पहले यह माननाहोगा कि यदि भारतीय इतिहास के किसी कालखं डमें सामंती संबंध मौजूद थे तो भी ये निष्चय ही जातीय संबंधों के साथ–साथ और उनके साथ अंतर्ग्रथित रूप में मौजूद थे। इसका अर्थ है कि बिना महत्वपूर्ण हेर–फेर के सामाजिक व्यवस्था का सामंती कहकर वर्णन नहीं किया जा सकता। दूसरे मौर्य, गुप्त तथा मुगल साम्राज्य और इनके पतन काल के 'सामंतवाद' में यूरोपीय सामंतवाद की कुछ विशेषताओं का स्पष्ट अभाव था। भारतीय 'सामंतवाद' के सभी अध्येता मानते हैं कि इसका आधार जागीरदारी व्यवस्था नहीं, स्वतंत्र ग्रामीण कृषि थी। के0 एस0 शेलवंकर के शब्दों में, 'भारतीय सामंतवाद का चरित्र मौद्रिक और सैनिक था। यह जागीरदारी नहीं रहा। अनेक विद्वानों का यह भी मानना है कि भारत में राजसी सत्ता की अवधारणा पश्चिम से इतनी भिन्न रही कि यह सामंती व्यवस्था की स्थापना कर ही नहीं सकती थी। 'भारत में राजा सिद्धांततः जमीन के उप–मालिक नहीं नियुक्त कर सकता था क्योंकि सिद्धांततः वह स्वयं जमीन का सर्वोच्च स्वामी नहीं था। बिचौलियों को वह केवल जमीन के कुछ विशेष और व्यक्तिगत अधिकार अर्थात राजस्व वसूली का अधिकार प्रदान कर सकता था। इस दृष्टिकोण को सार्वभौमिका मान्यता है, लेकिन कम से कम इस तथ्य पर भी सब सहमत हैं कि जब साम्राज्य पतन की ओर होते थे तो सासमंती संबंध अकसर मजबूती से पैदा हो जाते थे। क्योंकि ऐसे समयों में राजस्व– संग्रहकर्ता आसानी से भूमि पर सांपत्तिक अधिकार स्थापित कर सकते थे और राजनीतिक तथा न्यायिक प्रकार्यों पर कब्जा कर सकते थे।[xl]

(5) वर्ग (Class)- आज स्तरीकरण वर्ग व्यवस्था का सबसे अधिक प्रचलित या लोकप्रिय आधार माना जाता है। वर्ग व्यवस्था स्तरीकरण से कैसे जुड़ा हुआ है इसकी चर्चा के पहले यह समझ लेना जरूरी है कि वर्ग क्या है, इसलिए कि यह एक ऐसा सम्बोध (Concept) है जिस पर समाजशास्त्री ही

नहीं बल्कि दूसरे समाज वैज्ञानिकों ने भी काफी चिन्तन किया है। विभिन्न विद्वानों ने इसे विभिन्न तरह से रखा है। सत्य तो यह है कि समाजशास्त्र की उत्पत्ति के पूर्व वर्ग व्यवस्था के ऊपर काफी चिन्तन हो चुका था। कार्ल मार्क्स से लेकर अबतक अनगिनत समाज वैज्ञानिकों ने इस विषय पर काफी चिन्तन किया है जिसे यहाँ संक्षेप में रखने का प्रयास किया जा रहा है। अन्य सभी वैज्ञानिकों की तुलना में कार्ल मार्क्स एवं मैक्सबेवर का योगदान इस विषय पर संभवतः सबसे ज्यादा महत्वपूर्ण है। मार्क्स तो अपनी वर्ग सम्बन्धी विचारधारा के चलते आज विश्व में अमर हैं। यह बात दूसरी है कि उनके विचारों को लेकर समाज वैज्ञानिकों के बीच गहरा मतभेद है।[xlii]

सामाजिक वर्ग वास्तविक (कानूनी या धार्मिक तौर पर परिभाषित या अनुमोदित नहीं) समूह हैं; वे बंद नहीं बल्कि अपेक्षाकृत खुले हुए हैं। उनका आधार असंदिग्ध रूप से आर्थिक है लेकिन वे आर्थिक समूहों के अलावा भी बहुत कुछ हैं। वे सत्रहवीं सदी के बाद विकसित हुए औद्योगिक समाजों के विशिष्ट समूह हैं। सामाजिक वर्गों की संख्या को निश्चित करने या उनकी सदस्यता को परिभाषित करने की जब कोशिश की जाती है तो काफी दिक्कतें उठ खड़ी होती हैं। बहरहाल अधिकांश समाजशास्त्री सम्भवतः एक उच्च वर्ग (मुख्यतः औद्योगिक वेतनभोगी मजदूर), और एक मध्य वर्ग या मध्यम वर्गों (एक अस्पष्ट समूह, अकसर अवशिष्ट श्रेणी की तरह इस पर विचार किया जाता है लेकिन अधिकांश सफेदपोश कर्मचारी और उदार पेशों के अधिकांश सदस्य इसमें शामिल हैं) की मौजूदगी को मानने के लिए सहमत हो जाएंगे। कुछ समाजों में एक चौथे वर्ग किसान की मौजूदगी को भी मान्यता दी जाती है।[xliii]

1.9 स्तरीकरण के निर्धारक (Determinants of Stratification)

पारसन्स (T. Parsons, 1975: 75-76) ने स्तरीकरण के छः निर्धारकों की चर्चा की है। इनसे मात्र स्तरीकरण का ही निर्धारण नहीं होता, बल्कि व्यक्तियों की हैसियत का भी निर्धारण होता है।[xliii]

(1) नातेदारी समूह की सदस्यता (Membership in a Kinship Unit),

(2) व्यक्तिगत विशेषताएँ या गुण (Personal Qualities),

(3) उपलब्धियाँ (Achievements),

(4) स्वामित्व (Possessions),

(5) सत्ता (Authority) एवं

(6) शक्ति (Power) ।

पारसन्स द्वारा प्रस्तुत इन छः कारकों के द्वारा ही समाज में व्यक्तियों की स्थिति का निर्धारण होता है। विभिन्न समाजों में विभिन्न कारकों के अलग–अलग प्रभाव होते हैं।

(1) **नातेदारी समूह की सदस्यता–** व्यक्तियों की हैसियत समाज में कभी–कभी इस तथ्य से भी निर्धारित होती है कि वह किस प्रकार के समूह से जुड़ा हुआ है। समूह की सदस्यता दो प्रकार से प्राप्त होती है–

(i) जन्म से एवं

(ii) विवाह से

यदि कोई व्यक्ति राज–परिवार में जन्म लेता है, तो उस बालक की सामाजिक स्थिति साधारण परिवार में जन्म लेने वाले लोगों की तुलना में हमेशा ऊँची होगी। अगर कोई व्यक्ति साधारण परिवार या समाज के निम्न तबके में जन्म लेता है, तो उसकी सामाजिक हैसियत स्वाभाविक रूप से छोटी होगी। लेकिन यदि वह अपने गुणों या उपलब्धियों के कारण किसी उच्च कुल के परिवार से वैवाहिक सम्बन्ध जोड़ने में सफल हो जाता है, तो उस व्यक्ति को उस कुल की सदस्यता प्राप्त हो जाती है और फलस्वरूप उसकी सामाजिक हैसियत ऊँची हो जाती है।

(2) **व्यक्तिगत विशेषताएँ या गुण–** समाज के अंतर्गत कभी–कभी विभेदीकरण का आधार वैयक्तिक गुण भी हुआ करता है। यहाँ वैयक्तिक गुण से तात्पर्य वैसे गुणों से है जिसका सम्बन्ध जन्म या जैविक प्रक्रिया से जुड़ा है, जैसे– उम्र, लिंग–भेद, सुन्दरता, बुद्धि (Intelligence) शारीरिक शक्ति इत्यादि। समाज उम्र के आधार पर भी अपने सदस्यों के बीच सामाजिक प्रतिष्ठा में भेदभाव करता है। उसी तरह परिवार के अन्दर और बाहर लिंग के आधार पर स्त्री–पुरूष की स्थिति में अंतर पाया जाता है, अर्थात् समाज में कुछ लोग जैविक गुणों के आधार पर बड़े और छोटे होते हैं।

ध्यान देने की बात यह है कि मात्र जैविक गुणों के आधार पर ही स्तरीकरण या स्थिति का निर्धारण नहीं होता है। यहाँ सबसे महत्वपूर्ण बात यह है कि जैविक गुणों के साथ कोई सामाजिक मूल्य या सांस्कृतिक गुण जुड़ा हुआ है या नहीं। यहाँ जैविक और सामाजिक दोनों तत्व आपस में एक साथ मिलकर हैसियत का निर्धारण करते हैं।

(3) **अर्जित उपलब्धियाँ–** जिस समाज के अंतर्गत व्यक्तियों को आगे बढ़ने की पूरी आजादी होती है, वहाँ अर्जित उपलब्धियों के आधार पर सामाजिक हैसियत का निर्धारण कुछ विशेष रूप से होता है। उपलब्धियाँ भौतिक और अभौतिक दोनों ही हो सकती हैं। यदि कोई व्यक्ति बहुत बड़ा कवि, लेखक, कलाकार या खिलाड़ी होने में सफल हो जाता है, तो उसकी वह अभौतिक उपलब्धि मानी जाती है। पर यदि किसी को अपार सम्पत्ति या कोई उच्च राजनीतिक पद प्राप्त हो जाता है, तो उसकी वह भौतिक उपलब्धि मानी जाती है। भौतिक उपलब्धि साधारणतया अस्थाई होती है। इन उपलब्धियों के आधार पर समाज व्यक्तियों को क्रमबद्ध करता रहता है।

(4) **स्वामित्व–** व्यक्तियों को समाज में दो प्रकार का स्वामित्व प्राप्त होता है– एक तो वह जो आसानी से हस्तान्तरित हो सकता है, जैसे–भौतिक वस्तुएँ (जमीन, गाड़ी, मकान, वस्त्र, आभूषण इत्यादि), दूसरी वे जो आसानी से हस्तान्तरित नहीं होती हैं, जैसे– योग्यता या किसी खास प्रकार के वैयक्तिक गुण, जैसे संगीत विद्या में महारत, एक अच्छा शल्य–चिकित्सक होना या मूर्तिकार होना इत्यादि।

यहाँ ध्यान देने की बात यह है कि उपरोक्त अर्जित उपलब्धियाँ एवं स्वामित्व लगभग एक ही प्रकार के कारक हैं। पारसन्स यह स्पष्ट नहीं कर पाते हैं कि किन कारणों से उन्होंने इन दोनों को अलग–अलग कारक के

रूप में देखा है। जो फर्क दिखाई पड़ रहा है, वह बहुत बारीक है और इसकी कोई विशेष समाजशास्त्रीय महत्ता नहीं है।

(5) **सत्ता–** इसके अंतर्गत पारसन्स ने ऐसे अधिकारों की चर्चा की है जो संस्थागत हैं। यह दो प्रकार का हो सकता है– एक तो वह जो किसी व्यक्ति को समाज के परम्परागत मूल्यों के माध्यम से प्राप्त होता है, जैसे–पिता का पुत्र पर अधिकार, किसी धर्म–गुरू का उसके अनुयायियों पर अधिकार इत्यादि। सत्ता का दूसरा पक्ष वह है जो किसी व्यक्ति को किसी दफ्तर में पद से प्राप्त होता है, जैसे– जिलाधीश या मंत्री को जो सत्ता प्राप्त होती है वह उसके पद से मिलती है। सत्ता के ऐसे विभाजन से भी व्यक्तियों की सामाजिक हैसियत या समाज में स्तरीकरण का निर्धारण होता है।

(6) **शक्ति–** पारसन्स ने इसके अंतर्गत उन सभी प्रकार के अधिकारों या सत्ता की चर्चा की है जिसका वर्णन ऊपर नहीं किया गया है, इसीलिए इसे उन्होंने **शक्ति की अवशिष्ट श्रेणी** (Residual Category of Power) कहा है। इस प्रकार की शक्ति को सामाजिक वैधता प्राप्त नहीं होती है या इसे संस्थागत अधिकार नहीं कहा जा सकता है। समाज में कुछ लोग गैर–वैधानिक तरीकों के बल पर बहुत सारे काम कराने में सक्षम हो जाते हैं। उन्हें किसी प्रकार का कोई पद या समाज से मान्यता प्राप्त अधिकार नहीं होता है, लेकिन अपने बलबूते पर कुछ लोगों को प्रभावित कर कठिन–से–कठिन काम करने या कराने में सफल हो जाते हैं, जैसे– आजकल बहुत चोर, उचक्के एवं डकैत कठिन–से–कठिन चुनाव जीतने या जिताने में सफल हो जाते हैं। विभिन्न प्रकार के माफिया गिरोहों, तस्करी से जुड़े लोगों एवं अन्य अपराधी प्रकृति के लोगों को जो अधिकार व शक्ति प्राप्त है, वह इसी श्रेणी की शक्ति है। समाज में वैसे लोगों की हैसियत कुछ कम नहीं होती है। प्रेम से न सही, डर से ही सही, वैसे लोग समाज की उच्च श्रेणी में रखे जाते हैं।[xliv]

1.10 वैश्विक स्तरीकरण

जैसे कि व्यक्ति, सम्पत्ति, शक्ति तथा प्रतिष्ठाा के अनुसार स्तरीकृत किया जाता है, उसी तरह विश्व के देश भी स्तरीकृत किये जाते हैं। जो महत्वपूर्ण माडल विश्व के देशों को स्तरीकृत करने के लिए व्यवहार में लाया जाता है, वस्तुतः वह सम्पदा तथा औद्योगीकरण के मानक के अनुसार तथा किया जाता है। समकालीन सन्दर्भों में यह स्तरीकरण जीवन को निर्धारित करने वाली सामाजिक दशाओं से भी निर्धारित होती है। H.D.I. (मानव विकास सूचकांक) इसका एक महत्वपूर्ण उदाहरण है। समस्त विश्व के राष्ट्र आज तीन भागों में विभाजित किये जा सकते हैं।

1. प्रथम विश्व (The First World)
2. द्वितीय विश्व (The Second World)
3. तृतीय विश्व (The Third World)

प्रथम विश्व ऐसे देशों का समूह है जो औद्योगीकरण के मापक के अनुसार सबसे आगे हैं। इन देशो के समूह विकास के विभिन्न आयामों में अन्य देशों से बेहतर हैं। उदाहरण कनाडा, उत्तरी अमेरिका, आस्ट्रेलिया, जर्मनी, फ्रांस, इंग्लैण्ड

तथा जापान। सोवियत रूस के विघटन के पूर्व (1989) द्वितीय विश्व (The Second World) ऐसे देशों के समूह को इंगित करता था जो कि कम्यूनिष्ट तथा सोशलिस्ट विचारधारा को मानने वाले राष्ट्र थे। परन्तु वर्तमान समय में ऐसे राष्ट्रों का समूह जो अब औद्योगीकरण की प्रकिया में भागीदार हैं, इनमें पूर्व सोवियत रूस में राष्ट्र तथा पूर्वी यूरोप के राष्ट्र शामिल हैं।

इन दोनों राष्ट्रों के समूहों के अतिरिक्त जो राष्ट्र आते हैं उनको तृतीय विश्व (The Third World) के राष्ट्र कहते हैं। औद्योगीकरण तथा विकास के विभिन्न पैमानों पर इन राष्ट्रों का समूह अन्य दो समूहों की तुलना में पिछड़ा है। यह गरीब देश है तथा जीवन जीने की एक स्तरीय दशायें यहां के नागरिकों को उपलब्ध नहीं हैं। उदाहरण अफ्रीकी महाद्वीप में देश, एशिया महाद्वीप के देश जैसे बांगलादेश, नेपाल, पाकिस्तान, भारत।

1.11 वस्तुनिष्ठ बोध प्रश्न–

1. निम्नलिखित में से कौन स्तरीकरण का उदाहरण नहीं है?

   क. दास प्रथा ख. वर्ण व्यवस्था

   ग. जाति व्यवस्था घ. यौन विभेद

2. निम्नलिखित में से कौन स्तरीकरण की विशेषता नहीं है?

   क स्तरीकरण का स्वरूप सामाजिक होता है

   ख. स्तरीकरण सर्वव्यापी है

   ग. स्तरीकरण सामाजिक विभेदीकरण की व्यवस्था है

   घ. वर्ग स्तरीकरण का प्रसार नहीं है

3. जाति एक बंद वर्ग है।

   क. सत्य ख. असत्य

4. पूरा विश्व भी विकास के मापक सन्दर्भों में स्तरीकृत है। निम्न में से कौन विश्व स्तरीकरण के सन्दर्भ में सत्य नहीं है।

   क. प्रथम विश्व ख. द्वितीय विश्व

   ग. तृतीय विश्व घ. ग्लोबल विश्व

1.12 वस्तुनिष्ठ प्रश्नों के उत्तर

1. घ
2. घ
3. क
4. घ

1.13 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

[i] समाजशास्त्र विश्वकोष, हरिकृष्ण रावत, रावत पब्लिकेशन्स, जयपुर, 2002

[ii] सत्यमित्र दुबे, दिनेश शर्मा, 'समाजशास्त्र एक परिचय', एनसीईआरटी, नई दिल्ली, 1989

[iii] वही

[iv] समाजशास्त्र विश्वकोष, हरिकृष्ण रावत, रावत पब्लिकेशन्स, जयपुर, 2002

[v] एस.एल.दोषी, पी.सी.जैन, ''समाजशास्त्र नई दिशाएं, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, जयपुर 2005

[vi]टी. बी. बोटोमोर, समाजशास्त्र (समस्याओं और साहित्य का अध्ययन), अनुवादक गोपाल प्रधान, ग्रंथ शिल्पी, नई दिल्ली, 2004

[vii] सत्यमित्र दुबे, दिनेश शर्मा, 'समाजशास्त्र एक परिचय', एनसीईआरटी, नई दिल्ली, 1989

[viii] वही

[ix] एस.एल.दोषी, पी.सी.जैन, ''समाजशास्त्र नई दिशाएं, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, जयपुर 2005

[x] वही

[xi] वही

[xii] वही

[xiii] वही

[ix] वही

[xv] डॉ० जे. पी. सिंह, समाजशास्त्रः अवधारणाएं एवंसिद्धांत, पी.एच.आई. लर्निंगप्राइवेटलिमिटेड, नईदिल्ली, 2010

[xvi] वही

[xvii] सत्यमित्र दुबे, दिनेश शर्मा, 'समाजशास्त्र एक परिचय', एनसीईआरटी, नई दिल्ली, 1989

[xviii] वही

[xix] वही

[xx] वही

[xxi] डॉ० जे. पी. सिंह, समाजशास्त्रः अवधारणाएं एवंसिद्धांत, पी.एच.आई. लर्निंगप्राइवेटलिमिटेड, नईदिल्ली, 2010

[xxii] सत्यमित्र दुबे, दिनेश शर्मा, 'समाजशास्त्र एक परिचय', एनसीईआरटी, नई दिल्ली, 1989

[xxiii] डॉ० जे. पी. सिंह, समाजशास्त्रः अवधारणाएं एवंसिद्धांत, पी.एच.आई. लर्निंगप्राइवेटलिमिटेड, नईदिल्ली, 2010

[xxiv] वही

[xxv] वही

[xxvi] टी. बी. बोटोमोर, समाजशास्त्र (समस्याओं और साहित्य का अध्ययन), अनुवादक गोपाल प्रधान, ग्रंथ शिल्पी, नई दिल्ली, 2004

[xxvii]एच. जे. नीबर, सलेवरी ऐज ऐन इंडस्ट्रियल सिस्टम

[xxviii] टी. बी. बोटोमोर, समाजशास्त्र (समस्याओं और साहित्य का अध्ययन), अनुवादक गोपाल प्रधान, ग्रंथ शिल्पी, नई दिल्ली, 2004

[xxix] वही

[xxx] डॉ० जे. पी. सिंह ,समाजशास्त्रः अवधारणाएं एवं सिद्धांत, पी.एच.आई.लर्निंग प्राइवेट लिमिटेड, नई दिल्ली, 2010

[xxxi] वही

[xxxii] टी. बी. बोटोमोर, समाजशास्त्र (समस्याओं और साहित्य का अध्ययन), अनुवादक गोपाल प्रधान, ग्रंथ शिल्पी, नई दिल्ली, 2004

[xxxiii] वही

[xxxiv] डॉ० जे. पी. सिंह ,समाजशास्त्रः अवधारणाएं एवं सिद्धांत, पी.एच.आई.लर्निंग प्राइवेट लिमिटेड, नई दिल्ली, 2010

[xxxv] टी. बी. बोटोमोर, समाजशास्त्र (समस्याओं और साहित्य का अध्ययन), अनुवादक गोपाल प्रधान, ग्रंथ शिल्पी, नई दिल्ली, 2004

[xxxvi] वही

[xxxvii] वही

[xxxviii] वही

[xxxix] वही

[xl] वही

[xli] डॉ० जे. पी. सिंह ,समाजशास्त्रः अवधारणाएं एवं सिद्धांत, पी.एच.आई.लर्निंग प्राइवेट लिमिटेड, नई दिल्ली, 2010

[xlii] टी. बी. बोटोमोर, समाजशास्त्र (समस्याओं और साहित्य का अध्ययन), अनुवादक गोपाल प्रधान, ग्रंथ शिल्पी, नई दिल्ली, 2004

[xliii] डॉ० जे. पी. सिंह ,समाजशास्त्रः अवधारणाएं एवं सिद्धांत, पी.एच.आई.लर्निंग प्राइवेट लिमिटेड, नई दिल्ली, 2010

[xliv] वही

इकाई–2

सामाजिक स्तरीकरण के सिद्धांत

इकाई की रूपरेखा

2.1 उद्देश्य–

2.2 प्रस्तावना–

2.3 सामाजिक स्तरीकरण के सिद्धांत (Theories of Social Stratification)

2.4 प्रकार्यवादी विचारधारा या संदर्श (Functional Theory or Perspective)

2.5 संघर्ष–संबंधी विचारधारा या मार्क्स की विचारधारा

2.6 संकलनवादी या विभिन्न दर्शनग्राही विचारधारा

2.7 वैश्विक स्तरीकरण (Global Stratification) के सिद्धान्त

2.8 वस्तुनिष्ठ प्रश्न

2.9 उत्तर

2.10 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

2.1 उद्देश्य

इस इकाई को समझने के उपरान्त छात्र

1. सामाजिक स्तरीकरण से सम्बन्धित शास्त्रीय सिद्धान्तों के बारे में समझ सकेगा।
2. इन सिद्धान्तों के मध्य के अन्तर को जान पायेगा।
3. वर्तमान विश्व व्यवस्था के सन्दर्भ में स्तरीकरण के विभिन्न सिद्धान्तों को समझ सकेगा।

2.2 प्रस्तावना

यह निश्चित है कि सभी समाजों में सामान्य या विशिष्ट प्रकार की स्तरीकरण व्यवस्था देखने को मिलती है। सामाजिक स्तरीकरण के विभिन्न पक्षों को दृष्टिगत रखकर इसकी अनेक व्याख्याएं प्रस्तुत की गयी हैं। समाजशास्त्र के सिद्धान्तवेत्ताओं ने अपने अपने उपागमों से इसकी व्याख्या की है। यदि हम इन सिद्धान्तवेत्ताओं को किसी श्रेणी में रखें तो टी0 बी0 बोटोमोर की दृष्टि में इनकी दो कोटियाँ बनेंगी–(1) द्वंद्वात्मक एवं (2) प्रकार्यवादी। इन्हें हम (1) मार्क्सवादी, और (2) प्रकार्यात्मक सिद्धान्वेत्ता भी कहते हैं।

2.3 सामाजिक स्तरीकरण के सिद्धांत (Theories of Social Stratification)

सामाजिक स्तरीकरण के संबंध में जो भी विचार सामने आये हैं, उसे देखने से ऐसा लगता है कि समाज वैज्ञानिक मुख्य रूप से तीन प्रकार की विचारधारा में विश्वास करते हैं:

(1) प्रकार्यवादी विचारधारा (Functional Theory or Perspective),

(2) संघर्षवादी विचारधारा (Conflict Theory Perspective) एवं

(3) संकलनवादी विचारधारा (Eclectic Theory Perspective)।

मैक्स वेबर, ऑलिन रायट एवं फ्रेंक पार्किन को तीसरे प्रकार की विचारधारा के अन्दर रखा जा सकता है।[xlv]

2.4 प्रकार्यवादी विचारधारा या संदर्श (Functional Theory or Perspective)

स्तरीकरण के प्रकार्यात्मक सिद्धान्तों को हम समाज के प्रकार्यात्मक सिद्धान्त के सन्दर्भ में देखेंगे। जब प्रकार्यवादी सामाजिक स्तरीकरण की व्याख्या का विश्लेषण करते हैं तब वे यह सब विशाल प्रकार्यात्मक सिद्धान्त की रूपरेखा के अन्तर्गत करते हैं। वे यह मानकर चलते हैं कि समाज की कुछ निश्चित **बुनियादी आवश्यकताएँ** (Basic Needs) होती हैं। इन्हें वे प्रकार्यात्मक भाषा में **प्रकार्यात्मक पूर्व–आवश्यकताएँ** (Functional Pre-requisites) कहते हैं। ये आवश्यकताएँ पूर्व–आवश्यकताएँ इसलिए हैं कि यदि इन्हें पूरा न किया जाय तो समाज जीवित नहीं रहेगा, इसकी निरन्तरता समाप्त हो जायेगी। दूसरा, वे यह भी मानकर चलते हैं कि समाज के विभिन्न भाग एकीकृत होकर एक व्यवस्था को बनाते है। समाज के ये भाग सभी भागों से सम्बद्ध होते हैं। प्रकार्यवादियों का यह मानना है कि सामाजिक व्यवस्था को सुचारू रूप से चलाने के लिए समाज में एक सीमा तक स्थायित्व और सामाजिक व्यवस्था होनी चाहिए। इसी कारण उनका विचार है कि स्तरीकरण व्यवस्था समाज को बनाये रखती है और उसे स्थायित्व देती है। संक्षेप में, प्रकार्यवादियों का यह कहना है कि सामाजिक स्तरीकरण एक ऐसी व्यवस्था है जो समाज को जीवित रखती है तथा उसके हित में है।[xlvi]

समाजशास्त्र की दुनिया में और विशेषकर भारत तथा अमेरिका में प्रकार्यवादियों की भरमार है। जिस किसी को देखो, प्रकार्यवादी है। अमेरिकन प्रकार्यवादियों में मुख्यतया टालकट पारसंस (Talcott Parsons), किंग्सले डेविस (Kingsley Davis), विलबर्ट इंमूर (Wilbert E.Moore), मेलविन एम0 ट्यूमिन (Melvin M. Tumin), माइकल यंग (Michael Young) सम्मलित हैं। इन प्रकार्यवादियों की समाजिक स्तरीकरण के क्षेत्र में जो प्रकार्यत्मक देन है उसका बहुत संक्षेप में इस प्रकार वर्णन किया जा सकता है।[xlvii]

टालकट पारसंस (Talcott Parsons)

प्रकार्यवादियों ने जिनमें टालकट पारसंस अग्रणी हैं, बार–बार दोहराया है कि समाज के लिए स्थात्यिव और सहयोग का होना आवश्यक है। यह तभी संभव है जब समाज के सभी सदस्य कुछ मूल्यों के लिए एक मत हों। जब तक मूल्यों के

संबंध में मतैक्य (Consensus) नहीं होता, समाज विश्रंखल हो जायेगा। सदस्यों में इस बात को लेकर सहमति होनी चाहिए कि समाज के लिए क्या भला है और क्या बुरा ? पारसंस का तर्क है कि स्तरीकरण व्यवस्था का उद्‌गम मूल्यों के इसी मतैक्य से होता है। इन मूल्यों के आधार पर ही समाज के सदस्य एक –दूसरे की श्रेणी (Rank) को निश्चित करते हैं। मूल्यों के आधार पर ही किसी व्यक्ति या समूह को ऊँचा रखा जाता है और किसी को नीचा। दूसरे शब्दों में, व्यक्तियों की श्रेणियां मूल्यों के आधार पर निश्चित की जाती हैं। पारसंस ने स्तरीकरण के प्रकार्यात्मक विश्लेषण में मूल्य के महत्व को निश्चित करते हुए लिखा है :

स्तरीकरण, इसके मूल्यात्मक पहलू में सामाजिक व्यवस्था का सामान्य मूल्य व्यवस्था के अनुसार श्रेणियों में रखना है।[xlviii]

सामान्य शब्दों में, पारसंस कहते हैं कि स्तरीकरण वह प्रक्रिया है जिसके द्वारा सामाजिक व्यवस्था की इकाईयों को मूल्यों के आधार पर विभिन्न श्रेणियों में रखा है। इसका अर्थ यह हुआ कि वे लोग जो समाज के मूल्यों के हिसाब से अपने कार्यों का सफल सम्पादन करते हैं, ऊँचे स्तर पर रखे जाते हैं। इन लोगों को प्रतिष्ठा भी मिलेगी क्योंकि इन्होंने समाज द्वारा स्वकृति मूल्यों के अनुसार काम किया है। उदाहरण के लिए यदि किसी समाज में वीरता या शूरता को ऊँचा स्थान दिया जाता है तो ऐसे व्यक्ति निश्चित रूप से उच्च श्रेणी में आयेंगे। महाराणा प्रताप, शिवाजी या भगत सिंह ने इन ऊँचे मूल्यों को अपने जीवन में प्रथम स्थान दिया है। इसी कारण आज समाज इन्हें ऊँचा स्थान देता है। एक और दृष्टांत है। पारसंस तर्क देते हैं कि अमेरिकी समाज में व्यक्ति की उपलब्धियों को सर्वश्रेष्ठ मूल्य दिया जाता है। इस मूल्य में खरे उतरने वाले लोगों को उच्च स्थान दिया जाता है। अमेरिका में यदि कोई व्यक्ति सफलता पूर्वक अपना उद्योग चला लेता है तो यह उसकी उपलब्धि है और इस आधार पर वहाँ का समाज उसे उच्च श्रेणी में रखता है।[xlix]

भारत, पाकिस्तान या श्रीलंका जैसे देशों में जहाँ प्रजातंत्र हाल में आया है, व्यक्ति कि उपलब्धि को कोई बहुत बड़ा स्थान मिलता हो, ऐसा नहीं है। सच में देखा जाय तो ये देश प्रदत्त और अर्जित प्रस्थिति के संक्रमण काल से गुजर रहे हैं। पारसंस द्वारा दिये गये तर्क का सुक्षाव है कि सभी समाजों के लिए स्तरीकरण एक अनिवार्य आवश्यकता है। इसका कारण है कि यदि समाज के लोगों में मूल्यों के सम्बंध में मतैक्य है तो निश्चित रूप से इसका परिणाम स्तरीकरण होगा। पारसंस का दूसरा तर्क यह है कि सामाजिक स्तरीकरण जहाँ कहीं भी हो, वैध है, सही है और उचित है इसका कारण यह है कि वे कुछ न होकर समाज के साझे मूल्यों की अभिव्यक्ति है। यदि किसी उद्योग पति को उसकी उपलब्धियों के प्रतिफल में उच्च स्थान मिलता है, तो इसका कारण यह है कि समाज के लोग उद्योग को ऊँचा समझते हैं। इसका यह अर्थ नहीं है कि वे लोग जो मूल्यों के मतैक्स से सहमत नहीं है उनकी समाज के स्तरीकरण में कोई भागीदारी नहीं है। ऐसे लोगों को पारसंस कहते है कि समाज कोई महत्व नहीं देता। यदि ये लोग विरोध का स्वर उठाते है तो मतैक्य वाले लोग उन्हें 'अंगूर खट्‌टे हैं' ऐसा कहकर आलोचना करते हैं।[l]

अन्य प्रकार्यवादियों की तरह टालकट पारसंस इस तथ्य को स्वीकार करते हैं कि समाज के सभी सदस्य सहयोग और अन्तर निर्भरता (Co-Operation and Inter Dependence) द्वारा एक–दूसरे से जुड़े होते हैं। औद्योगिक समाजों में तो विशिष्टीकरण (Specialization) बहुत अधिक होता है। जितना अधिक विशिष्टीकरण होता है, उतने ही अधिक सहयोग की आवश्यकता होती है। ऐसे

समाजों में इतनी ही अधिक अन्तरनिर्भरता होती है। समाज का एक समूह जो किसानों का है, रूई की पैदावार करता है। दूसरा समूह उसे विनौले से अलग करके पूनी बनाता है। इससे आगे धागे बनते। धागे से करघों पर चढ़कर कपड़े बनते हैं। कपड़ों पर रंग चढ़ता है और इस तरह यह कपड़ा बाजार में आता है। यह दृष्टांत सहयोग, अन्तरनिर्भता और विशिष्टीकरण को बताता है। इसी को पारसंस प्रकार्यात्मकता कहते हैं।[li]

पारसंस ने प्रतिष्ठा के अन्तर को शक्ति के गैर–बराबर बटवारें के साथ जोड़ा है। प्राधिकार में जो अन्तर देखने को मिलता है, वह भी सर्वसम्मति मूल्यों के आधार पर है। व्यापार या प्रशासन में जिन लोगों को ऊँचा स्थान दिया जाता है वे मूल्यों मतैक्य के कारण हैं। इस भांति पारसंस का तर्क है कि सामाजिक स्तरीकरण एक आवश्यकता है और इसे टाला नहीं जा सकता है। इसे टाला इसलिए नहीं जा सकता कि इस का उद्‌गम वे मूल्य हैं, जिनमें सबकी साझेदारी है। सामाजिक स्तरीकरण प्रकार्यात्मक इसलिए है कि इसके माध्यम से समाज के विभिन्न समूहों को एकीकृत किया जाता है। शक्ति औ प्रतिष्ठा, दोनों को समाज रूप से नहीं बांटा जा सकता है। यदि इन्हें समान रूप से बांटा जाय तो इनका अस्तित्व ही समाप्त हो जायेगा। अतः शक्ति और प्रतिष्ठा समाज में एक जैसे नहीं बट सकते। इसी कारण समाज में गैर –बराबरी होगी, स्तरीकरण आयेगा। पारसंस ने यह पाया कि यदि समाज में गैर–बराबरी न हो तो समाज के सदस्य किस भांति सहयोग देगें और एक जुट होकर काम करेंगे। अंत में, शक्ति और प्रतिष्ठा की गैर–बराबरी से समाज के सभी सदस्यों को लाभ मिलता है। यह इसलिए कि इसके द्वारा नये सामूहिक लक्ष्यों का निर्धारण हो सकता है। और यह लक्ष्य मूल्यों के साझेदारी के परिणाम स्वरूप बनते हैं। सब मिलकर स्तरीकरण का बहुत बड़ा कारण मूल्यों की साझेदारी है।[lii]

डेविस एवं मूर का विचार (Kingsley Davis and Wilbert Moor)

डेविस और मूर ने सबसे पहली बार सन् 1945 में प्रकार्यात्मक सिद्धान्त को समाजशास्त्र की दुनिया के सामने रखा। उस समय यह सिद्धान्त अमेरिका में प्रकार्यवाद का एक लोकप्रिय सिद्धान्त बन गया। इन दोनों लेखकों ने इस सिद्धान्त का नाम स्तरीकरण के कुछ सिद्धान्त (Some Principle of Stratification) दिया। इस सिद्धान्त के प्रारम्भ में डेविस और मूर ने कहा कि सभी समाजों में किसी न किसी प्रकार का स्तरीकरण अवश्य मिलता है। स्तरीकरण का सभी समाजों में पाया जाना इस तथ्य को उजागर करता है कि समाज को इसकी आवश्यकता निश्चित रूप से रहती है। इन लेखकों का तर्क है कि सभी सामाजिक व्यवस्थाओं की कुछ निश्चित रूप से रहती है। इन लेखकों का तर्क है कि सभी सामाजिक व्यवस्थाओं की कुछ निश्चित प्रकार्यात्मक पूर्व–आवश्यकताएँ (Functional Pre-requisites) होती हैं। इसका मतलब यह हुआ कि समाज में जो भी भूमिकाएँ हैं, पूरी होनी चाहिए। दूसरा, इन भूमिकाओं का सम्पादन करने के लिए कहना चाहिये। तीसरा, भूमिकाओं का सुचारू रूप से सम्पादन करने के लिये जिस प्रषिक्षण की आवश्यकता होती है, उसे देना चाहिये। चौथा, इन भूमिकाओं को पूरी कर्त्तव्यनिष्ठा और ईमानदारी से निभाया जाना चाहिये। डेविस और मूर का तर्क है कि सभी समाजें में यह आवश्यकता होती है कि वे किसी न किसी ऐसी रचना का निर्माण करें जो इस बता का विष्वास दे सके कि समाज की पूर्व आवश्कताएँ संतोषजनक रूप से पूरी हो जायेंगी। यह रचना ही सामाजिक स्तरीकरण है। इसका अर्थ यह हुआ कि समाज की पूर्व आवश्यकताओं को पूरा करने के लिये जो रचना या बनावअ तैयार की जाती है, वह सामाजिक स्तरीकरण है। यह सामाजिक

स्तरीकरण के माध्यम से ही है कि समाज की सभी भूमिकाएँ यानी समाज की सभी आवश्यकताएँ पूरी हो जाती हैं। मनुष्य के भोजन के लिये अनाज चाहिए। इस आवश्यकता की पूर्ति खेती–बाड़ी करने वाले किसान करते हैं। समाज की आवश्यकता स्वास्थ्य बनाये रखने की है, बीमारी का निदान करने की है और यह काम चिकित्सक करते हैं। समाज की आवश्यकता षिक्षा देने की है, इसे शिक्षक पूरा करते हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि किसान, चिकित्सक, षिक्षक आदि सामाजिक स्तरीकरण के विभिन्न स्तर हैं।[liii]

यह भी एक रूचिकर बात है कि यहद समाज को जिन भूमिकाओं की आवश्यकता है वे अपने महत्व में समान होती तो षायद स्तरीकरण की आवश्यकता ही नहीं होती लेकिन वास्तविकता यह नहीं है। कुछ भूमिकाएँ ऐसी हैं जो समाज के लिये प्राथमिक ओर जीवन के अस्तित्व से जुड़ी हुई हैं। कुछ भूमिकाएँ ऐसी हैं जो अधिक महत्वपूर्ण नहीं हैं। षायद इनके बिना समाज का काम चल भी सकता है। इसी कारण स्तरीकरण में गैर–बराबर भूमिकाओं का योग होता है। चिकित्सक, इंजीनियर, षिक्षक ऐसे हैं जो हमारी बुनियादी आवश्यकताओं को पूरा करते हैं यानी ये भूमिकाएँ महत्वपूर्ण हैं। स्तरीकरण में गैर–बराबर महत्व की भूमिकाएँ होती हैं और ये सब मिलकर स्तरीकरण को बनाती हैं। निश्चित रूप से कुछ भूमिकाएँ ऐसी हैं जिन्हें हर कोई व्यक्ति नहीं कर सकता। कम्प्यूटर को दुरूस्त करना, हवाई जहाज को चलाना, कानूनी दाँवपेच को समझना, रोग का निदान करना, कुछ ऐसे कार्य हैं जिनके लिए लम्बी, अवधि तक अध्ययन करना होता है, प्रषिक्षण लेना होता है ओर थका देने वाला अभ्यास करना पड़ता है। ऐसी भूमिकाओं को निभाने वाले स्तरीकरण की योजना में दूसरों की तुलना में ऊँचा स्थान पाते हैं। दूसरी ओर, अकुषल मजदूरों को जो खेत में खरपतवार को हटाते हैं, मेहनत के अतिरिक्त किसी और प्रषिक्षण की आवश्यकता नहीं होती। ठेला चलाने वाले, रिक्षा दौड़ाने वाले ऐसे हैं जिन्हें कोई लम्बा अभ्यास नहीं करना होता। स्तरीकरण में इन व्यक्तियों के समूह को निम्न वरीयता में रखा जाता है।[liv]

सब मिलाकर डेविस और मूर का यह निष्कर्ष है कि सामाजिक स्तरीकरण के माध्यम से समाज यह सुनिश्चित करता है कि ऊँची भूमिकाएँ उन लोगों को दी जायें जो अत्यधिक योग्य हों और अपने कार्य को पूरी निष्ठा के साथ कर सकें। प्रकार्यात्मक सिद्धांत की बहुत बड़ी बात यह है कि यह सिद्धांत इस बात को निश्चित करें कि किसी समाज की अत्यधिक महत्वपूर्ण भूमिकाएँ कौन–सी हैं ओर इस भूमिकाओं को कैसा और कितना प्रतिफल (Reward) प्रदान करें।[lv]

डेविस और मूर का स्तरीकरण के प्रकार्यात्मक सिद्धांत को जो महत्वपूर्ण योगदान है वह यह कि दुनियाभर के समाजों के लिये प्रकार्यात्मक स्तरीकरण एक बहुत बड़ी आवश्यकता है। यह स्तरीकरण के माध्यम से ही है। वे कहते हैं कि सामाजिक व्यवस्था की समस्याओं को पूरा किया जा सकता है। स्तरीकरण ही व्यक्त्यिों को सामाजिक संरचना में अन्तःक्रिया करने के लिये प्ररित करता है। स्तरीकरण में विभिन्न भूमिकाएँ निभाने वाले व्यक्तियों को जो विषिष्ठ (Differential) प्रतिफल दिये जाते हैं उनके परिणामस्वरूप समाज की आवश्यकताओं की पूर्ति होती है।[lvi]

निष्कर्षतः कहें तो इस सिद्धान्त के समर्थकों का कहना है कि सामाजिक स्तरीकरण समाज की जरूरतों की उपज है, न कि व्यक्तियों की जरूरतों की। संक्षेप में सामाजिक स्तरीकरण की यह विचारधारा तीन मान्यताओं पर आधारित है–

(i) विश्व में ऐसा कोई भी समाज नहीं है जहाँ स्तरीकरण नहीं है। विभिन्न मानवशास्त्रियों के अध्ययनों से यह स्पष्ट पता चलता है कि प्रत्येक समाज में किसी–न–किसी तरह का स्तरीकरण अवश्य पाया जाता है।

(ii) प्रत्येक समाज में लगभग समान प्रकार से विभिन्न स्तरों के बीच प्रतिष्ठा का बँटवारा है। जैसे–जैसे सामाजिक स्थति या श्रेणी में गिरावट होती है, वैसे–वैसे प्रतिष्ठा में भी गिरावट होती है। किसी भी समाज में प्रत्येक व्यक्ति समान रूप से प्रतिष्ठित नहीं होता है। जो लोग समाज के सबसे ऊँचे पदों पर आसीन हैं, उन्हें समाज में सबसे अधिक प्रतिष्ठा प्राप्त है। कोई भी व्यक्ति आसानी से समझ सकता है कि भारत के राष्ट्रपति, प्रधानमंत्री तथा राज्यपाल को समान प्रतिष्ठा प्राप्त नहीं है।

(iii) इस सिद्धान्त की तीसरी मान्यता यह है कि विभिन्न समाजों के बीच सामाजिक स्तरीकरण के स्वरूप में भिन्नताएँ हैं। उदाहरणस्वरूप– सरल समाजों (Simple Societies) में स्तरीकरण का आधार साधारणतया उम्र एवं लिग (Age and Sex) हुआ करता है, जैसे– शिक्षा, वैयक्तिक गुण, राजनीतिक हैसियत, सम्पत्ति इत्यादि। यहाँ डेविस एवं मोर के सिद्धांत में स्तरीकरण के बारे में दो बातें विशेष रूप से ध्यान देने की है– पहली तो यह है कि स्तरीकरण एक विश्वव्यापी सामाजिक यथार्थ है और दूसरी यह है कि स्तरीकरण के आधार सभी समाजों के लिए समान नहीं हैं। अपने सिद्धांत के समर्थन में डेविस एवं मोर ने निम्नलिखित में डेविस एवं मोर ने निम्नलिखित विचार पेश किये हैं, जो काफी तर्कसंगत लगते हैं। लेकिन इसका तात्पर्य यह नहीं है कि यह एक दोषमुक्त विचारधारा है।[lvii]

डेविस एवं मोर ने यह तर्क दिया है कि किसी भी समाज में सभी व्यक्ति समान स्तर के नहीं हो सकते हैं। समानता की भी अपनी एक सीमा होती है। समान स्तर के लागों से समाज का निर्माण नहीं हो सकता है। सामाजिक असमानता समाज के लिए नितान्त आवष्यक है, इसीलिए कि प्रत्येक व्यक्ति को विभिन्न कार्यों के निष्पादन के लिए समान रूप से पुरस्कृत नहीं किया जा सकता है। हर एक कार्य के लिए अलग–अलग पुरस्कार और प्रोत्साहन होता है। जिस कार्य की समाज में सबसे अधिक आवश्यकता होती है उस कार्य के लिए समाज ज्यादा पुरस्कार देता है, जैसे– इंजीनियर और मजदूर को बराबर मजदूरी नहीं दी जा सकती है। उसी तरह टैक्सी चालक और हवाई जहाज के पायलट को बराबर वेतन नहीं दिया जा सकता है। हर किसी को यदि समाज में सभी कार्यों के लिए समान मजदूरी या इनाम मिले तो कोई भी व्यक्ति कठिन या जोखिम भरे कार्यों के लिए समान मजदूरी या इनाम मिले तो कोई भी व्यक्ति कठिन या जोखिम भरे कार्य को नहीं करना चाहेगा। सभी लोग आसान काम करके ही जीवन यापन करना पसंद करेंगे।[lviii]

मेलविन एम० ट्यमिन (Malvin M. Tumin)

डेविस और मूर ने प्रकार्यात्मक सिद्धांत की जो रूपरेखा रखी, उसके सारे अमेरिका में एक लम्बी बहस को जन्म दिया। इन दो लेखकों के सिद्धांत का विरोध कई समाजषास्त्रियों ने किया। इन विरोधियों में मेलविन ट्यूमिन घनघोर विरोधी थे। ट्यूमिन ने डेविस और मूर के सिद्धान्त पर कई प्रष्न प्रस्तुत किये। ट्यूमिन का आग्रह है कि समाज में किसी भी भूमिका को किस आधार पर अधिक महत्वपूर्ण समझा जाये। डेविस ओर मूर यह मानकर चलते है कि वे भूमिकाएँ जिन्हें सबसे अधिक प्रतिफल या वेतन दिया जाता है, क्या वे सचमुच समाज के लिये अधिक महत्वपूर्ण हैं? यह इसलिये कि कई व्यवसाय जिसके लिये कम वेतन दिया जाता है

या जिनकी प्रतिष्ठा निम्न है, समाज के लिये अत्यधिक आवष्यक हैं। उदाहरण स्वरूप ट्यूमिन कहते हैं कि खेती मजदूर जिनकी प्रतिष्ठा थोड़ी है ओर दिहाड़ी भी कम है, उनके बिना खेती का काम चल नहीं सकता। विरोधी समाजषास्त्रियों का कहना है कि किसी भी भूमिका के प्रकार्यात्मक महत्व को वस्तुनिष्ठा की दृष्टि से मापा नहीं जा सकता। यह कहना बहुत मुष्किल है कि वकील और चिकित्सक कृषि मजदूरों की तुलना में अधिक महत्वपूर्ण हैं। बहुसंख्यक लोग ऐसे हैं जिन्हें जीवनपर्यन्त वकील से कोई काम नहीं पड़ता जबकि कृषि उपज के साथ उनका सम्बन्ध सतत् और अनन्त है।[lix]

ट्यूमिन का कहना है कि डेविस और मूर ने प्रतिफल (Rewards) के गैर–बराबर वितरण में ष्वक्ति (Power) के प्रभाव को एकदम नकार दिया है। यह सम्भव है कि लोगों के वेतन और उनकी प्रतिष्ठा में अन्तर इसलिये है कि इसमें ष्वक्ति का गैर–बराबरी वितरण है। डेविस और मूर यह मान कर चलते हैं कि समाज में बहुत थोड़े व्यक्ति ऐसे हैं जो प्रतिभावान हैं और जो कुषल–धन्धों को अपना लेते हैं। ट्यमिन कहते हैं कि डेविस एवं मूर की इस तरह की धारणा संदेहास्पद है। इसका कारण है कि सिद्ध करना बहुत कठिन है कि प्रतिभावान व्यक्ति ही ऊँची भूमिकाओं को पा सकते हैं यदि गइराई और सावधानी से कोई देखे तो पता लगेगा कि आज समाज में बहुत अधिक संख्या में प्रतिभावान व्यक्ति हैं, जिन्हें ऊँचे स्थान नहीं मिलते। डेविस–मूर यह भी कहते हैं कि प्रतिष्ठा सम्पन्न और ऊँचे वेतन वाले लोग बड़े 'बलिदान' के बाद ऊँचे स्थान को पाते हैं। लेकिन ट्यूमिन को यह भी स्वीकार नहीं है। वे कहते हैं कि ऊँचे स्थान वाले अधिकतर लोग तिकड़मबाजी से ऐसा स्थान पा लेते हैं। हमारे देष की आज जो स्थिति है, इससे तो स्पष्ट है कि कुछ अपवादों को छोड़कर अधिकतर व्यक्ति जो ऊँचा वेतन लेते हैं, इसके योग्य नहीं हैं और न इन्होंने कोई 'बलिदान' किया है। उन्होंने तो केवल ऊँचे स्थान को पाने के लिये राजनीतिकरण किया है।[lx]

डेविस–मूर का यह भी कहना है कि गैर–बराबर प्रतिफल व्यक्तियों को महत्वपूर्ण भूमिका के निर्वाह में अभिप्रेरित करता है। ऊँचा वेतन मिलेगा तो व्यक्ति डटकर अपनी भूमिका निभायेगा। ट्यूमिन को यह स्वीकार नहीं है; वे इसके विपरीत हैं। उनका आग्रह है कि स्तरीकरण व्यक्तियों को अभिप्रेरित नहीं करता। वह तो एक रूकावट का काम करता है। उसकी समझ यह है कि जब एक बार वह ऊँची प्रस्थिति को पा जाता है, तो यह प्रस्थिति उसकी जागीर हो गयी ओर इसलिये वह काम नहीं करता। इस अर्थ में स्तरीकरण पर्याप्त भूमिका निर्वाह में अभिप्रेरक न होकर रूकावट मात्र है। हमारे देष में तो एक बार अमुक प्रस्थिति को प्राप्त कर लिया तो आगे की भूमिका पर पूर्णमिराम ही लग जाता है। स्तरीकरण तो , ट्यूमिन के विचार में एक बन्द (Closes) व्यवस्था है। जाति–व्यवस्था स्तरीकरण है लेकिन यह निश्चित रूप से बन्द स्तरीकरण है।[lxi]

अन्त में, ट्यूमिन, डेविस–मूर की इस प्राक्कल्पना को स्वीकार नहीं करते कि, सामाजिक स्तरीकरण सामाजिक व्यवसाी में एकीकरण लाता है। होता ठीक कुछ इसके विपरीत है। ट्यूमिन कहते हैं कि वेतन की गैर–बराबरी, सामाजिक व्यवस्था में वैमनस्य, विरोध, संदेह और अविष्वास पैदा करते हैं। इस दृष्टि से

सामाजिक स्तरीकरण एकता स्थापित करने वाला न होकर विघटनकारी है। खण्डों को जोड़ने वाला न होकर विखण्डन करने वाला है।[lxii]

माइकेल यंग (Michael Young)

डेविस–मूर के सिद्धांत का सार तत्व यह है कि लोग जो सामाजिक स्तरीकरण में ऊँचे ओहदे पर हैं उनकी येाग्यता भी उच्च है। ट्यूमिन ने इस तथ्य को नकारा है। इस बहस में माइकेल यंग भी हैं। वे भी इस विचारधारा के हैं कि ऊँचे स्थान पर काम करने वाले लोग योग्य हों, ऐसा आवष्यक नहीं है। या तो वे येन–केन– प्रकारेण इस स्थान पर पहुँच गये हैं या इनका जनम ऐसे परिवारों में हुआ है जिनके सदस्य पहले से ही ऊँचे स्थानों पर हैं। यंग के अनुसार, इन व्यक्तियों का ऊँचे सीानों पर होनायह कतई नहीं बताता कि वे ऊँची योग्यता के हैं।[lxiii]

यंग ने पहले तो डेविस–मूर की धारणा को नकारा है और फिर वे कहते हैं कि वास्तव में समाज में ऊँचा स्थान उन्हीं लोगों को मिलेगा जो सही अर्थों में सहीं होंगे। यंग का यह सिद्धान्त योग्यतातन्त्र (Meritocracy) के नाम जाना जाता है। वे कहते हैं कि जब वास्तविक योग्यता वाले ऊँचा स्थान पा जायेंगे तब नकली (Fake) योग्यता वाले अपने आप अपना हौसला खो देंगे। उनका विष्वास हिल जायेगा और उनके स्थान पर सही योग्यता वाले ऊँचा स्थान प्राप्त करके सामाजिक व्यवस्था को आगे बढ़ायेंगे।[lxiv]

यंग ने जिस योग्यतातन्त्र की चर्चा की है, हो सकता है वह केवल कल्पनामात्र हो, फिर भी यह सिद्धांत यह तो बताता ही है कि डेविस–मूर ने योग्यता पर आधारित जिस स्तरीकरण की चर्चा की है, वह धोखाधड़ी मात्र है। कम से कम यंग की इस बात के लिये प्रषंसा होनी चाहिए कि उन्होंने एक ऐसे स्तरीकरण की चर्चा की है जो वास्तव में योग्यता पर टिका होगा।[lxv]

जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय, नई दिल्ली से लम्बे समय तक जुड़े रहने वाले योगेन्द्र सिंह ने भारतीय समाज मे उपलब्ध सामाजिक स्तरीरण पर अधिकृत रूप से लिखा है। भारतीय सामाजिक विज्ञान अनुसंधान परिषद् (ICSSR), नई दिल्ली द्वारा प्रायोजित समाज विज्ञानों की ट्रेन्ड रिपोर्ट में योगेन्द्र सिंह ने समाजषास्त्र के सामाजिक स्तरीकरण (Sociology of Social Stratification) पर विस्तार से लिखा है। उनका तर्क है कि भारत जैसे देष में सामाजिक स्तरीकरण, सामाजिक परिवर्तन, और गतिषीलता साथ–साथ चलते हैं। उनकी सामाजिक स्तरीकरण की सैद्धान्तिक अवधारणा पर कुछ भी लिखने से पहले यह कहना चाहिये कि वे प्रकार्यात्मक स्तरीकरण के प्रवर्त्तक हैं।[lxvi]

भारत में सामाजिक स्तरीकरण के क्षेत्र में सातवें दषक में बहुत अच्छा काम हुआ है। इस तरह के योगदान ने भारतीय समाजषास्त्र को सिद्धान्त और विधि के क्षेत्र में प्रतिष्ठित किया है। इस क्षेत्र के विकसित होने का कारण यह है कि यहाँ सामाजिक ,सांस्कृतिक ,राजनीतिक और आर्थिक विकास के कारण नई षक्तियों का उद्गम हुआ। सामाजिक स्तरीकरण को प्रभावित करने का एक बड़ा कारण राट्रीय वैचारिकी (National Ideology) भी है। पिछले कुछ दषकों में जाति, वर्ग और एथनिक (Ethnic) समूह कई मुद्दों पर जागरुक हो गये हैं। इसी के परिणामस्वरुप देष में गतिषीलता, सामाजिक न्याय (Social Justice) और प्रजातान्त्रिक विचारधारा बलवती हुई है। योगेन्द्र सिंह का तो कहना है छठें और सातवें दषक में सामाजिक

स्तरीकरण का हमारे यहाँ जो विकास हुआ है, उसकी जड़ें राष्ट्रीय वैचारिकी में हैं।[lxvii]

हमारे देश में जो प्रकार्यवाद समाजशास्त्रीय अध्ययनें में देखने को मिलता है, उसके अनुसार समाजषास्त्री मानते हैं कि भारतीय सामाजिक व्यवस्था का आधार गैर–बराबरी का है। यह गैर–बराबरी जातीय समाज (Caste Society) में देखने को मिलती है। जाति–व्यवस्था ने ही बदले हुए संदर्भ में प्रस्थिति गतिषीलत और भूमिकाओं के बदलाव को स्थान दिया है। योगेन्द्र सिंह सामाजिक स्तरीकरण के समाजषास्त्रको सिद्धांत (Theory), संरचना (Structure) और प्रक्रिया (Process) के संदर्भ में दखते हैं। वे जाति–व्यवस्था तथा भारतीय वर्ग व्यवस्था का प्रकार्यात्मक संदर्भ में विष्लेषण करते हैं। उनका विचार है कि जाति-व्यवस्था यद्यपि ऊपर से विजातीय (Heterogeneous) दिखायी देती है लेकिन अन्दर से यह व्यवस्था निरन्तरता लेकिन गतिशीलता के संदर्भ में देखा है।[lxviii]

सामाजिक स्तरीकरण वस्तुतः गैर-बराबरी है। इस गैर–बराबरी पर समाजषास्त्र के साहित्य में जो कुछ अनुसंधान सामग्री है, उसकी जाँच हमने पिछले पृष्ठों में प्रकार्यात्मक संदर्भ से की है। संदर्ष की दृष्टि से हम इसकी व्याख्या करें, इसके पिछले प्रकार्यात्मक स्तरीकरण की मुख्य धारणाओं को जिन्हें पारसंस, डेविस, मूर आदि ने रखा है, उसे सार रूप में रखेंगे। यह निश्चित है कि सभी प्रकार्यवादी समाजषास्त्री स्तरीकरण को विभिन्न दृष्टियों से देखते हैं। इन वद्वानों का प्रकार्यात्मक स्तरीकरण के विष्लेषण पर मतैक्य नहीं है। मतैक्य तो दूर की बात है, वे आपस में भी एक–दूसरे का विरोध करते हैं। ट्यूमिन ने व्यवस्थित रूप से डेविस–मूर सिद्धांत का खण्डन किया है लेकिन मतैक्य न होने पर भी कुछ ऐसे बिन्दु हैं जिन पर सभी प्रकार्यात्मक स्तरीकरण से जुड़े हुए विद्वान् सहमत हैं। यहाँ हम कतिपय ऐसे बिन्दुओं का उल्लेख करेंगे, जिनसे लगभग सभी प्रकार्यात्मक समाजषास्त्री सहमत हैं।[lxix] वस्तुतः सहमति के बिन्दु प्रकार्यात्मक स्तरीकरण के मूलभूत सिद्धांतों को बताते हैंः

1. प्रकार्यात्मक स्तरीकरण यह मानकर चलता है कि सामाजिक व्यवस्था को जीवित रखने के लिए उनमें निरंन्तरता (Continuity), स्थायित्व (Stability) अवश्य होनी चाहिए।
2. सभी समाजशास्त्री इस धारणा को स्वीकार करते हैं कि स्तरीकरण समाज के लिए अवश्यम्भावी है, अपरिहार्य है। इससे कोई भी समाज छुटकारा नहीं पा सकता।
3. स्तरीकरण समाज की पूर्व–आवश्यकताओं (Pre-reqisites) की पूर्ति के लिए आवश्यक है। इसी कारण स्तरीकरण को प्रकार्यात्मक कहते हैं।
4. स्तरीकरण के बुनियादी आधार मूल्य (Values) होते हैं। कुछ मूल्य वैयक्तिक होते हैं। लेकिन कुछ मूल्य ऐसे भी होते हैं जिनमें समाज के सभी सदस्यों की साझेदारी होती है। ये मूल्य समाज को जीवित रखते हैं। समाज में जाति, वर्ग, आदि जो भी स्तर हैं उनका कारण समाज के साझेदारी के मूल्य हैं। किसी व्यक्ति को समाज में उच्च श्रेणी (Rank) में रखना या निम्न श्रेणी में सम्मिलित करना मूल्यों के आधार पर ही होता है। मूल्य ही सामाजिक स्तरीकरण के माप (Measurement) हैं। इस अर्थ में प्रकार्यात्मक स्तरीकरण एक ऐसी रचना है जिसके द्वारा समाज की आवश्यकताओं की पूर्ति होती है।

5. समाज का कौन–सा पद या ओहदा बड़ा है, उस पर बराबर बहस चल रही है। अभी तक भूमिका के उच्च या निम्न होने का कोई निश्चित पैमाना जो सर्वसम्मत हो, नहीं बनाया गया है।

प्रकार्यात्मक स्तरीकरण पर समाजषास्त्र में प्रचुर अनुसंधान सामग्री है, इस विषय पर लिखा भी बहुत गया है। इसके बारे में यदि संक्षेप रूप में विचार रखें तो कहना होगा कि स्तरीकरण एक रूढ़िवादी विचारधारा है। इसकी सहानुभूति पूँजीपतियों के लिए है। यह विधा यथास्थिति (Status quo) को बनाये रखने वाली है। इसे किसी भी स्थिति में सामाजिक परिवर्तन रास नहीं आता। लेकिन दूसरी ओर सामाजिक स्तरीकरण में जो बदलाव हम देखते हैं, वह स्वयं स्तरीकरण को बदल देता है। लेकिन यह बदलाव सतही होता है, क्रांतिकारी नहीं। भारतीय समाज में उदारीकरण आया है, खुली बाजार व्यवस्था काम करती है, संचार का जाल बहुत फैल गया है। यह सब होते हुए भी बुनियादी रूप से अमीर आज भी अमीर है, गरीब केवल गरीब ही नहीं है, उसकी प्रस्थिति भी यथास्थिति में है। इस व्यवस्था में बदलाव तो आया है लेकिन आज भी गंगू, गंगू ही है, उसकी आर्थिक–सामाजिक स्थति में कोई परिवर्तन नहीं आया है।

स्तरीकरण के प्रकार्यवादी सिद्धांत को संक्षेप में इस प्रकार रखा जा सकता है–

1. समाज में कुछ पद तुलनात्मक दृष्टि से बहुत ही महत्वपूर्ण होते हैं और उसके लिए व्यक्तियों में कुछ विशिष्ट योग्यताओं की आवश्यकता होती है।

2. समाज में प्रत्येक व्यक्ति में इतनी क्षमता नहीं होती है कि वह सभी कार्यों को ठीक से कर सके।

3. समाज में कुछ ही लोग ऐसे होते है जो अध्ययन या विशेष प्रशिक्षण प्राप्त कर उच्च पदों पर कार्य कर सकते है।

4. समाज के मेधावी लोग ऐसे काम तो तभी करेंगे जब उन्हें कुछ विशेष पारितोषिक दिया जाय, जैसे– उच्च तनख्वाह।

5. प्रत्येक समाज में असमान पारितोषिक व्यवस्था का होना नितान्त आवश्यक है, तभी विभिन्न पदों को ठीक ढंग से श्रेणीबद्ध किया जा सकता है।

डेविस एवं मोर का यह दृष्टिकोण कि समाज के लिए कुछ पद अधिक महत्वपूर्ण तो कुछ कम, यह एक विवादपूर्ण तर्क है। यह तय करना काफी कठिन काम है कि कौन–सा काम सबसे अधिक कौन सबसे कम महत्वपूर्ण है। किसी काम की महत्ता के पीछे व्यक्तिनिष्ठता (Subjectivity) का भाव छिपा हुआ है। यह करना बहुत ही कठिन काम है कि कूड़ा उठानेवालों का काम स्कूल शिक्षक की तुलना में कम महत्व का है। अतः उसे शिक्षक की तुलना में कम मजदूरी मिलनी चाहिए। उसी तरह से यह तय करना बहुत कठिन है कि एक रसोइए का काम सिपाही की तुलना में कम महत्वपूर्ण है। प्रकार्यवादी सिद्धान्त में इस दोष की ओर सबसे पहले हमारा ध्यान मेलविल एम0 टूमिन (Melvil M. Tumin, 1967) ने आकृष्ट किया था। उन्होंने यह भी कहा कि समाज में किसी व्यक्ति की योग्यता और कुशलता को मापने के लिए केवल वस्तुनिष्ठ आधार नहीं हैं। डेविस एवं मोर यह विचार भी सही नहीं लगता है कि स्तरीकरण से समाज में व्यवस्था या एकता कायम होती है। सत्य तो यह है कि स्तरीकरण के कारण स्वार्थों की टकराहट होती है जिसके कारण समाज में वर्ग संघर्ष या जातीय संघर्ष चलता रहता है।

दलित–पिछड़ा वर्ग आन्दोलन एवं कृषक आन्दोलन भारतीय सन्दर्भ में इसका उदाहरण है।

बेनडिक्स एवं लिप्सेट (R. Bendix and S.M.Lipset, 1966) की पुस्तक Class, Status and Power: Social Stratification in Comparative Perspective में स्तरीकरण के प्रकार्यवादी सिद्धान्त की विस्तृत चर्चा की गई है। आलोचकों का कहना है कि स्तरीकरण का यह सिद्धान्त वृत्ताकार तर्क (Circular Logic) पर आधारित है, जैसे– उच्च वेतन समाज के लिए प्रकार्यात्मक या आवश्यक है क्योंकि कुछ लोगों को उच्च वेतन प्राप्त है। प्रकार्यवादियों ने संघर्ष एवं शक्ति से जुड़े तथ्यों को अपने सिद्धान्त में कोई खास महत्व नहीं दिया है। इस बात को नकारा नहीं जा सकता है कि जोर –जर्बदस्ती के आधार पर भी समाज में कुछ लोगों को नीचे रखा जाता है, जैसे– गोरी दुनिया में काले लोगों को और भारत में पिछड़ों तथा दलितों को स्तरीकरण में सम्पत्ति की भी महत्वपूर्ण भूमिका होती है इन तथ्यों को इस सिद्धान्त में नजरअंदाज किया गया है।

प्रकार्यवादियों ने स्तरीकरण के अर्जित आधारों को कुछ ज्यादा की उजागर किया गया है। इस तर्क को आज कोई भी व्यक्ति पूरी तरह स्वीकार करने को तैयार नहीं है कि उच्च पदों पर आसीन सभी व्यक्ति अपनी योग्यता के बल पर ही है। बहुत लोग समाज उच्च श्रेणी वंश–परम्परा या विभिन्न प्रकार के संकीर्ण प्रभावों के माध्यम से भी प्राप्त कर लेते हैं।

प्रकार्यवादी सिद्धान्त सामाजिक स्थिरता का समर्थक है। दूसरे शब्दों में परिवर्तन विरोधी भी कहा जा सकता है यह समाज के वर्तमान व्यवस्था की सैद्धांतिक रूप से पुष्टि करता है। भारतीय संदर्भ में तो यह विचारधार बिल्कुल अनुपयोगी एवं अनुचित हैं। इस तरह की विचारधारा से जातिगत समाज को समर्थन मिलता है।

2.5 संघर्ष–संबंधी विचारधारा या मार्क्स की विचारधारा

समाज में श्रम विभाजन होता है समाज में स्तरीकरण देखने को मिलता है। इस सम्पूर्ण प्रक्रिया को कुछ विचारकों ने मार्क्सवादी दृष्टिकोण से देखा है। यह संदर्ष अपने मूल में संघर्ष (Conflict) का है। संघर्ष पर जोर मुख्यतया मार्क्स ने दिया है। इसी कारण इसे मार्क्सवादी संदर्ष कहते हैं। मार्क्स का यह संदर्ष प्रकार्यवादी विचारों का विकल्प है। मार्क्सवादी कहते हैं कि सामाजिक स्तरीकरण एकीकरण करने वाला न होकर समाज में फूट (Divisive) डालने वाला है। इस विचारधारा का तर्क है कि कुछ लोग सामूहिक हितों की चिंता न करके स्वयं के हितों के लिए दूसरों का षोषण करते हैं। इस विचारधारा के लेखक सामाजिक स्तरों (Social Strata) को अपना केन्द्र बनाते हैं न कि गैर–बराबरी को। प्रकार्यवादियों में, उदाहरण के लिए पारसंस, डेविस और मूर, सामाजिक स्तरीकरण को विभिन्न स्तरों के जोड़ की तरह नहीं देखते।

स्तरीकरण की इस विचारधारा को प्रस्तुत करने से पहले हम मार्क्स के विचारों का संक्षेप में उल्लेख करेंगे।[lxx]

सभी स्तरीकरण समाजों में दो मुख्य समूह होते हैं–पहला, षासक वर्ग (Ruling Class), और दूसरा षासित या प्रजा वर्ग (Ruled or Subject Class)। वे लोग जो षासक वर्ग के हैं उनके पास ष्षक्ति इसलिए होती है कि वे उत्पादन षक्तियों के स्वामी होते हैं और इन षक्तियों पर उनका नियंत्रण भी होता है। षासक वर्ग षासित वर्ग का षोषण और दमन करता है इसके परिणाम स्वरूप इन

दोनों वर्गों में अपने हितों को लेकर टकराव व संघर्ष होता है। इस दृष्टि से देखें तो समाज में जो भी राजनीतिक और कानूनी व्यवस्था है, वह और कुछ न होकर षासक वर्ग के दबदबे और प्रभुत्व को बनाये रखने का साधन मात्र है। मार्क्स का तो कहना है कि जब तक उत्पादन षक्तियों पर स्वयं समाज का सामूहिक अधिकार नहीं होगा वर्ग लुप्त नहीं होंगे। वर्ग की मृत्यु तो उत्पादन षक्तियों के मालिकाना परिवर्तन द्वारा ही होगी। जब वर्ग समाप्त हो जायेंगे तो अपने आप दूसरों का षोषण व दमन भी समाप्त हो जायेगा।[lxxi]

मार्क्सवादी दृष्टिकोण का इस भाँति तर्क यह है कि स्तरीकरण व्यवस्था का मूल कारण उत्पादन शक्तियाँ (Production Forces) हैं। मार्क्स का तो कहना है कि सभी स्तरीकरण व्यवस्थाओं में वर्ग (Class) एक बहुत बड़ा स्तर (Strata) है। अगर मार्क्स के विचारों सक वर्ग की परिभाषा दें तो कहना होगा कि वर्ग ऐसा सामाजिक समूह है जिसके सदस्यों का उत्पादन षक्तियों के साथ सम्बन्ध एक समान होता है। उदाहरण के लिये सामन्तवादी युग में सम्बन्धों की समानता के आधार पर दो मुख्य वर्ग उभरकर आते हैं। इन वर्गों में एक वर्ग उन लोगों का है जो भूमि के मालिक हैं। उत्पादन शक्ति की दृष्टि से यह वर्ग ताकतवर होताहै। इस वर्ग को सामन्त वर्ग कहते हैं। ये लोग खेती की विषाल भूमि के मालिक होते हैं। सामन्तवादी व्यवस्था में दूसरा वर्ग कृषि दास (Serf) का होता है। कृषि दास भूमिहीन होते हैं। पूँजीवादी व्यवस्था में भी मुख्यतया दो वर्ग होते हैं– (1) बुर्जुआ या पूँजीपति वर्ग, और (2) प्रोलेटेरियट या सर्वहारा वर्ग। पूँजीपति वर्ग के पास उत्पदन के साधनों का स्वामित्व होता है। सर्वहारा वर्ग यानी कामगारों का वर्ग वह है जो केवल अपने परिश्रम का मालिक है। ये कामगार दिहाड़ी या निश्चित पगार पर बाजार या पूँजीपति के यहाँ काम करते हैं।[lxxii]

मार्क्स का कहना है कि पश्चिमी समाज का विकास मुख्य रूप से चार युगों में हुआ है– (1) आदिम साम्यवाद, (2) प्राचीन समाज,(3)सामन्तवादी समाज और (4) पूँजीवादी समाज। आदिम साम्यवादी उस युग की बात है जो पूर्व ऐतिहासिक है। इस समाज में कोई वर्ग नहीं थे। इस युग के बाद प्रत्येक समाज दो वर्गों में बँट गया– (1) मालिक, और (2) दास। ये दो वर्ग प्राचीन समाजों में मिलते हैं; भूमि मालिक और कृषि दास सामन्त समाज में पाये जाते हैं और पूँजीपति और दिहाड़ी पाने वाले मजदूर पूँजीवादी समाज में देखे जाते हैं। मार्क्स का कहना है कि इतिहास के प्रत्येक युग में उत्पादन करने के लिये जिस श्रम शक्ति की आवश्यकता होती है उसे शासित वर्ग देता है। यह वर्ग वस्तुतः दास, कृषि दास ओर दिहाड़ी करने वाले मजदूरों का होता है। वह वर्ग जो शासित होता हैउसमें जनसंख्या का बहुत बड़ा भाग सम्मिलित होता है। वह वर्ग जो शासित होता है उसमें जनसंख्या का बहुत बड़ा भाग सम्मिलित होता है जबकि शासक वर्ग जनसंख्या की दृष्टि से अपसंख्यक होता है मार्क्सवादी संदर्ष के अनुसार ससमाज के मुख्य वर्गों में जो सम्बन्ध होते हैं, उनका आधार संघर्ष होता है। पूँजीवादी समाज में पूँजीपति ओर मजदूर एक–दूसरे पर निर्भर होते हैं। मजदूर अपनी श्रम षक्ति को बेचता है और इस भाँति अपना जीविकोपार्जन करता है। उसे श्रम इसलिये बेचना पड़ता है कि उत्पादन षक्तियों में उसकी कोई भागीदारी नहीं होती और न वह अपने बलबूते पर स्वतन्त्र रूप से कोई उत्पादन कर सकता है। इसका मतलब यह हुआ कि मजदूर अपने जीविकोपार्जन के लिये, पूँजीपति उसे जो भी दिहाड़ी देता है, उस पर निर्भर रहना है। और पूँजीपति जो स्वयं उत्पादन नहीं करता, श्रमिकों की श्रम षक्ति पर निर्भर रहता है। उसकी निर्भरता इसलिये है कि यदि उसे मजदूर नहीं मिलते तो कारखाने में कोई उत्पादन नहीं होगा अतः एक–दूसरे पर निर्भर हैं। मजदूर को बिना दिहाड़ी किये पगार नहीं मिल सकती

और बिना मजदूर के पूँजीपति के कारखाने का उत्पादन नहीं हो सकता। इस दृष्टि से मालिक और मजदूर के सम्बन्ध शोषक और शोषित के हैं; शासक और शासित के हैं। सच्चाई यह है कि शासक वर्ग शासित वर्गों के रम पर अपने हितों को पूरा करता है। इसी कारण मार्क्स कहते हैं कि इन दोनों वर्गों के सम्बन्ध संघर्ष सम्बन्ध हैं।[lxxiii]

मार्क्स की दृष्टि में पूँजीपति वर्ग के पास जो कुछ राजनीति शक्ति है उसका मूल कारण आर्थिक शक्ति है। शासक वर्ग के पास जो भी शक्ति है वह इसलिये कि उसका उत्पादन शक्तियों पर नियंत्रण है, स्वामित्व है। इसी कारण समाज की जो भी अधि–संरचना (Super- Structure) मुख्य संस्थाएं मूल्य, विश्वास, दर्शन, धर्म, साहित्य, कला हैं, सबका उद्‌गम स्थान आर्थिक संरचना है। जो भी उत्पादन सम्बन्ध हैं, वे ही अधिसंरचना को बनाते हैं। पूँजी पति वर्ग के हेतु बहुत वृहत् ओर गहन होते हैं। इन हेतुओं की सरक्षा के लिए यह वर्ग एक ऐसी वैचारिकी पैदा करता है जो एक झूठे वर्ग चेतना (False Class Consciousness) को जन्म देती है। यह वैचारिकी पूँजी पति और सर्वहारा के सम्बन्धों की प्रकृति का गलत बयान करती है।[lxxiv]

मार्क्स का यह विश्वास है कि वर्ग संघर्ष सामाजिक परिवर्तन की मूल धारण है। वे कहते हैं– अब तक के सभी समाजों का इतिहास वर्ग संघर्ष इतिहास है (The History of all Societies up to the Present is the history of the class struggle)। मार्क्स को भरोसा है कि पूँजीवाद में बनियादी विरोध है और इसलिए इसका परिणाम इसके मौत में ही निहित है। वह समय आयेगा जब सर्वहारा बुर्जुआ वर्ग के जुये को उतार फेंकेगा और इस तरह उत्पादन शक्तियों पर सर्वहारा का आधिपत्य स्थापित हो जायेगा।[lxxv]

कार्ल मार्क्स ने अपनी पुस्तक साम्यवादी घोषणापत्र (Communist Manifesto) में लिखा है ''आज तक अस्तित्व में रहे समाजों का इतिहास, वर्ग संघर्षों का इतिहास है। ''अर्थात प्रत्येक काल में वर्ग रहे हैं और उनके बीच निरंतर संघर्ष रहा है। स्वतंत्र लोग व दास, कुलीन व अकुलीन, सामन्त और अर्ध–दास, अत्याचारी व पीड़ित, ये सभी वर्ग विभिन्न कालों में रहे हैं। मार्क्स के वर्ग का विचार समाज में व्याप्त आर्थिक असमानता पर आधारित है। इसे समझने के लिए मार्क्स के द्वारा दिये उत्पादन के साधनों (Means of Production) की अवधारण को समझना होगा।[lxxvi]

औद्योगिक युग के पूर्व खेती एवं उससे जुड़े उपकरण उत्पादन के मुख्य साधन माने जाते थे। उस काल के समाज में मार्क्स के अनुसार दो वर्ग थे– (i) भूस्वामी वर्ग– अभिजात वर्ग (Aristocrats) तथा भद्र लोग (Gentry) या दास स्वामी (Slave-holders) और (ii) उत्पादक वर्ग–कृषिदास (Serfs), दास (Slaves) एवं स्वतंत्र कृषक (Free peasantry)। सामन्तवादी युग में यही दो वर्ग पाये जाते थे और इन्हीं दोनों के बीच स्वार्थों की टकराहट के कारण संघर्ष होता था। औद्योगिक युग में दो नये वर्गों का विकास हुआ–(i) उद्योगपति या पूँजीपति (Industrialist or capitalist) एवं (ii) मजदूर वर्ग (Working Class)। इस विभाजन का आधार उत्पादन का साधन ही है। चूँकि वर्ग का विभाजन शोषण पर आधारित होता है, इसीलिए इस अवस्था में भी स्वार्थो की टकराहट के कारण दो वर्गों के बीच अक्सर संघर्ष होता रहा है। मार्क्स ने एक तीसरे वर्ग की भी चर्चा की है जिसे उन्होंने संक्रमणशीलता वर्ग (Transitional Class) कहा है। समाज जब एक ऐतिहासिक काल से दूसरे काल में प्रवेश करता है तब पिछले काल का कुछ अवशेष नये काल में पूर्ववत रह जाता है, पर ऐसा लम्बे समय के लिए नहीं होता

है, जैसे–फ्रांस और स्पेन ने जब समाज सामंती व्यवस्था से औद्योगिक व्यवस्था में प्रवेश किया तब औद्योगिक काल में भी कुछ लोग सामंती व्यवस्था की तरह जागीरदारी प्रथा से जीवन–यापन करते रहे। यह स्वाभाविक है क्योंकि समाज एक चरण से दूसरे चरण में जाने पर मौलिक रूप से नहीं बदलता है।[lxxvii]

मार्क्स ने लोगों का ध्यान वर्ग विशेष के अंतर्गत पाये जाने वाले वर्ग संघर्ष की ओर भी आकृष्ट किया है। एक ही वर्ग के अंतर्गत दो विरोधी किस्म के स्वार्थ–समूह पाये जाते हैं, उदाहरणस्वरूप –उच्च वर्ग के अंतर्गत वित्तीय पूँजीपति (Fomamcoa; Capitalist), तथा बैंकर्स एवं औद्योगिक उत्पादक (Industrial Manufacturers) के बीच संघर्ष पाये जाते हैं। ठीक उसी प्रकार छोटे बड़े उद्योग धन्धों के लोगों के बीच स्वार्थों की टकराहट होती है। मजदूर वर्ग के अंतर्गत भी स्थायी मजदूरों एवे दैनिक मजदूरों या बेरोजगार लोगों के बीच संघर्ष देखने को मिलता है। वर्ग संघर्ष के इस विचार का विरोध करते हुए डाहरेनडॉर्फ (Ralph Dahrendorf) ने कहा है कि वर्ग संघर्ष कभी भी पूरे समाज के स्तर पर नहीं होता है, बल्कि समाज के अंतर्गत पाए जानेवाले छोटे–छोटे समूहों के बीच होता है। दूसरे शब्दों, में तनाव और संघर्ष पूरे समाज की संरचना पर नहीं होते बल्कि संरचना के भीतर पाए जाने वाले कुछ समूह के स्तर पर होते हैं।[lxxviii]

मार्क्स ने केवल आर्थिक कारक को ही सामाजिक स्तरीकरण का आधार माना है जबकि समाज में धर्म, जाति, शिक्षा, व्यवसाय, प्रजाति, पेशा, एवं वैयक्तिक गुणों के आधार पर भी स्तरीकरण पाया जाता है, जैसा कि मैक्सवेबर एवं अन्य समाजशास्त्रियों ने भी दलील दी है। मार्क्स की विचारधारा काफी संकुचित है, क्योंकि मात्र वर्ग संघर्ष के आधार पर ही सामाजिक स्तरीकरण को नहीं समझा जा सकता है। मार्क्स के विचारों के आधार पर विश्व में पाये जाने वाले सभी सामाजिक स्तरीकरण के प्रकारों को कदापि नहीं समझा जा सकता है। उदाहरणस्वरूप भारत में ही एक लम्बे समय तक, विशेष कर प्राचीन एवं मध्यकालीन युग में, सामाजिक स्तरीकरण का मुख्य आधार जाति था। वर्तमान भारत में भी बहुत कुछ इसका रूप देखने को मिलता है। उनकी यह भी दलील सही नहीं है कि प्रत्येक वैसा समाज जो वर्ग व्यवस्था पर आधारित है अपनी असमानताओं के कारण संघर्ष की दहलीज पर खड़ा है।[lxxix]

मार्क्स ने जिस वर्ग विहीन समाज की कल्पना की है उससे यही स्पष्ट होता है कि वे स्तरीकरण के विरोधी थे। चूँकि स्तरीकरण के पीछे असमानता और असमानता का आधार शोषण है, इसीलिए उन्होंने स्तरण–मुक्त समाज की कल्पना की है। पर अबतक के अनुभवों के आधार पर यही कहा जा सकता है कि उनका यह विचार काफी काल्पनिक है स्तरीकरण एक सामाजिक यथार्थ है। अतः स्तरण–मुक्त समाज यथार्थ विरोधी है।[lxxx]

यहाँ मार्क्स की स्तरीकरण की अवधारणा को थोड़े वृहत् रूप में प्रस्तुत किया है। इसका कारण है कि आज के पूँजीवादी युग में किसी भी समाज में उत्पादन सम्बन्धों को लेकर जो भी स्तरीकरण मिलता है, उसका बुनियादी आधार संघर्ष है। एक तरफ पूँजीपति वर्ग अपनी यथास्थिति को बनाये रखना चाहता है, और दूसरी तरफ सर्वहारा वर्ग उत्पादन शक्तियों पर अपना स्वामित्व चाहता है।[lxxxi]

प्रकार्यवादियों और मार्क्सवादियों में बुनियादी प्रतिरोध है। जहाँ प्रकार्यवादी मानते हैं कि स्तरीकरण समाज में एकीकरण लाता है, वहां संघर्षवादी (मार्क्सवादी) स्तरीकरण को विघटक समझते हैं। एक दिन ऐसा आयेगा जब पूँजीपति और

सर्वहारा का संघर्ष समाज को छोड़कर **वर्गहीन–राज्यहीन** (Classless–Stateless) स्तर पर खड़ा कर देगा।[lxxxii]

मार्क्सवादी सिद्धांत का निश्चित रूप से पूर्णविराम नहीं है। मार्क्स के बाद लेखकों ने मार्क्स के सिद्धांत को बराबर विकसित किया है और अपने इस प्रयास में उन्होंने स्तरीकरण को संघर्ष की विचारधारा के संदर्भ में रखा है। उदाहरण के लिए **राल्फ डेहरनडोर्फ** (Ralph Dahrendorf) ने आधुनिक समाज को **निगम पूँजीवाद** (Corporate Capitalism) के रूप में देखा है। निगम पूँजीवाद में उत्पादन साधनों का स्वामित्व **शेयर धारकों** (Share Holders) का होता है। जबकि पिछले पूँजीवाद में व्यक्ति ही पूँजी के मालिक थे। पूँजीवाद का विकसित स्वरूप निगम पूँजीवाद में देखने को मिलता है। डेहरनडोर्फ निगम पूँजीवाद में अधिकारी तंत्र को देखते हैं। इस अधिकारीतन्त्र में और इसी तरह अन्य सामाजिक संस्थाओं में लोगों के जो सम्बन्ध होते है, वे षक्ति से जुड़े हेाते है। मार्क्स कहते हैं कि पूँजीवादी व्यवस्था में संघर्ष का कारण उत्पादन शक्तियों पर नियंत्रण होता है, वहाँ पूँजीवाद में अधिकारी तंत्र में काम करने वाले लोगों के सम्बन्ध (Authority Relations) होते हैं। अधिकारी तंत्र का प्रत्येक कर्मचारी अधिक से अधिक शक्ति पाने के लिए संघर्ष करता है। ऐसे समाज में जो स्तरीकरण बनता है उसमें एक स्तर उन लोगों का होता है जिनके पास न्यूनतम शक्ति होती है। इन दोनों वर्गों में समाज बंटा रहता है प्राधिकार सम्बन्ध मार्क्स के उत्पादन संबन्धों का एक नया प्रकार है और इनके प्रणेता **डेहरनडोर्फ** है।[lxxxiii]

डेहरनडोर्फ के अतिरिक्त मार्क्सवादी स्तरीकरण को रेन्डल कोलिन्स (Randal Collins) ने भी विकसित किया है। हम संघर्षवादी लेखकों को एक के बाद एक को सावधानी पूर्वक देखें तो लगेगा कि ये सब समाज के विभिन्न वर्गों में बंटा हुआ मानते हैं। इन वर्गों का लक्ष्य समाज में समता प्राप्त करना होता है। इसी कारण समान स्तरीकृत होता जाता है। इस स्तरीकरण का आधार मतैक्य नहीं होता है, संघर्ष होता है।[lxxxiv]

2.6 संकलनवादी या विभिन्न दर्शनग्राही विचारधारा

मैक्स वेबर का सिद्धान्त – बहुत सारे मार्क्सवाद के विरोधी समाजशास्त्री मैक्स वेबर को मार्क्स का एक विकल्प मानते हैं। लेकिन मैक्स वेबर ने भी मार्क्स के सभी विचारों का खण्डन नहीं किया है, जैसे– मार्क्स की तरह वेबर ने भी उस तथ्य को स्वीकार किया है कि आर्थिक आधार स्तरीकरण का एक बहुत ही महत्वपूर्ण निर्धारक है। लेकिन इस विषय पर वेबर ने मार्क्स से थोड़ा आगे जाने का भी प्रयास किया है, जो इस प्रकार है।[lxxxv]

वेबर ने कहा है कि किसी व्यक्ति का उत्पादन के साधनों या सम्पत्ति पर कितना नियन्त्रण है, मात्र इसी आधार पर ही वर्ग निर्धारण नहीं होता है। कोई व्यक्ति किस वर्ग में श्रेणीबद्ध होगा, यह इस बात पर भी निर्भर करताा है कि खुले बाजार (Market Place) में उसकी योग्यता या सेवा की क्या कीमत है। किसी भी समाज में सभी सेवाओं का महत्व समान नहीं होता है। जैसे– एक डाक्टर एवं किरानी की सेवा का समान आर्थिक महत्व नहीं होता है। अतः यह कहना कि मात्र सम्पत्ति के स्वामित्व के आधार पर वर्ग निर्धारण होता है, यह सही नहीं है। पुनः मैक्स वेबर ने दलील दी है कि सम्पत्ति के अलावा शक्ति (Power) एवं सम्मान (Prestige) के आधार पर भी समाज में स्तरीकरण का निर्धारण होता है। उन्होंने दल (Party) को शक्ति का स्रोत माना है। उसी तरह प्रतिष्ठा (Prestige) का स्रोत

सामाजिक हैसियत है। (कुछ समाजशास्त्रियों ने वेबर के द्वारा दल (Party) शब्द का प्रयोग करना गलत माना है। उनके अनुसार वेबर को Political Block या Factions जैसे शब्द का प्रयोग करना चाहिए था।[lxxxvi]

वेबर ने बताया है कि चूँकि दलों का सम्बन्ध शक्ति या सत्ता से है इसीलिए इसके आधार पर भी समाज में स्तरीकरण हेाता है, जैसे– दलों का निर्माण कभी–कभी जाति, प्रजाति, भाषा एवं धर्म के आधार पर भी होता है इसीलिए स्तरीकरण के निर्माण में इन कारकों की महत्वपूर्ण भूमिका होती है। तमाम समाजों में सभी लोग समान रूप से शक्तिशाली नहीं होते हैं। दलों के माध्यम से समाज में शक्ति का संचार या उपयोग होता है। उसी के आधार पर व्यक्ति का समाज में राजनीतिक पकड़ या नियन्त्रण होता है। अतः हम यह कह सकते हैं कि दल या सत्ता के आधार पर भी लोग समाज में श्रेणीबद्ध या स्तरित होते हैं।[lxxxvii]

प्रतिष्ठा (Prestige) के सम्बन्ध में उन्होंने बताया है कि समाज में प्रत्येक व्यक्ति की हैसियत बराबर नहीं होती है। समाज के किसी समूह को प्रतिष्ठा अधिक प्राप्त है तो किसी को कम। जैसे– भारत में उच्च सरकारी पदाधिकारी (आई0 ए0 एस0 एवं आई0 पी0 एस0), डॉक्टर, इंजीनियर, प्रोफेसर इत्यादि लोगों को साधारण वेतनभोगी लोगों की तुलना में काफी अधिक प्रतिष्ठा प्राप्त है। उसी तरह से प्रतिष्ठा के आधार पर दलितों की तुलना में ब्राह्मणों को ऊँची सामाजिक हैसियत प्राप्त रही है। समाज में सामाजिक हैसियत कभी प्राप्त की जाती है तो कभी आरोपित भी होती है। जब कोई व्यक्ति कुलीन वर्ग या राजा–महाराजा के खानदान में पैदा होता है, तो समाज उसे जन्म के आधार पर उच्च सामाजिक हैसियत से आरोपित करता है। जसे इंग्लैंड, जापान, नेपाल, थाईलैंड, सऊदी अरब में आज भी हम देखते हैं कि वहाँ कुछ लोगों को जन्म से ही ऊँची सामाजिक हैसियत प्राप्त है। सामाजिक स्तरीकरण में वे सबसे ऊँचे स्तर पर खड़े होते हैं। दूसरी तरफ कुछ वैसे भी लोग होते हैं जो जन्मजात नीची सामाजिक हैसियत वाले होते हैं, जिसे भारत में दलित या अछूत वर्ग (Pariah Group) कहा जाता है। यहाँ पर यह स्पष्ट होता है कि समाज किसी व्यक्तियों के समूह को कितना सम्मान की दृष्टि से देखता है, इस तथ्य पर भी सामाजिक स्तरीकरण निर्धारित होता है। मैक्स वेबर ने हैसियत का विचार मध्यकालीन यूरोप में पाये जाने वाले इस्टेट जैसी व्यवस्थाओं को ध्यान में रखकर दिया है। जब मध्यकालीन यूरोप में सामंतवादी व्यवस्था थी तो साधारणतया लोगों को हैसियत जन्म से ही प्राप्त होती थी। कुलीन वर्ग में पैदा होने वाले व्यक्ति हमेशा साधारण वर्ग (Third Estate) की तुलना में ज्यादा ही सम्मानित माने जाते थे।

वेबर ने बताया है कि सामाजिक हैसियत (Status), दल (Party) एवं आर्थिक कारकों के बीच में एक अन्तः सम्बन्ध है। ये तीनों मिलकर ही समाज में पाये जाने वाले सामाजिक स्तरीकरण का निर्माण करते हैं। चूँकि इन तीनों का स्वरूप भिन्न–भिन्न समाजों में भिन्न–भिन्न होता है, प्रत्येक समाजमें स्तरीकरण का स्वरूप भी अलग–अलग होता है। उनके अनुसार औद्योगिक समाज में साधारणतया चार प्रकार के वर्ग पाये जाते हैं, जैसा कि हरालैम्बोस (Haralambos, 1989:45) ने लिखा है–

1. धनवान उच्च वर्ग (Propertied Upper Class),
2. धनहीन सफेद–पोश कर्मचारी (Propertyless White-Collar Workers),
3. निम्न मध्यवर्ग (Petty Bourgeoisie) एवं
4. मजदूर वर्ग (Manual Working Class)

ऐरिक ऑलिन रायट (Eric Olin Wright) का विचार– अमरीकी समाजशास्त्री ऐरिक ऑलिन राईट (Erik Olin Wright) ने मार्क्स के विचारों से काफी प्रभावित होकर वर्ग पर एक अलग विचार दिया है। पर इस विचारधारा में बहुत कुछ मैक्स वेबर का भी प्रभाव देखने को मिलता है (Wright, 1978;1985)। मुख्य रूप से वे उदारवादी विचारधारा के समर्थक थे। उनका तर्क है कि आधुनिक पूँजीवादी व्यवस्था के अंतर्गत आर्थिक स्रोतों पर नियन्त्रण का स्वरूप तीन प्रकार का होता है।

1. निवेश या मुद्रा पूँजी पर नियन्त्रण (Control over investments or money capital),
2. उत्पादन के भौतिक साधनों पर नियन्त्रण (भूमि,कारखाने एवं दफ्तर) Control over the physical means of production (land or factories and offices) तथा
3. मजदूर वर्ग पर नियन्त्रण (Control over labour power)।

पूँजीपति वर्ग के लोग अर्थ व्यवस्था के इन तीनों क्षेत्रों पर अपना नियन्त्रण रखते हैं, जबकि मजदूर वर्ग के लोगों का नियन्त्रण अपने ऊपर भी नहीं हो पाता है। यहाँ उन्होंने यह बताया है कि समाज में मुख्यतः दो ही वर्ग होते हैं, एक तो वे जो अर्थव्यवस्था पर अपना नियन्त्रण रखते हैं, जिसकी चर्चा अभी ऊपर की जा चुकी है और दूसरेवे जो मजदूर वर्ग के हैं। इन दोनों वर्गो के बीच एक तीसरा वर्ग भी होता है जिसका स्थान पूँजीवादी व्यवस्था में बहुत स्पश्ट नहीं होता है। वैसे लोगों का न तोउत्पादन के साधनों पर नियन्त्रण होता है और न ही मजदूर वर्ग के ऊपर। मैनेजर, व्यावसायिक वेतनभोगी (Professional Employees) एवं अन्य सफेदपोश वेतनभोगी (White-collar Employees) इत्यादि इसी वर्ग में आते हैं। पर मजदूर वर्ग के लोगों की तुलना में उत्पादन पर उनका नियन्त्रण ज्यादा होता है, पर वे न तो पूँजीवादी की श्रेणी में आते हैं और न ही मजदूर की श्रेणी में। उनमें दोनों वर्गों की विशेषताएँ पायी जाती हैं। राईट के अनुसार वैसे लोगों का चरित्र आधुनिक पूँजीवादी व्यवस्था के अंतर्गत Contradictory Class Locations का होता है।

(c) फ्रैन्क पार्किन (Frank Parkin) का विचार– राईट के विपरीत पार्किन का विचार मैक्स वेबर से ज्यादा और मार्क्स से कम प्रभावित हुआ प्रतीत होता है। जिस हद तक वेबर ने मार्क्स के वर्ग सम्बन्धी विचार को स्वीकार किया है, उस हद तक पार्किन ने भी उस विचार का समर्थन किया है (Parkin, 1971; 1979)। वेबर की तरह मार्क्स के इस विचार का उन्होंने भी समर्थन किया है कि सम्पत्ति पर प्रभुत्व या उत्पादन के साधनों पर नियन्त्रण के आधार पर वर्ग का निर्माण होता है। पर पार्किन ने यह कहा है कि सम्पत्ति बहुत सारे तरीकों में से एक कारक मात्र है।

पार्किन ने अपनी वर्ग सम्बन्धी विचारधारा को स्पष्ट करने के लिए सामाजिक समापन (Social Closurs) की अवधारणा दी है। उन्होंने बताया है कि मात्र सम्पत्ति के आधार पर ही हम दूसरे लोगों पर प्रभुत्व नहीं स्थापित करते हैं बल्कि प्रजाति, भाषा और धर्म के आधार पर भी समाज में सामाजिक समापन पैदा होता है, अर्थात् इसके आधार पर हम समाज में अपना अधिक नियन्त्रण ही नहीं रखते, बल्कि कुछ लोगों को विशेष प्रकार के अधिकारों या सुविधाओं से वंचित भी रखते हैं। सभी व्यक्तियों को समान अधिकार या जीवन की सुविधा हो, ऐसा कोई नहीं चाहता है। जैसे– इंग्लैंड और अमरीका में प्रजाति के आधार पर गोरे लोग

सामाजिक समापन (Social Cloure) का निर्माण करते हैं। जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में गोरे लोगों का समाज पर काले लोगों की तुलना में अधिक प्रभाव और नियन्त्रण है। उन्हें बहुत तरह के अधिकारों या सुविधाओं से जान–बूझकर वंचित रखा जाता है। अच्छी शिक्षण संस्थानों में पढ़ने या किसी उच्च पद पर पहुँचने का समान अधिकार व्यवहार में प्राप्त नहीं है। भारत में भी धर्म और जाति के आधार पर सामाजिक समापन का स्वरूप स्पश्ट दिखायी पड़ता है। उच्च जातियों का दलितों एवं पिछड़ी जातियों की तुलना में सामाजिक एवं राजनीतिक जीवन में कुछ ज्यादा ही प्रभाव रहा है। इसी का नतीजा है कि आज भी भारतीय विश्वविद्यालयों में 90 प्रतिशत से भी ज्यादा प्रोफेसर उच्च जाति के हैं। अतः हम कह सकते हैं कि सम्पत्ति के अलावा, जाति, प्रजाति, धर्म एवं भाषा के आधार पर भी समाज में वर्गों का या सामाजिक स्तरीकरण का निर्माण होता है।

पार्किन ने बताया है कि पेशे के आधार पर भी वर्ग का निर्धारण होता है। उन्होंने पेशागत संरचना की रीढ़ (Backbone of the class structure) माना है यदि किसी पेशे के लिए बहुत उच्च स्तरीय येाग्यता की आवश्यकता है और उसके लिए बहुत कम लोग उपलब्ध हैं तो वैसे पेशे के लिए पारितोषिक अधिक होता है। फलस्वरूप उन्हें समाज की उच्च श्रेणी में रखा जाता है। ठीक इसके विपरीत यदि किसी पेशे के लिए बहुत लोग उपलब्ध होते हैं तो पारितोषिक कम मिलता है और समाज में उसे निम्न स्तर पर रखा जाता है समय और परिस्थितियों के अनुसार पेशों के महत्व में कमी–वेशी होती रहती है और उसी के अनुसार स्तरीकरण के अंतर्गत उन पेशों कीर रेणियों में बदलाव आता रहता है। एक समय था जब I.C.S. की नौकरी या वकालत का पेशा भारत में अव्वल दर्जे का माना जाता था। आजादी के बाद के दिनों में इन पेशों के महत्व में काफी गिरावट आयी है। प्रशासनिक एवं पुलिस सेवाओं के अलावा आज समाज में उन पेशों का महत्व अधिक है जिन पेशों में घूसखोरी या गलत आमदनी की संभावना काफी अधिक होती है, जैसे– राजनीति, व्यापार, उद्योग इत्यादि।

2.7 वैश्विक स्तरीकरण (Global Stratification) के सिद्धान्त

वर्तमान सन्दर्भों में प्रकार्यवाद, संघर्ष तथा संकलनवादी विचारधारा काफी हद तक स्तरीकरण के विभिन्न आयामों तथा दर्शन को समझने में सहायक हैं, परन्तु बदलती सामाजिक, आर्थिक तथा वैश्विक दशाओं के वजह से सामाजिक संरचना में आये परिवर्तनों ने स्तरीकरण की विचारधारा तथा तत्वों को प्रभावित किया है। अतः समकालीन सिद्धान्तों की संक्षेप में चर्चा आवश्यक है। यह समकालीन सिद्धान्त भूमण्डलीय स्तरीकरण को समझने में सहायक होंगे।

1. साम्राज्यवादी एवं औपनिवेशीकरण (Imperiallism and Colonialism)

यह सिद्धान्त इस बात पर जोर देता है कि 1750 की औद्योगिक क्रांति के बाद ब्रिटेन तथा पश्चिमी यूरोप के देश विकास के पायदान पर आगे बढ़ गये। उद्योगों तथा नई तकनीक के माध्यम से उनहोंने अपने को ज्यादा शक्तिशाली बनाया तथा अपने उपनिवेश (colonies) विकसित कीं। पश्चिमी के साम्राज्यवादी तथा उपनिवेशवादी राष्ट्रों ने तृतीय विश्व के देशों का शोषण किया और एक ऐसी संरचना को जन्म दिया जहां विश्व विकसित तथा अविकसित राष्ट्रों के समूहों में विभाजित हो गया।

2. विश्व व्यवस्था सिद्धान्त (World System Theory)

विश्व स्तरीकरण व्यवस्था कैसे विकसित हुई, इसे समझने के लिये इमैनुअल वेलेरस्टीन (Immanual Wallerstein) ने विश्व व्यवस्था सिद्धान्त (World System Theory) दी।

इनके अनुसार 16वीं शताब्दी के साथ ही एक विश्व व्यवस्था दिखाई देने लगी थी। इन्होंने विश्व के देशों को चार समूहों में विभाजित किया–

1. पूँजीवाद पहले जिन राष्ट्रों में विकसित हुआ उसे उन्होंने कोर राष्ट्र (Core Nation) कहा। जैसे– ब्रिटेन, फ्रांस। पूँजीवाद ने इन देशों को समृद्ध तथा सशक्त बनाया।

2. दूसरे समूह के राष्ट्र जो व्यापार तथा वाणिज्य के लिये कोर राष्ट्र (Core Nation) के ऊपर आश्रित हो गये। इसकी वजह से इनकी अर्थव्यवस्था स्थिर हो गई। ये राष्ट्र अर्ध–परिधि (Semi-Periphery) के राष्ट्र कहलाए।

3. तीसरा समूह, जो किनारे या परिधि पर स्थित था पूँजीवाद के सन्दर्भ में, वह दो समूहों की तुलना में कम विकसित रहा। पूर्वी यूरोप के देश इस समूह के सदस्य हुये। इन्हें परिधि राष्ट्र (Periphery Nation) कहा गया।

4. चौथा समूह, जिसे उन्होंने बाहरी (External) समूह कहा, वह मुख्यतः अफ्रीका तथा एशिया के देशों का समूह हैं। इस नई पूँजीवादी विश्व अर्थव्यवस्था को कोर राष्ट्र (Core Nation) के देश निर्धारित करते हैं तथा इस विश्व अर्थव्यवस्था के जाल में अल्पविकसित राष्ट्र भी व्यापार तथा वाणिज्य के सन्दर्भ में शामिल हो गये हैं।

3. भूमण्डलीकरण (Globalization)

पूँजीवाद के विकास के साथ विश्व के राष्ट्रों में एक दूसरे के ऊपर निर्भरता ने भूमण्डलीकरण को जन्म दिया है। ऐसा नहीं है कि भूमण्डलीकरण की प्रक्रिया नई है परन्तु आज के सन्दर्भों में यह इतनी तीव्र है कि कोई राष्ट्र अलगाव की स्थिति में नहीं रह सकता है।

आज के सन्दर्भ में आप कहीं भी व्यवस्थित हों, विश्व बदलावों के सन्दर्भ में आप अलग नहीं रह सकते। प्रथम विश्व के देशों ने साइबर स्पेस तथा सूचना के सुपर हाइवे पर अपना प्रभुत्व बनाये रखा है जिससे कि विश्व में उनका दबदबा अभी भी कायम है।

4. गरीबी की संस्कृति (Culture of Poverty)

अर्थशास्त्री जॉन केनेथ गालब्रेथ (John kenneth galbraith, 1979) ने विश्व स्तरीकरण के संन्दर्भ में एक नया आयाम प्रस्तुत किया। आपके अनुसार तृतीय विश्व के देशों की संस्कृति (Culture) एक ऐसी व्यवस्था को विकसित करने से रोकती है जो विकास के लिए जिम्मेदार हैं। इस गरीबी की संस्कृति ने गरीबी को एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को देने में मदद की है। इसके अतिरिक्त जीवन जीने के तरीके ने गरीबी को बढ़ाने में मदद की है। कुछ इसी ही तरह की बात मैक्सवेबर ने प्रोटेस्टेंट एथिक एंड दी स्पिरिट आफ कैपिटलिज्म' में की थी।

2.8 वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1. स्तरीकरण के प्रकार्यवादी विचारधारा से निम्न में से कौन सम्बन्धित है–

   क. डेविस एवं मूर　　ख. मार्क्स

   ग. काम्टे　　घ. कोई नहीं

2. स्तरीकरण के संघर्ष सम्बन्धी विचारधारा से निम्न में से कौन सम्बन्धित हैं–

   क. पारसंस　　ख. योगेन्द्र सिंह

   ग. मार्क्स　　घ. टयूमिन

3. विश्व को कोर (Core) पैरीफिरी (Periphery) के सन्दर्भ में किसने विभाजित किया है–

   क. मार्क्स　　ख. बेवर

   ग. डेविस　　घ. वैलेरस्टीन

4. भारत प्रथम विश्व (First World) का राष्ट्र है–

   क. सत्य　　ख. असत्य

2.9 उत्तर

1. क
2. ग
3. घ
4. ख

2.10 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

i डा० जे. पी. सिंह ,समाजशास्त्रः अवधारणाएं एवं सिद्धांत, पी.एच.आई.लर्निंग प्राइवेट लिमिटेड, नई दिल्ली, 2010

ii एस.एल.दोषी, पी.सी.जैन, ''समाजशास्त्र नई दिशाएं, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, जयपुर 2005

iii वही

iv वही

v वही

vi वही

vii वही

[viii] वही

[ix] वही

[x] वही

[xi] वही

[xii] वही

[xiii] डा० जे. पी. सिंह ,समाजशास्त्रः अवधारणाएं एवं सिद्धांत, पी.एच.आई.लर्निंग प्राइवेट लिमिटेड, नई दिल्ली, 2010

[xiv] वही

[xv] एस.एल.दोषी, पी.सी.जैन, ''समाजशास्त्र नई दिशाएं, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, जयपुर 2005

[xvi] वही

[xvii] वही

[xviii] वही

[xix] वही

[xx] वही

[xxi] वही

[xxii] वही

[xxiii] वही

[xxiv] वही

[xxv] वही

[xxvi] वही

[xxvii] वही

[xxviii] वही

[xxix] वही

[xxx] वही

[xxxi] वही

[xxxii] डा० जे. पी. सिंह ,समाजशास्त्रः अवधारणाएं एवं सिद्धांत, पी.एच.आई.लर्निंग प्राइवेट लिमिटेड, नई दिल्ली, 2010

[xxxiii] वही

[xxxiv] वही

[xxxv] वही

[xxxvi] वही

[xxxvii] वही

[xxxviii] वही

[xxxix] एस.एल.दोषी, पी.सी.जैन, ''समाजशास्त्र नई दिशाएं, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, जयपुर 2005

[xl] वही

[xli] डा० जे. पी. सिंह ,समाजशास्त्रः अवधारणाएं एवं सिद्धांत, पी.एच.आई.लर्निंग प्राइवेट लिमिटेड, नई दिल्ली, 2010

[xlii] वही

[xliii] वही

इकाई–3

प्रस्थिति तथा वर्ग की संकल्पनाएं

इकाई की रूपरेखा

3.1 उद्देश्य

3.2 प्रस्तावना

3.3 प्रस्थिति एवं भूमिका (Status and Role)

3.4 प्रस्थितिः परिभाषा और अर्थ (Status: Definition and Meaning)

3.5 सामाजिक स्थिति या हैसियत (Social Status)

3.6 सामाजिक प्रास्थिति के प्रकार (Forms of Social Status)

3.7 कुछ सम्बन्धित अवधारणाएँ (Some Relevant Concepts)

3.8 प्रदत्त और अर्जित प्रस्थिति में अन्तर (Difference in Ascribed and Achieved Status)

3.9 वर्ग (Class)

3.10 वर्ग का वर्गीकरण (Classification of Class)

3.11 भारत में वर्गों का वर्गीकरण (Classification of Classes in India)

3.12 वस्तुनिष्ठ बोध प्रश्न

3.13 वस्तुनिष्ठ प्रश्नों के उत्तर

3.14 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

3.1 उद्देश्य

1. इस इकाई में आपका परिचय प्रस्थिति तथा वर्ग की अवधारणा से होगा।
2. आप प्रस्थिति के प्रकार तथा प्रस्थिति निर्धारित करने वाली दशाओं के बारे में जान पाएंगे।
3. आप वर्ग की अवधारणा के साथ वर्ग को निर्धारित करने वाले कारकों के बारे में जानेंगे।

3.2 प्रस्तावना

प्रत्येक व्यक्ति का समाज में निश्चित रूप से एक अपना पद होता है। यह पद या स्थान किसी को विरासत में मिलता है तो किसी को अपनी मेहनत या

योग्यता की बदौलत प्राप्त होता है। जैसे प्रत्येक प्राणी इस धरती पर अपने लिए कुछ स्थान बनाता है, वैसे ही व्यक्ति भी सामाजिक धरातल पर स्वाभाविक रूप से कुछ–न–कुछ जगह घेरता है जिसे समाजशास्त्रीय भाषा में सामाजिक पद (Social Position) कहा जाता है।[lxxxviii]

3.3 प्रस्थिति एवं भूमिका (Status and Role)

हम जब कभी व्यक्तियों को किसी सभा, सम्मेलन, सेमिनार या बैठक में मिलते हैं और यह मिलना पहली बार होता है, तब एक–दूसरे का परिचय देते हैं। इस परिचय में सामान्यतया यह कहा जाता है कि मैं इस विश्वविद्यालय में पढ़ाता हूँ या उस कार्यालय में काम करता हूँ। गाँवों में जब इस तरह के परिचय के अवसर आते हैं तो लोग प्रायः व्यवसाय न बताकर गाँव के साथ अपना सम्बन्ध जोड़ते हैं जहाँ वे रहते हैं या उनका परिचय किसी नातेदार के माध्यम से होता है। कहा जाता है कि आपके गाँव में जो यह आदमी रहता है, मैं उसका मामा होता हूँ। ये सब दृष्टान्त बताते हैं कि सामान्यतया दूसरों के साथ हमारा परिचय एक धन्धे के साथ होता है, समुदाय के माध्यम से होता है या किसी नातेदारी द्वारा हेाता है। धन्धा, व्यवसाय, समुदाय की सदस्यता, नातेदार आदि प्रस्थितियाँ हैं। मतलब यह है कि समाज में अगणित प्रस्थितियाँ होती हैं– कोई व्यापारी है, कोई अध्यापक, पिता, राजनेता और प्राध्यापक है या ऐसी अगणित प्रस्थितियों में काम करता है। वास्तविकता यह है कि हम सभी एक ही समय में अनेकानेक प्रस्थितियों का निर्वाह करते हैं।[lxxxix]

जॉनसन (H.M. Johnson,1983:15) के अनुसार सामाजिक पद के दो तत्व होते हैं– अधिकार (Right) एवं बाध्यता (Obligation)। दूसरे शब्दों में सामाजिक पद व्यक्तियों के अधिकारों एवं बाघ्यताओं का एक जटिल समग्र है। यदि समाज व्यक्ति को कोई पद देता है तो उस पद के मुताबिक उस व्यक्ति को कुछ अधिकार और कर्त्तव्य भी देता है। समाजशास्त्रीय भाषा में अधिकार को स्थिति या हैसियत (Status) एवं बाध्यता को भूमिका या फर्ज (Role) कहा जाता है। जॉनसन (Johnson, 1983:16) ने इस सम्बन्ध में स्पष्ट ढंग से लिखा है कि ''इस प्रकार प्रत्येक सामाजिक पद एक स्थिति–भूमिका है।'' (Thus, every social position is a status-role.) यहाँ यह भी स्पष्ट किया जाना आवश्यक है कि जो एक व्यक्ति की स्थिति है वही दूसरों के लिए भूमिका है और जो किसी व्यक्ति की भूमिका है वही दूसरों के लिए सामाजिक स्थिति है। यही कारण है कि स्थिति–संरचना (Status-structure) एवं भूमिका–संरचना (Role-structure) के बीच सीधा सम्बन्ध है। दोनों एक दूसरे के पूरक हैं। मानवशास्त्री लिंटन (R. Linton) के इस विचार से जॉनसन सहमत नहीं हैं कि स्थिति (Status) और पद (Position) एक दूसरे के पर्यायवाची हैं। जॉनसन स्पष्ट रूप से यह मानते हैं कि स्थिति किसी पद का एक अंग मात्र है।[xc]

प्रथम दृष्टि में ऐसा लगता है कि जॉनसन ने सामाजिक स्थिति एवं सामाजिक पद को लगभग एक ही अर्थ में प्रयुक्त किया है, लेकिन दोनों के बीच बारीक भेद को उन्होंने ध्यान में रखा है। ऐसे इन शब्दों को समान अर्थ में ढीले–ढाले ढंग से प्रयेाग नहीं किया जाना चाहिए। सामाजिक पद के साथ व्यक्ति के अधिकार और कर्त्तव्य दोनों जुड़े हुए होते हैं, लेकिन स्थिति कहने से मुख्य रूप से व्यक्ति के अधिकारों का ही बोध होता है क्योंकि भूमिका को स्थिति से अलग करके देखने का प्रयास किया जाता है। यहाँ इस तथ्य से इंकार नहीं किया जा रहा है कि स्थिति भूमिका को प्रभावित करती है और भूमिका स्थिति को। दोनों

एक–दूसरे पर समान रूप से निर्भर करते हैं, पर सैद्धांतिक स्तर पद दोनों का विश्लेषण अलग–अलग किया जाता है।[xci]

जॉनसन ने बताया है कि कभी–कभी एक ही व्यक्ति को एक से अधिक सामाजिक पद प्राप्त होते हैं, जैसे– कोई व्यक्ति एक साथ राष्ट्रपति, पिता पति या पुत्र कुछ भी हो सकता है। ठीक उसी प्रकार एक सामाजिक पद पर एक से अधिक व्यक्ति भी हो सकते हैं। जैसे– वकालत के पेशे से जुड़े तमाम लोगों को समाज एक ही रूप में देखता है। उसी प्रकार शिक्षण कार्य से जुड़े शिक्षकों को समाज समान पद पर देखता है।[xcii]

यहाँ ध्यान देने की बात यह है कि एक पेशे के तमाम व्यक्तियों का सामाजिक पद समान होता है, लेकिन उनके बीच सामाजिक स्थिति में भिन्नता हो सकती है। जिस व्यक्ति की जैसी भूमिका होती है या जैसा वह वह अपने कर्त्तव्यों का निर्वाह करता है उसी के अनुसार समाज में उसकी स्थिति भी होती है। जैसे तमाम वकीलों का पद एक समान है, पर स्थिति में समानता नहीं है क्योंकि उनकी भूमिकाओं के निर्वहन के स्तर में काफी अंतर होता है। जैसे कोई अच्छा वकील होता है, तो कोई औसत दर्जे का। कोई उच्च कोटि का कवि या कलाकार है, तो कोई साधारण कवि या कलाकार है। यहाँ यही स्पष्ट करने का प्रयास किया जा रहा है कि सामाजिक पद की अवधारण को समूह के सन्दर्भ में देखा जाता है, जबकि सामाजिक स्थिति को व्यक्ति के सन्दर्भ में देखा जाना चाहिए। दूसरे शब्दों में सामाजिक पद व्यक्तियों के समूह का होता है, जबकि सामाजिक स्थिति आरोपित या व्यक्तियों की अपनी व्यक्तिगत क्षमता द्वारा अर्जित प्रतिष्ठा पर आधारित होती है।[xciii]

प्रत्येक सामाजिक पद के साथ प्रतिष्ठा जुड़ी होती है और समय के साथ इस प्रतिष्ठा में उतार–चढ़ाव होता रहता है। जैसे, एक समय था जब नाचने–गाने वालों को समाज बहुत प्रतिष्ठित व्यक्ति नहीं मानता था। आज दूर–संचार के साधनों का इतना विकास हो गया है कि वैसे लोग इतना अधिक धन उर्पाजन कर लेते हैं कि उनकी हैसियत कवि, लेखक या अन्य प्रकार के विद्वानों से कहीं ऊपर है। अंग्रेजी षासन–काल में वकालत एक बहुत ही प्रतिष्ठित पेषा माना जाता था। आज समाज में वकीलों की प्रतिष्ठा इतनी कम हो गई है कि उस पेषे को कोई व्यक्ति लाचारी में ही अपनाता है। यहाँ हम सामाजिक पद के दोनों संघटक (Components) की बारी–बारी से चर्चा करेंगे।[xciv]

प्रस्थितियाँ किन्हीं आधारों पर अन्तःक्रिया करती हैं। कुछ प्रस्थितियाँ ऐसी हैं जो हमारी इच्छा से बदली नहीं जा सकतीं। ये प्रस्थितियाँ जन्मजात होती हैं और इनका मुख्य आधार जैवकीय (Biological) कारक होते हैं। काकेशियन और नीग्रो एक प्रजातीय प्रस्थिति है। यह प्रस्थिति जन्मजात है और व्यक्ति के चाहने पर काकेशियन, नीग्रो नहीं बन सकता और न ही नीग्रो, काकेशियन। त्वचा के रंग को बदलना, घुंघराले बालों को ऊनी बनाना या लम्बे कद को छोटा करना, व्यक्ति के हाथ में नहीं है, चाहे वह कुछ भी विचारे, हमारे देश में किसी भी व्यक्ति की जाति की सदस्यता जन्मजात होती है। ब्राह्मण, क्षत्रिय नहीं बन सकता और इसी भाँति चमार जाति का व्यक्ति राजपूत नहीं हो सकता। उदाहरणों को आगे बढ़ाएँ तो कहेंगे कि पुरूष, पुरूष है और स्त्री, स्त्री। दोनों अपनी प्रस्थिति को नहीं बदल सकते। ठीक इसी प्रकार वृद्ध व्यक्ति, चाहने पर भी जवान नहीं हो सकता। ये सब प्रस्थितियाँ बदली नहीं जा सकतीं, क्योंकि इनका आधार जैवकीय होता है। ऐसी प्रस्थितियाँ जन्मजात कही जाती हैं।[xcv]

परम्परागत समाजों में कुछ प्रस्थितियाँ ऐसी होती हैं जो जन्मजात तो नहीं होतीं लेकिन पीढ़ियों तक स्थिर रहती हैं। हमारे यहाँ जब सामन्तवाद था, राजाओं, महाराजाओं की प्रस्थितियाँ, सामाजिक उतार–चढ़ाव के बाद भी लगभग स्थिर रहती थी। इतिहास तो इन राजाओं की वंशावली को गौरव के साथ अपने पृष्ठों में रखता है। कुछ ऐसे भी व्यापारिक घराने रहे हैं जिनकी प्रस्थिति दशकों तक स्थिर रही है। आज भी हमारे यहाँ बिड़ला, टाटा, गोदरेज, बजाज आदि पूँजीपति घराने हैं जिनकी प्रस्थिति प्रजातन्त्र के होने पर भी बरकरार है।[xcvi]

हमारे यहाँ तो जाति–व्यवस्था के कारण कुछ व्यवसाय ऐसे हैं जो व्यक्ति की प्रस्थिति को बनाये रखते हैं। यह सही है कि आज देश में व्यवसायों को लेकर बहुत बड़ी गतिशीलता आई है, फिर भी गाँवों में कई व्यवसाय ऐसे हैं जो जाति से जुड़े हुए हैं ओर जिनकी स्थिरता निश्चित है। चमार अब भी मरे हुए जानवरों की खाल निकालने का काम करते हैं। शहरों में यह काम मशीनों से होने लग गया है, फिर भी गाँवों में इस धन्धे की हालत परम्परागत ही है। मोची जूते बनाने और बेचने का व्यवसाय करते हैं। जाति–व्यवस्था ने हमारे यहाँ कुछ प्रस्थितियों को एक सीमा तक स्थिर बना दिया है। यहाँ हम इस तथ्य पर जोर देना चाहते हैं कि प्रत्येक समाज में अगणित प्रस्थितियाँ होती हैं। इन प्रस्थितियों में कुछ प्रस्थितियाँ जैवकीय होती हैं; कुछ प्रजातीय (Racial) और कुछ जातीय (Caste)।[xcvii]

3.4 प्रस्थिति : परिभाषा और अर्थ (Status: Definition and Meaning)

प्रस्थिति को समाज में कई नामों से जाना जाता है। आम लोग जब प्रस्थिति का प्रयोग करते हैं तो उनका तात्पर्य सामाजिक पद से होता है। प्रत्येक पद के साथ एक या अनेक भूमिकाएँ यानी कार्य लगे होते हैं। अध्यापक का पद एक प्रस्थिति है और इससे जुड़ा हुआ कार्य भूमिका है। मतलब यह हुआ कि यदि समाज को किसी भूमिका यानी कार्य की आवष्यक ता होती है तो इसके पीछे कोई न कोई पस्थिति या पद अवश्य होते हैं। इसी कारण हैरी एम. जॉनसन कहते हैंः

'ऐसा प्रतीत होता है कि सामाजिक पद (प्रस्थिति) के दो अंग हैंः एक आभार (भूमिका) से आवेष्ठित और दूसरा अधिकारों से आवेष्ठित। एक व्यक्ति सामाजिक पद तो तब धारण करता है जब सामाजिक प्रणाली में उसके कुछ आभार (भूमिका) हों और तत्सम्बन्धित कुछ अधिकार हों। सामाजिक पद के इन दो अंगों को हम उनकी भूमिका (Role) और प्रस्थिति (Status) कहेंगे। भूमिका आभारों को ज्ञापित करेगी और प्रस्थिति उसके अधिकारों को।'[xcviii]

जॉनसन और इस अर्थ में सभी समाजशास्त्री सामाजिक प्रस्थिति के साथ भूमिका को जोड़ते हैं। राल्फ लिन्टन (Ralph Linton) ने प्रस्थिति की व्याख्या कुछ इसी भाँति की है। उनका कहना है कि व्यक्ति को किसी एक निश्चित समय में समाज में जो स्थान दिया गया है वह उसकी प्रस्थिति है। व्यापारी, अध्यापक, पिता, ग्राहक, आदि प्रतिस्थतियाँ हैं। लिन्टन इसकी परिभाषा इस तरह करते हैंः

'किसी विशेष सामाजिक व्यवस्था में कोई व्यक्ति एक निर्दिष्ट समय में जो स्थान प्राप्त करता है, उस व्यवस्था के अनुसार वह उस प्रस्थिति की ओर संकेत करता है।'[xcix]

किंग्सले डेविस (Kingsley Davis) ने भी प्रस्थिति की परिभाषा दी हैं। उनका कहना है कि समाज में व्यक्तियों की कई आवश्यकताएँ होती हैं। उदाहरण

के लिये, उसकी बुनियादी आवश्यकताओं में रोटी, कपड़ा, मकान, शिक्षा, और स्वास्थ्य हैं। इन बुनियादी आवश्यकताओं के अतिरिक्त ढेरों आवश्यकताएँ और भी हैं, कई हेतु हैं और इन सबकी पूर्ति के लिये कई प्रस्थितियाँ होती हैं। डेविस इसी संदर्भ में प्रस्थिति की व्याख्या करते हुए लिखते हैं:

'प्रस्थिति किसी भी सामाजिक संस्थागत व्यवस्था में किसी पद की भूमिका है, ऐसा पद जो समाज द्वारा स्वीकृत है और जिसका निर्माण स्वतः ही हुआ है वह जो जनरीतियाँ और रूढ़ियों से सम्बद्ध है।'[c]

वास्तव में डेविस के अनुसार प्रस्थितियों का उद्‌गम समाज की आवश्यकताओं से है। रूढ़िगत समाजों में तो प्रस्थिति की प्राप्ति व्यक्ति को परम्परा से मिलती है लेकिन औद्योगिक तथा पूँजीवादी समाजों में व्यक्ति स्वयं अपनी प्रस्थिति को पसंद करता है। किम्बाल यंग (Kimbal Young) जो सामाजिक मनोवैज्ञानिक हैं, प्रस्थिति की व्याख्या विषद् रूप में करते हैं। उनका कहना है कि प्रस्थिति के साथ में प्रतिष्ठा भी जुड़ी होती है। मेक्सवेबर ने तो वर्गों का जो विश्लेषण प्रसतुत किया है उसमें उन्होंने प्रतिष्ठा समूह (Status Group) की चर्चा की है। इससे उनका तात्पर्य यह है कि प्रत्येक प्रस्थिति का समाज या समूह द्वारा खुला ओर निर्भीक मूल्यांकन होता है, इसमें कुछ प्रस्थितियाँ समाज द्वारा ऊँची समझी जाती हैं और कुछ निम्न। चिकित्सक की प्रस्थिति समाज के मूल्यांकन में ऊँची है और ठेला चलाने वाले मजदूर की प्रस्थिति निम्न। इसे ध्यान में रखते हुए किम्बाल यंग लिखते हैं:

'प्रत्येक समाज तथा समूह में व्यक्ति को कुछ कार्यों को सम्पन्न करना होता है। इन कार्यों के साथ शक्ति और प्रतिष्ठा जुड़े होते हैं। शक्ति तथा प्रतिष्ठा की जिस मात्रा का हम प्रयोग करते हैं वही उसकी प्रस्थिति है।'[ci]

प्रस्थिति समाज और संस्कृति की उपज है इसलिए वह सापेक्षिक है। प्रस्थिति का महत्व समाज के मूल्यांकन पर निर्भर है ओर इसी कारण एक समाज में जो प्रस्थिति ऊँची समझी जाती है, सम्भव है दूसरे समाज में यही प्रस्थिति निम्न हो। ऐसी स्थिति में प्रजातान्त्रिक ढाँचे में प्रस्थिति व्यक्ति की निजी धरोहर नहीं है। यह तो समाज द्वारा सृजित की हुई होती है। दूसरी महत्वपूर्ण बात यह है एक व्यक्ति की कई प्रस्थितियाँ होती हैं। एक ही समय में वह पिता, अध्यापक, अभियन्ता, ग्राहक और ताँगे की सवारी है। ठीक इसी तरह प्रत्येक प्रस्थिति के साथ में अनेक कार्य या भूमिकाएँ जुड़ी होती हैं। इसी संदर्भ में हम प्रस्थिति की कुछ महत्वपूर्ण विशेषताओं का उल्लेख करेंगे। ये विषेषताएँ ही प्रस्थिति के मुख्य तत्वों को बनाती हैं।[cii]

3.5 सामाजिक स्थिति या हैसियत (Social Status)

सामाजिक स्थिति आधुनिक समाज की एक बुनियादी अवधारणा है। सामाजिक स्थिति के अभाव में सामाजिक संरचना की कल्पना नहीं की जा सकती है। इसलिए तो बीयरस्टेट (1970:242) ने कहा है कि ''समाज स्थितियों का एक जाल है (Society is a network of Statuses)।'' इस अवलोकन से यही स्पष्ट होता है कि समाज व्यक्तियों का समूह नहीं बल्कि विभिन्न व्यक्तियों द्वारा जिन सामाजिक स्थितियों का निर्माण होता है उन्हीं का एक समग्र है। यहाँ यह नहीं समझा जाना चाहिए कि समाज मात्र सामाजिक स्थिति का एक समग्र है। समाज क्या है इसकी चर्चा विस्तार से पहले की जा चुकी है इसलिए यहाँ पुनः उसकी चर्चा की कोई आवष्यकता नहीं है। सामाजिक स्थिति की अलग से विस्तारपूर्वक

यहाँ चर्चा इसलिए की जा रही है कि सामाजिक स्थिति एक ऐसा उपकरण है जिसे समझे बिना आधुनिक समाजषास्त्र को ठीक से समझना संभव नहीं है।[ciii]

अन्य सामाजिक अवधारणाओं की तरह सामाजिक स्थिति को स्पष्ट करने में कुछ वैचारिक कठिनाइयाँ (Conceptual Difficulties) हैं। कुछ समाजषास्त्रियों ने इसे Rank Order के अर्थ में समझने का प्रयास किया है। जब भी हम Rank की बात करते हैं तो उच्च या निम्न वर्ग का भाव प्रकट करते हैं। इसके साथ हमेषा इज्जत या प्रतिष्ठा का भाव जुड़ा होता है बल्कि व्यक्तियों की स्थिति से जुड़ा होता है। दूसरी तरफ कुछ समाजषास्त्री स्थिति से पद या अवस्था (Position or Condition) का भाव व्यक्त करते हैं ओर उसके साथ कोई क्रम या दर्जा (Rank) का भाव नहीं होता है। इसी अर्थ में हम वैवाहिक स्थिति (Marital Status), उम्र स्थिति (Age Status), यौन स्थिति (Sex Status) या रिष्तेदारी स्थिति (Kinship Status), सदस्यता स्थिति (Membership Status) आदि की बात करते हैं।[civ]

समाज में व्यक्तियों की स्थिति का निर्धारण सामाजिक नियमों के अनुसार होता है। स्थिति सामाजिक नियमों से अलग नहीं है। किसी व्यक्ति को समाज में कैसा आचरण करना है या किसी व्यक्ति का समाज में क्या अधिकार, कर्त्तव्य या उत्तरदायित्व है, इसका निर्धारण उस व्यक्ति की स्थिति से होता है। सामाजिक मानदंड (Social Norms) व्यक्तियों से नहीं जुड़ा होता है बल्कि व्यक्तियों की स्थिति से जुड़ा होता है। व्यक्तियों के व्यवहार का संचालन सामाजिक मानदंडों के द्वारा व्यक्ति की स्थिति से मालूम होता है। इस बात की पुष्टि बीयरस्टेट के निम्नलिखित अवलोकन से होती है– '' मानदंड जो बहुत सारे अधिकारों, कर्त्तव्यों, विषेषाधिकारों, उत्तरदायित्वों, प्राधिकारों, एवं परमाधिकारों को जो षामिल करता है वह स्थितियों से जुड़ा होता है न कि व्यक्तियों से।''[cv]

यहाँ यह स्पष्ट होता है कि स्थिति मात्र किसी समाज या समूह में पद का नाम है। प्रत्येक समाज या समूह में बहुत सारे पद होते हैं या यह कहा जाए कि जितने लोग उतने ही अधिक पद होते हैं। आधुनिक जटिल समाज में तो एक व्यक्ति के एक से अधिक पद होते हैं। व्यक्ति जितने ही अधिक किस्म के समूहों के साथ अन्तःक्रिया करता है, उसकी उतनी ही अधिक स्थितियाँ (Statuses) होती हैं। जैसे कोई व्यक्ति अपने परिवार में पिता, पुत्र, भाई, पति एवं अभिभावक के रूप में होता है, वही व्यक्ति अपने परिवार के बाहर किसी आमसमूह का सदस्य होता या किसी अन्य समूह में उच्चाधिकारी भी । कभी वह व्यक्ति अस्पताल में एक रोगी की स्थिति में होता है, तो कभी हवाई अड्डे पर एक यात्री के रूप में भी होता है। संक्षेप में यहाँ बीयरस्टेट (Bierstedt, 1970: 247) के षब्दों में यही कहा जा सकता है कि ''स्थिति एक ऐसा पद है जो समूह–सम्बन्ध, समूह–सदस्यता या समूह–व्यवस्था से प्राप्त होता है (The Status is the position afforded by group affiliation, group membership or group organization)।''[cvi]

गिडेन्स (Giddens) के द्वारा दी गई सामाजिक हैसियत की परिभाषा से इस अवधारणा का अर्थ बिल्कुल स्पष्ट हो जाता है। उन्होंने कहा है कि '' स्थिति से अभिप्राय सामाजिक समूह के बीच सामाजिक प्रतिष्ठा में ऐसे अलगावों से है जो दूसरे लोग उन पर आरोपित करते हैं।'' गिडेन्स ने बताया है कि सामाजिक स्थिति इस बात पर निर्भर नहीं करती कि कोई व्यक्ति किस वर्ग का प्रतिनिधित्व करता है, अर्थात् एक ही वर्ग में रहकर तमाम लोगों की सामाजिक स्थिति समान नहीं होती है। इसके साथ सामाजिक स्थिति हमेषा प्रतिष्ठा को ही इंगित नहीं करती। सामाजिक स्थिति किसी के लिए सकारात्मक महात्त्व की होती है, तो किसी के

लिए नकारात्मक। अतः सामाजिक स्थिति को प्रतिष्ठा से जोड़कर नहीं देखा जाना चाहिए। सामाजिक स्थिति से समाज में व्यक्तिगत हैसियत का अंदाज मिलता है। यह एक सापेक्षिक अवधारणा है। इसय अर्थ में किसी व्यक्ति की स्थिति हम दूसरे व्यक्ति के सन्दर्भ में देखते हैं।[cvii]

समाजषास्त्र के क्षेत्र में स्थिति को मुख्य रूप से दो अर्थों में प्रयुक्त किया जाता है– प्रथम स्थिति से तात्पर्य समाज में एक ऐसे पद से है जो प्रत्येक व्यक्ति को प्राप्त है। जैसे– माता, पिता, भाई, षिक्षक, दोस्त। ये तमाम सामाजिक पद हैं और इसी पद के अनुरूप समाज उस व्यक्ति से व्यवहार की अपेक्षा रखता है। प्रारंभ में सिर्फ समाजषास्त्री ही नहीं बल्कि मानवषास्त्री भी 'स्थिति' षब्द का प्रयागे इसी अर्थ में करते थे। जैसे– रैल्फ लिंटन (Ralph Linton) ने अपनी पुस्तक The Study of Man (1936) में इस षब्द का प्रयोग इसी अर्थ में किया था और एक लंबे समय तक समाजषास्त्र में इस षब्द का प्रयोग उसी अर्थ में होता रहा।[cviii]

स्थिति का दूसरा अर्थ प्रतिष्ठा और इज्जत (Prestige or Honour) से जुड़ा हुआ है। बहुत सारे समाजशास्त्री स्थिति को प्रतिष्ठा के पर्यायवाची के रूप में इस्तेमाल करते हैं। समाजशास्त्रीय साहित्य को देखने से पता चलता है कि स्थिति षब्द का प्रयोग इन दोनों अर्थों में हो रहा है। कुछ समाजषास्त्री एवं मानवशास्त्री स्थिति षब्द का प्रयोग **सामाजिक पद** (Social Position) के अर्थ में भी करते हैं। अर्थात् वे जॉनसन के इस विचार से सहमत नहीं हैं कि स्थिति, पद का एक अंग है। यहाँ एक चिंता की बात यह है कि समाजषास्त्र में कभी तो किसी तकनीकी शब्द का प्रयोग बहुत ही सीमित अर्थ में किया जाता है, तो कभी काफी ढीले–ढाले ढंग से प्रयोग किया जाता है। ऐसी हरकतों से समाजषास्त्र को एक वैज्ञानिक विषय बनाने में अड़चने आती हैं।[cix]

ब्रूम एवं सेल्सनिक (Broom and Selznick, 1970:44) ने बताया है कि स्थिति षब्द का प्रयोग समाजषास्त्र में मुख्य रूप से दो अर्थों में हेाता है ओर वे दोनों अर्थ एक–दूसरे जुड़े हुए हैं–(1) स्थिति का सम्बन्ध व्यक्ति के सामाजिक पद से है। इस अर्थ में स्थिति से उच्च और निम्न (High and Low) स्तर का भाव व्यक्त नहीं होता है। (2) स्थिति षब्द का प्रयोग सामाजिक श्रेणी (Social Ranking) के अर्थ में होता है और जब हम समस्त श्रेणीबद्ध व्यवस्था की बात करते हैं तो उसे ही स्थिति–पद्धति (Status-System) कहा जाता है। वर्तमान समय में स्थिति षब्द का प्रयोग समान रूप से दोनों अर्थों में होता है।[cx]

3.6 सामाजिक प्रास्थिति के प्रकार (Forms of Social Status)

समाजशास्त्र में यह एक रोचक प्रश्न है कि स्थिति की उत्पत्ति कैसे होती है। जे0 एच0 फिक्टर (J.H.Fichter) ने इस प्रश्न के उत्तर में लिखा है कि समाज में व्यक्तियों की स्थिति दो स्रोतों से निर्धारित होती है– आरोपित (Ascriptive) एवं अर्जित (Achieved Status)। इसी आधार पर सामाजिक हैसियत को दो भागों में विभाजित किया जाता है– आरोपित स्थिति तथा अर्जित स्थिति ।[cxi]

प्रत्येक समाज में व्यक्त्यिों को कुछ पद समाज के द्वारा दिये जाते हैं, तो कुछ व्यक्ति अपने व्यक्तिगत गुणों ओर योग्यताओं के बल पर प्राप्त करता है। जो सामाजिक स्थिति समाज से आरोपित है उसमें व्यक्ति की अपनी भूमिका कम होती है और समाज की भूमिका अधिक होती है। इसलिए हम कह सकते हैं कि आरोपित सामाजिक स्थिति अनैच्छिक (Non-Voluntary) होती है, लेकिन आरोपित स्थिति भी दो प्रकार की होती है –एक तो वह जिस व्यक्ति का कोई नियंत्रण नहीं

होता ओर दूसरा वह जिसपर व्यक्ति का थोड़ा नियन्त्रण होता है। जाति व्यवस्था के अन्तर्गत जो सामाजिक स्थिति किसी व्यक्ति को प्राप्त होती है उसमें व्यक्ति की अपनी कोई भूमिका नहीं होती है। व्यक्ति जन्म से उच्च वर्ग या निम्न जाति का होता है। यह षुद्ध रूप से अनैच्छिक सामाजिक स्थिति है। दूसरी तरफ कुछ वैसी भी आरोपित सामाजिक स्थितियाँ होती हैं जिन्हें हम बदल सकते हैं, जैसे वैवाहिक स्थिति। कोई व्यक्ति अपनी इच्छा के अनुसार विवाह कर सकता है या कुँवारा रह सकता है। विवाह के माध्यम से भी आरोपित सामाजिक स्थिति में बदलाव आता है। कोइ व्यक्ति निम्न श्रेणी में पैदा हेाकर उच्च श्रेणी की महिला से विवाह कर समाज में ऊँचा स्थान पा सकता है। ठीक इसके विपरीत वर्तमान समय में कोई ब्राह्मण , दलित या मुस्लिम लड़की से विवाह कर अपनी उच्च सामाजिक स्थिति को गँवा सकता है। आरोपित सामाजिक स्थिति का आधार मुख्य रूप से जैविक होता है। जाति, प्रजाति, उम्र, यौन जैसे निर्धारकों का आधार मुख्य रूप से सामाजिक है, हालांकि विवाह का सम्बन्ध भी उम्र (इसका भी स्वरूप जैविक ही है) से ही जुड़ा हुआ है।[cxii]

अर्जित सामाजिक स्थति के अन्तर्गत समाज की इच्छाएँ कम काम करती हैं और व्यक्ति की अपनी इच्छाएँ प्रमुख होती हैं। व्यक्ति अपनी योग्यता के आधार पर स्थिति अर्जित करता है। अर्जित सामाजिक स्थिति में परिवर्तन आसानी से आता है। कोई भी व्यक्ति बहुत आसानी से समाज में एक स्तर से दूसरे स्तर में आ–जा सकता है। यह सही हे कि गतिषीलतासामाजिक संरचना के ऊपर भी निर्भर करती है, लेकिन आरोपित सामाजिक स्थिति की तुलना में अर्जित सामाजिक स्थिति में बदलाव कुछ ज्यादा ही आसान है। मोटे तौर पर हम यह भी कह सकते हैं कि आरोपित सामाजिक स्थिति अनेच्छिक (Non-voluntary) होती है, तो अर्जित सामाजिक स्थिति ऐच्छिक (Voluntary) होती है।[cxiii]

मुक्त समाज (Open Society) के अन्तर्गत सामाजिक स्थिति की प्रधानता होती है, तो बंद समाज (Closed Society) के अन्तर्गत आरोपित सामाजिक स्थिति की प्रधानता थी क्योंकि उस समय का समाज सापेक्षिक रूप से काफी बंद था। लेकिन आधुनिक भारतीय समाज में खुलापन बढ़ने से आरोपित और अर्जित सामाजिक स्थिति समान रूप से महत्वपूर्ण है। लेकिन समय बीतने के साथ–साथ, विषेषकर षहरों में, अर्जित सामाजिक स्थिति की प्रधानता काफी तेजी से बढ़ती जा रही है।[cxiv]

समाज में अर्जित या आरोपित सामाजिक स्थिति का होना इस बात पर भी कभी–कभी निर्भर करता है कि वहाँ षासन–तंत्र किस प्रकार का है। तानाषाही राज्य के अन्तर्गत आरोपित सामाजिक स्थिति की प्रधानता होती है क्योंकि राज्य का व्यक्ति और समाज दोनों पर काफी नियन्त्रण होता है। इसके प्रतिकूल प्रजातांत्रिक व्यवस्था के अन्तर्गत अर्जित सामाजिक स्थिति की प्रधानता होती है क्योंकि हर व्यक्ति को जीवन में आगे बढ़ने की पूरी आजादी होती है। लेकिन कोई भी समाज पूरी तरह न तो आरोपित सामाजिक स्थिति और न ही पूरी तरह अर्जित सामाजिक स्थिति में विष्वास करता है। दोनों प्रकार की सामाजिक स्थिति विष्व के हर समाज में देखने को मिलती है। फर्क इतना ही है कि कभी किसी समाज में अर्जित स्थिति की प्रधानता होती है, तो किसी अन्य समाज में आरोपित सामाजिक स्थिति की प्रधानता होती है।[cxv]

किसी भी समाज में तमाम सामाजिक स्थितियाँ समान रूप से समान महत्व की नहीं होती हैं। प्रत्येक समाज में कोई स्थिति ज्यादा तो कोई कम महत्वूपर्ण होती है। यह इस बात पर भी निर्भर करता है कि समाज किसी स्थिति

को किस रूप में देखता है। इसी तथ्य को ध्यान में रखकर ई0 टी0 हीलर (E.T. Hiller) ने मूल स्थिति (Key Status) की अवधारणा दी है। उन्होंने बताया है कि अमरीकी समाज में पेषा (Occupation) को मूल स्थिति (Key Status) माना जाता है। इसी आधार पर हम कहते हैं कि प्राचीन एवं मध्यकालीन भारत में जाति प्रथा एक प्रकार की मूल स्थिति (Key Status) थी। जिस प्रकार मूल स्थिति भिन्न–भिन्न समाजों में भिन्न–भिन्न होती है, वैसे ही एक ही समाज में भिन्न कालों में मूल स्थिति अलग–अलग हुआ करती है, अर्थात्समय एवं परिस्थिति के अनुसार मूल स्थिति में परिवर्तन आता हरता है, जैसे– भारत में ही अंग्रेजी षासन–काल में भूसंपत्ति के आधार पर व्यक्तियों की समाजिक स्थिति का निर्धारण होता था। तो आज उसकी जगह नौकरी ने ले ली है।

3.7 कुछ सम्बन्धित अवधारणाएँ (Some Relevant Concepts)

स्थिति से सम्बन्धित बहुत सारी अवधारणाएँ प्रचलन में हैं। समाजषास्त्रीय साहित्य को ठीक से समझने के लिए हमें इन अवधारणाओं को जानना चाहिए। यहाँ कुछ प्रमुख अवधारणाओं को संक्षेप में स्पष्ट करने का प्रयास कर रहे हैं।

औपचारिक एवं अनौपचारिक स्थिति (Formal and Informal Status) – जो स्थिति किसी व्यक्ति को किसी औपचारिक व्यवस्था के अन्तर्गत प्राप्त होती है, उसे औपचारिक स्थिति कही जाती है, जैसे– सचिव, मंत्री, प्राचाग्र, कार्यपालक अभियंता, प्रोफेसर आदि ऐसे अनगिनत पद आधुनिक समाज में हैं जिन पर विभिन्न लोग काम कर रहे हैं। औरचारिक स्थिति के ठीक विपरीत अनौपचारिक स्थिति (Informal Status) भी हो सकती है, जैसे– किसी व्यक्ति की स्थिति पिता, भाई, दोस्त या किसी अन्य प्रकार के सम्बन्धी के रूप में हो सकती है। ऐसे पद जिसे समाज ने अपनी मान्यताओं, आदर्षों प्रथाओ एवं नियम–कानूनों को ध्यान में रखकर सृजित किया है, वे तमाम पद अनौपचारिक स्थिति कहे जाते हैं। बहुत सी औपचारिक व्यवस्था के अन्तर्गत कुछ पद ऐसे भी होते हैं जो श्रेणीक्रम के हिसाब से छोटे होते हैं, लेकिन उस पद की कुछ अपनी खासियत होती है, जिसके चलते उस पद पर काम करनेवाले व्यक्तियों को कुछ विषेष ही प्रतिष्ठा प्राप्त हेाती है। जैसे– मंत्री के निजी सचिव का पद एक मध्यम दर्जे का पद है लेकिन वे अपने विभाग के बड़े–बड़े अधिकारियों से भी अधिक अधिकार का इस्तेमाल करते हैं। समाज में बहुत लोग मंत्री के बाद उन्हें ही प्रमुख व्यक्ति के रूप में देखते हैं। अनौपचारिक स्थिति का दूसरा अर्थ वैसी स्थिति से है जो व्यक्तियों को समाज से प्राप्त होता है। जैसे– ग्रामीण क्षेत्रों में साधु एवं फकीर को प्राप्त होती है या जो स्थिति परिवार में माता–पिता को प्राप्त होती है।[cxvi]

प्रकार्यात्मक स्थिति (Functional Status) – बहुत सारे औपचारिक संगठनों के अन्तर्गत कुछ ऐसे भी पद हैं जो अपने प्रकार्यों के लिए विषेष रूप से जाने जाते हैं। प्रतिष्ठा या अधिकार के स्तर पर वह पद छोटा होता है, लेकिन प्रकार्य की दृष्टि से उसका महत्व समाज में काफी अधिक होता है। जैसे–पुलिस विभाग में दारोगा का पद एक साधारण पद है लेकिन समाज उसे बहुत सारे पदों की तुलना में ऊपर रखता है। संभव है कुछ लोग महाविद्यालय के षिक्षक से दारोगा के पद को ज्यादा महत्वपूर्ण मानते हैं। उसी तरह कार्यपालक अभियंता ओर अधीक्षण अभियंता की तुलना में विष्वविद्यलाय के प्रोफेसर का पद काफी ऊँचा है, लेकिन आर्थिक लाभ की दृष्टि से कार्यपालक अभियंता के वैसे पद को प्रोफेसर की तुलना में ऊँचा स्थान प्राप्त है।[cxvii]

सोपानवत स्थिति (Scalar Status) – जब हम सामाजिक स्थितियों को श्रेणीबद्ध तरीके से देखने की कोषिष करते हैं तो उसे सोपानवत स्थिति कहा जाता है। बहुत सारे औपचारिक संगठनों के अन्तर्गत व्यक्तियों को वरीयता और श्रेष्ठता के आधार पर श्रेणीबद्ध किया जाता है। स्थिति की इस सरंचना को सोपानवत स्थिति के नाम से जाना जाता है। सोपानवत स्थिति आधुनिक समाज में औपचारिक व्यवस्था की प्रमुख विषेषता है।[cxviii]

प्रस्थिति के प्रकार (Types of Status)

प्रस्थिति का वर्गीकरण पिछले पाँच–छः दशकों में हुआ है। सामान्यतया आम लोग प्रस्थिति का तात्पर्य उस स्थिति से समझते हैं जो प्रदत्त है यानी जन्म से है। 19वीं शताब्दी के लेखकों ने विशेषकर सर हेनरी मेन (Sir Henry Maine, 1822-1888), राबर्ट ई0 पार्क (Robert E. Park, 1864-1944) और एरनेस्ट डब्ल्यू. बर्गेस (Ernest W. Burgess, 1921) ने प्रस्थिति की व्याख्या में केवल यही कहा कि यह व्यक्ति के लिये स्थिर होती है, इसमें कोई परिवर्तन नहीं आता। 20वीं शताब्दी के प्रारम्भ में जब आधुनिक मानवशास्त्र और समाजशास्त्र का जन्म हुआ तब समझा जाने लगा कि प्रस्थिति केवल प्रदत्त या वंशानुगत नहीं है; इसका सम्बन्ध वृहत् सांस्कृतिक क्षेत्र से है। अब कहा गया कि एक ही प्रस्थिति में सामान्यतया कई सहायक प्रस्थितियाँ (Subsidiary Status) होती हैं। इसी संदर्भ में अमेरिका के मानवशास्त्री राल्फ लिन्टन (Ralph Linton, 1893-1953) ने सबसे पहली बार प्रस्थिति के वर्गीकरण को प्रस्तुत किया। उसके अनुसार प्रस्थिति प्रदत्त (Ascribed) और अर्जित (Achieved) दोनों है। प्रस्थिति का यह दोहरा वर्गीकरण – प्रदत्त और अर्जित, जिसे पहली बार लिन्टन ने किया, आज भी समाजशास्त्र में अपनी मान्यता रखता है। प्रस्थिति को नैनिकी (Znanieki) ने सामाजिक वृत्त (Social Circle) के दो भागों में रखा है। यहाँ हम प्रस्थिति से जुड़े हुए लिन्टन और डेविस द्वारा प्रतिपादित वर्गीकरण को प्रस्तुत करेंगे।[cxix]

लिन्टन द्वारा प्रतिपादित प्रस्थिति वर्गीकरणः प्रदत्त और अर्जित (Linto's Classification of Status: Ascribed and Achieved)

समाजशास्त्र में जब प्रस्थिति का उल्लेख करते हैं तो इससे हमारा तात्पर्य कर्त्तव्य और अधिकारों का जोड़ है। जिस पद के साथ ये दोनों जुड़े होते हैं, वही प्रस्थिथ्त है। प्रस्थिति एक पद या सीान है और इसके साथ जुड़ी हुई भूमिकाएँ होती हैं। इस अर्थ में प्रस्थिति का गतिषील पहलू भूमिका है। प्रायः प्रस्थिति तो अपेक्षित रूप से स्थिर रहती है पर उससे जुड़ी हुई भूमिकाएँ बराबर परिवर्तनषील रहती हैं। पहले माता–पिता का का कर्त्तव्य बच्चों का पालन–पोषण करना मात्र था। अब माता–पिता की प्रस्थिति तो स्थिर है लेकिन पालन–पोषण की भूमिका वृहत् हो गई है। माता–पिता चाहते हैं कि बच्चों को अधिकतम व्यावसायिक षिक्षा उपलब्ध करवायें, उसे प्रतियोगिता परीक्षाओं के लिये तैयार करें ओर इससे आगे उन्हें किसी धन्धे में लगाएँ। यह सब हो जाने के लिए बाद माता–पिता का कर्त्तव्य विवाह करवाना होता है। कुछ स्थितियों में विवाह स्वयं बच्चों पर छोड़ा जा कसता है। इस दृष्टान्त में माता–पिता की प्रस्थिति तो स्थिर है पर उसकी भूमिकाएँ बदल

जाती हैं। यहीं पर आकर लिन्टन प्रस्थितियों को प्रदत्त और अर्जित भागों में बाँटते हैं।[cxx]

प्रदत्त प्रस्थिति (Ascribed Status)

प्रस्थिति व्यक्ति को जन्म से प्राप्त होती है। इसका मतलब यह हुआ कि वंशानुगत प्रस्थिति व्यक्ति के हाथ में नहीं होती। इसका निर्णय तो सामान्यतया जैवकीय कारक करते हैं। कई बार प्रदत्त प्रस्थिति परम्पराओं द्वारा भी निर्धारित की जाती है। व्यक्ति का किसी जाति या प्रजाति में जन्म जैवकीय कारकों का परिणाम हैं इसी तरह किसी व्यक्ति का राजा बनना, चौधरी बनना स्थिर प्रस्थिति है, इसका कारण परम्परा है। राजा का लड़का राजा बनता है, यह परम्परागत प्रस्थिति है। कई मठों में मठाधीष द्वारा निर्धारित उत्तराधिकारी ही मठ का अधिष्ठान बनता है, यह प्रस्थिति भी परम्परागत है। **लिन्टन** कहते हैं कि प्रदत्त प्रस्थिति के कई कारण होते हैं, कई आधार होते हैं। सामान्यतया, उनके अनुसार प्रदत्त प्रस्थिति के मुख्य पाँच आधार हैं:

1. लिंग भेद (Gender Difference),
2. जातीय और प्रजातीय भेद (Caste and Racial Difference) ,
3. आयु भेद (Age Difference),
4. नातेदारी के सम्बन्ध (Kinship Relations),
5. परम्परागत आधार (Traditional Base) ।[cxxi]

3.8 प्रदत्त और अर्जित प्रस्थिति में अन्तर (Difference in Ascribed and Achieved Status)

कोई दो–तीन दशक पहले समाजशास्त्र में एक बहस चली थी। बहस थी पर्यावरण बनाम वंशानुक्रमण। दोनों ही पक्ष अपने–अपने तर्क प्रस्तुत करते थे। वंशानुक्रमणवादियों का कहना था कि मनुष्य का शरीर, उसका रंग और उसके शारीरिक लक्षण जन्म से प्राप्त होते हैं और इसलिये वंशानुक्रमण मनुष्य की क्षमता को पैदा करता है। पर्यावरणवादियों का तर्क कुछ दूसरा था। उनका कहना था कि वंशानुक्रमण कितना भी प्रभावी क्यों न हो, जब तक उसे अनुकूल पर्यावरण और वंशानुक्रमण परस्पर विरोधी नहीं है। दोनों ही एक–दूसरे के पूरक हैं। कुछ इस तरह की तुलना प्रदत्त और अर्जित प्रस्थितियों के बीच में की जाती है। वास्तव में देखा जाए कि इन दोनों में कौन–सी प्रस्थिति महत्वपूर्ण है, यह किसी भी विवेचन का मुद्दा नहीं बन सकता। यदि दोनों का अन्तर ही देखना है तो इसमें हमें पूरक प्रस्थितियों के रूप में दोनों को समझना पड़ेगा। अतः प्रदत्त तथा अर्जित प्रस्थिति का अन्तर हम यहाँ दे रहे हैं। यहाँ हम इसी दृष्टि से इन दोनों प्रस्थितियों का अन्तर स्पष्ट करेंगे:

1. प्रदत्त प्रस्थिति बुनियादी प्रस्थिति है (Ascribed Status is Basic Status)

लिन्टन ने जब अर्जित प्रस्थिति का उल्लेख किया तब उन्होंने इस बात को दृढ़तापूर्वक कहा कि 20वीं शताब्दी के प्रारम्भ तक अर्जित प्रस्थिति का सामाजिक सम्बन्धों के विश्लेषण में कोई उल्लेख नहीं था। आम आदमी

प्रस्थिति का अर्थ प्रदत्त या यानी जन्मजात रूप में ही लेता था। प्रस्थितियों के अन्तर की बात औद्योगिकरीण, शहरीकरण आदि के आने के परिणामस्वरूप हुई। अतः ऐतिहासिक दृष्टि से देखें तो कहना होगा कि प्रदत्त प्रस्थिति बुनियादी प्रस्थिति है। अर्जित प्रस्थिति तो हाल की खोज है।

2. प्रदत्त प्रस्थिति व्यक्ति की इच्छाओं पर निर्भर नहीं है (Ascribed Status does not Depend on Choice)

प्रकृति ने जैवकीय और भौतिक संरचना को बनाया है। मनुष्य के चाहने पर पेड़ की पत्तियाँ अपना रंग नहीं बदल सकतीं, मनुष्य की इच्छा पर पहाड़ झुक कर समतल नहीं हो सकते। कुछ इसी तरह काले रंग के लोग गोरे नहीं हो सकते। ठिगने कद वाले लम्बे नहीं हो सकते और चाहने पर स्त्रियाँ पुरूष नहीं बन सकतीं। कुछ प्रदत्त प्रस्थितियाँ परम्पराओं के कारण भी हैं। सामान्यतया इनका परिवर्तन भी मनुष्य के हाथ में नहीं है। अतः प्रदत्त और अर्जित प्रस्थिति की प्रकृति में यह अन्तर महत्वपूर्ण है कि प्रदत्त प्रस्थिति जैवकीय और प्रकृतिक होती है, कुछ अंशों में पारम्पारिक भी होती है। जबकि अर्जित प्रस्थिति स्वयं व्यक्ति की उपलब्धि है। वह जिस किसी प्रस्थिति में है–चिकित्सक, अध्यापक, इत्यादि उसके लिये वह स्वयं उत्तरदायी है; कम से कम जैवकीय कारक तो नहीं।

3. प्रदत्त प्रस्थिति सापेक्षित रूप से स्थायी होती है (Ascribed Status is Relative by Stable)

जैवकीय कारकों पर आधारित प्रदत्त स्थिति लगभग स्थायी होती है। पुरूष और स्त्री का लिंग भेद चिरन्तन है। दुनिया की प्रजातियों में भी जैवकीय और प्राकृतिक अन्तर है, आदिकाल से है। हम किसी भी प्रदत्त प्रस्थिति को लें उसमें स्थायित्व होता है। कभी–कभी अन्तर आता है तो यह सैकड़ों–हजारों वर्षों में देखने को मिलता है।

दूसरी ओर अर्जित प्रस्थिति अपनी प्रकृति से ही अस्थायी होती है। आज का करोड़पति कल दिवालिया हो सकता है और इससे आगे व्यवसायों में जो गतिशीलता आई है उसने तो अर्जित प्रस्थिति में क्रान्किारी परिर्वतन ला दिया है। अमेरिका और यूरोप में तो प्रस्थितियों में अस्थायित्व रोज की बात है। कल जो प्राध्यापक रीडर की प्रस्थिति में था, आज प्रोफेसर बन जाता है और शायद आने वाले कल में उपकुलपति। अतः जहाँ प्रदत्त प्रस्थिति बहुत अधिक सीमा तक स्थायी होती है, वहीं अर्जित प्रस्थिति गतिवान। यह अवश्य है कि अत्यधिक औद्योगिक समाजों में अर्जित प्रस्थिति में परिवर्तन बहुत जल्दी आता है। जबकि ग्रामीण और आदिवासी समाजों में यह परिवर्तन थोड़ा और न्यूनतम होता है। ऐसे समाजों में बहुत करके व्यक्ति किसान की प्रस्थिति को मृत्युपर्यन्त ढोता रहता है।

4. प्रदत्त प्रस्थिति की भूमिका में परिवर्तन आता है (Change in the Roles of Ascribed Status)

प्रत्येक प्रस्थिति के साथ भूमिकाएँ जुड़ी होती हैं। यह सही है कि प्रदत्त प्रस्थिति बदलती नहीं है। लेकिन जब समाज परिवर्तन के तीव्र दौर में से गुजरता है तो इस प्रस्थिति से जुड़ी हुई भूमिकाएँ भी बदल जाती हैं।

माता–पिता की भूमिका है कि वह अपने बच्चों को शिक्षा प्रदान करें। लेकिन शिक्षा प्रदान करने की यह भूमिका द्वितीयक संस्थाओं ने ले ली है। वैसे वयस्क बच्चों का विवाह करवाने की भूमिका माता–पिता अदा करते थे। यह भूमिका भी अब स्वयं बच्चों के हाथ में चली गई है। हो यह रहा है कि प्रदत्त प्रस्थितियाँ तो स्थायी बनी हुई है, लेकिन उससे जुड़ी हुई भूमिकाओं में बराबर अन्तर आ रहा है।

अर्जित प्रस्थिति की भूमिकाएँ भी अर्जित प्रस्थिति की तरह बराबर बदलती रही हैं। उदाहरण के लिये, चिकित्सक की प्रस्थिति अर्जित है। इससे जुड़ी हुई भूमिकाएँ जो पहले थीं। आज नहीं है। जब चिकित्सक सेवाा को अपना व्यवसाय नहीं समझता। इसके लिये सेवा कए कमोडिटी (Commodity) मात्र हो गयी है। हम आग्रहपूर्वक यह कहना चाहते हैं कि अर्जित प्रस्थिति के साथ जुड़ी हुई जो भूमिकाएँ थीं, वे आज प्रजातन्त्र और उदारवाद की चपेट में आकर बहुत बदल गई हैं। यह उसमें वाणिज्यीकरण आ गया है।

यहाँ रूचिकर बात यह है कि प्रदत्त और अर्जित दोनों प्रस्थितियों से जुड़ी हुई भूमिकाओं में बदलाव आया है। मतलब यह है कि प्रस्थितियों में अन्तर होते हुए भी उसकी भूमिकाओं में समानता है। दोनों से जुड़ी हुई भूमिकाएँ परिवर्तनशील हैं।

5. प्रदत्त प्रस्थितियाँ आदिम समाजों में अधिक प्रतिष्ठित होती हैं (Ascribed Status is much Prestigious in Primitive Societies)

मानवशास्त्रियों के अध्ययनों के दो निष्कर्ष हैं जिनके आधार पर यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि आदिम समाजों मे प्रदत्त प्रस्थिति का स्थान प्रतिष्ठा का स्थान है। अब भी इन समाजों में पंचायत और उसके मुखियाओं की प्रस्थिति वंशानुगत होती है। यदि आज एक व्यक्ति मुखिया है तो उसके बाद सहज रूप से उसका पुत्र मुखिया बन जाएगा। इन समाजों में जो परम्परागत प्रदत्त प्रस्थितियाँ है उसमें परिर्वतन तो होता है लेकिन उसकी गति बहुत धीमी होती है। इसका मतलब हुआ आदिम समाज यानी प्रदत्त प्रस्थिति का समाज। दूसरी ओर अर्जित प्रस्थिति प्रजातान्त्रिक और विकसित देशों में मिलती है। ज्यों–ज्यों समाज अधिक विकसित होता जाता है त्यों–त्यों नई अर्जित प्रस्थितियों का उद्‌गम होता रहता है। यूरोप के समाज में यदि पिछले एक दशक के परिवर्तन के दौर को ही देखें तो हमें कई नई अर्जित प्रस्थितियाँ देखने को मिलेंगी।

प्रदत्त और अर्जित प्रस्थिति एक–दूसरे के विपरीत नहीं है। ये दोनों प्रस्थिति के प्रकार हैं। दोनों ही प्रस्थिति हैं और दोनों ही एक–दूसरे की पूरक हैं। जब इन प्रस्थितियों को हम समाजशास्त्रीय दृष्टि से देखते हैं तो हमें बराबर यह ध्यान में रखना चाहिए कि प्रस्थितियों के ये प्रकार सामाजिक संरचना से उत्पन्न हुए हैं, सामाजिक संस्कृति से जुड़े होते हैं। अतः समाज और कुछ न होकर प्रस्थिति का एक जाल है। जब प्रस्थितियाँ बदलती हैं या समाज बदलता है तब प्रस्थिति और भूमिका में भी बदलाव आता है। हम ऐसा समझते हैं कि प्रस्थिति का पृथक् विश्लेषण बेमतलब है जब तक कि हम उसे सम्पूर्ण समाज के संदर्भ में नहीं देखते। विकासशील देशों में प्रस्थिति का जो स्थान होता है वह विकसित समाज

से भिन्न होता है और विकासशील समाजों में जो स्थान प्रस्थिति का होता है, उससे भिन्न आदिम समाजों में। प्रस्थिति का संदर्भ सदैव समाज से होता है।

3.9 वर्ग (Class)

वर्ग का आधार आर्थिक है। वर्गों की सामाजिक प्रस्थिति का निर्धारण धन संपत्ति, निजी उपलब्धि, और व्यक्तिगत क्षमता से होता है। वर्ग प्रतिस्पर्धा तथा वैयक्तिकता पर आधारित हैं। वर्ग व्यवस्था को समाजशास्त्र के अंतर्गत प्रायः अर्जित प्रस्थिति और मुक्त स्तरीकरण के साथ जोड़ा जाता है। वर्ग आज की पूंजीवादी औद्योगिक व्यवस्था के प्रमुख समूह हैं। उत्पादन की प्रक्रिया एक तरह की क्रिया करने वाले, धन तथा संपत्ति की दृष्टि से एक जैसे स्तर वाले तथा समान जीवनशैली के लोग एक वर्ग से संबद्ध माने जाते हैं। एक वर्ग के लोगों के समान आर्थिक हित और उनमें वर्ग चेतना पाई जाती है।[cxxii]

वर्गों की संरचना –

जाति का आधार जन्म, शुद्धता और प्रदूषण की धारणा और कर्मकाण्ड हैं जबकि वर्ग का आधार आर्थिक है। जाति धर्म द्वारा अनुमोदित संरचना है जबकि वर्ग बिना किसी धार्मिक अथवा कानूनी अनुमोदित एक ठोस यथार्थपरक संरचना है। वर्गों की सामाजिक प्रस्थिति का निर्धारण धन संपत्ति, निजी उपलब्धि, और व्यक्तिगत क्षमता से होता है। जाति का मौलिक आधार अन्योन्याश्रयता, पारस्परिक सहयोग और समूहिकता है जबकि वर्ग प्रतिस्पर्धा तथा वैयक्तिकता पर आधारित हैं।[cxxiii]

कुछ समाजशास्त्रियों का मानना है कि सामाजिक वर्गों की धारणा और इनकी संरचना की कसौटियों का ठोस, वस्तुपरक और वैज्ञानिक आधार नहीं है। समाजशास्त्रियों ने परिवार, धन–संपत्ति, जीवनशैली, प्रतिष्ठा, नगर के प्रतिष्ठित इलाकों में निवास, मकानों की बनावट, बच्चों के विद्यालय, समितियों तथा क्लबों की सदस्यता के आधार पर वर्गों की विशेषताओं पर विचार किया है।[cxxiv]

मार्क्स ने सामाजिक सरंचना में वर्गों के अस्तित्व पर विशेष रूप से बल दिया। इनके अनुसार पूंजीवादी–औद्योगिक व्यवस्था में दो प्रमुख वर्ग पाए जाते हैं:

(1) पूंजीवादी वर्ग,

(2) श्रमिक वर्ग।

उत्पादन के साधनों पर पूंजीपति वर्ग का स्वामित्व पाया जाता है। श्रमिक वर्ग अपनी मेहनत को पूंजीवादी समाज में बेच कर अपनी जीविका–उपार्जित करता है। मार्क्स ने इसे सर्वहारा वर्ग भी कहा है।[cxxv]

मार्क्स औद्योगिक वर्ग संरचना के विश्लेषण में अति सरलीकरण की प्रक्रिया का आश्रय लेते हैं। वस्तुतः वर्ग संरचना काफी जटिल है। बोटोमोर मुख्य रूप से चार वर्गों की चर्चा करते हैं:

(1) उच्च वर्ग;

(2) मध्यम वर्ग

(3) श्रमिक वर्ग;

(4) कृषक वर्ग।[cxxvi]

उच्च वर्ग (पूंजीपति) वर्ग का मुख्य रूप से आर्थिक संसाधनों पर स्वामित्व है। मध्यम वर्ग के अंतर्गत मुख्य रूप से दफ्तरों के बाबू और पेशेवर समूह आते हैं। श्रमिक वर्ग का अर्थ उद्योगों में वेतन के बदले काम करने वाले मजदूरों से है। खेती के द्वारा अपनी जीविका अर्जित करने वाले लोगों को कृषक वर्ग के अन्दर रखा जा सकता है।[cxxvii]

ब्रिटेन की वर्ग की संरचना पर सन् 1951 की जनगणना के आधारों पर विचार करते हुए जी.डी. एचत्र कोल ने वर्ग निर्धारण संबंधी सैद्धांतिक और पद्धतिगत प्रश्नों को उठाया है। कोल द्वारा वर्ग निर्धारण की प्रतिपादित पद्धतियां जहाँ वर्ग की कसौटियों को स्पष्ट करती हैं वहीं पर वर्ग निर्धारण की जटिलताओं को भी व्यक्त करती हैं। वर्ग निर्धारण की वस्तुनिष्ठ और स्वनिष्ठ दो पद्धतियों को दृष्टिगत रखते हुए कोल वर्ग निर्धारण की तीन मुख्य धाराओं की चर्चा करते हैं।[cxxviii]

पहली धारा के अंतर्गत मार्क्सवादी विचारक हैं जो यह मानते हैं कि वर्ग एक वस्तुगत यथार्थ है। इस मान्यता के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति समाज में अपनी स्थिति के अनुरूप निश्चित रूप से परिभाषित कुछ विशेषताओं के आधार पर किसी वर्ग विशेष के अंतर्गत रखा जा सकता है। वस्तुगत कसौटियों के अंतर्गत उत्पादन की प्रक्रिया के साथ व्यक्ति का संबंध, धन, संपत्ति, क्षेत्र विशेष में निवास, मकानों की बनावट, आय का स्तर तथा विद्यालय छोड़ने की आयु आदि को सम्मिलित किया जा सकता है।[cxxix]

दूसरी धारा के लोग वर्ग निर्धारण की आंतरिक कसौटियों पर विशेष रूप से बल देते हैं। व्यक्ति विशेष से ही पूछा जा सकता है कि वह किस वर्ग से संबंधित है और उसके द्वारा दिए गए उत्तर पर आधारित, वर्ग निर्धारण बिलकुल वैध माना जा सकता है। इस पद्धति की अपनी कुछ सीमाएं भी हैं। प्रश्न किस प्रकार से पूछे जा रहे हैं? उनके सम्भावित उत्तरों की सूची प्रश्नकर्ता स्वयं दे रहा है अथवा उत्तरदाता के ऊपर छोड़ दे रहा है ? ये कुछ ऐसे प्रश्न हैं जिन पर उत्तरों का स्वरूप बहुत कुछ निर्भर करेगा।[cxxx]

तीसरी धारा के अंतर्गत व्यक्ति के वर्ग का निर्धारण उसके मित्रों और पड़ोसियों के मत के आधार पर किया जाता है। यह सबसे कठिन पद्धति है। इस पद्धति के अंतर्गत विस्तृत प्रश्नावली की आवश्यकता पड़ती है और उत्तरों का स्वरूप प्रश्न की प्रकृति पर निर्भर करता है।[cxxxi]

सैद्धांतिक स्तर पर कार्ल मार्क्स की वर्ग संरचना के सिद्धांत पर आलोचनात्मक दृष्टि से विचार करते हैं। मार्क्स की वर्ग संरचना में पूंजीपति और सर्वहारा वर्ग तो औद्योगिक और यांत्रिक उत्पादन पद्धति से संबंधित है जबकि मध्यम वर्ग, मात्र एक अवशिष्ट समूह है। कृषकों का संबंध एक पुरातन कृषि व्यवस्था से है। मार्क्स ने अपने सिद्धांत में इस बात पर बिलकुल ध्यान नहीं दिया कि औद्योगिक उत्पादन की पद्धति वेतनभोगियों, प्रशासकों, प्रबंधकों, तथा पेशों में संलग्न लोगों का एक नया वर्ग पैदा कर रही है जो आने वाले दिनों में अत्यंत महत्वपूर्ण साबित होंगे। कोल के अनुसार मार्क्स के सिद्धांत की दूसरी दुर्बलता है कि उन्होंने वर्ग तथा व्यवसायों के अंतर्सम्बंध को धन में नहीं रखा और उन्हें एक साथ मिला दिया है।[cxxxii]

3.10 वर्ग का वर्गीकरण (Classification of Class)

वर्गों का वर्गीकरण करना एक जटिल काम है। यह इसलिये कि विभिन्न सिद्धान्तवेत्ताओं ने वर्ग की व्याख्या विभिन्न वैचारिकी के माध्यम से की है। उदाहरण के लिये मार्क्स केवल दो वर्गों की चर्चा करते हैं जबकि मेक्स वेबर तीन वर्गों की चर्चा करते हैं। वर्गों के वर्गीकरण में जो भी सैद्धान्तिक संदर्ष हैं इसके मुख्यतया दो प्रवर्तक हैं–

1. कार्ल मार्क्स और
2. मेक्स वेबर

बाद में चलकर इन प्रवर्तकों के अनुयायियों ने पूरक रूप से कई वर्ग के प्रकार प्रस्तावित किये हैं। इन प्रवर्तकों में ईरिक ओलिन राइट (Erik Olin Wright) और फ्रेन्क पार्किन (Frank Parkin) मुख्य हैं। सच्चाई यह है कि मार्क्स और वेबर के विचारों का बहुत बड़ा प्रभाव स्तरीकरण पर ही नहीं, समाजशास्त्र की अन्य विधाओं पर भी पड़ा है। यहाँ हम कतिपय इन लेखकों द्वारा दिये गये वर्गीकरणों को भी देखेंगे।

जैसा कि हमने पहले कहा है कि कार्ल मार्क्स पहले विचारक थे, जिन्होंने स्तरीकरण की विषद् व्याख्या की है और विशेष रूप से वर्ग–व्यवस्था की। कहीं एक स्थान पर मार्क्स ने वर्ग को परिभाषित किया हो, ऐसा नहीं है। उन्होंने जगह–जगह पर वर्ग की व्याख्या की है। इन फुटकर निबन्धों के आधार पर कहा जा सकता है कि मार्क्स के अनुसार वर्ग व्यक्तियों का एक ऐसा समूह है जिनके सम्बन्ध उत्पादन साधनों (Means of Production) द्वारा होते हैं। ये उत्पादन के साधन ही लोगों को जीविकोपार्जन देते हैं।

वर्ग की इस परिभाषा के अनुसार मार्क्स कहते हैं कि समाज में कई वर्ग होते हैं लेकिन जब क्रान्ति के लिये इन वर्गों का ध्रुवीकरण (Polarisation) होगा, सभी वर्ग दो भागों में बंट जायेंगे–

(1) बुर्जुआ वर्ग, और

(2) सर्वहारा वर्ग।

इस क्रांन्ति में सर्वहारा वर्ग की विजय होगी और तब एक ऐसा समाज बनेगा जिसमें न तो राज्य होगा और न वर्ग।

स्तरीकरण के सिद्धान्तवेत्ताओं में मार्क्स के बाद मेक्सवेबर का नाम लिया जाता है। मूल में वेबर एक जर्मन थे लेकिन उनकी लम्बी बीमारी ने उन्हें विश्वविद्यालय में अधिक समय रहने नहीं दिया। बहुत कम लोग जानते हैं कि वेबर, मार्क्स के प्रतिद्वन्द्वी होकर भी मार्क्स के स्तरीकरण के सिद्धान्त को आगे बढ़ाते हैं। मार्क्स के विपरीत वेबर कहते हैं कि वस्तुनिष्ठ आर्थिक दशाओं के कारण समाज में कई वर्ग बनते हैं, केवल दो वर्ग ही नहीं। उनके अनुसार स्तरीकरण के तीन आधार हैं–

(1) धन,

(2) प्रतिष्ठा और

(3) पार्टी यानी राजनीतिक शक्ति

इस दृष्टि से वेबर ने कई वर्गों को प्रस्तावित किया है। जैसे कि–

1. उच्च वर्ग (Upper Class),
2. सम्पत्तिहीन सफेद–पोष कामगार (Propertyless White-Collar Workers),
3. मध्यम वर्ग (Missle Class) और
4. कारखानों में काम करने वाले मजदूर (Working Class)

अमेरिका के समाजशास्त्री ईरिक ओलिन राईट ने मार्क्स के आधार पर वर्गों का वर्गीकरण किया है। वे वेबर के विचारों से प्रभावित हैं। वास्तव में उन्होंने मार्क्स और वेबर दोनों के विचारों को वर्ग वर्गीकरण में रखा है। वे कहते हैं कि आर्थिक संसाधनों पर आधुनिक पूँजीवादी उत्पादन में तीन तरह से नियंत्रण रखा जा सकता है। राईट का तर्क है कि वर्ग के निर्माण में केन्द्रीय धारणा उत्पादन साधनों पर नियंत्रण रखना है। इस दृष्टि से वे तीन प्रकार के वर्गों की पहचान करते हैं:

1. निवेश या सम्पत्ति पर नियंत्रण रखने वाले वर्ग (Classes which have Control over Investments or Money Capital)
2. उत्पादन के भौतिक साधनों पर नियंत्रण करने वाले वर्ग (Classes which have Control over the Physical Means of Production)
3. श्रम शक्ति पर नियंत्रण करने वाले वर्ग (Classes which have Control over Labour Power)

फ्रेन्क पार्किन जो कि एक ब्रिटिष लेखक हैं, ने स्तरीकरण के वेबर के संदर्ष को अपनाया है। उन्होंने मार्क्स से भी बहुत कुछ उधार लिया है, फिर भी कुल मिलाकर वे वेबर से अधिक प्रभावित हैं। पार्किन मार्क्स और वेबर दोनों इस तथ्य से सहमत हैं कि वर्ग संरचना का बहुत बड़ा आधार उत्पादन साधनों से अर्जित सम्पत्ति पर स्वामित्व होना है। पार्किन यह भी मानते हैं कि वर्ग का केवल एक आयाम आर्थिक है लेकिन आर्थिक व्यवस्था दूसरों पर अधिकार रखने की शक्ति भी देती है।

यूरोप और अमेरिका में वर्गों का जो वर्गीकरण आज हमे दखने को मिलता है वह इन सब सिद्धान्तवेत्ताओं द्वारा समर्थित है। एन्थोनी गिडेन्स ने पष्चिमी देषों के वर्गों को विभिन्न कोटियों में रखते हुए दो मुख्य आधारों को स्वीकार किया हैं उनका पहला आधार तो धन और आय के संसाधन हैं और दूसरो आधार शक्ति (Power) है। उनके द्वारा प्रस्तावित वर्गीकरण जो पष्चिमी देषों में मिलता है, इस भाँति है:

1. उच्च वर्ग (Upper Class)
2. मध्यम वर्ग (Middle Class)
3. श्रमिक वर्ग (Working Class)

उच्च वर्ग (Upper Class)

एन्थोनी गिडेन्स ने कहा है कि ब्रिटेन जैसे देष में उच्च वर्ग के लोगों का प्रतिषत अधिक बड़ा नहीं होता, लगभग एक प्रतिषत। इन लोगों के पास अपार धन सम्पत्ति होती है लेकिन इस वर्ग में भी उपवर्ग होते हैं। एक उपवर्ग उन लोगो ंका

है जो परम्परा से बहुत बड़ी सम्पत्ति के मालिक हैं और दूसरा वर्ग नवीन वर्ग है जिसने हाल में यानी द्वितीय विष्व युद्ध के बाद धन उपार्जित किया है। पुराने वर्ग के लोग सामान्यतया नवीन वर्ग के लोगों को हीन दृष्टि से देखते हैं।

जैसा कि मार्क्स और वेबर कहते हैं, जिनके पास सम्पत्ति होती है, सामान्यतया उन्हें राजनीतिक शक्ति भी मिल जाती है। देखा गया है कि उच्च वर्ग के लोग सरकार और पार्लियामेन्ट में दूसरे वर्गों की तुलना में अधिक शक्ति सम्पन्न हो जाते हैं। जॉन स्कॉट ने अपने एक अध्ययन में बताया है कि 19 वीं षताब्दी के ब्रिटेन में उच्च वर्ग के तीन उपवर्ग थे। पहला उपवर्ग कुलीनों का था। यह कुलीन वर्ग बाद में चलकर सफल वित्तीय समूह बन गया। इस वर्ग में उद्योगपति आते हैं। दूसरे उपवर्ग में बड़े–बड़े भू–स्वामी आते हैं और तीसरा उपवर्ग वित्तीय उद्यमियों (Financial Entrepreneurs) का है। स्कॉट ने एक ऐसी सामाजिक प्रक्रिया का उल्लेख किया है जिसके माध्यम से ये तीनों उपवर्ग अपनी पहचान उच्च वर्ग की तरह बनाने में सफल हुए हैं।

मध्यम वर्ग (Middle Class)

मध्यम वर्ग में उन लोगों को सम्मिलित किया जाता है जो अनेकानेक व्यवसायों में काम करते हैं। कुछ लोगों का विचार है कि ब्रिटेन की बहुत बड़ी जनसंख्या मध्यम वर्ग में आती है। यह इसलिये कि पिछले कुछ दषकों में अधिकतर लोगों ने अपने जीविकोपार्जन के लिये सफेद–पोष (White-Collar) धन्धों को अपना लिया है।

मध्यम वर्ग में एन्थोनी गिडेन्स कहते हैं कि तीन मुख्य उपवर्ग देखने को मिलते हैं। पहला मध्यम वर्ग का उपवर्ग उन लोगों का है जो छोटा–मोटा धन्धा करते हैं, जैसे–सामान्य दुकानों के मालिक और लघु किसान। इस वर्ग को पुरातन मध्यम वर्ग (Old Middle Class) कहते हैं।

मध्यम वर्ग में दूसरा तबका उच्च मध्यम वर्ग (Upper Middle Class) इस वर्ग में वे लोग आते हैं जो व्यावसायिक या व्यवस्थापक की तरह काम करते हैं। इस वर्ग के अधिकतर लोग किसी न किसी प्रकार की उच्च षिक्षा प्राप्त करते हैं और सामाजिक तथा राजनीतिक मुद्दों पर इनका विचार उदार होता है। इस तरह के लक्षण व्यावसायिक समूहों में अधिक मिलते हैं।

मध्यम वर्ग में एक तीसरा उपवर्ग निम्न मध्यम वर्ग (Lower Middle Class) का है। इस वर्ग में भाँति–भाँति के लोग होते हैं और इस अर्थ में यह वर्ग विजातीय (Heterogeneous) होता है। इसमें कार्यालयों के कर्मचारी, सेल्स रिप्रजेन्टेटिव, अध्यापक, नर्स और अन्य लोग सम्मिलित किये जाते हैं। इस वर्ग के लोगों की सामाजिक और राजनीतिक अभिवृत्तियों में बड़ी भिन्नता देखने को मिलती है।

श्रमिक वर्ग (Working Class)

इस वर्ग में वे लोग सम्मिलित होते हैं जो ब्ल्यू–कोलर (Blue-Collar) या शारीरिक श्रम करने वाले धन्धों से जुड़े होते हैं। मध्यम उपवर्ग की तरह श्रमिक वर्ग में भी कई उपवर्ग होते हैं। इनमें से एक उपवर्ग कुशल कारीगरों का है। इस उपवर्ग को उच्च श्रमिक वर्ग (Upper Working Class) कहते हैं। मजदूरों में यह वर्ग अच्छा खाता–पीता होता है। इस वर्ग के लोगों को हूनर आती है।

श्रमिक वर्ग का दूसरा उपवर्ग निम्न श्रमिक वर्ग (Lower Working Class) होता है, जिस काम को ये लोग करते हैं इसके लिये प्रशिक्षण की बहुत कम

आवश्यकता होती है। इस वर्ग के लोगों को पगार बहुत थोड़ी मिलती है। कुशल व्यवसायों की तुलना में इस वर्ग के लोगों को सुरक्षा भी बहुत कम मिलती है।

यूरोप और अमेरिका में वर्गों का जो वर्गीकरण हमें उपलब्ध है, उसका मुख्य आधार धन और आय है। इस वर्गीकरण को हम चित्र में प्रस्तुत करेंगे।

3.11 भारत में वर्गों का वर्गीकरण (Classification of Classes in India)

हमारे देश मे वर्ग–व्यवस्था **सावयवी** (Organic) रूप से जाति–व्यवस्था से जुड़ी हुई है। कठिनाई यह है कि हम जाति और वर्ग को सुस्पष्ट रूप से पृथक् नहीं कर सकते। इस कठिनाई के होते हुए भी विश्लेषण के लिये जाति और वर्ग को अलग किया जा सकता है। दुनियाभर में वर्गों की व्याख्या या तो मार्क्सवादी संदर्श में की गयी है या गैर–मार्क्सवादी संदर्श में। दोनों संदर्श यह स्वीकार करते हैं कि स्तरीकरण का बहुत बड़ा स्वरूप वर्ग है। वर्ग सार्वभौमिक है। यह भी माना जाता है कि विभिन्न समाजों में ऐतिहासिक, सांस्कृतिक अन्तर के होते हुए भी वर्ग की उपस्थिति सभी में है। यह भी हो सकता है कि विदेशियों की वर्ग की सार्वभौमिक धारणा भारत में सिद्ध न भी हो। इस संदर्भ में अनुसंधान की आवश्यकता है। यह भी सही है कि समाजशास्त्र के साहित्य में वर्ग की अवधारणा का जो अर्थ लिया जाता है वह विवाद से परे हो, ऐसा नहीं है। वर्ग को वस्तुनिष्ट (Objective) और व्यक्तिनिष्ठ (Subjective) दोनों दृष्टियों से समझा जाता है और विवाद का मुद्दा भी यही है।

जब भारतीय वर्ग–व्यवस्था का स्तरीकरण के रूप में विश्लेषण किया जाता है तब हमें वर्गों के ऐतिहासिक संदर्भ को भी देखना चाहिये। योगेन्द्र सिंह तो कहते हैं कि परम्परागत भारतीय समाज में वर्ग का सम्बन्ध उत्पादन पद्धतियों, सम्पत्ति के स्वामित्व, शहरों के विस्तार, बाजार, बैंकिग व्यवस्था के फेलाव, और राजनीतिक शक्ति के केन्द्र से जुड़ा हुआ है। इस युग में राजा, सामन्त, पुरोहित, व्यापारी, कारीगर, किसान और मजदूर भी वर्ग बनाते थे। इस वर्ग व्यवस्था में केवल कुलीन वर्ग ही नहीं थे, बल्कि व्यापारी भी थे। जापान और चीन जैसे देशों में और यहाँ तक की यूरोप के महाद्वीप में भी व्यापारियों को सामाजिक स्तरीकरण में निम्न स्थान प्राप्त था। पी.सी. जोशी कहते हें कि हमारे यहाँ सामाजिक व्यवस्था में व्यापारी का स्थान ऊँचा था। हर नगर में एक या दो नगर सेठ हुआ करते थे। बात यह है कि व्यापारियों के वर्ग का तालमेल उनकी जाति सदस्यता से हाता था। कुछ विचित्र बात हमारे यहाँ यह रही है कि वर्ग–व्यवस्था खुली होकर भी बन्द जाति–व्यवस्था में काम करती है।

हमारे देश में वर्ग संरचना का विश्लेषण करना बहुत कठिन हो जाता है जाति और वर्ग इस भाँति घुल–मिल गये हैं कि उन्हें पृथक् करना मुश्किल ही है। रूढ़िवादी–मार्क्सवादी विचारक भारत में कृषि भारत में कृषि के क्षेत्र में केवल दो वर्ग मानते हैं– (1) भू–स्वामियों का वर्ग, और (2) कृषि श्रमिकों का वर्ग। गैर मार्क्सवादी विचारक कृषि में श्रमिकों, गरीब कृषकों, मध्यम कृषकों, धनी कृषकों और भू–स्वामियों के रूप में वर्गीकरण करते हैं। मार्क्सवादी इन वर्गों के बची के सम्बन्धों को पूँजीवादी प्रकृति के मानते हैं और इसीलिये 'धनाढ्य' और 'निधन' के बीच अन्तर करते हैं। ए.आर. देसाई का मत है कि ''भारत में राज्य के विकासकारी उपाय के रूप में पूँजीवादी समाज के सम्पत्ति मानकों को ग्रहण कर लिया है।

रूढ़िवादी मार्क्सवादी में निहित आर्थिक निर्धारणवाद का विरोध देशी अवधारणाओं के उपयोग द्वारा किया जाता है।''

वी. एम. डांडेकर (V.M. Dandekar) ने जो भारतीय अर्थशास्त्रियों में जाने माने हस्ताक्षर हैं, भारतीय समाज में वर्ग और वर्ग संघर्ष की प्रकृति की जाँच की है। उन्होंने भारतीय वर्गों को पाँच प्रकारों में रखा है– (1) पूर्व पूँजीवाद (कृषक, कृषि श्रमिक और घरेलू उद्योग); (2) पूँजीवादी समाज में स्वतन्त्र उद्यमी; (3) नियोजक; (4) सफेद–पोश कर्मचारी; और (5) ब्ल्यू–कोलर कर्मी। इन सभी वर्ग श्रेणियों को इस तरह भी माना जा सकता है– (1)कृषक वर्ग, (2) उद्योगरत वर्ग, (3) व्यावसायिक वर्ग और व्यापारी वर्ग। डांडेकर ने वर्गों के वर्गीकरण में मार्क्सवादी उपागम को अधिक विकास नहीं हुआ है। श्रमिक संघों और श्रमिकों द्वारा सामूहिक सौदेबाजी की भूमिका का मूल्यांकन भी सही नहीं किया गया है। वर्ग संघर्ष के साथ–साथ वर्ग सामंजस्य भी जीवन का एक तथ्य है।

के. एल. शर्मा (K. L. Sharma) इस संदर्भ में कहते हैं कि धनी और निर्धन वर्गों के बीच अनेक वर्ग पाये जाते हैं और उनका विश्लेषण करना भी उतना ही आवश्यक है। भारतीय समाज में ब्रिटिशकाल में नये वर्गों के प्रादुर्भाव और इनसे अधिक स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद के आधार पर एक साधारण द्वि–वर्ग सिद्धान्त को स्वीकार करना कठिन होगा। यह सही है कि सर्वहारा वर्ग सम्पत्तिविहीन है परन्तु इस वर्ग के जीवन में बुर्जुआकरण के अवसर की सम्भावना को नकारा नहीं जा सकता। वेतन भोगी एक कोटि के रूप में अस्पष्ट है, क्योंकि इसमें 200 रूप्ये से 2000 रूपये कमाने वाले को शामिल किया जाता है। इस प्रकार बुर्जुआ लोगों की तरह सर्वहारा लोग भी एक विषमरूप इकाई है। बहुत से श्रमिक संगठित भी नहीं हैं।

3.12 वस्तुनिष्ठ बोध प्रश्न

1. निम्नलिखित में से कौन सामाजिक प्रास्थिति का प्रकार है?

   क. अर्जित ख. प्रदत्त

   ग. दोनों घ. कोई भी नहीं

2. निम्नलिखित में से कौन प्रदत्त प्रास्थिति का उदाहरण है?

   क. जाति ख. वर्ग

   ग. दोनों घ. कोई भी नहीं

3. प्रदत्त प्रास्थिति व्यक्ति की इच्छाओं पर निर्भर नहीं है।

   क. सत्य ख. असत्य

4. वर्ग अर्जित सामाजिक प्रास्थिति का एक उदाहरण है।

   क. सत्य ख. असत्य

3.13 वस्तुनिष्ठ प्रश्नों के उत्तर

1. ग

2. क

3. क

4. क

3.14 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

[i] डा० जे. पी. सिंह ,समाजशास्त्रः अवधारणाएं एवं सिद्धांत, पी.एच.आई.लर्निंग प्राइवेट लिमिटेड, नई दिल्ली, 2010

[ii] एस.एल.दोषी, पी.सी.जैन, ''समाजशास्त्र नई दिशाएं, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, जयपुर 2005

[iii] डा० जे. पी. सिंह ,समाजशास्त्रः अवधारणाएं एवं सिद्धांत, पी.एच.आई.लर्निंग प्राइवेट लिमिटेड, नई दिल्ली, 2010

[iv] वही

[v] वही

[vi] वही

[vii] डा० जे. पी. सिंह ,समाजशास्त्रः अवधारणाएं एवं सिद्धांत, पी.एच.आई.लर्निंग प्राइवेट लिमिटेड, नई दिल्ली, 2010

[viii] एस.एल.दोषी, पी.सी.जैन, ''समाजशास्त्र नई दिशाएं, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, जयपुर 2005

[ix] वही

[x] वही

[xi] वही

[xii] वही

[xiii] वही

[xiv] वही

[xv] वही

[xvi] डा० जे. पी. सिंह ,समाजशास्त्रः अवधारणाएं एवं सिद्धांत, पी.एच.आई.लर्निंग प्राइवेट लिमिटेड, नई दिल्ली, 2010

[xvii] वही

[xviii] वही

[xix] वही

[xx] वही

[xxi] वही

[xxii] वही

[xxiii] वही

[xxiv] वही

[xxv] वही

[xxvi] वही

[xxvii] वही

[xxviii] वही

[xxix] वही

[xxx] वही

[xxxi] वही

[xxxii] एस.एल.दोषी, पी.सी.जैन, ''समाजशास्त्र नई दिशाएं, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, जयपुर 2005

[xxxiii] वही

[xxxiv] वही

[xxxv] सत्यमित्र दुबे, दिनेश शर्मा, ' समाजशास्त्र एक परिचय', एनसीईआरटी, नई दिल्ली, 1989

[xxxvi] वही

[xxxvii] वही

[xxxviii] वही

[xxxix] वही

[xl] वही

[xli] वही

[xlii] वही

[xliii] वही

[xliv] वही

[xlv] वही

इकाई–4

वर्ग तथा शक्ति की संकल्पनाएं

इकाई की रूपरेखा

4.1 उद्देश्य

4.2 प्रस्तावना

4.3 वर्गों की संरचना–

4.4 वर्ग व्यवस्था (Class System)

4.5 सामाजिक वर्ग के अस्तित्व का प्रश्न

4.6 शक्ति की अवधारणा–

4.7 जाति, वर्ग तथा शक्ति संरचना –

4.8 वस्तुनिष्ठ बोध प्रश्न–

4.9 वस्तुनिष्ठ प्रश्नों के उत्तर

4.10 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

4.1 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के बाद छात्र

1. वर्ग सरंचना की प्रवृत्ति से परिचित हो पाएंगे।
2. विद्वानों द्वारा वर्णित वर्ग के विविध प्रकारों का बोध होगा ।
3. स्तरीकरण के लिए शक्ति के महत्व को समझ पाएंगे।

4.2 प्रस्तावना

वर्ग का आधार आर्थिक है। वर्गों की सामाजिक प्रस्थिति का निर्धारण धन संपत्ति, निजी उपलब्धि, और व्यक्तिगत क्षमता से होता है। वर्ग प्रतिस्पर्धा तथा वैयक्तिकता पर आधारित हैं। वर्ग व्यवस्था को समाजशास्त्र के अंतर्गत प्रायः अर्जित प्रस्थिति और मुक्त स्तरीकरण के साथ जोड़ा जाता है। वर्ग आज की पूंजीवादी औद्योगिक व्यवस्था के प्रमुख समूह हैं। उत्पादन की प्रक्रिया एक तरह की क्रिया करने वाले, धन तथा संपत्ति की दृष्टि से एक जैसे स्तर वाले तथा समान जीवनशैली के लोग एक वर्ग से संबद्ध माने जाते हैं। एक वर्ग के लोगों के समान आर्थिक हित और उनमें वर्ग चेतना पाई जाती है।[cxxxiii]

4.3 वर्गों की संरचना

जाति का आधार जन्म, शुद्धता और प्रदूषण की धारणा और कर्मकाण्ड हैं जबकि वर्ग का आधार आर्थिक है। जाति धर्म द्वारा अनुमोदित संरचना है जबकि वर्ग बिना किसी धार्मिक अथवा कानूनी अनुमोदित एक ठोस यथार्थपरक संरचना है। वर्गों की सामाजिक प्रस्थिति का निर्धारण धन संपत्ति, निजी उपलब्धि, और व्यक्तिगत क्षमता से होता है। जाति का मौलिक आधार अन्योन्याश्रयता, पारस्परिक सहयोग और समूहिकता है जबकि वर्ग प्रतिस्पर्धा तथा वैयक्तिकता पर आधारित हैं।[cxxxiv]

कुछ समाजशास्त्रियों का मानना है कि सामाजिक वर्गों की धारणा और इनकी संरचना की कसौटियों का ठोस, वस्तुपरक और वैज्ञानिक आधार नहीं है। समाजशास्त्रियों ने परिवार, धन–संपत्ति, जीवनशैली, प्रतिष्ठा, नगर के प्रतिष्ठित इलाकों में निवास, मकानों की बनावट, बच्चों के विद्यालय, समितियों तथा क्लबों की सदस्यता के आधार पर वर्गों की विशेषताओं पर विचार किया है।[cxxxv]

मार्क्स ने सामाजिक सरंचना में वर्गों के अस्तित्व पर विशेष रूप से बल दिया। इनके अनुसार पूंजीवादी–औद्योगिक व्यवस्था में दो प्रमुख वर्ग पाए जाते हैं:

(1) पूंजीवादी वर्ग,

(2) श्रमिक वर्ग।

उत्पादन के साधनों पर पूंजीपति वर्ग का स्वामित्व पाया जाता है। श्रमिक वर्ग अपनी मेहनत को पूंजीवादी समाज में बेच कर अपनी जीविका–उपार्जित करता है। मार्क्स ने इसे सर्वहारा वर्ग भी कहा है।[cxxxvi]

मार्क्स औद्योगिक वर्ग संरचना के विश्लेषण में अति सरलीकरण की प्रक्रिया का आश्रय लेते हैं। वस्तुतः वर्ग संरचना काफी जटिल है। बोटोमोर मुख्य रूप से चार वर्गों की चर्चा करते हैं:

(1) उच्च वर्ग;

(2) मध्यम वर्ग

(3) श्रमिक वर्ग;

(4) कृषक वर्ग।[cxxxvii]

उच्च वर्ग (पूंजीपति) वर्ग का मुख्य रूप से आर्थिक संसाधनों पर स्वामित्व है। मध्यम वर्ग के अंतर्गत मुख्य रूप से दफ्तरों के बाबू और पेशेवर समूह आते हैं। श्रमिक वर्ग का अर्थ उद्योगों में वेतन के बदले काम करने वाले मजदूरों से है। खेती के द्वारा अपनी जीविका अर्जित करने वाले लोगों को कृषक वर्ग के अन्दर रखा जा सकता है।[cxxxviii]

ब्रिटेन की वर्ग की संरचना पर सन् 1951 की जनगणना के आधारों पर विचार करते हुए जी.डी. एचत्र कोल ने वर्ग निर्धारण संबंधी सैद्धांतिक और पद्धतिगत प्रश्नों को उठाया है। कोल द्वारा वर्ग निर्धारण की प्रतिपादित पद्धतियां जहाँ वर्ग की कसौटियों को स्पष्ट करती हैं वहीं पर वर्ग निर्धारण की जटिलताओं को भी व्यक्त करती हैं। वर्ग निर्धारण की वस्तुनिष्ठ और स्वनिष्ठ दो पद्धतियों को

दृष्टिगत रखते हुए कोल वर्ग निर्धारण की तीन मुख्य धाराओं की चर्चा करते हैं।[cxxxix]

पहली धारा के अंतर्गत मार्क्सवादी विचारक हैं जो यह मानते हैं कि वर्ग एक वस्तुगत यथार्थ है। इस मान्यता के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति समाज में अपनी स्थिति के अनुरूप निश्चित रूप से परिभाषित कुछ विशेषताओं के आधार पर किसी वर्ग विशेष के अंतर्गत रखा जा सकता है। वस्तुगत कसौटियों के अंतर्गत उत्पादन की प्रक्रिया के साथ व्यक्ति का संबंध, धन, संपत्ति, क्षेत्र विशेष में निवास, मकानों की बनावट, आय का स्तर तथा विद्यालय छोड़ने की आयु आदि को सम्मिलित किया जा सकता है।[cxl]

दूसरी धारा के लोग वर्ग निर्धारण की आंतरिक कसौटियों पर विशेष रूप से बल देते हैं। व्यक्ति विशेष से ही पूछा जा सकता है कि वह किस वर्ग से संबंधित है और उसके द्वारा दिए गए उत्तर पर आधारित, वर्ग निर्धारण बिलकुल वैध माना जा सकता है। इस पद्धति की अपनी कुछ सीमाएं भी हैं। प्रश्न किस प्रकार से पूछे जा रहे हैं? उनके सम्भावित उत्तरों की सूची प्रश्नकर्ता स्वयं दे रहा है अथवा उत्तरदाता के ऊपर छोड़ दे रहा है ? ये कुछ ऐसे प्रश्न हैं जिन पर उत्तरों का स्वरूप बहुत कुछ निर्भर करेगा।[cxli]

तीसरी धारा के अंतर्गत व्यक्ति के वर्ग का निर्धारण उसके मित्रों और पड़ोसियों के मत के आधार पर किया जाता है। यह सबसे कठिन पद्धति है। इस पद्धति के अंतर्गत विस्तृत प्रश्नावली की आवश्यकता पड़ती है और उत्तरों का स्वरूप प्रश्न की प्रकृति पर निर्भर करता है।[cxlii]

सैद्धांतिक स्तर पर कार्ल मार्क्स की वर्ग संरचना के सिद्धांत पर आलोचनात्मक दृष्टि से विचार करते हैं। मार्क्स की वर्ग संरचना में पूंजीपति और सर्वहारा वर्ग तो औद्योगिक और यांत्रिक उत्पादन पद्धति से संबंधित है जबकि मध्यम वर्ग, मात्र एक अवशिष्ट समूह है। कृषकों का संबंध एक पुरातन कृषि व्यवस्था से है। मार्क्स ने अपने सिद्धांत में इस बात पर बिलकुल ध्यान नहीं दिया कि औद्योगिक उत्पादन की पद्धति वेतनभोगियों, प्रशासकों, प्रबंधकों, तथा पेशों में संलग्न लोगों का एक नया वर्ग पैदा कर रही है जो आने वाले दिनों में अत्यंत महत्वपूर्ण साबित होंगे। कोल के अनुसार मार्क्स के सिद्धांत की दूसरी दुर्बलता है कि उन्होंने वर्ग तथा व्यवसायों के अंतर्सम्बंध को धन में नहीं रखा और उन्हें एक साथ मिला दिया है।[cxliii]

मार्क्स के विपरीत वेबर कहते हैं कि वस्तुनिष्ठ आर्थिक दशाओं के कारण समाज में कई वर्ग बनते हैं, केवल दो वर्ग ही नहीं। उनके अनुसार स्तरीकरण के तीन आधार हैं–

(1) धन,

(2) प्रतिष्ठा और

(3) पार्टी यानी राजनीतिक शक्ति

इस दृष्टि से वेबर ने कई वर्गों को प्रस्तावित किया है। जैसे कि–

1. उच्च वर्ग (upper Class),
2. सम्पत्तिहीन सफेद–पोष कामगार (Propertyless White-Collar Workers),
3. मध्यम वर्ग (Missle Class) और

4. कारखानों में काम करने वाले मजदूर (Working Class)

4.4 वर्ग व्यवस्था (Class System)

सामाजिक स्तरीकरण का दूसरा स्वरूप वर्ग–व्यवस्था है। विश्व के अधिकांश भागों में स्तरीकरण का आधार वर्ग ही है। प्रश्न उठता है कि वर्ग क्या है? इस सम्बन्ध में मुख्य बात यही कही जा सकती है कि एक वर्ग के विभिन्न व्यक्तियों की एक–सी सामाजिक प्रस्थिति होती है। इस सम्बोध के स्पष्टीकरण के लिए वर्ग की विभिन्न विशेषताओं का उल्लेख आवश्यक है।[cxliv] ये विशेषताएँ निम्नलिखित हैं–

(क) समान प्रस्थिति – एक ही वर्ग के व्यक्तियों की सामाजिक प्रस्थिति एक–सी होती है। प्रस्थिति निर्माण के कई कारक हैं जो एक काल विशेष में समाज द्वारा मान्य मूल्यों पर निर्भर करते हैं। किसी समाज में अगर धन को अधिक महत्व दिया जाता है तो उस व्यक्ति की सामाजिक प्रस्थिति ऊँची मानी जायेगी जिसके पास अधिक धन है। इसी प्रकार, किसी दूसरे समाज में यदि राजनैतिक सत्ता का महत्व है तो ऊँची प्रस्थिति का आधार वही होगा। ये मूल्य अलग–अलग समाजें के अलग–अलग कालों में भिन्न प्रकार के रहते हैं। प्रस्थिति का निर्माण वस्तुतः कई आधारों के मिश्रण पर निर्भर करता है, जैसे धन ही नहीं लेकिन धन का स्रोत भी प्रस्थिति के निर्माण में महत्वपूर्ण भूमिका अदा करता है। उदाहरण के तौर पर, एक वेश्या के पास अधिक धन होने पर भी उसकी सामाजिक प्रस्थिति हीन मानी जायेगी। उसके व्यवसाय की सामाजिक प्रतिष्ठा बहुत हीन है। जब कई व्यक्ति लगभग एक–सी प्रस्थिति के होते हैं तो वे एक वर्ग के सदस्य माने जाते हैं। इस दृष्टिकोण से अलग–अलग व्यवसाय, उप–संस्कृतियों व जाति के व्यक्ति भी एक ही वर्ग के सदस्य होते हैं, जैसे, डॉक्टर, इन्जीनियर, प्रोफेसर, प्रशासक जोकि विभिन्न जातियों के भी हैं और देश के अलग–अलग भागों से आने के कारण विभिन्न खान–पान, रीति–रिवाज को मानते हैं, समान प्रस्थिति होने के कारण एक ही वर्ग के सदस्य कहलाएँगे।[cxlv]

(ख) प्रतिस्पर्धा की संस्थात्मक स्वीकृति– वर्ग की दूसरी विशेषता यह है कि इस व्यवस्था के अन्तर्गत व्यक्ति अपनी प्रस्थिति को सुधारने के लिए प्रयास कर सकता है क्योंकि सैद्धान्तिक दृष्टिकोण से यह स्वीकृत है। इस कारण प्रतिस्पर्धात्मक कार्यों का विकास होता है। पश्चिमी समाज में सफलता प्राप्ति को इतना अधिक महत्व दिया गया है कि वह व्यक्ति की महत्वाकांक्षा का आधार बन जाता है। अतः व्यक्ति जीवन में मान्य भौतिक सफलता प्राप्त करने की दौड़ में तल्लीन रहता है। इस सन्दर्भ में अप्रतिमानता (Anomie) की स्थिति का मर्टन ने विवेचन किया है। अप्रतिमानता की स्थिति तब उत्पन्न होती है जब व्यक्ति सांस्कृतिक लक्ष्यों को स्वीकार कर लेते हैं, लेकिन उन लक्ष्यों की प्रप्ति के लिए संस्थात्मक तरीकों का उपयोग नहीं करते। येनकेन प्रकारेण सफलता प्राप्त करने की आकांक्षा के कारण समाज में संस्थात्मक तारीकों से लक्ष्य प्राप्त करने की प्रवृत्ति का व्यापक ह्रास होता है। इसके विपरीत, गतिशीलता मनुष्य को कार्य करने के लिए प्रेरित करती है एवं नये आविश्कारों, विचारधाराओं, तौर–तरीकों के जन्म के लिए उत्तरदायी है।[cxlvi]

(ग) **वर्ग सरंचना की स्थायी प्रवृत्ति** (Enduring Characteristic of class)– वर्ग में दीर्घकालीन स्थायित्व का होना आवश्यक है। किसी वर्ग विशेष के सदस्य गतिशीलता के आधार पर अपने वर्ग के ऊपर उठ सकते हैं या नीचे गिर सकते हैं, लेकिन ऐसी प्रक्रिया के सम्पन्न होने में काफी समय लगता है। प्रायः व्यक्ति अपने जीवन काल में अधिक वर्गों का सदस्य नहीं होता।[cxlvii]

(घ) **वर्ग की व्यक्तिपरक विशेषता** (Subjective Aspect of Class)– हर व्यक्ति में एक वर्ग–चेतना की भावना होती है। हम जिस तरह के वातावरण में पले हैं, हमार खान–पान, जीवन–शैली, सुख–सुविधाओं के आधार पर समाजीकरण की प्रक्रिया के अन्तर्गत बाल्यकाल से ही हम स्वयं को एक वर्ग विशेष से सम्बद्ध करते आते हैं। इसी के आधार पर हमारी वर्ग–चेतना का निर्माण होता है। जिन्सबर्ग ने व्यक्तिपरक पक्ष को समझााते हुए तीन प्रकार की भावनाओं का उल्लेख किया है–

(अ) उच्चता की भावना

(ब) हीनता की भावना

(स) समानता की भावना।

जो व्यक्ति हमसे नीचे वर्ग के हैं, उनसे अन्तःक्रिया करते समय हममें उच्चता की भावना आती है। जो व्यक्ति हमसे ऊँचे वर्ग के हैं उनसे अन्तःक्रिया करते समय हममें हीनता का बोध होता है, जैसे– एक साधारण व्यक्ति को यदि बड़े अफसर के घर जाना पड़े तो अफसर के विशाल भवन, द्वार पर खड़ा सिपाही, थोड़ा अन्दर चलने पर कुत्तों के भौंकने की आवाज एवं ड्राइंग रूम में बैठने पर वहाँ की साज–सज्जा का वातावरतण उसे हीन भावना का बोध कराते हैं। जो व्यक्ति हमारे वर्ग के हैं उनसे हम सहज रूप में अन्तःक्रिया कर लेते हैं।[cxlviii]

(ड.) **वर्ग की वस्तुपरक विशेषता** (Objective Aspect of Class)– प्रश्न उठता है कि हम यह कैसे पहचानें कि कौन व्यक्ति किस वर्ग में आता है। वर्ग–अभिज्ञान के लिए कई लेखकों ने वस्तुपरक कारकों का उल्लेख किया है। इसके अन्तर्गत मकान का प्रकार, मकान की स्थिति, मोहल्ले की प्रतिश्ठा, शिक्षा, आय आदि तत्त्व आते हैं। यह हम देखते हैं कि कुछ लोगों की आय अधिक होती है व कुछ लोगों की कम। शहर के कुछ भागों में अच्छे भवन निर्मित होते हैं, ऐसे क्षेत्रों में रहने वाले व्यक्ति की प्रस्थिति ऊँची मानी जाती है। अतः वस्तुपरक कारकों के आधार पर व्यक्ति की प्रस्थिति का अवलोकन हो सकता है।[cxlix]

(च) **सम्बन्ध स्थापन–** एक ही वर्ग के सदस्यों के मध्य सम्बन्धों का निर्माण उसी वर्ग के सदस्यों से सहज रूप से होता है। मित्रों का चुनाव, विवाह में वर–वधू का चुनाव, वर्ग की परिधि के अन्तर्गत ही होते हैं। इसका मुख्य कारण आपस में समानता की भावना का विद्यमान होना है।[cl]

वर्ग की अपनी एक उप संस्कृति (Sub-culture) होती है। वर्ग व्यवस्था एक खुले समाज का रूप है। खुले समाज में कोई भी प्रस्थिति किसी भी व्यक्ति के लिए खुली रहती है। एक वर्ग के सभी लागों की एक–सी प्रस्थिति होती है ओर व्यवहार में उनमें परस्पर अन्तर्विवाह भी होता है। एक ऊँचे वर्ग का व्यक्ति अक्सर नीचे वर्ग में विवाह नहीं करता, हालांकि

सैद्धान्तिक बन्धन इसमें कोई नहीं है। जाति में भी वैसा ही होता है, किन्तु जाति व्यवस्थाओं में जाति को बदला नहीं जा सकता जबकि वर्ग–व्यवस्था में वर्ग को बदला जा सकता है। प्रत्येक वर्ग की एक विशिष्ट संस्कृति (Class-Culture) होती है तथा रहने–सहने, खाने–पीने व व्यवहाार करने की विशेष जीवन–शैली भी समान होती है। ऐसी सभी लोगों, जिनकी जीवन–शैली एक होती है, को मैक्स वेबर ने प्रस्थिति–समूह (Status Group) कहा है। हर वर्ग की अपनी एक उप–संस्कृति होती है। एक ही वर्ग के लोगों का व्यवहार व जीवन–शैली एक से होते हैं। यहाँ तक कि व्यवहार के छोटे–छोटे प्रतिमानों में भी भेद हो सकता है। इसे एक उदाहरण द्वारा समझा जा सकता है। मान लीजिए एक कार में दो अमरीकी मित्रों और उनकी पत्नियों को जाना है। यदि ये दोनों मित्र आगे की सीट पर और उनकी पत्नियाँ पीछे की सीट पर बैठते हैं तो वे निम्न वर्ग के हैं। यदि एक दम्पत्ति आगे ओर दूसरे दम्पत्ति पीछे की सीट पर बैठते हैं तो वे मध्य वर्ग के लोग हैं। और यदि एक मित्र की पत्नी दूसरे मित्र के साथ आगे, व दूसरे मित्र की पत्नी पहले मित्र के साथ पीछे वाली सीट पर बैठते हैं तो वे उच्च वर्ग के हैं। प्रत्येक समाज में संस्कृति व मूल्य भिन्न–भिन्न होते हैं। अतः वहाँ वर्ग–निर्धारण के आधार भी भिन्न होंगे।[cli]

वर्ग का आधार आर्थिक स्थिति रहा है, किन्तु यही एकमात्र कारक नहीं। जीवन–शैली, व्यवहार–प्रतिमान, रहन–सहन व विचारधरा भी वर्ग–निर्धारण में आवश्यक शर्तें हैं।

स्तरीकरण के सिद्धान्तवेत्ताओं में मार्क्स के बाद मेक्स वेबर का नाम लिया जाता है। **वेबर** कहते हैं कि वस्तुनिष्ठ आर्थिक दषाओं के कारण समाज में कई वर्ग बनते हैं, केवल दो वर्ग ही नहीं। उनके अनुसार स्तरीकरण के तीन आधार हैं–

मार्क्स के विपरीत वेबर कहते हैं कि वस्तुनिष्ठ आर्थिक दशाओं के कारण समाज में कई वर्ग बनते हैं, केवल दो वर्ग ही नहीं। उनके अनुसार स्तरीकरण के तीन आधार हैं–

(1) धन,

(2) प्रतिष्ठा और

(3) पार्टी यानी राजनीतिक शक्ति

इस दृष्टि से वेबर ने कई वर्गों को प्रस्तावित किया है। जैसे कि–

1. उच्च वर्ग (Upper Class),
2. सम्पत्तिहीन सफेद–पोष कामगार (Propertyless White-Collar Workers),
3. मध्यम वर्ग (Missle Class) और
4. कारखानों में काम करने वाले मजदूर (Working Class)

अमेरिका के समाजशास्त्री ईरिक ओलिन राईट ने मार्क्स के आधार पर वर्गों का वर्गीकरण किया है। वे वेबर के विचारों से प्रभावित हैं। वास्तव में उन्होंने मार्क्स और वेबर दोनों के विचारों को वर्ग वर्गीकरण में रखा है। वे कहते हैं कि आर्थिक

संसाधनों पर आधुनिक पूँजीवादी उत्पादन में तीन तरह से नियंत्रण रखा जा सकता है। **राईट** का तर्क है कि वर्ग के निर्माण में केन्द्रीय धारणा उत्पादन साधनों पर नियंत्रण रखना है। इस दृष्टि से वे तीन प्रकार के वर्गों की पहचान करते हैं:

1. निवेश या सम्पत्ति पर नियंत्रण रखने वाले वर्ग (Classes which have Control over Investments or Money Capital)
2. उत्पादन के भौतिक साधनों पर नियंत्रण करने वाले वर्ग (Classes which have Control over the Physical Means of Production)
3. श्रम शक्ति पर नियंत्रण करने वाले वर्ग (Classes which have Control over Labour Power)

फ्रेन्क पार्किन जो कि एक ब्रिटिष लेखक हैं, ने स्तरीकरण के **वेबर** के संदर्ष को अपनाया है। उन्होंने **मार्क्स** से भी बहुत कुछ उधार लिया है, फिर भी कुल मिलाकर वे वेबर से अधिक प्रभावित हैं। **पार्किन मार्क्स** और **वेबर** दोनों इस तथ्य से सहमत हैं कि वर्ग संरचना का बहुत बड़ा आधार उत्पादन साधनों से अर्जित सम्पत्ति पर स्वामित्व होना है। पार्किन यह भी मानते हैं कि वर्ग का केवल एक आयाम आर्थिक है लेकिन आर्थिक व्यवस्था दूसरों पर अधिकार रखने की शक्ति भी देती है।

4.5 सामाजिक वर्ग के अस्तित्व का प्रश्न

समाजशास्त्रियों में फैरिस (Faris), निस्बेट (Nisbet) तथा लासवेल (Lasswell) उन लोगों में से हैं जो समाजशास्त्र में वर्ग के सम्बोध की उपयोगिता को नहीं स्वीकारते हैं। ये लोग मानते हैं कि वर्ग–निर्धारण अपने आप में काफी दुष्कर कार्य है।

प्रश्न उठता है कि क्या सामाजिक वर्ग का आधार सिर्फ धन ही है। यदि सामाजिक वर्ग का आधार धन होता तो प्रोफेसर, डॉक्टर, मिनिस्टर आदि अनेक व्यवसायी धनपतियों से प्रस्थिति की दृष्टि से पिछड़ जाते। अतः बैंक में जमा धन या सम्पत्ति का मालिक होना ही वर्ग के लिए पर्याप्त नहीं है।

हार्टन व हन्ट ने कहा है कि ''वर्ग से तात्पर्य सामाजिक प्रस्थिति के अटूट क्रम के अन्तर्गत एक ऐसे स्तर से है जिसमें समान पद वाले व्यक्ति होते हैं।'' इन लेखकों के अनुसार वर्ग के लिए व्यक्तियों में आर्थिक समानता ही पर्याप्त नहीं बल्कि उनमें दृष्टिकोण, मूल्य और जीवन शैली की भी लगभग समानता पाई जानी चाहिए। अतः कोई लड़का किस प्रकार परिवार की लड़की के लिए वर रूप में स्वीकार किया जायेगा यह बात वर्ग–स्थिति पर निर्भर करेगी। यह प्रश्न भी महत्वपूर्ण है कि वर्ग कितने प्रकार के हो सकते हैं ? यद्यपि मुख्य रुप से तीन ही वर्ग बतलाये गये हैं किन्तु बाद के समाजशास्त्रियों ने यह माना है कि वर्ग को प्रकारों के एक अटूट क्रम के रुप में देखा जाना चाहिए, जिसमें अनेक वर्ग हो सकते हैं।[cliii]

वार्नर ने 8 प्रकार के वर्ग बतलाये हैं किन्तु यह वर्गीकरण भी एकांतिक (Exclusive) नहीं है क्योंकि दृष्किोण, मूल्य और जीवनशैली के आधार पर अनेक वर्ग बन सकते हैं। वर्ग के सम्बोध को समझने के लिए यह देखना आवश्यक है कि किन आधारों पर व्यक्ति एक दूसरे को सामाजिक रूप से समान समझते हैं ओर किन आधारों पर ऊँचा व नीचा। हर वर्ग की अपनी उपसंस्कृति होती है। हार्टन व हन्ट ने सामाजिक वर्ग के आधारों में धन, आय, व्यवसाय, शिक्षा तथा वर्ग–प्रस्थिति के प्रति स्वयं के अभिज्ञान व स्वयं की धारण को समाविष्ट किया है।[cliii]

यह निश्चित है कि वर्ग का महत्व व्यक्ति व समाज दोनों के लिए है। वर्ग ही यह निश्चित करता है कि जीवन में विभिन्न स्थितियों को प्राप्त करने के कितने अवसर अपलब्ध हैं। इतना ही नहीं समाजीकरण व व्यक्तित्व का विकास भी वर्ग की उपसंस्कृति के आधार पर होता है। वर्ग की सदस्यता उत्तरदायित्वों व विशेषाधिकारों के क्षेत्र पर निर्धारित होती है। जीवन की विभिन्न प्रस्थितियों से कितना समायोजन करना है यह वर्ग–संस्कृति निर्धारित करती है।[cliv]

वर्ग–निर्धारण के जिन तीन आधारों की चर्चा वार्नर ने की है, उनकी तुलनात्मक विवेचना भी यहाँ आवश्यक है। स्तर शब्द का प्रयोग उन श्रेणियों के लिए किया जाता है जो कि वस्तुपरक आधार पर निर्धारित होती है जबकि सामाजिक वर्ग की धारणा उन श्रेणियों के लिए उपयोग में लाई जाती है जो कि व्यक्तिपरक अथवा सम्मान्यवर पद्वति के आधार पर निश्चित होती हैं। दूसरे शब्दों में अगर अनुसंधानकर्ता व्यक्तियों को अलग–अलग भागों में बाँटता है तब तो स्तर है, लेकिन जब व्यक्ति स्वयं तथा अन्य व्यक्ति उसे किसी एक श्रेणी में रखते हैं तो वह वर्ग हैं। यहाँ एक प्रश्न उठता है कि अगर समाज वैज्ञानिक के द्वारा देखी गई संचरना में और स्वयं व्यक्ति के द्वारा देखी गयी संरचना में भेद हो तो किसे सत्य माना जाये? अगर समुदाय के सदस्य भी अपने–अपने विचारों में मतभेद रखते हों तो किस व्यक्ति को दृष्टिकोण ठीक समझा जायेगा?[clv]

गार्डनर एवं डेविस के अनुसंधानों में यह स्पष्ट किया गया है कि निम्न स्तर के व्यक्ति एक भिन्न संरचना का प्रत्यक्षण करते हैं एवं उनके आधार भी भिन्न होते हैं, जबकि मध्यम वर्ग के व्यक्ति के प्रत्यक्षण एवं आधार भिन्न होते हैं। अतः यह सम्भव है कि एक व्यक्ति स्वयं को एक समूह में रखे, अन्य उसको दूसरे स्तर में एवं सामाजिक वैज्ञानिक किसी अन्य स्तर में। श्रेणीबद्धता के आधार भी इन लोगों के भिन्न–भिन्न होते हैं। सामाजिक स्तरीकण व वर्ग को समझने के लिए वार्नर ने अनके उपागमों की चर्चा की है। समाजशास्त्र में मुख्यरूप से व्यवसाय–उपागम और संगठन (Organisational) उपागम अधिक प्रभावी रहे हैं। वर्तमान समाज के प्रस्थिति के अध्ययन के लिए समुदाय–अनुसंधान–उपागम के द्वारा भी अध्ययन हुए हैं, जिसमें उन मूल्यों को पहचानने का प्रयत्न किया जाता है जो प्रस्थिति का मूल्यांकन करते हैं। सन्दर्भ समूह का सिद्धांत प्रस्थिति व वर्ग को समझने के लिए भी उपयोगी है क्योंकि उसके द्वारा यह ज्ञान होता है कि किन मूल्यों के कारण तथा प्रस्थिति के कितने महत्वपूर्ण पक्षों के कारण लोग अपने समूह को छोड़कर दूसरे समूह की सदस्यता ग्रहण करना चाहते हैं। सामाजिक–मनोवैज्ञानिक उपागम इस बात पर जोर देता है कि व्यक्तियों की मानसिक स्थितियाँ उनकी प्रस्थिति से किस प्रकार प्रभावित होती हैं, तथा समाजीकरण की प्रक्रिया में प्रस्थिति की क्या भूमिका है। सामाजिक समूह में गतिशीलता की सीमा का अध्ययन भी सामाजिक स्तरीकरण के अध्ययन में सहायक है। मनोवैज्ञानिक उपागम, व्यक्तित्व के सन्दर्भ में, इस बात का भी अध्ययन करता है कि हमारी जो इच्छाएँ अपूर्ण रह जाती हैं वे स्तरीकरण की प्रघटना को किस प्रकार प्रभावित करती हैं। इतना ही नहीं सामाजिक मनोविज्ञान उन मापदण्डों की भी निरन्तर तलाश करता है जो विभिन्न पदों का क्रमविन्यास करते हैं।[clvi]

4.6 शक्ति की अवधारणा

जाति तथा वर्ग के साथ सामाजिक स्तरीकरण का एक अन्य आयाम शक्ति है। शक्ति की अवधारणा को समाजशास्त्र के अंतर्गत अनेक रूपों में परिभाषित करने की चेष्टा की गई है। मैक्स वेबर शक्ति को दूसरों को प्रभावित करने की

क्षमता के रूप में देखते हैं। टालकट पारसंस के अनुसार शक्तिसामाजिक प्रणाली की एक सामान्यीकृत क्षमता है जो सामूहिक लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए प्रयुक्त की जाती है।[clvii]

बेवर शक्ति को दो भागों में विभाजित करते हैं–

1. वैध शक्ति (Legitimate Power)
2. अवैध शक्ति (Illegitimate Power)

वैध शक्ति (Legitimate Power) को वेबर प्राधिकार (Authority) कहते हैं। यह एक ऐसी शक्ति है जिसे लोग अपने अधिकार स्वरूप समझते हैं। इसके विपरीत अवैद्य शक्ति (Illegitimate Power) जो जबरदस्ती से हासिल होती है उसे लोग सही नहीं मानते हैं।

वेबर ने प्राधिकार/सत्ता (Authority) के निम्न स्वरूप बताये हैं–

1. परम्परागत प्राधिकार/सत्ता (Traditional Authority)
2. तार्किक–वैधानिक प्राधिकार/सत्ता (Rational Legal Authority)
3. करिश्माई प्राधिकार/सत्ता (Charismatic Authority)

पारम्परिक सत्ता का आधार चिरकालिक विश्वास व्यवस्थायें होती हैं। राजा का लड़का राजा होगा, इसका एक अच्छा उदाहरण है। करिश्माई सत्ता का आधार व्यक्ति की विलक्षण प्रतिभा या विशोषताएं होती हैं जिन्हें कभी–कभी ईश्वरीय देन मानकर स्वीकार किया जाता है। बुद्व, महावीर, गांधी, ईसा मसीह करिश्माई सत्ता के उदाहरण हैं। आधुनिक समाजों में इन दोनों सत्ताओं का मात्र ऐतिहासिक महत्व रह गया है। आधुनिक समाजों में तीसरे प्रकार की सत्ता बेबर ने तार्किक–वैधानिक सत्ता का नाम दिया है, हावी होती जा रही है। इस सत्ता का आधार वैधानिक और तार्किकता के आधार पर बने नियम होते हैं। वेबर के तार्किकी करण की प्रक्रिया का प्रयोग धर्म, कानून, नगर और यहां तक की संगीत की व्याख्या में भी दिया जाता है।

सामाजिक और राजनीतिक शक्ति

यहाँ पर सामाजिक और राजनीति शक्ति में अंतर करना अनिवार्य है। राजनीतिक शक्ति का क्षेत्र सीमित है। यह सत्ता, स्थानीय तथा राष्ट्रीय सरकार और राजनीति दलों की क्रियाओं, अधिकारों तथा दायित्वों से संबंधित है। सामाजिक संरचना के मध्य भी दूसरों को प्रभावित करने, कार्यों को पूरा करने और निर्णय लेने की प्रक्रिया अनवरत चलती रहती है। सामाजिक शक्ति इन समूहों तथा संबंधों की अंतर्निहित क्षमता से संबंधित है। यहाँ पर यह बात स्मरणीय है कि सामाजिक शक्ति व्यक्तियों में नहीं बल्कि सामाजिक संबंधों में अंतर्निहित है। एक व्यक्ति में शारीरिक शक्ति, क्षमता, योग्यता तथा नेतृत्व के गुण हो सकते हैं लेकिन इनमें से कोई भी क्षमता सामाजिक शक्ति नहीं है। सामाजिक संबंधों के मध्य व्यक्ति की जो प्रस्थिति अथवा पद होता है, शक्ति उसमें अंतर्निहित होती है। जैसे एक निगम का अध्यक्ष, उद्योग समूह का निदेशक, सरकारी मंत्रालय का सचिव आदि पद सामाजिक संबंधों के संदर्भ में ही शक्ति के धारक हैं। इसी तरह पिता, पति, माता, पत्नी आदि के पास भी पारिवारिक संबंधों के संदर्भ में ही शक्ति, इसके उपयोग, दूसरों को प्रभावित करने की हैसियत और निर्णय लेने की क्षमता होती है।[clviii]

शक्ति प्रभाव और नियंत्रण

''शक्ति प्रभाव'' और नियंत्रण प्रायः सामानार्थक रूप में प्रयुक्त किये जाते हैं। प्रभाव और नियंत्रण शक्ति का एक अंग मात्र है। सामाजिक प्रभाव, शक्तिका एक ऐसा उदारहण है, जिसमें प्रतिफल पूर्व निर्धारित नहीं होते हैं। इसके विपरीत सामाजिक नियंत्रण शक्ति का वह रूप है जिसमें प्रतिफल बहुत दूर तक अथवा पूर्ण रूप से निर्धारित होता है। नियंत्रित होने वाले व्यक्ति की अनिच्छा के उपरांत भी नियंत्रण का प्रयोग किया जा सकता है।[clix]

शक्ति का वर्गीकरण

प्रायः अंतर्वैयक्तिक और संगठनात्मक शक्ति–स्थितियों में अंतर किया जाता है। वे सामाजिक शक्ति संबंध अंतर्वैयक्तिक माने जा सकते हैं जबकि इनका प्रयोग करने वाले व्यक्ति हों, और संगठनात्मक यदि वे सामाजिक संगठन हों। प्रायः सभी शक्ति संबंधों में दोनों तत्व समाहित होते हैं। यदि पिता यह तय करता है कि छात्रावास में रहने वाला उसका पुत्र हर महीने कितना पैसा व्यय करें तो यह अंतर्वैयक्तिक शक्ति संबंध है लेकिन एक सामाजिक इकाई के रूप में परिवार संगठनात्मक शक्ति का उपयोग करता है। इन दो स्थितियों के अतिरिक्त, शक्ति का वर्गीकरण उद्देष्यपूर्ण, सकारात्मक अथवा नकारात्मक, आंतरिक अथवा बाहय तथा प्रत्यक्ष एवं परोक्ष आधारों पर भी किया जाता है।[clx]

सामाजिक व्यवस्था अथवा सांस्कृतिक प्रणाली को जानबूझ कर प्रभावित करने वाले कार्य उद्देश्यपूर्ण शक्ति के प्रयोग के अन्तर्गत आते हैं। कोई क्रिया यदि जानबूझ कर न भी की जाये और उसका प्रभाव समाज पर पड़ता भी हो तो उसे अनुद्देश्य पूर्ण शक्ति के प्रयोग के अंतर्गत सम्मिलित किया जाता है। सामाजिक शक्ति के प्रत्यक्ष प्रयोग के अंतर्गत शक्ति के धारक की ओर से प्रमाणित होने वाले व्यक्ति अथवा समूह की ओर सीधे प्रवाहित होती है। अप्रत्यक्ष शक्ति के प्रयोग में यह बीच के लोगों से होकर प्रवाहित होती है।[clxi]

4.7 जाति, वर्ग तथा शक्ति संरचना

जाति तथा वर्ग दोनों की अपनी शक्ति संरचना भी है। जाति के अंतर्गत सामाजिक शक्ति का आधार जन्म, धार्मिक संस्कार, मूल्य, परंपरा और शुद्धता की धारणा है। वर्ग संरचना के अंतर्गत शक्ति का आधार अर्थ, आयु, जीवन शैली, मूल्य, श्रम, बाजार के संबंध और उत्पादन पद्धति के अंतर्गत व्यक्ति तथा समूह की भूमिका है। जाति तथा वर्ग के अतिरिक्त शक्ति भी सामाजिक स्तरीकरण का अत्यंत महत्वूपर्ण आयाम है। सामाजिक संबंधों के अंतर्गत शक्ति का उपयोग संसाधनों पर स्वामित्व की क्षमता पर निर्भर करता है। वस्तु, मुद्रा, ज्ञान, प्रतिष्ठा, आय आदि व्यक्ति की शक्ति के परिचायक हैं। इसके अतिरिक्त संगठनात्मक संरचना में भूमिका, शक्ति की वैधता, दूसरों को मना लेना ओर संचार का कौशल आदि भी सामाजिक शक्ति के संसाधन हैं। जिन लोगों ने स्तरीकरण के शक्ति संबंधी सिद्धांत पर बल दिया है उनके अनुसार प्रत्येक समाज में विशेषकर सामाजिक शक्ति के उपयोग का प्रतिफल है। इसी प्रकार प्रतिष्ठा भी सामाजिक शक्ति का ही काफी दूर तक प्रतिफलन है। इस तरह शक्ति, विशेषाधिकार और प्रतिष्ठा एक दूसरे से जुड़े हैं। शक्ति के मुख्य रूप से चार पक्ष हैं:

(1) दूसरों को प्रभावित करने की क्षमता,

(2) सामूहिक लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए प्रयुक्त सामान्यीकृत क्षमता,

(3) विषेश ाधिकार,

(4) प्रतिष्ठा ।[clxii]

जति व्यवस्था में दूसरों को प्रभावित करने की क्षमता उच्च जातियों के पास थी। ब्राह्मण ज्ञान और कर्मकाण्ड, क्षत्रिय राजसत्ता तथा वैश्य अपनी संपत्ति के द्वारा दूसरों को प्रभावित कर सकते थे। जाति व्यवस्था के लौकिक और पारलौकिक दोनों प्रकार के सामूहिक लक्ष्य थे दोनों प्रकार के लक्ष्यों की प्राप्ति में ब्राह्ममण ज्ञान तथा कर्मकाण्ड के द्वारा, क्षत्रिय सुरक्षा और धर्मपालन के द्वारा, वैश्य कृषि और व्यापार के द्वारा तथा शूद्र सेवा के द्वारा योगदान कर सकते थे। इस व्यवस्था में ब्राह्मण को धर्म की व्याख्या के अधिकार के कारण और क्षत्रिय को प्रशासन और सुरक्षा के प्रकार्यों के रूप में विशेष अधिकार प्राप्त थे। प्रतिष्ठा के स्थानक्रम की दृष्टि से ब्राह्मण का स्थान सर्वोच्च था। उसके बाद क्रमशः क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र का स्थान था। वर्ग व्यवस्था में प्रस्थिति का निर्धारण संपत्ति, आय, व्यवसाय, शिक्षा, उपलब्धि, व्यक्तिगत योग्यता और क्षमता के आधार पर होता है। यह आवश्यक नहीं है कि ये सभी विशेषताएं एक ही वर्ग में पाई जाएं। उत्पादन के साधनों तथा संपत्ति पर समाज के धनी वर्ग का अधिकार है। वे संसाधनों तथा संपत्ति के द्वारा दूसरों को प्रभावित करते हैं। संपत्ति के कारण उनके पास विशेषाधिकार तथा प्रतिष्ठा है। समाज का उच्च मध्यम वर्ग जो पेशेवर समूहों, जैसे विश्वविद्यालय के अध्यापक, डाक्टर, अभियंता, वेज्ञानिक, लेखक, पत्रकार, आदि से मिलकर निर्मित होता है वह अपनी प्रतिभा, कौशल, क्षमता ज्ञान तथा सूचना के आधार पर दूसरों को प्रभावित करता है। सामूहिक लक्ष्यों– जैसे औद्योगिक विकास, वैज्ञानिक प्रगति, शिक्षा, स्वास्थ्य आदि की प्राप्ति के लिए वह अपने ज्ञान, क्षमता, और विशेषज्ञता का उपयोग करता है। इन विशेषताओं के कारण उच्च मध्यम वर्ग के पास भी विशेषाधिकार और प्रतिष्ठा है। निम्न मध्यम वर्ग अपने मानसिक श्रम का उपयोग सामाजिक सेवाओं के लिए करता है।[clxiii]

निम्न वर्ग अपने श्रम द्वारा उत्पादन की प्रणाली में योगदान करता है। संख्या की दृष्टि से सामाजिक संरचना में निम्नवर्ग सबसे बड़ा है। लोकतांत्रिक व्यवस्था में यह संख्या बल राजनीतिक संरचना में दिखाई पड़ता है। इस वर्ग के पास मतदान को अपनी संख्या के कारण प्रभावित करने की क्षमता है। इसके फलस्वरूप विश्व के कई देशों में श्रमिक दलों की सरकारें हैं।[clxiv]

भौतिक जगत में जो स्थान उर्जा का है, वही स्थान सामाजिक जीवन में शक्ति का है। प्रत्येक सामाजिक क्रिया में शक्ति का प्रयोग दिखाई पड़ता है। प्रत्येक समूह एक प्रकार से शक्ति का संगठन है। वे सामाजिक क्रियाएं जिनसे प्रत्यक्ष रूप से शक्ति संबंध है जैसे निर्णय लेना, दूसरों पर दबाव डालना, उन्हें प्रभावित करना आदि, उन्हें राजनीति कहते हैं। राजनीति उस प्रक्रिया को कहा जाता है। जिसके द्वारा सामाजिक, शक्ति का वितरण और उपयोग सामूहिक निर्णयों के लिए किया जाता है। सामान्य रूप से राजनीति का प्रयोग स्थानीय, राष्ट्रीय सरकारों और राजनीतिक दलों के कार्यकलापों के लिए किया जाता है।[clxv]

4.8 वस्तुनिष्ठ बोध प्रश्न

1. वर्ग का आधार आर्थिक है तथा जाति का आधार जन्म है।

   क. सत्य ख. असत्य

2. मार्क्स के वर्ग संरचना सिद्वांत में निम्न वर्ग सम्मिलित है।

   क. पूंजीवादी वर्ग ख. श्रमिक वर्ग

   ग. दोनों घ. कोई भी नहीं

3. मैक्स वेबर ने स्तरीकरण के संदर्भ में वर्ग के निर्धारण में निम्न को महत्व दिया है।

   क. सम्पत्ति ख. प्रतिष्ठा

   ग. शक्ति घ. उपरोक्त सभी

4. निम्न में से कौन वेबर के अनुसार सत्ता का प्रकार नहीं है।

   क. वैधानिक सत्ता ख. परम्परागत सत्ता

   ग. करिश्माई सत्ता घ. पूंजीवादी सत्ता

4.9 वस्तुनिष्ठ प्रश्नों के उत्तर

1. क
2. ग
3. घ
4. घ

4.10 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

[i] सत्यमित्र दुबे, दिनेश शर्मा, ' समाजशास्त्र एक परिचय', एनसीईआरटी, नई दिल्ली, 1989

[ii] वही

[iii] वही

[iv] वही

[v] वही

[vi] वही

[vii] वही

[viii] वही

[ix] वही

[x] वही

[xi] वही

[xii] सिंघी, नरेंद्र कुमार, वसुधाकर गोस्वामी, ''समाजशास्त्र – विवेचन'', राजस्थान हिंदी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर, 2002, पेज संख्या 161

[xiii] वही

[xiv] सिंघी, नरेंद्र कुमार, वसुधाकर गोस्वामी, ''समाजशास्त्र – विवेचन'', राजस्थान हिंदी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर, 2002, पेज संख्या 161–162

[xv] सिंघी, नरेंद्र कुमार, वसुधाकर गोस्वामी, ''समाजशास्त्र – विवेचन'', राजस्थान हिंदी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर, 2002, पेज संख्या 162

[xvi] वही

[xvii] वही

[xviii] वही

[xix] सिंघी, नरेंद्र कुमार, वसुधाकर गोस्वामी, ''समाजशास्त्र – विवेचन'', राजस्थान हिंदी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर, 2002, पेज संख्या 162–163

[xix] सिंघी, नरेंद्र कुमार, वसुधाकर गोस्वामी, ''समाजशास्त्र – विवेचन'', राजस्थान हिंदी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर, 2002, पेज संख्या 164

[xxi] सिंघी, नरेंद्र कुमार, वसुधाकर गोस्वामी, ''समाजशास्त्र – विवेचन'', राजस्थान हिंदी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर, 2002, पेज संख्या 165

[xxii] वही

[xxiii] वही

[xxiv] वही

[xxv] सत्यमित्र दुबे, दिनेश शर्मा, ' समाजशास्त्र एक परिचय', एनसीईआरटी, नई दिल्ली, 1989

[xxvi] वही

[xxvii] वही

[xxviii] वही

[xxix] वही

[xxx] वही

[xxxi] वही

[xxxii] वही

[xxxiii] वही

इकाई–5

शक्ति, प्रजाति, लिंग तथा स्तरीकरण

इकाई की रूपरेखा

5.1 उद्देश्य

5.2 प्रस्तावना

5.3 शक्ति की अवधारणा

5.4 सामाजिक और राजनीतिक शक्ति

5.5 शक्ति प्रभाव और नियंत्रण–

5.6 शक्ति का वर्गीकरण

5.7 जाति, वर्ग तथा शक्ति संरचना

5.8 प्रजाति / नस्ल

5.9 जातीय और प्रजातीय भेद (Caste and Racial Difference)

5.10 जेंडर (Gender)

5.11 वस्तुनिष्ठ प्रश्न

5.12 उत्तर

5.13 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

5.1 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात आप

1. शक्ति की अवधारणा से परिचित होंगे।
2. प्रजाति की अवधारणा को समझ सकेंगे तथा लिंग किस आधार पर एक स्तरीकृत समाज का निर्माण करता है, आप समझ पायेंगे।

5.2 प्रस्तावना

मानव पर प्रभुत्व करने, उन्हें भयभीत करने तथा नियंत्रित करने, आज्ञा–पालन करवाने, उनकी स्वतंत्रताओं में हस्तक्षेप करने तथा इनके व्यवहार को एक विशिस्ता दिशा में मोड़ने के लिए बाध्य करने की योग्यता अथवा सत्ता को शक्ति कहते हैं। संक्षेप में, यह व्यक्तियों के व्यवहार को नियमित, व्यवस्थित, नियंत्रित अथवा निर्देशित करने की क्षमता को इंगित करती है।[clxvi] शक्ति व्यक्तिगत

करिश्मा या परंपरा या तार्किक स्वीकृति की निष्पत्ति हो सकती है, या सम्पदा अथवा सैनिक शक्ति के एकाधिकार का परिणाम हो सकती है।

5.3 शक्ति की अवधारणा

जाति तथा वर्ग के साथ सामाजिक स्तरीकरण का एक अन्य आयाम शक्ति है। शक्ति की अवधारणा को समाजशास्त्र के अंतर्गत अनेक रूपों में परिभाषित करने की चेष्टा की गई है। मैक्स वेबर शक्ति को दूसरों को प्रभावित करने की क्षमता के रूप में देखते हैं। टालकट पारसंस के अनुसार शक्ति सामाजिक प्रणाली की एक सामान्यीकृत क्षमता है जो सामूहिक लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए प्रयुक्त की जाती है।[clxvii]

5.4 सामाजिक और राजनीतिक शक्ति

यहाँ पर सामाजिक और राजनीति शक्ति में अंतर करना अनिवार्य है। राजनीतिक शक्ति का क्षेत सीमित है। यह सत्ता, स्थानीय तथा राष्ट्रीय सरकार और राजनीति दलों की क्रियाओं, अधिकारों तथा दायित्वों से संबंधित है। सामाजिक संरचना के मध्य भी दूसरो ंको प्रभावित करने, कार्यों को पूरा करने और निर्णय लेने की प्रक्रिया अनवरत चलती रहती है। सामाजिक शक्ति इन समूहों तथा संबंधों की अंतर्निहित क्षमता से संबंधित है। यहाँ पर यह बात स्मरणीय है कि सामाजिक शक्ति व्यक्तियों में नहीं बल्कि सामाजिक संबंधों में अंतर्निहित है। एक व्यक्ति में शारीरिक शक्ति, क्षमता, योग्यता तथा नेतृत्व के गुण हो सकते हैं लेकिन इनमें से कोई भी क्षमता सामाजिक शक्ति नहीं है। ससामाजिक संबंधों के मध्य व्यक्ति की जो प्रस्थिति अथवा पद होता है, शक्ति उसमें अंतर्निहित होती है। जैसे एक निगम का अध्यक्ष, उद्योग समूह का निदेशक, सरकारी मंत्रालय का सचिव आदि पद सामाजिक संबंधों के संदर्भ में ही शक्ति के धारक हैं। इसी तरह पिता, पति, माता, पत्नी आदि के पास भी पारिवारिक संबंधों के संदर्भ में ही शक्ति, इसके उपयोग, दूसरों को प्रभावित करने की हैसियत और निर्णय लेने की क्षमता होती है।[clxviii]

5.5 शक्ति प्रभाव और नियंत्रण

''शक्ति प्रभाव'' और नियंत्रण प्रायः सामानार्थक रूप में प्रयुक्त किये जाते हैं। प्रभाव और नियंत्रण शक्ति का एक अंग मात्र है। सामाजिक प्रभाव, शक्ति का एक ऐसा उदारहण है, जिसमें प्रतिफल पूर्वनिधारित नहीं होते हैं। इसके विपरीत सामाजिक नियंत्रण शक्तिका वह रूप है जिसमें प्रतिफल बहुत दूर तक अथवा पूर्ण रूप से निर्धारित होता है। नियंत्रित होने वाले व्यक्ति की अनिच्छा के उपरांत भी नियंत्रण का प्रयोग किया जा सकता है।[clxix]

5.6 शक्ति का वर्गीकरण

प्रायः अन्तर्वैयक्तिक और संगठनात्मक शक्ति–स्थितियों में अंतर किया जाता है। सामाजिक शक्ति संबंध अन्तर्वैयक्तिक माने जा सकते हैं, जबकि इनका प्रयोग करने वाले व्यक्ति हों और संगठनात्मक यदि वे सामाजिक संगठन हों। प्रायः सभी शक्ति संबंधों में दोनों तत्व समाहित होते हैं। यदि पिता यह तय करता है कि छात्रावास में रहने वाला उसका पुत्र हर महीने कितना पैसा व्यय करे तो यह अंतर्वैयक्तिक शक्ति संबंध है लेकिन एक सामाजिक इकाई के रूप में परिवार

संगठनात्मक शक्ति का उपयोग करता है। इन दो स्थितियों के अतिरिक्त, शक्ति का वर्गीकरण उद्देश्यपूर्ण, सकारात्मक अथवा नकारात्मक, आंतरिक अथवा बाहय तथा प्रत्यक्ष एवं परोक्ष आधारों पर भी किया जाता है।[clxx]

सामाजिक व्यवस्था अथवा सांस्कृतिक प्रणाली को जानबूझ कर प्रभावित करने वाले कार्य उद्देश्यपूर्ण शक्ति के प्रयोग के अन्तर्गत आते हैं। कोई क्रिया यदि जानबूझ कर न भी की जाये और उसका प्रभाव समाज पर पड़ता भी हो तो उसे अनुद्देश्य पूर्ण शक्ति के प्रयोग के अंतर्गत सम्मिलित किया जाता है। सामाजिक शक्ति के प्रत्यक्ष प्रयोग के अंतर्गत शक्ति के धारक की ओर से प्रमाणित होने वाले व्यक्ति अथवा समूह की ओर सीधे प्रवाहित होती है। अप्रत्यक्ष शक्ति के प्रयोग में यह बीच के लोगों से होकर प्रवाहित होती है।[clxxi]

5.7 जाति, वर्ग तथा शक्ति संरचना

जाति तथा वर्ग दोनों की अपनी शक्तिसंरचना भी है। जाति के अंतर्गत सामाजिक शक्ति का आधार जन्म, धार्मिक संस्कार, मूल्य, परंपरा और शुद्धता की धारणा है। वर्गसंरचना के अंतर्गत शक्ति का आधार अर्थ, आयु, जीवन शैली, मूल्य, श्रम, बाजार के संबंध और उत्पादन पद्धति के अंतर्गत व्यक्ति तथा समूह की भूमिका है। जाति तथा वर्ग के अतिरिक्त शक्ति भी सामाजिक स्तरीकरण का अत्यंत महत्वूपर्ण आयाम है। सामाजिक संबंधों के अंतर्गत शक्ति का उपयोग संसाधनों पर स्वामित्व की क्षमता पर निर्भर करता है। वस्तु, मुद्रा, ज्ञान, प्रतिष्ठा, आय आदि व्यक्ति की शक्ति के परिचायक हैं। इसके अतिरिक्त संगठनात्मक संरचना में भूमिका, शक्ति की वैधता, दूसरों को मना लेना ओर संचार का कौशल आदि भी सामाजिक शक्ति के संसाधन है। जिन लोगों ने स्तरीकरण के शक्ति संबंधी सिद्धांत पर बल दिया है उनके अनुसार प्रत्येक समाज में विशेष आकार सामाजिक शक्ति के उपयोग का प्रतिफल है। इसी प्रकार प्रतिष्ठा भी सामाजिक शक्ति का ही काफी दूर तक प्रतिफलन है। इस तरह शक्ति, विशेष अधिकार और प्रतिष्ठा एक दूसरे से जुड़े हैं। शक्ति के मुख्य रूप से चार पक्ष हैः

(1) दूसरों को प्रभावित करने की क्षमता,

(2) सामूहिक लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए प्रयुक्त सामान्यीकृत क्षमता,

(3) विशेष अधिकार,

(4) प्रतिष्ठा।[clxxii]

जति व्यवस्था में दूसरों को प्रभावित करने की क्षमता उच्च जातियों के पास थी। ब्राह्मण ज्ञान और कर्मकाण्ड, क्षत्रिय राजसत्ता तथा वैष्य अपनी संपत्ति के द्वारा दूसरों को प्रभावित कर सकते थे। जातिव्यवस्था के लौकिक और पारलौकिक दोनों प्रकार के सामूहिक लक्ष्य थें दोनों प्रकार के लक्ष्यों की प्राप्ति में ब्राह्मण ज्ञान तथा कर्मकाण्ड के द्वारा, क्षत्रिय सुरक्षा और धर्मपालन के द्वारा, वैष्य कृषि और व्यापार के द्वारा तथा शूद्र सेवा के द्वारा योगदान कर सकते थे। इस व्यवस्था में ब्राह्मण को धर्म की व्याख्या के अधिकार के कारण और क्षत्रिय को प्रषासन और सुरक्षा के प्रकार्यों के रूप में विशेष ाधिकार प्राप्त थे। प्रतिष्ठा के स्थानक्रम की दृष्टि से ब्राह्मण का स्थान सर्वोच्च था। उसके बाद क्रमशः क्षत्रिय, वैष्य और शूद्र का स्थान था। वर्गव्यवस्था में प्रस्थिति का निर्धारण संपत्ति, आय, व्यवसाय, शिक्षा, उपलब्धि, व्यक्तिगत योग्यता और क्षमता के आधार पर होता है। यह आवष्यक नहीं है कि ये सभी विशेषताएं एक ही वर्ग में पाई जाएं। उत्पादन के

साधनों तथा संपत्ति पर समाज के धनी वर्ग का अधिकार है। वे संसाधनों तथा संपत्ति के द्वारा दूसरों को प्रभावित करते हैं। संपत्ति के कारण उनके पास विशेष अधिकार तथा प्रतिष्ठा है। समाज का उच्च मध्यमवर्ग जो पेशेवर समूहों, जैसे विश्वविद्यालय के अध्यापक, डाक्टर, अभियंता, वेज्ञानिक, लेखक, पत्रकार, आदि से मिलकर निर्मित होता है वह अपनी प्रतिभा, कौशल, क्षमता ज्ञान तथा सूचना के आधार पर दूसरों को प्रभावित करता है। सामूहिक लक्ष्यों– जैसे औद्योगिक विकास, वैज्ञानिक प्रगति, शिक्षा, स्वास्थ्य आदि की प्राप्ति के लिए वह अपने ज्ञान, क्षमता, और विशेषज्ञता का उपयोग करता है। इन विशेषताओं के कारण उच्च मध्यम वर्ग के पास भी विशेष अधिकार और प्रतिष्ठा है। निम्न मध्यमवर्ग अपने मानसिक श्रम का उपयोग सामाजिक सेवाओं के लिए करता है।[clxxiii]

निम्न वर्ग अपने श्रम द्वारा उत्पादन की प्रणाली में योगदान करता है। संख्या की दृष्टि से सामाजिक संरचना में निम्नवर्ग सबसे बड़ा है। लोकतांत्रिक व्यवस्था में यह संख्या बल राजनीतिक संरचना में दिखाई पड़ता है। इस वर्ग के पास मतदान को अपनी संख्या के कारण प्रभावित करने की क्षमता है। इसके फलस्वरूप विश्व के कई देशों में श्रमिक दलों की सरकारें हैं।[clxxiv]

राजनीतिक शक्ति

भौतिक जगत में जो स्थान उर्जा का है, वही स्थान सामाजिक जीवन में शक्ति का है। प्रत्येक सामाजिक क्रिया में शक्ति का प्रयोग दिखाई पड़ता है। प्रत्येक समूह एक प्रकार से शक्ति का संगठन है। वे सामाजिक क्रियाएं जिनसे प्रत्यक्ष रूप से शक्ति संबंध है जैसे निर्णय लेना, दूसरों पर दबाव डालना, उन्हें प्रभावित करना आदि, उन्हें राजनीति कहते हैं। राजनीति उस प्रक्रिया को कहा जाता है। जिसके द्वारा सामाजिक, शक्ति का वितरण और उपयोग सामूहिक निर्णयों के लिए किया जाता है। सामान्य रूप से राजनीति का प्रयोग स्थानीय, राष्ट्रीय सरकारों और राजनीतिक दलों के कार्य कलापों के लिए किया जाता है।[clxxv]

5.8 प्रजाति/नस्ल

प्रजाति प्राणिषास्त्रीय आधार पवर बना व्यक्तियों का एक ऐसा समूह है जिसमें कुछ सामान्य शारीरिक लक्षण तथा आनुवांषिक गुण होते हैं। ये लक्षण एक समूह में दीर्घकाल तक विवाह–संबंध करने तथा प्रजनन द्वारा नियमित रूप से एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी में संचरण की प्रक्रिया द्वारा बने रहते हैं।

इस शब्द का सर्व प्रथम प्रयोग आंग्ल भाषा में सोलहवीं शताब्दी में व्यक्तियों के एक ऐसे वर्ग के लिए किया गया जिनकी समान विशेषताओं को किसी सामान्य पूर्वज के साथ संबंधित किया जा सके। लगभग सन् 1800 के आसपास फ्रांसिसी शरीर–शास्त्रियों के प्रभाव से इस शब्द का प्रयोग एक स्थाई जीवशास्त्रीय श्रेणी के अर्थ में किया जाने लगा। सन् 1859 में चार्ल्स डार्विन ने अपनी पुस्तक 'ऑरिजिन ऑफ स्पीशीज' में यह प्रतिपादित किया कि प्रकृति में कोई स्थाई वर्ग नहीं हैं।[clxxvi] इसके विपरीत स्थानिक वर्गों के रूप में भौगोलिक प्रजातियां एवं उप प्रजातियां हैं जो पूर्णतः स्थिर तथा पृथक हैं।

प्रजाति विरोध

किसी दूसरी प्रजाति के प्रति अलगाव की भावना प्रजाति विरोध का सूचक है। इस भावना की अभिव्यक्ति उदासीनता से लेकर कटु विद्वेष द्वारा हो सकती है।

यह भावना प्रजातिक आधार पर निर्मित दो या दो से अधिक भिन्न व्यक्तियों अथवा समूहों के कारण होती है।

प्रजातीयतावाद/प्रजातिवाद

प्रजातीयतावाद संकुचित मनोवृति पर आधारित एक ऐसी विचारधारा है जो इस बात पर बल देती है कि एक प्रजाति शारीरिक रचना तथा मानसिक गुणों की दृष्टि से दूसरी प्रजाति से श्रेष्ठ है। उच्चता अथाव निम्नता की भावना एक समूह में दूसरे समूह के प्रति भय, घृणा, विद्वेष, क्रोध, ईर्ष्या, संदेह तथा प्रतिषोध जैसे भावों को जन्म देकर भेदभावपूर्ण असमान व्यवहार को प्रश्रय देती है। प्रजातिवाद एक निर्धारणवादी विश्वास व्यवस्था है जो प्रजातीयवाद को बनाये रखती है। यह विश्वास कि हमारी संस्कृति तथा विश्वास दूसरे की संस्कृति तथा विश्वास से वेहतर है एक स्वकेन्द्रीयतावादी (Ethnocentric) विचार है।[clxxvii] इतिहास एवं मानव विकास के सम्बन्ध में अगर हम बात करे तो कुछ मानव समूह अपने आपको आनुवंशिक (Biologically Superior) रूप से दूसरों से श्रेष्ठ मानते है।[clxxviii]

प्रजाति की अवधारणा की भांति प्रजातिवाद की अवधारणा में भी निश्चितता तथा वैज्ञानिक प्रमाणिकता का अभाव है। ऐसा माना जाता है कि वर्तमान युग में प्रजातिवाद की धारणा को हिटलर के प्रचार–सहायक जनरल गौविन्यू ने विकसित किया था। वर्तमान विज्ञान प्रजातीय श्रेष्ठता के प्रत्यय को नकारता है। यूनेस्को (UNESCO) ने विभिन्न विषयों के विद्वानों के मतों के आधार पर कुछ निर्णय दिये हैं। –

1. सभी मनुष्य एक ही प्रजाति 'होमो–सैपियन्स'(Homo-sapiens) से जुड़ी है तथा इनका उद्भव एक ही है।
2. मनुष्य जातियों में जो भी अन्तर है वह जैविकीय तथा सामाजिक–सांस्कृतिक दोनों ही है।
3. मानव प्रजाति को मुख्यतः तीन भागों में विभक्त किया गया है –

   (क) मंगोल (Mongoloid)

   (ख) निगरों (Negroid)

   (ग) काकेशियन (Caucasoid)

जो भी विभिन्नताएँ शारीरिक रूप से मनुष्य में पायी जाती है वह किसी भी तरह से एक प्रजाति को दूसरी से श्रेष्ठ नहीं मानती है।

5.9 जातीय और प्रजातीय भेद (Caste and Racial Difference)

हमारे देश में प्रदत्त प्रस्थिति को एक उदाहरण जाति से जुड़ा हुआ है। हमारे यहाँ व्यक्ति की जाति उसके जन्म के आधार पर समझी जाती है। ऐसी कोई वैध प्रक्रिया नहीं है जिसके द्वारा व्यक्ति अपनी जाति बदल सके। यह अवश्य है कि महाकव्यों के काल में कुछ व्यक्तियों ने अपना वर्ण बदला है। वर्ण का उद्विकास जातियों में हुआ है और जातियाँ बदली नही जा सकतीं। कोई भी क्षत्रिय, ब्राह्मण जाति नहीं बन सकती। जातियों की प्रस्थिति स्थिर होती है लेकिन इसकी भूमिकाएँ बदल सकती हैं। एक समय था जब ब्राह्मणों की भूमिका पठन–पाठन की थी, वे पण्डिताई करते थें आज ब्राह्मणों की यह परम्परागत

भूमिका बदल गई है। पिछले समय में दलित वर्गों की भूमिका निम्न समझी जाती थी, आज आरक्षण के परिणामस्वरूप वे एक राजनीतिक शक्ति के रूप में उभर कर आये हैं। उन्हें संविधान प्रदत्त कुछ विशेष अधिकार हैं।[clxxix]

यूरोप और अमेरिका में प्रजातियों की प्रस्थिति प्रदत्त प्रस्थिति है। जो जन्म से काकेषियन प्रजाति में पैदा हुआ है, वह काकेशियन ही है। चाहने पर भी एक काकेशियन या इस अर्थ में नीग्रो या मंगोलियन अपनी प्रजातीय प्रस्थिति को नहीं बदल सकता क्योंकि उसकी प्रस्थिति तो स्थिर है। यह अवष्य है कि इस प्रस्थिति से जुड़ी हुई सामाजिक भूमिकाओं में अन्तर अवश्य आ जाता है। दूसरे विश्व युद्ध में हिटलर और नाजियों ने प्रजाति के नाम पर नरसंहार किये हैं। यह एक भूमिका थी। आज और विशेषकर यूनेस्को (UNESCO) के एक घोषणा के अनुसार, प्रजाति पर आधारित पूर्वाग्रह बेमतलब है। इस अर्थ में, कम से कम सिद्धान्त रूप में तो प्रजातियों से जुड़ी हुई भूमिकाएँ बदल गई हैं लेकिन स्वयं प्रजाति की प्रस्थिति स्थिर है।[clxxx]

5.10 जेंडर (Gender)

जेंडर स्तरीकरण तथा असमानता समाज के विभिन्न आयामों में दिखायी पड़ती है। पुरुष तथा नारी विभेद जो कि शक्ति, सम्पत्ति तथा सम्मान के रूप में समाज में दिखाई देती है, एक स्तरीकृत समाजिक संरचना पुरुष तथा स्त्री के संदर्भ में निर्मित करती है। इस स्तरीयकरण को हम निम्नलिखित संदर्भों में देख सकते हैं –

1. शिक्षा के क्षेत्र में असमानता
2. राजनीति तथा प्रतिनिधित्व के संदर्भ में असमानता
3. रोजगार तथा अवसरों की असमानता
4. हिंसा तथा गैर–बराबरी
5. परिवार के संदर्भ में सम्पत्ति के अधिकार के गैर–बराबरी।

ये गैर–बराबरी के समाधान के आयाम वर्तमान में भारतीय समाज में नये–नये कानूनों के रूप में हमारे सामने आ रहे हैं। 73वें तथा 74वें संविधान संशोधन के माध्यम से महिला प्रतिनिधित्व को सुनिश्चित करना, शिक्षा के अधिकार को मूलभूत अधिकार बनाकर कानून का निर्माण करना, यौन उत्पीड़न के विरूद्व तथा घरेलू हिंसा के विरूद्ध कानून का निर्माण करना आदि विभिन्न आयामों में स्त्री तथा पुरुष के गैर–बराबरी को दूर करने के संदर्भ में विभिन्न कानूनों का निर्माण किया जा रहा है।

विभिन्न लिगिंयों के बीच संबंधों के सामाजिक पक्ष के संदर्भ में 'जेन्डर' एक ऐसी अवधारणा है जो जैवकीय यौन–भेद (सेक्स) से अलग की जाती है। पिछले कुछ वर्षों में सामाजिक विज्ञानों में लिंग के सामाजिक पक्ष को उसके जैवकीय पक्ष से अलग कर 'जेन्डर' के रू‍प में उसे समझने और अध्ययन करने की एक नई शुरूआत हुई है। (हम यहां 'जेन्डर' के लिये हिन्दी में लिंग–भेद और 'सेक्स' के लिये 'यौन–भेद' शब्दों का प्रयोग करेंगे) अन्न ओकले (सेक्स, जेन्डर एण्ड सोसाइटी, 1972) जिन्हें समाजशास्त्र में 'सेक्स' शब्द को महत्व प्रदान करने का श्रेय प्राप्त है, के अनुसार, 'सेक्स' का तात्पर्य पुरूषों एवं स्त्रियों का जैवकीय विभाजन से है तथा 'जेन्डर' का अर्थ स्त्रीत्व का अर्थ स्त्रीत्व एवं पुरूषत्व के रूप में

समानान्तर और सामाजिक रूप में असमान विभाजन से है। अतः जेन्डर की अवधारणा स्त्रियों और पुरूषों के बीच सामाजिक रूप में निर्मित भिन्नता के पहलुओं पर ध्यान आकर्षित करती है । किन्तु आजकल 'जेन्डर' का प्रयोग व्यक्तिगत पहिचान और व्यक्तित्व को इंगित करने के लिये ही नहीं किया जाता, अपितु प्रतीकात्मक स्तर पर इसका प्रयोग सांस्कृतिक आदर्शों तथा पुरूषत्व एवं स्त्रीत्व संबंधी रूढ़िबद्ध धारणाओं तथा संरचनात्मक अर्थों में, संस्थाओं और संगठनों में लैंगिक श्रम–विभाजन के रूप में भी किया जाता है।

सन् 1970 के आसपास लिंग–भेद (जेन्डर) के अध्ययन में समाजशास्त्रीय और मनोवैज्ञानिक रूझान पैदा हुआ। अभी तक लिंग–भेद को मात्र स्त्री एवं पुरूष में जैवकीय भिन्नता के रूप में ही देखा जाता था तथा पुरूषत्व ओर स्त्रीत्व के बारे में महत्वपूर्ण सांस्कृतिक विचार रूढ़िबद्धता से ग्रस्त था तथा पुरूषत्व और स्त्रीत्व के बारे में महत्वपूर्ण सांस्कृतिक विचार रूढ़िबद्धता से ग्रस्त थे जिनकी यथार्थता से बहुत दूरी थी। बाद में जो अध्ययन हुए उनके द्वारा यह प्रदर्षित करने का प्रयास किया गया कि लिंग–भेद तथा स्त्रियों एवं पुरूषों की भूमिका संबंधी विचारों में भिन्न संस्कृति के कारण भारी अन्तर है। संरचनात्मक स्तर पर घरेलू श्रम–विभाजन संबंधी अध्ययनों ने भी स्त्री और पुरूष के बीच काम के वितरण में बड़ी असमानता प्रदर्षित की है।

विभिन्न समाजों में लैंगिक संबंधों के भिन्न रूप–स्वरूप हैं– ऐतिहासिक काल, प्रजातिक और जातीय समूहों, सामाजिक वर्ग और पीढ़ियों में। फिर भी, पुरूषों ओर स्त्रियों के बीच अन्तर के मामले में सीाी समाजों में समानता है, यद्यिपि यह अंतर की प्रकृति में काफी सामाजिक भिन्नताएं हैं। लिंग–भेद से संबंधित एक सर्वाधिक समान विशेषता हमें लिंग–असमानता में देखने को मिलती है ओर यह विशेषता लगभग एक सार्वभौमिक विशेषता है। सामाजिक जीवन के कई क्षेत्रों में लिंग–भेद की रचना और अभिव्यक्ति की जाती है। यह संस्कृति, विचारधारा और तार्किक धारणाओं तक ही सीमित नहीं है। घर में लैंगिक श्रम–विभाजन से लेकर श्रम–बाजार तक, राज्य की व्यवस्था में, काम (मैथुन) भावना में, हिंसा की रचना में और सामाजिक संगठन के कई पक्षों में लैगिक संबंधों की रचना होती है।

लिंग–भेद, विषेषतः नारीवाद के संबंध में अभी हाल कई सिद्धांत अभर कर आये हैं जिनमें प्रमुख तीन हैंः आमूल परिवर्तनवादी (रेडिकल) नारीवादी, समाजवादी (मार्क्सवादी) नारीवाद और उदारवादी नारीवाद (देखिये–फेमिनिज्म)। इनके अतरिक्त, कुछ अन्य सिद्धान्त ये हैं, जैसे रूढ़िवाद (सामाजिक जीववादी), काली (अष्वेत) महिलाओं के विचार, उत्तर आधुनिकतावादी, द्वि–व्यवस्था सिद्धान्त, आर्थिक महिलावाद, और भौतिकवादी महिलावाद।

लिंग भेद (Gender Difference)

यह बहुत कहा जाता है, इसके लिए पूरे दम–खम के साथ आन्दोलन किये जाते हैं कि समाज में गैर–बराबरी नहीं होनी चाहिए। गरीब–अमीर की दुनिया नहीं बननी चाहिए; गगनचुंबी भवन और गंदी बस्तियाँ नहीं बननी चाहिए। इस तरह के नारे सामान्य बात है। लेकिन आज पुरूष और स्त्री में जो अन्तर है– जो जैवकीय भेद है, उेस दूर करेन की चर्चा करना कठिन है। स्त्री प्रजनन करती है, यह उसकी जैवकीय खासियत है जो उसे जन्म से मिली है, उससे वह मुक्त नहीं हो सकती। लिंगभेद जैवकीय है, उसे दूर करना कठिन है। हाँ, यह सम्भव है कि स्त्रियों की सामाजिक और सांस्कृतिक भूमिका में अन्तर लाया जा सके। इस तरह का सामाजिक परिवर्तन प्रदत्त प्रस्थिति में परिवर्तन न होकर अर्जित प्रस्थिति में

परिवर्तन है। लिन्टन का आग्रह है कि प्रदत्त प्रस्थिति अपेक्षित रूप से स्थिर होती है।[clxxxi]

प्रदत्त प्रस्थिति ही भूमिकाओं को निश्चित करती है। बच्चे को अपने उदर में रखना स्त्रियों के लिये ही सम्भव है, इसी तरह कुछ ऐसे कलात्मक कार्य हैं जो पदत्त प्रस्थिति के साथ जुड़े हुए हैं। प्रदत्त प्रस्थिति के साथ जोखिम भी होते हैं। ऐसा ही एक जोखिम बलात्कार का है।

निश्चित रूप से लिंग भेद पर आधारित प्रस्थिति जैवकीय है। व्यक्ति इस प्रस्थिति को नहीं बदल सकता, लेकिन इस प्रस्थिति से जुड़ी हुई भूमिकाएँ हैं जो सामाजिक और सांस्कृतिक हैं। ये स्थिर नहीं हैं, इन्हें बदला जा सकता है। उदाहरण के लिए स्त्रियों की प्रदत्त प्रस्थिति बच्चे जनने की क्षमता है लेकिन यदि कुछ स्त्रियाँ बच्चे जनना नहीं चाहते यानी माँ की प्रस्थिति नहीं चाहती तो उन्हें इसके लिये बाध्य नहीं किया जा सकता है। यूरोप और अमेरिका में एक नई प्रवृत्ति चल पड़ी है जिसके अनुसार स्त्रियाँ बच्चे जनना पसंद नहीं करतीं। कहने का अर्थ यह है कि प्रदत्त प्रसिंिति होते हुए भी भूमिकाओं में बड़े अन्तर देखने को मिलते हैं। कुछ समाजों में जैसे कि मातृसत्तात्मक परिवारों में पुरूषों की तुलना में स्त्रियों की प्रस्थिति उच्च होती है। इसी भाँति आदिम समाजों में स्त्रियों की तुलना में पुरूषों की प्रस्थिति उच्च होती है। अमेरिका और यूरोप में, बराबरी की होती है। प्रदत्त प्रस्थिति तो लिंग के आधार पर स्थिर होती है लेकिन इससे जुड़ी हुई भूमिकाएँ स्थिर हों, ऐसा कदापि नहीं है। अब दुनियाभर में जो नारी मुक्ति के आन्दोलन चल रहे हैं वे स्त्रियों के लिये नई भूमिकाओं की खोज है।[clxxxii]

5.11 वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1. मैक्सवेबर शक्ति को दो भागों में विभाजित करते है। ये है वैध (Legitimate) तथा अवैध (Illigitimate)

   क. सत्य ख. असत्य

2. वैध शक्ति को वेबर प्राधिकार (Authority) कहते हैं–

   क. सत्य ख. असत्य

3. जेंडर (Gender) एक सामाजिक प्रत्यय है –

   क. सत्य ख. असत्य

4. वर्तमान विज्ञान प्रजाति श्रेष्ठता के प्रत्यय को नकारता है–

   क. सत्य ख. असत्य

5.12 उत्तर

1. क
2. क
3. क
4. क

5.13 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

[i] हरिकृष्ण रावत, समाजशास्त्र विश्वकोश, रावत पब्लिकेशन्स, 2002

[ii] सत्यमित्र दुबे, दिनेश शर्मा, ' समाजशास्त्र एक परिचय', एनसीईआरटी, नई दिल्ली, 1989

[iii]वही

[iv]वही

[v]वही

[vi]वही

[vii]वही

[viii]वही

[ix]वही

[x] वही

[xi] हरिकृष्ण रावत, समाजशास्त्र विश्वकोश, रावत पब्लिकेशन्स, 2002

[xii] वही

[xiii] वही

[xiv] एस.एल.दोषी, पी.सी.जैन, ''समाजशास्त्र नई दिशाएं, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, जयपुर 2005

[xv] वही

[xvi] वही

[xvii] वही

UGSY-04

सामाजिक स्तरीकरण

उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय,
प्रयागराज

खण्ड – 2

समाजों में स्तरीकरण

इकाई – 6 **97–106**

पूर्व आधुनिक समाजों में स्तरीकरण

इकाई – 7 **107–116**

आधुनिक समाजों में स्तरीकरण

इकाई – 8 **117–132**

व्यावसायिक क्रमविन्यास

इकाई – 9 **133–146**

विचारधारा तथा स्तरीकरण : श्रेणीबद्धता एवं समानता

उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय

उत्तर प्रदेश प्रयागराज

परामर्श समिति

प्रो0 के0 एन0 सिंह (अध्यक्ष) — कुलपति, उ0प्र0 राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज

डॉ० ए० के० गुप्ता — कुलसचिव, उ0प्र0 राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज

सम्पादक

प्रो0 संजय सिंह (अध्यक्ष) — समाजशास्त्रए डॉ० राम मनोहर लोहिया राष्ट्रीय विधि, विश्वविद्यालय, लखनऊ

पाठ्यक्रम निर्माण समिति (अध्ययन बोर्ड)

1. डॉ० एम० एन० सिंह – पूर्व निदेशक, समाज विज्ञान विद्याशाखा, उ0प्र0 राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज
2. डॉ० इति तिवारी – पूर्व एसो० प्रोफेसर समाज विज्ञान विद्याशाखा, उ0प्र0 राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज
3. श्री रमेश चन्द्र यादव – शैक्षणिक परामर्शदाता, समाजशास्त्र, समाज विज्ञान विद्यशाखा, उ0प्र0 राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज

UGSY-04– समाजिक स्तरीकरण

लेखक–

1. डॉ० इति तिवारी – पूर्व एसो० प्रोफेसर समाज विज्ञान विद्याशाखा, उ0प्र0 राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज
2. श्री रमेश चन्द्र यादव – शैक्षणिक परामर्शदाता, समाजशास्त्र, समाज विज्ञान विद्याशाखा, उ0प्र0 राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज
3. डॉ० शैलजा सिंह एसो० – प्रोफेसर, डॉ० शकुन्तला मिश्रा राष्ट्रीय पुनर्वास विश्वविद्यालय, लखनऊ
4. डॉ० विजय कुमार वर्मा – असि० प्रोफेसर, डॉ० शकुन्तला मिश्रा राष्ट्रीय पुनर्वास विश्वविद्यालय, लखनऊ
5. डॉ० विलोक सिंह – असि० प्रोफेसर, स्वामी सहजानन्द पी०जी० कालेज, गाजीपुर (उ०प्र०)
6. श्री अजय कुमार त्रिपाठी – जे० एन० पी०जी० कालेज, लखनऊ
7. डॉ० जया द्विवेदी तिवारी – अवध गर्ल्स डिग्री कालेज, लखनऊ
8. डॉ० श्वेता तिवारी ए०पी० – सेन गर्ल्स मेमोरियल पी०जी० कालेज, लखनऊ
9. डॉ० मपीन्द्र कुमार तिवारी – डी०ए०वी० कालेज, लखनऊ

2020 (मुद्रित)

© उ0प्र0 प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज 2020

ISBN- 978-93-83328-41-3

सर्वाधिक सुरक्षित। इस सामग्री के किसी भी अंश को इंदिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय की लिखित अनुमति के बिना किसी भी रूप में, मिमियोग्राफी (वक्रमुद्रण) द्वारा या अन्यथा पुनः प्रस्तुत करने की अनुमति नहीं है।

उ0प्र0 राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज सर्वाधिकार सुरक्षित। इस पाठयसामग्री का कोई भी अंश उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, की लिखित अनुमति लिए बिना मिमियोग्राफ अथवा किसी अन्य साधन से पुनः प्रस्तुत करने की अनुमति नहीं है।

नोट : पाठय सामग्री में मुद्रित सामग्री के विचारों एवं आमड़ों आदि के प्रति विश्वविद्यालय, उत्तरदायी नहीं है।

प्रकाशन – उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन विश्वविद्यालय, प्रयागराज

प्रकाशक – कुलसचिव, डॉ. अरूण कुमार गुप्ता उ0प्र0 राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज – 211021

मुद्रक – चंद्रकला यूनिवर्सल प्राइवेट लिमिटेड, 42/7 जवाहरलाल नेहरू रोड, प्रयागराज

इकाई–6

पूर्व आधुनिक समाजों में स्तरीकरण

इकाई की रूपरेखा

6.1 उद्देश्य

6.2 प्रस्तावना

6.3 सामाजिक स्तरीकरण के विभिन्न परिप्रेक्ष्य

6.4 आधुनिक समाजों में स्तरीकरण के उपागम

6.5 पूर्व–आधुनिक समाज के विभिन्न रूप एवं स्तरीकरण व्यवस्था

6.6 वस्तुनिष्ठ प्रश्न

6.7 उत्तर

6.8 कुछ उपयोगी पुस्तकें

6.1 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के उपरांत आप

1. पूर्व आधुनिक समाज में स्तरीकरण की व्यवस्था को समझ पाएंगे।
2. विभिन्न प्रकार के समाजों में स्तरीकरण के स्वरुप को समझ पाएंगे।
3. स्तरीकरण के विविध उपागमों को पूर्व आधुनिक समाज के सन्दर्भ में जान पाएंगे।

6.2 प्रस्तावना

पूर्व–आधुनिक समाजों में सामाजिक स्तरीकरण के परिप्रेक्ष्यों पर विचार कर, स्तरीकरण व्यवस्था की विवेचना की गयी है। साथ ही साथ पूर्व–आधुनिक समाज के तीन प्रमुख श्रेणी काल/समयावधि एवं विशेषताओं पर विचार किया गया है।

6.3 सामाजिक स्तरीकरण के विभिन्न परिप्रेक्ष्य

पारसंस का समाजिक स्तरीकरण से सम्बन्धित प्रकार्यवादी परिप्रेक्ष्य यह स्पष्ट करना है कि स्तरीकरण समाज के लिए अवश्यभांवी एवं प्रकार्यात्मक है।

इसी प्रकार किन्सले डेविस एवं विल्बर्ट ई0 मूर अपने लेख सम प्रिसिपल आफ स्ट्रेटिफिकेशन में यह विवेचना प्रस्तुत करना है कि कोई भी समाज वर्ग–विहिन नहीं है। स्तरीकरण सभी समाज की विशेषता है। भूमिका आंब्टन एवं निष्पादन के आधार पर डेविस एवं मूर स्तरीकरण को एक उपकरण मानते है

जिसक द्वारा सर्वाधिक महत्वपूर्ण पदों पर सर्वाधिक योग्य व्यक्ति स्थान ग्रहण करते हैं।

स्तरीकरण का संघर्षवादी परिप्रेक्ष्य स्तरीकरण को सार्वभौमिक मानता है, अपरिहार्य नहीं। मार्क्स वर्ग संघर्ष की विचारधारा के आधार पर स्तरीकरण को स्पष्ट करते हुए मानते हैं कि '' आज तक अस्तित्व में रहे समाज का इतिहास, वर्ग–संघर्षों का इतिहास रहा है।'' पूर्व आधुनिक समाज में कृषि एवं उससे जुड़े उपकरण उत्पादन के मुख्य साधन माने जाते थे। इस काल में मार्क्स के अनुसार दो वर्ग भू–स्वामी एवं उत्पादक वर्ग था। भू–स्वामी वर्ग में अभिजात वर्ग एवं दास स्वामी और उत्पादक वर्ग में कृशि दास, दास, और स्वतन्त्र कृशक सम्मिलित थे। वेबर के सामाजिक स्तरीरकरण के सोच में, अति महत्वपूर्ण तत्व ''शक्ति'' है। एक समुदाय में, 'वर्ग', प्रस्थिति समूह और ''दल'', शक्ति–वितरण की प्रघटनाएं हैं।

गेहार्ड लेस्की सामाजिक स्तरीकरण व्यवस्थाओं के उद्‌भव से सम्बन्धित प्रक्रिया को इस प्रकार व्यक्त करते हैं।

1. किसी भी समाज में मूल्यवान वस्तुओं की आपूर्ति में कमी होगी ओर जब ऐसा होगा तो लोग इन्हें प्राप्त करने के लिए स्वयं प्रवृत्त होगें, जिसमें कुछ लोग अन्य व्यक्तियों के तुलना में, अपनी निजी विशेषताओं के कारण ज्यादा सफल होगें।

2. निजी विशेषताओं के प्रयोग से कुछ लोग भौतिक–वस्तुओं को प्राप्त करने एवं संग्रह करने में सफल हो जायेंगें। यह सफलता व्यक्ति को विशेषाधिकार एवं शक्ति प्रदान करेगी, जिससे प्रतिवर्ग प्राप्त होगी।

3. मूल्यवान वस्तुओं ऊपर अधिकार व्यक्ति को शक्तिशाली बनाती है।

4. निजी शक्ति से संचालित वितरण की प्रणाली न्यायसंगत ठहरायी जाती है जो बाद में वैध मान ली जाती है। शक्ति के सहारे असमानता को बनाये रखा जाता है।

5. वर्ग प्रणाली पर केन्द्रित लैंस्की की यह विवेचना प्रजातिगत एवं लिंगगत स्तरीकरण के उद्‌भव के विषय में भी दिया जा सकता है।

विचारधारा और सामाजिक स्तरीकरण

सामाजिक स्तरीकरण में विचारधारा का मुद्‌दा दो मुख्य सन्दर्भों में उभरकर सामने आता है। पहला समाजशास्त्रीय पद्वति के सामान्य सैद्धान्तिक समस्या के रूप में, और इसके पष्चात सामाजिक स्तरीकरण सम्बन्धी अध्ययनों के सम्बन्धों एवं विशय वस्तुओं के सामाजिक निर्धारण अथवा निश्चयीकरण की समस्या के रूप में दृष्टिगोचर होता हे। पहले संदर्भ में संरचनावाद और मार्क्सवाद दोनों ने भारत में सामाजिक स्तरीकरण पर केन्द्रित अध्ययनों की सैद्धान्तिक रूपावलियों के रूप में विचारधारा की अवधारणा को अपनी परिधि में समाहित कर लिया है। यह सिद्धान्त प्रतिपादन की प्रक्रिया का एक अपरिहार्य तत्व है। सामाजिक संरचना और स्तरीकरण के मार्क्सवादी सिद्धान्त में विचारधारा की अवधारणा ने अत्यन्त महत्वपूर्ण भूमिका निष्पादित की है। मार्क्स ने अपने सभी लेखों में विचारधारा को प्रज्ञानात्मक प्रक्रियाओं का एक अविच्छिन्न तत्व माना गया है। मार्क्स के अनुसार समाज वैज्ञानिकों का लक्ष्य समाजशात्रियों कोटियों ओर सामाजिक व्यवहार व प्रासंगिकता के साथ इनका सही सम्बन्ध स्थापित करने की दृष्टि से अपनाी गयी पद्वतियों के चयन में उत्पन्न दोशों पर निर्भर होता है।

सामाजिक स्तरीकरण के अध्ययनों में विचारधारा की भूमिका का मूल्यांकन से सम्बन्धित एक अन्य प्रगति जो कुछ मामलों में मार्क्सवादी परम्परा के साथ भी अपना सम्बन्ध दर्शाती है, भारत में जाति व्यवस्था के '' ब्राहम्णवाद–विरोधी विचारधारा' का उदय है। इस विचारधारा का संपोशण बहुदहद तक प्रतिवादी आन्दोलनों में लगातार बढ़ने एकात्मीकरण की प्रक्रिया ओर दलित–वंचित समुदायों ,जनजातियों, अनुसूचित जातियों तथा पिछड़े वर्गों में शिक्षित जन समूहों की सामाजिक चेतना में वृद्धि के कारण संभव हो जाता है जो प्रदूषण एवं गहता की विश्व दृष्टि पर आधारित हिन्दू जाति व्यवस्था के पारम्परिक मॉडल की वैधता पर अपत्ति करते हैं।

6.4 आधुनिक समाजों में स्तरीकरण के उपागम

पूर्व–आधुनिक समाज में स्तरीकरण की व्यवस्था को तीन उपागमें नव–विकासवादी वैज्ञानिक एवं मार्क्सवादी के आधार पर समझा जा सकता है।

नव–विकासवादी उपागम

सामाजिक विकास एवं स्तरीकरण पद्धति से सम्बन्धित लेस्की के विचार प्रमुख हैं। लेंस्की का मानना हे कि सभी समाजो में विभिन्नता पायी जाती है, तथा कोई ऐसा सामान्य नियम नहीं है जो विश्व के सभी समाजें पर समान रूप से लागू किया जा सके। लेंसकी का मानना है कि समाज का विकास एवं स्तरीकरण पद्वति के मध्य सम्बन्ध पाया जाता है। लेस्की स्तरीकरण के वक्ररेखी समबन्ध को स्पष्ट करते हुए यह तर्क प्रस्तुत करते हैं कि प्राचीन समाज में कम स्तीरकरण प्रचलित था, एवं मध्ययुग में सबसे ज्यादा औद्यौगिक समाज में स्तरीकरण के ह्रास के लक्षण स्पष्ट हो रहे हैं। लेंस्की की विकासवादी अवधारणा समाज को चार श्रेणियों में बटा मानती है : आखेटक एवं संग्राहक, उद्यानकर्मी, कृषि तथा औद्यौगिक समाज।

नृवैज्ञानिक उपागम

नृवैज्ञानिक का अर्थ है, मनुष्यों के विषय में चर्चा, ठीक वैसे ही जैसे मनोविज्ञान का अर्थ है, मन के विषय में चर्चा। ऐसे कुछ उक्तियों, जैसे , '' मैं मानव समाज में रूचि रखता हूँ '' और '' ये विदेशी कैसे विलक्षण है'' किसी न किसी रूप में उस समाज से प्रचतिल होगी, जब `स मानव ने भाग का प्रयोग सीखा होगा। मानवीय वार्तालाप का अधिकांश भाग इस बात से सम्बन्धित है कि मनुष्य क्या करते हैं। प्रत्येक व्यक्ति, जिसे अपने घर से दूर भ्रमण करने का अवसर मिलता है, यह देखकर दंग रह जाता है कि उसके काम करने के ढंग से ओर बाहर के प्रचलित ढंग से कितना अंतर है।

रैडक्लिक काउन का अनुसरण करते हुए, ब्रिटिश मानव शास्त्री संस्कृति के अध्ययन के पक्ष में है। नृवैज्ञानिक पद्वति व्यक्ति के समूहों एवं समाज को समझने में, युग, यौन, एवं नातेदारी की भूमिका पर ध्यान केन्द्रित करती है।

मार्क्सवादी उपागम

यह कहना सही नहीं होगा कि कार्लमार्क्स ने प्रौद्यौगिकी या आर्थिक निर्धारण के एक साधारण सिद्धांत का प्रतिपादन किया था। मार्क्स ने समाज के विषय में एक वृहद् संरचनात्मक व्याख्या की उद्घोषणा की थी, जिसमें वर्ग ,वर्ग–संघर्ष और परिवर्तन की अवधारणा प्रमुख थी। अपने शास्त्रीय ग्रंथ कैपिटल (खण्ड–3) में, मार्क्स ने लिखा था, मातृश्रम के स्वामी, पूंजी के मालिक, और

भू–स्वामी, जिनकी आय के सधन, क्रमशः वेतन, लाभ और लगान है, दूसरे शब्दों में, वेतनभोगी, श्रमिक, पूंजीपति और भूस्वामी उत्पादन की पूंजीवादी पद्वति पर आधारित आधुनिक समाज के तीन दीर्घ वर्ग हैं'', मार्क्स यह भी कहते हैं कि सर्वत्र मध्यम और मध्य के प्रस्थिति स्तरों को अलग रखने की रेखायें भी समाप्त हो जाती हैं। पूंजीवादी उत्पादन पद्वति को विकास में, यह प्रवृत्ति अधिक बढ़ जाती है। इसमें श्रम वेतन श्रम में और उत्पादन के साधन पूंजी में रूपान्तरित हो जाते हैं। विरासत सम्पत्ति भी पूंजीवादी उत्पादन पद्वति में रूपान्तरित हो जाती है।

मार्क्स का मानना है कि पश्चिमी समाज का विकास चार अवस्था से होकर गुजरता है। ये हैं – आदिम साम्यवाद, प्राचीन समाज, सांमतवाद, पूंजीवाद। आदिम साम्यवाद वर्ग–विहीन समाज होता है। प्रत्येक समाज दो वर्गों में बंटा हुआ है। प्राचीन समाज में मालिक या गुलाम, के दो वर्ग थे, सांमती समाज में, जमींदार एवं किसान, के दो वर्ग थे, एवं पूंजीवादी समाज में पूंजीपति एवं मजदूर दो वर्ग थे।

आदिम साम्यवाद वर्ग–विहीन इसलिए था क्योंकि उत्पादन सामुदायिक विधि पर आधारित थी। आखेट एवं संग्रह एक निर्वाह मूलक अर्थव्यवस्था है जिसमें उत्पादन उतना ही होता है जितना कि मानव के जीवत बने रहने के लिए आवश्यक है। इससे अधिक समाज की उत्पादन–क्षमता हो जाये तो ''वर्ग'' का उद्ीाव होता है। यह तब होता है जब समाज की मुख्य उत्पादन पद्धति कृषि हो। कृषि अर्थव्यवस्था में पूरे समाज के खाद्य आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए समाज का एक वर्ग (विशेष) ही उत्पादन में लगा होता है।

6.5 पूर्व–आधुनिक समाज के विभिन्न रूप एवं स्तरीकरण व्यवस्था

अंथोनी गिडेन्स (Anthony Giddens) पूर्व आधुनिक मानव समाज को तीन प्रमुख श्रेणियों (1) आखेटक एवं संग्राहक समाज (2) कृषक एवं पशुचारण समाज (3)पारम्परिक समाज / सभ्य समाज में विभाजित करते हुए सम्बन्धित विशेषताओं को निम्न सारिणी द्वारा इस प्रकार प्रदार्शित करते हैं।

पूर्व आधुनिक मानव समाज का प्रकार

प्रकार	काल/समयावधि	विशेषताएं
आखेटक एवं संग्रहक समाज	50,000 ई0पूर्च से वर्तमान अब यह विलुप्त समाज है	आखेटक एवं मछली पकड़ना और कन्दमूल के एकत्रीकरण द्वारा आजीविका का संचालन, कुछ असमानता, आयु एवं लिंग के आधार पर पदों में विभेद।
कृषक समाज	12000 ई0पू0 से वर्तमान अधिकांश क्षेत्र राजनैतिक इकाई, सुस्पष्ट अस्मिता का क्षरण	नगर एवं कस्बा विहीन लघु ग्रामीण समुदाय कृषि आधारित आजीविका –आखेटक एवं संग्रह द्वारा पूरित आखेटक एवं सग्राहक समाज की अपेक्षा दृढ़तर असमानताएं, मुखिया/प्रमुख का शासन।

पशुचारण समाज	12000 ई0पू0 से वर्तमान, अधिकांश क्षेत्र विशालतम राज्य दुर्बल होती पारम्परिक जीवन–विधि	सौ से हजार लोगों का समूह, निर्वाह हेतु पालतू पशु पर निर्भरता सुस्पष्ट असमानता, मुखिया या योद्धा का शासन ।
पारम्परिक समाज/सभ्य समाज	6000 ई0पू0 19वीं शताब्दी तक पारम्परिक सभ्यता का लोप	अति वृहद आकार, नगर का अस्तित्व, उत्पादन एवं व्यापार कृषि पर आधारित वर्ग, प्रमुख असमानता का समावेशन सरकारी अभिकरण का प्रयोग।

आखेटक एवं संग्राहक समाज

अंथोनी गिडेन्स आखेटक एवं संग्राहक समाज को विलुप्त मानते हैं। इस समाज में आयु एवं लिंग के आधार पर विभेदीकरण था परन्तु सम–विभाजन की दर में कमी होने के कारण उच्चता निम्नता का क्रम का अभाव था। इस समाज में स्तरीकरण बहुत कम था। शक्ति के आधार पर कोई स्तरीकरण नहीं था क्योंकि राजनैतिक प्रणाली अभी आरम्भिक अवस्था में ही थी।

आखेटक एवं संग्राहक समाज में श्रम के लिंगबद्ध विभाजन की चार मुख्य स्थितियों की ओर फ्राइडल ने इशारा किया है।

(1) संग्रह स्त्री और पुरूष दोनों करते थे, लेकिन आखेट पुरूष ही करता था।

(2) सामुदायिक आखेटक एवं संग्रह में स्त्री, पुरूष दोनों शामिल होते थे। जैन रेन फारेस्ट के विग्मीज इसके उदाहरण है।

(3) पुरूष शिकार करते थे, स्त्री संग्रह, 1 कैलिफोर्निया ओर नेवादाजारी के वाशो इंडियन इसके उदाहरण है।

पशुचारण समाज

पशुचारण समाज पर्यावरण पर पूर्णतः निर्भर होता है। यह जानवर के मदद से एक स्थान से दूसरे स्थान स्थानान्तरित होते थे। अपनी यायावरी के प्रवृत्ति के कारण पशुचारण समाज ज्यादा चीजे एकत्रित नहीं करते थे।

पशुचारण समाज का एक शास्त्रीय विवरण ईवान प्रिचर्ड ने प्रस्तुत किया हैं जिन्होंने अफ्रीका के दक्षिण सूडान में पायी जाने वाली नुएर समाज का अध्ययन किया था। नुएर की आजीविका पशुपालन केन्द्रित थी लेकिन वे कुछ फसल भी उगाते थे। नुयर लोग गांवों में निवास करते थे जिसमे एक गांव से दूसरे गांव के मध्य की दूरी 5 से 20 मील की होती थी। सन्1930 के दशक में, जब ईवान्स प्रिचर्ड शोध रहे थे नुएर लोगों की संख्या 200,000 पायी गयी थी। वे सभी एक ही भाषा बोलते थे ओर उनके रीति–रिवाज भी एक ही थे लेकिन कोई केन्द्रीय सरकार या सत्ता नहीं थीं।

उद्यानकर्मी समाज

उद्यानकर्मी समाज का विकास आखेटक एवं संग्राहक समूह से हुआ है। उद्यानकर्मी समाज से तात्पर्य खानाबदोश जीवन का अंत एवं स्थायी समुदायो ंका आरम्भ है। उद्यानकर्मी तकनीकि के साथ स्थायी बंदोबस्त ने उन्हें भटकने की बाध्यता को खत्म कर दिया। उद्यानकर्मी समाज अधिक स्तरीकृत था क्योंकि अधिक अतिरिक्त खाद्य सामग्री होने के कारण आर्थिक स्तरीकरण की ज्यादा सम्भावना थी। व्यक्तियों के मध्य प्रतिष्ठा का अंतर मुख्यतः व्यक्ति के निजी विशेषताओं पर ही आधारित थी। प्रतिष्ठा का सम्बन्ध पत्नी की संख्या, जानवरों की संख्या, आभूषण की मात्रा से हो गया था।

उद्यानकर्मी समाज अत्यधिक समतावादी होता है। इस समाज के नेताओं को दूसरों को दंड देने का कोई अधिकार नहीं होता है। आर्थिक असमानता भी उद्यानकर्मी समाज में नही पायी है। शक्ति एवं सम्पत्ति के आधार पर कोई महत्वपूर्ण अन्तर नहीं था।

स्त्री और पुरूष के आधार पर श्रम–विभाजन उद्यानकर्मी समाज की महत्वपूर्ण विशेषता है। ब्राजी का ''समुन्दुस्कु'' इसका एक उदाहरण है। उद्यानकर्मी समाज का ज्यों–ज्यों अधिक विकसित समाज में विकास होने लगा त्यों त्यों अधिक विकसित समाज में विकास होने लगा त्यों–त्यों स्तरीकरण की भावना में भी वृद्धि होने लगी।

कृषक समाज / पारम्परिक राज्य

डेनियल थार्नर ने इंगित किया है, '' कृषक '' शब्द को व्यापक और संकीर्ण दोनों प्रकार प्रयुक्त किया जा सकता है।'' संकीर्ण अर्थों में '' कृषक'' लघु भू–स्वामी है, जो निजी भूमि को, जिस पर इनका स्वामित्व अथवा नियन्त्रण है, जोतकर अजीविका अर्जित करते है। परन्तु सामान्यतः ग्राहय व्यापक अर्थों में, ''कृषक'' वे सभी जो भूमि में काम करके गुजारा करते हैं और इनमें, कृषि–श्रमिक और बटाईदार भी शामिल हैं। आन्द्रे बेते कृषक समाज के अर्थ को स्पष्ट करते हैं। प्रथम कृषक भूमि से जुड़ा होता है। वह न केवल भूमि के सहारे आजीविका कमाता है, वरन् अपने श्रम से भूमि को फलदायी भी बनाता है। 'कृषक और भूमि का कानूनी सम्बन्ध बदल सकता है। वह एक भू–मालिक हो सकता है, एक आदमी हो सकता है, या सीमित मामालो ंमें एक श्रमिक जिसका स्वामित्व पर कोई अधिकार नहीं हैं। द्वितीय अधिकांश समाजों में कृषकों को निम्न पद वाला माना जाता है। कृषक वर्ग की व्याख्या अभिजात्य वर्ग के विलोम के रूप मे ंकी जाती है। समाज के स्तरण में कृषक समुदाय की स्थिति पर मात्र आर्थिक दृष्टि से ही विचार नहीं होता, अपितु सांस्कृतिक अर्थों में भी होता है। तृतीय, कृषक वर्ग श्रमिक वर्ग का अभिप्राय होता है।

शानीन जिस 'कृषक समाज' कहते हैं, उसका चार निम्नलिखित आधारभूत पथ्य को दृष्टि में रख कर वर्णन करते हैं।

(1) विभितीय सामाजिक संगठन की आधार भूत ईकाई के रूप में , कृषक फार्म

(2) आजीविका के प्रधान साधन के रूप में भूमि पर कृषि कर्म, जो उपभोग की आवश्यकताओं के बड़े भाग की भी पूर्ति करता है।

(3) छोटे समुदायों के जीवन यापन के तरीकों से सम्बन्धित विशिष्ट पारम्परिक संस्कृति

(4) कृषक वर्ग की निम्नस्तरीय स्थिति

समाजवादी समाजों में स्तरीकरण

फ्रेंक पार्किन के विचार

समाजवादी देशों में उत्पादन के साधन व्यक्तियों अथवा निजी क्षेत्रों के स्वामित्व में नहीं है वे राज्य के द्वारा नियन्त्रित किये जाते हैं। हालांकि समाजवादी देशों में ऐसे बहुत से व्यवसाय हैं जो कि पूंजीवादी देशों में भी पाये जाते है। उदाहरण के लिए कुशल एवं अकुशल श्रमिक, वकील, प्रबन्धक, श्वेतपोश श्रमिक इत्यादि।

दानों ही प्रकार के समाजों में यद्यपि मुख्य व्यसाय समान प्रकृति के हैं परन्तु इसके मध्य पाये जाने वाला व्यवसाय सम्बन्धी क्रय–विन्यास समान प्रकृति का नहीं है।

फ्रैंक पार्किन ने पूर्वी यूरोपीय देशों में जो कि समाजवादी है, चार मुख्य स्तरों की चर्चा की है।,

(1) श्वेतपोश बुद्धजीवी

(2) कुशल शारीरिक श्रमिक

(3) निम्न स्तरीय श्वेतपोश श्रमिक

(4) अकुशल शारीरिक श्रमिक

अधिकांश समाजों में श्वेतपोश श्रमिक (लिपिक) की कुशल श्रमिक वर्ग तुलना में उच्च पद प्राप्त हैं, जबकि समाजवादी देशों में श्वेतपोश श्रमिक को कुशल श्रमिक की तुलना में निम्न स्थान प्राप्त है।

डेविड लेन के विचार

डेविड लेन का मानना है कि व्यवसाय से सम्बद्ध प्रतिष्ठा के क्रम विन्यास का भौतिक लाभ से कोई सम्बन्ध नहीं है। जिन व्यवसायों से अधिक आय प्राप्त होती है , वे उच्च प्रतिष्ठित भी हो, आवश्यक नहीं है। उनका मत है कि निजी व्यापार से अधिक आय प्राप्त होती है, परन्तु इसकी प्रतिष्ठा बुद्धिजीवियों एवं कुशल श्रमिकों की तुलना में निम्न है। डेविड लेन का यह मत पार्किक के पश्चिमी समाजों सम्बन्धी उस दृष्टिकोण से बिल्कुल विपरीत है, जिसमें व्यवसायिक क्रम–विन्यास एवं भौतिक पुरस्कारों के मध्य धनिष्ठ सम्बन्ध है।

डब्ल्यू वैसलोस्की का पोलैंड से सम्बन्धित अध्ययन स्पष्ट करता है कि डाक्टर, स्कूल शिक्षका, एवं इंजीनियर की तुलना में विश्वविद्यालय के प्रोफेसर को प्रतिष्ठा के क्रम में उच्च स्थान प्राप्त है।

उपरोक्त विश्लेषण से स्पष्ट है कि समाजवादी देशों में सामाजिक स्तरीकरण अन्य पश्चिमी देशों की तुलना में भिन्न प्रकृति का है। समाजवादी

समाजों में बुद्धिजीवी एवं कुशल श्रमिक को उच्च पद प्राप्त होता है, जबकि पूंजीवादी देशों में उत्पाादन साधनों के स्वामी एवं व्यवसायिक अधिकारी को प्रतिष्ठा के क्रम में सर्वोच्च स्थान प्राप्त है। समाजवादी समाजों में स्तरीकरण शारीरिक एवं गैर–शारीरिक श्रमिकों की व्यापक श्रेणियों पर आधारित है।

इस श्रेणियों के पीछे जो उप विभाजन है उन्हें प्रतिष्ठा के अर्थों में श्रेणीबद्ध रूप में रखा जा सकता है।

उत्तर आधुनिक समाज में वर्ग

वर्ग का अन्त (Death of class)

आस्ट्रेलिया के समाजशास्त्री जान पाकुलस्की और मैलकोम वॉटर (Jan Pakulski and Malcaolm Water) अपनी पुस्तक 'डेथ ऑफ क्लास' में उत्तर आधुनिकवाद एवं वर्ग का अवसान' के मध्य सम्बन्ध स्थापित करते हैं। पाकुल्सकी एवं वाटर का तर्क है कि वर्ग का अस्तित्व होने के कारण सामूहिक का न्यूनतम स्तर होना आवश्यक है। उत्तर आधुनिक समाज में सामूहिकता का न्यूनतम स्तर का प्रमाण नहीं मिलता है। पाकुल्स्की एवं वॉटर इस बात पर सहमत नहीं है कि उत्तर आधुनिक समाज में सामाजिक असमानता नहीं पायी जाती है परन्तु इसमें वर्ग विभेद का अन्तर नगण्य है।

पाकुल्स्की एवं वाटर का मानना है कि पूंजीवादी समाज में स्तरीकरण व्यवस्था के रूप में तीन प्रकार के समाज पाये जाते है।

(1) आर्थिक–वर्ग समाज (Economic –class society)

(2) संगठिन वर्ग समाज (Organized-class society)

(3) प्रस्थिति –परम्परागत समाज (Status –convitional society)

आर्थिक–वर्ग समाज का अस्तित्व 14वीं शताब्दी के दौरान था जो 'सम्पत्ति मालिक' एवं 'श्रमिक' के मध्य बंटा था। 20वीं शताब्दी के पहले 75 साल के दौरान संगठित–वर्ग समाज अस्तित्व स्पिष्ट होता है जिसमें राज्य शक्तिशाली प्रभु यंत्र के रूप में उभरा। 20 वीं शताब्दीके अन्तिम 25 वर्षों में प्रस्थिति परम्परागत समाज' का अस्तित्व उभरकर सामने आया। इस समाज में स्तरीकरण का आधार आर्थिक भेदभाव के स्थान पर सांस्कृतिक हो गया। पाकुल्स्की एवं वाटर के शब्दों में ''स्तरण जीवन शैली है'' उनका मानना हे कि स्तरीकरण व्यवस्था '' पारिवर्तिन पच्चीकाटी के रूप में दिखती है। (Appeass as a shifting mosaic) पाकुल्स्की एवं वाटर प्रस्थिति–परम्परागत समाज में व्याप्त स्तरीकरण व्यवस्था के चार विशेषताओं को इस प्रकार स्पष्ट करते है।

(1) **संस्कृतिवाद (Culturalism)** : स्तरीकरण, जीवन शैली, सौन्दर्य, एवं सूचना धारा' पर निर्भर है।

(2) **विखण्डन (Fragmentation)** : समाज के इस नवीन प्रकार में लोगों का अलग–अलग कई प्रस्थितियां होती हैं जो उनके विभिन्न समूहों के सदस्यता पर निर्भर है।

(3) **स्वायत्रीकरण (Autonomy)** : इस समाज में व्यक्ति अधिक स्वायत्र एवं स्वतंत्र उस समाज के मूल्य के कारण हो जाता है।

(4) **त्यागीकरण (Resignification)** : लोग अपने प्राथमिकता, पसन्द एवं पहचान को परिवर्तित कर सकते हैं क्योंकि इस समाज में तरलता, एवं अस्थिता, प्रचुर मात्रा में होती है।

उलरिच बेक– जोखिम समाजः प्रस्थिति एवं वर्ग के परे'

सिर्फ यह उत्तर–आधुनिक विचारकों का ही मानना नहीं हे कि वग्र का अन्त हो रहा है, बल्कि उलरिच बेक का भी तर्क है कि समकालीन समाज रूपान्तरण की प्रक्रिया से गुजर रही हे। यह रूपान्तरण उत्तर–आधुनिक समाज के बजाय 'जोखिम समाज' के रूप में हो रहा है। ब्रेक का मानना है कि समाज के विकास की तीन अवस्था होती है।

(1) पूर्व आधुनिकता (Premodernity)

(2) सरल आधुनिकता (Simple Modernity)

(3) पश्चात आधुनिकता (Late Modernity)

बेक का तर्क है कि आधुनिकता का नवीन पहलू द्वितीय आधुनिकता (Second Modernity) है जिसमें जोखिम समाज वे वैयक्तीकरण (Indiuiduculisation) की विशेषता होती है। जो जोखिम समाज की समस्या, मोटापा, खान–पान, आणविक शक्ति, विकिरण, दूषित पर्यावरण से सम्बन्धित होती है।

बेक का मानना है कि वैयक्तिकरण'' की प्रक्रिया वर्ग क को प्रभावित करती है जिसके कारण, वर्ग कमजोर होता जा रहा हे। सामाजिक असमानता का वैयक्तिकरण हो गया है। अब लोग अपने स्वयं को लेकर चिन्तित है न कि विशिष्ट वग्र के सदस्य होने के नाते। लोग अब अपनी स्वयं की पहचान बनाने में जुटे हैं। अपने निर्णय के आधार पर, अपने जीवनशैली को निर्देशित करने लगे हैं। उदाहरणार्थ मैंने अपनी डॉक्टर की उपाधि हासिल कर ली, मैंने अपनी नयी नौकरी प्राप्त कर ली, मैंने अपने पत्नी से विवाह विच्छेद के कागज पर हस्ताक्षर करा लिया, मैंने आलीशान व्यायामशाला की सदस्यता ले ली, मैंने अपना मकान ले लिया इत्यादि।

पियरे बोर्दियो : वर्ग एवं संस्कृति

फ्रांसीसी समाजशास्त्री पिअरे बोर्दयू का तर्क है कि वर्ग व्यवस्था में जिस व्यक्ति के स्थिति उच्च हे उसके पास अधिक मात्रा में सामाजिक, आर्थिक , सांस्कृतिक एवं सांकेतिक पूंजी है। यहां पर सांस्कृतिक पूंजी से तात्पर्य तरीका, स्वाद, ज्ञान एवं भाषा क्षमता से है। सामाजिक पूंजी से अभिप्राय सामाजिक सम्पर्क, से है। आर्थिक पूंजी, का सम्बन्ध आम व समपत्ति से है सांकेतिक पूंजी, प्रस्थिति एवं प्रतिष्ठा से जुड़ा है। बोदूय का विचार शिक्षा के अध्ययन में अत्यन्त प्रभावशाली है। पियरे बोदॅय का मानना है कि शिक्षा की भूमिका से सामाजिक पुनरूत्पादन होता है।

6.6 वस्तुनिष्ठ प्रश्न

(1) किसका तर्क है कि शिक्षा भूमिका से सामाजिक पुर्नरूत्पादन होता है।

क. पियरे बोर्दयू ख. माइकल फोको

ग. अंथोनी गिडेन्स घ. उलरिच बेक

(2) जोखिम समाज की अवधारणा किसने प्रतिपादित की

क. जॉन पाकुल्स्की ख. बाउमन

ग. उलरिच घ. अंथोनी गिंडेन्स

(3) किसका तर्क है कि स्तरण जीवन शैली है।

क. पारसंस ख. किग्सले डेविस एवं मूर

ग. जान पाकुल्स्की एवं वाटर घ. डेविड लेन

(4) फ्रैंक पार्किन पूवी यूरोपीय देशों में पाये जाने वाले स्तरों को कितने भागों में बांटा है।

क. ख. 2

ग. 3 घ. 4

6.7 उत्तर

1. क
2. ग
3. ग
4. घ

6.8 कुछ उपयोगी पुस्तकें

- गिडेन्स अंथोनी, फिलिप डब्लयू सूटॉन, सोशियोलॉजी, 7वां संस्करण , विलिप्रेस
- बेते, आन्द्रे, तुलनात्मक समाजशास्त्र पर निबन्ध, अनुवादक पुष्पेश पंत, दिल्ली, आक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, बम्बई,
- मेयर, लूसी, सामाजिक नृविज्ञान की भूमिका, बिहार हिन्दी ग्रंथ अकादमी पटना
- शर्मा, के0 एल0, सामाजिक स्तरीकरण, रावत पब्लिकेशन्स, दिल्ली,
- हरलम्बस और हलबर्न, सोशियोलॉजी, थीम्स एंड पर्सपेक्टिव, कॉलिन्स पब्लिकेशन्स, 8वां एडिशन

इकाई–7

आधुनिक समाज में स्तरीकरण

इकाई की रूपरेखा

7.1 उद्देश्य

7.2 प्रस्तावना

7.3 सामाजिक स्तरण एवं स्वरूप

7.4 सामाजिक वर्ग और प्रस्थिति

7.4 आधुनिक समाज के स्तरण का सैद्धान्तिक प्रारूप

7.5 व्यवसायिक संरचना एवं वर्ग

7.6 स्तरीकरण के आधुनिक सिद्धान्त

7.7 पूंजीवादी समाज में वर्ग

7.8 वस्तुनिष्ठ प्रश्न –

7.9 उत्तर

7.10 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

7.1 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ने के उपरान्त आप यह जान जायेंगे कि–

1. सामाजिक वर्ग कितने प्रकार के होते हैं।
2. आधुनिक समाज में वर्गीकरण एवं स्तरीकरण का आधार क्या है।
3. उत्तर आधुनिक समाज में, असमानता का आधार क्या है।

7.2 प्रस्तावना

समाजशास्त्र के क्षेत्र में स्तरण जैसे विषय का विशेष महत्व है इसीलिए कि इसके आधार पर समाज में व्याप्त असमानता का अध्ययन संभव है। स्तरण के अध्ययन के माध्यम से समाजशास्त्री मुख्य रूप से जीवन अवसर' सामाजिक हैसियत' राजनीतिक प्रीााव का अध्ययन करते हैं। व्यक्ति को समाज में जीवित रहने के लिए या आगे बढ़ने के लिए जिन वस्तुओं की आवश्यकता होती है, वह सभी लोगों को समान रूप से उपलब्ध है कि नहीं समाज एक योगीबुद्ध व्यवस्था है। कुछ लोगों को जन्म से ऊँचा स्थान प्राप्त होता है तो कुछ लोगों को बहुत

कोशिश करने पर भी प्राप्त नहीं होता। प्रत्येक समाज में कुछ ऐसे समूह होते हैं जो दूसरे पर अपना प्रभुत्व रखते हैं ओर पद सोपान बुम की व्यवस्था में रूकावट उत्पन्न करते हैं। ऐसा क्यों है, यह समाजशास्त्रियों के लिए चिन्तन का विषय है।

7.3 सामाजिक स्तरण एवं स्वरूप

सामाजिक स्तरण समाज में व्याप्त असमानता का एक पहलू है। प्रत्येक समाज में किसी न किसी रूप में सुविधा, 'शक्ति' 'प्रतिष्ठा' के आधार पर निर्मित श्रेणियों तथा स्तरों का अस्तित्व पाया जाता है। विभिन्न स्तरों का सामाजिक संरचना में स्थानक्रम निर्धारित रहता है। स्तरण समाज में पायी जानेवाली असमानताओं का एक समाजशास्त्रीय नाम है। इसीलिए अंथोनी गिडेन्स स्तरीकरण को लोगों के अलग–अलग समूहों के मध्य पायी जाने वाली संरचित असमानता मानता है। स्तरण के अन्तर्गत व्यक्तियों के समूह के स्तर पर पायी जाने वाली असमानता का अध्ययन किया जाता है।

बोटोमोर का मानना है कि समाजशास्त्रियों ने सामान्यतया सामाजिक स्तरीकरण के चार स्वरूपों में भेद किया है। वे हैः

(1) दास–प्रथा , (2) सम्प्रदाएं, (3) 'जाति और' (4) सामाजिक वर्ग' और प्रस्थिति''

दास–प्रथा

एल0 टी हाब हाउस ने दास को परिभाषा इस प्रकार दी है '' एक व्यक्ति जिसे कानून ओर प्रथा दूसरे की सम्पत्ति मानते हैं। चरम अवस्थाओं में वह सम्पूर्णतया अधिकारों से वंचित रहता है तथा वह शुद्ध व्यक्तिगत सम्पत्ति की वस्तु हैं। इस प्रकार दास–प्रथा असमानता के चरम रूप का प्रतिनिधित्व करती है। दास–प्रथा के दो प्रमुख उदाहरण है, प्रचीन युगीन समाज (यूनान और रोम) और 18वीं एवं 19वीं शताब्दियों में संयुक्त राज्य अमरीका के दक्षिणी राज्य) एच0 जे0 निवोर ने दास की सामाजिक दशा का सर्वोत्तम वर्णन किया। प्रत्येक दास का एक स्वामी होता है। दासों की निम्नतर स्थिति होती है। इन्हें राजनैतिक अधिकार प्राप्त नहीं होता। दास सामाजिक रू॰ से तिरस्कृत होने हैं। दास को कार्य करने के लिए बाध्य किया जाता है। दासता में विशिष्ट प्रकार की बाध्यता आवश्यक होती है। दास प्रथा यका आधार सदैव आर्थिक रहा है। नीबोर ने तर्क दिया है यह आधार एक औद्यौगिक व्यवस्था है। दास प्रथा के उदय के साथ एक प्रकार का कुलीनतन्त्र भी प्रकट होता है जो दासत्व के श्रम पर जीता है। दास प्रथा में श्रम की अकुशलता ही दासत्व के पतन के लिए उत्तरदायी है।

सम्पदाएं

मध्ययुगीन यूरोप की सामन्ती सम्प्रदायों की तीन महत्वपूर्ण विशेषताएं थीं सर्वप्रथम उनकी वैधानिक परिभाषा थी। प्रत्येक सम्पदा की अधिकारों और कर्तव्यों , विशेषाधिकारों और दायित्वों के निश्चित अर्थ में एक प्रस्थिति होती थी। जैसा कहा गया है '' एक व्यक्ति की वास्तविक स्थिति जानने के लिए सर्वप्रथम यह जानना जरूरी है। वह कौन से कानून में रहता है।

दूसरे सम्पदाएं विस्तृत श्रम विभाजन की प्रतिनिधि थी तथा समकालीन साहित्य में उनके निश्चित कार्य होते थे। कुलीन सबकी रक्षा के लिए उत्तरदायी

थे। पुजारी सबके लिए प्रार्थना करते थे तथा जनसाधारण सबके लिए भोजन जुटाने थे।

तीसरे सामन्तवादी सम्पदाएं राजनैतिक समूह थीं, स्टब्स ने अपनी पुस्तक, कांस्टीच्यूशनल हिस्ट्री ऑफ इग्लैण्ड'' में लिखा हैः '' सम्पदाओं का एक समूह विभिन्न स्तरों, सम्पदाओं अथवा लोगों की दशाओं का एक संगठित संग्रह है, जिनके पास राजनैतिक शक्ति होना स्वीकारा जाता है। इस अर्थ में भूशक्त दास को एक समपदा नहीं कहा जा सकता। परम्परागत समान्तवाद में केवल दो सम्पदाओं–कुलीनो एवं पुरोहितों का अस्तित्व था।

जाति

सामाजिक स्तरीकरण की प्रणालियों में भारतीय जाति व्यवस्था अद्वितीय है। सर्वप्रथम, जाति, आर्थिक विभेदीकरण से सम्बद्ध सभी सामान्य विशेषताएं रखती हैं। सेनार्ट अपने अध्ययन में कहा है कि वण मूलरूप से सामन्तवादी सम्पदाओं के कुछ पक्षों में समान हैं। जातियां अन्तर्विवाही समूह है तथा यह व्यक्ति का मुख्य निर्देश समूह हे जिसमें जीवन की एक विशिष्ट प्रणाली सन्निविष्ट है, जो प्रारम्भिक समय से ही वैधानिक मान्यता द्वारा बनाये रखा गया है। जे0एच0 हट्टन द्वारा प्रस्तुत विवरण के अनुसार भारत में मूल आक्रामक आर्यों ने जो विशिष्ट पदों में विभक्त थे, यहां के समाजों में सामाजिक स्तरीकरण का सिद्धान्त प्रतिपादित किया जो पहले से ही भोजन सम्बन्धी निषेधों को अपने और अधीन जनसंख्या के मध्य सामाजिक दूरी बनाये रखने के लिए स्वीकार किया एवं सुदृढ़ बनाया। इस प्रकार स्तरीकृत अपवर्जी समूहों का सिद्धान्त पुनः लागू किया गया तथा भोजन एवं बाद में सम्पर्क द्वारा अपवित्रता के धार्मिक एवं जादुई सिद्धान्त के रूप में उसे एक शक्तिशाली मान्यता प्रदान की गयी।

एम0एन0श्रीनिवास ने बताया है कि कर्म का विचार '' एक हिन्दू को यह सिखाता है कि वह किसी विशिष्ट उपजाति में इसलिए पैदा हुआ है जोकि वह इसी योग्य है'' तथा धर्म कर्तव्यों की संहिता ने बहुत अधिक पद सोपान को दृढ़ बनाने में योग दिया है, जो कि जाति व्यवस्था में अर्न्तनिहित है।'' अपवित्रता का विचार ''जाति व्यवस्था का मूलभूत अंग है तथा प्रत्येक जातीय सम्बन्ध इससे शासित होते है। किन्तु के0 एम पनिक्कर नेजाति एवं वर्ण के मध्य अन्तर के कारण यह दलील दी है कि हिन्दू धर्म में जाति व्यवस्था का कोई आधार नहीं है तथा यह अपेक्षतया हिन्दू परम्परागत कानून तथा भारतीय इतिहास के अधिकांश समय में केन्द्रीय राजनैतिक सत्ता की दुर्बलता का परिणाम है।

7.4 सामाजिक वर्ग और प्रस्थिति

बोटोमोर का मानना है कि सामाजिक वर्ग तथ्यतः समूह होते हैं। ये अपेक्षाकृत उन्मुक्त होते हैं, बन्द नहीं, उनका आधार निर्विवाद रूप से आर्थिक है लेकिन वे आर्थिक समूहों से अधिक हैं। वे औद्योगिक समाजों के लाक्षणिक समूह हैं जिनका विकास सत्रहवीं शताब्दी में हुआ।

अधिकांश समाजशास्त्री, उच्च वर्ग (जिसमें एक समाज के आर्थिक साधनों के अधिकांश भाग के स्वामी सम्मिलित होते हैं) श्रमिक वर्ग (मुख्यतया औद्योगिक श्रमजीवी) और मध्यम वर्ग (अवशिष्ट श्रेणी के रूप में, जिसमें सफेद पोश कार्यकर्ता सम्मिलित होते हैं) के अस्तित्व को स्वीकार करने में शायद सहमत होगें। कुछ समाजों में कृषक वर्ग को चतुर्थ वर्ग के रूप में जाना जा सकता है।

श्रमिक वर्ग के बारे में जी0 ब्रीफ्स की प्रतिष्ठित रचना 'दि प्रोलिटेरियट' है जो मार्क्सवादी परिभाषा से प्रारम्भ होती है जो 'श्रमजीवी वर्ग' एवं 'सफेदपोश मध्यम वर्ग' के मध्य अन्तर करती है।

मध्यम वर्ग के सामान्य अध्ययनों में सी राइट मिल्स की '' व्हाइट कालन'' और लेसि एवं मोडे की '' दि इंगलिश मिडिल क्लास'' को सम्मिलित किया जा सकता है।

पद समूहों (स्टेट्स ग्रूप) और सामाजिक वर्गों के अस्तित्व के कारण औद्यौगिक समाजों में सामाजिक स्तरीकरण का स्वरूप अधिक जटिल हो गया है। मैक्स वेबर पहला व्यक्ति था जिसने इन दोनों के मध्य कठोर भेद किया कुछ अतिसरलता के साथ ययह कहा जा सकता है कि वस्तुओं के उत्पादन एवं ग्रहण से वर्गों के सम्बन्ध के अनुसार उनको स्तरीकृत किया जा सकता है।

7.4 आधुनिक समाज के स्तरण का सैद्धान्तिक प्रारूप

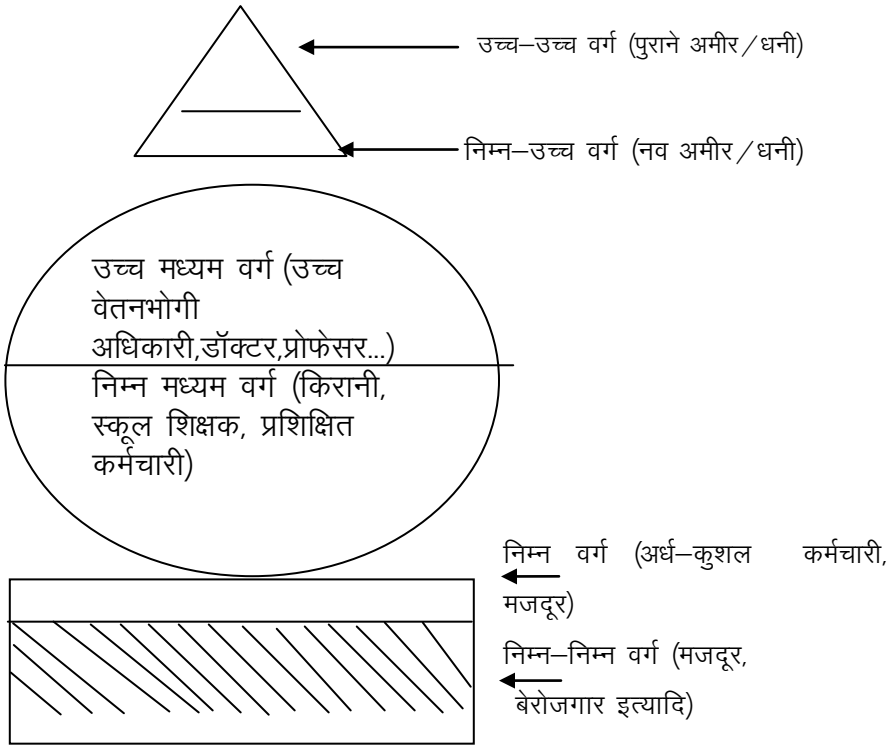

आधुनिक समाज के स्तरण

आधुनिक समाज को मैक्स वेबर ने चार भागों में श्रेणीबद्ध किया है।

(1) धनी वर्ग

(2) बुद्धिजीवी, प्रशानिक एवं प्रबंधक वर्ग

(3) परम्परागत निम्न –मध्य वर्गीय व्यापारी वर्ग

(4) मजदूर वर्ग

वर्ग व्यवस्था के आधार पर समाज को तीन भागों में बांट सकते हैं।

(1) उच्च वर्ग

(2) मध्यम वर्ग

(3) निम्न वर्ग

अधिक से अधिक इन तीन वर्गों को नौ उपभागों में विभक्ति कर सकते हैं।

(1) उच्च–उच्च वर्ग

(2) उच्च मध्यम वर्ग

(3) उच्च निम्न वर्ग

(4) मध्यम –उच्च वर्ग

(5) मध्यम–मध्यम वर्ग

(6) मध्यम–निम्न वर्ग

(7) निम्न–उच्च वर्ग

(8) निम्न–उच्च वर्ग

(9) मध्यम–मध्यम वर्ग

पाश्चात्य देशों में पायी जाने वाली विभिन्न प्रकार के वर्गों को निम्नलिखित ढंग से रख सकते हैं।

1. **उच्च वर्ग**

   (क) अभिजात वर्ग

      I. पुराना उच्च वर्ग

      II. नवीन उच्च वर्ग

   (ख) बड़े भू–स्वामी

   (ग) वित्तीय उद्यमकर्ता

2. **मध्यम वर्ग**

   (क) पुराना मध्यम वर्ग

   (ख) उच्च मध्यम वर्ग

   (ग) निम्न मध्यम वर्ग

3. **श्रमिक वर्ग**

   (क) उच्च श्रमिक वर्ग

   (ख) निम्न श्रमिक वर्ग

वेबर : वर्ग, प्रस्थिति एवं दल

मैक्स वेबर की दृष्टि में समाज में निहित स्तरीकरण के तीन आधार है।

(1) आर्थिक

(2) प्रस्थिति

(3) शक्ति असमानता

वर्ग, प्रस्थिति एव ंदल के आधार पर वेबर स्तरीकरण को स्पष्ट करते हैं। कोई व्यक्ति किस वर्ग में श्रेणीबद्ध होगा यह इस बात पर निर्भर है कि खुले बाजार में उसकी क्या योग्यता या सेवा सयकी क्या कीमत है। वेबर का मानना है कि सम्पत्ति के अलावा शक्ति व सम्मान के आधार पर समाज में स्तरण का निर्धारण होता है। वेबर ने बताया कि प्रस्थिति, दल, एवं आर्थिक कारक के मध्य अन्तः सम्बन्ध है। वेबर के अनुसार आधुनिक समाज में, चार प्रकार के वर्ग पाये जाते हैं।

(1) धनवान उच्च वर्ग (कम्पनी के मालिक)

(2) धनहीन सफेद–पोश कर्मचारी (डाक्टर, इंजीनियर)

(3) निम्न मध्य वर्ग (मिस्त्री)

(4) मजदूर वर्ग (श्रमिक)

अंथोनी गिडेन्स द्वारा प्रस्तुत त्रि–वर्गीय प्रारूप

पूंजीवादी समाजों के इतिहास में वर्ग संरचना मुख्यतः तीन स्तरों पर विकसित हुयी है। गिडेन्स ने स्तरीकरण से सम्बन्धित त्रि–वर्गीय प्रारूप का उल्लेख किया है जिन्हें उच्च, मध्य, एवं निम्न के रूप में पृथक किया जा सकता है।

(1) उच्च वर्ग– पूंजीपति वर्ग– उत्पादन के साधनों पर नियंत्रण एवं स्वामित्व

(2) मध्य वर्ग, जिनका निर्माण शिक्षित व्यक्तियों से होता है एवं तकनीकी दृष्टि से योग्य होते हैं। वही व्यवसायिक श्रेणियां है।

(3) श्रमिक वर्ग– निर्बल वर्ग

ऐरिक अलिन रायट : अंसगत वर्ग स्थान (Contradictory class location)

ऐरिक अलिन रायट आधुनिक पूंजीगत व्यवस्था के अन्तर्गत स्पष्ट करते है कि आर्थिक स्रोतों पर नियन्त्रण का स्वरूप तीन प्रकट का होता है।

(1) निवेश या मुद्रा पूंजी पर नियन्त्रण

(2) उत्पादन के भौतिक साधनों पर नियंत्रण

(3) मजदूर वर्ग पर नियन्त्रण

पूंजीपति वर्ग अर्थव्यवस्था के तीनों क्षेत्रों पर अपना नियन्त्रण रखते हैं, जबकि मजदूर वर्ग के लोगों का नियन्त्रण अपने ऊपर भी नहीं होता । रायट ने स्पष्ट किया कि मुख्यजः समाज में दो वर्ग होते हैं। पहला पूंजीपति वर्ग व दूसरा मजदूर वर्ग। इन दोनों वर्गों के मध्य एक तीसरा वर्ग भी होता है जिनका पूंजीवादी अर्थव्यवस्था में स्थान अंसगत वर्ग का होता है।

फ्रैंक पार्किन : सामाजिक समापन

पार्किन ने वर्ग सम्बन्धी विचारधारा को स्पष्ट करने के लिए '' सामाजिक समापन'' (सोशल क्लोजर) की अवधारणा दिया। मात्र सम्पत्ति के आधार पर ही नहीं दूसरे लोगों पर प्रभुत्व की स्थापना की जा सकती है ,बल्कि प्रजाति, भाषा, और धर्म के आधार पर भी समाज में सामाजिक समापन पैदा होता है। पार्किन ने बताया कि पेशे के आधार पर भी वर्ग का निर्धारण होता है। उन्होंने पेशागत संरचना को वर्ग संरचना यकी रीढ़ माना है। यदि किसी पेशे के लिए यदि बहुत उच्च स्तरीय योग्यता की आवश्यकता है ओर उसके लिए बहुत कम लोग उलब्ध हैं तो वैसे पेशे के लिए पारितोषिक अधिक होती है। फलस्वरूप उन्हें समाज की उच्च श्रेणी में रखा जाता है। ठीक इसके विपरीत यदि किसी पेशे के लिए बहुत लोग उपलब्ध हैं तो पारितोषिक कम मिलता है। समाज में उसे निम्न स्तर पर रखा जाता है।

7.5 व्यवसायिक संरचना एवं वर्ग

फ्रेंक पार्किन के विचार

प्रत्येक समाज में अनेक व्यवसाय पाये जाते हैं। फ्रैंक पार्किन का मानना है कि व्यवसायिक वर्गीकरण एवं सामाजिक वर्ग घनिष्ठ रूप से सम्बन्धित हैं। एक व्यवसाय से दूसरे व्यवसाय में गतिशीलता आधुनिक समाजों में सम्बन्ध है। पार्किन का मतह ` कि '' आधुनिक समाज में वर्ग सरंचना का मूल आधार व्यवसायिक संरचना है। कुछ व्यवसाय अन्य व्यवसायों की तुलना में, उच्च होता है। परन्तु हमें यह भी स्पष्ट होना चाहिए कि ये व्यवसाय उच्च क्यों होता है। क्या यह एक स्वाभाषिक नियम है कि कुछ व्यवसाय अन्यों से उच्च क्यों है? पार्किन का इस विषय में तर्क हे कि व्यवसायों में क्रम विन्यास होता है ओर यह क्रम विन्यास स्वाभाषिक नहीं है। पार्किन का मानना है कि व्यासायों का क्रम–विन्यास कुछ पुरस्कारों पर आधारित होता है जिसमें व्यवसाय से सम्बद्ध वेतनमान अथवा व्यवसाय से सम्बद्ध प्रतिष्ठा के तत्व सम्मिलित होते हैं। धन सम्बन्धी पुरस्कार केवल क्रम–विन्यास का आधार नहीं हो सकता है अतः

भौतिक पुरस्कार + सामाजिक प्रतिष्ठा = व्यवसायिक प्रस्थिति सोपान

पार्किन के अनुसार आधुनिक समाज में असमानता का आधार व्यवसायिक प्रस्थिति सोपान है। विभिन्न व्यसायों से सम्बद्ध प्रस्थितियों प्रार्किन के अनुसार, उन सामाजिक इकाइयों के नैतिक मूल्यांकन से निर्धारित होती हैं जो कि विभिन्न व्यवसायों से सम्बद्ध हैं। विभिन्न व्यवसायों से सम्बद्ध प्रतिष्ठा को समाज में स्वीकार किया जाता है।

यह स्पष्ट है कि व्यवसायिक क्रम–विन्यास सभी जगह समान नहीं है। यह प्रत्येक समाज में भिन्न प्रकृति का है।

7.6 स्तरीकरण के आधुनिक सिद्धान्त

डब्लू0 जी0 रन्सीमन : वर्ग, संरचना, भूमिका एवं शक्ति

डब्लू0 जी0 रन्सीमन : सामाजिक स्तरीकरण के विश्लेषण करते हुए एक नवीन अभिगम को विकसित करते हैं जो मार्क्सवादी अवधारणा 'उत्पादन के साधन' व वेबर के 'विक्रेयता' (मार्केटीबिलिटी) पर आधारित है।

रन्सीमन का तर्क है कि वर्ग सरंचना का निर्माण, आधुनिक समाज में, भूमिकाओं के समुच्चय से (रोल सेट) होता है । समाज में भूमिकाएं, वर्ग को निर्धारित करती हैं। रन्सीमन की दृष्टि में वर्ग भूमिकाओं का समुच्चय है जिसमें आर्थिक शक्ति जुड़ी होती है। एवं उत्पादन, वितरण एवं विनिमय के संस्थागत प्रक्रियाओं के सम्बन्ध पाये जाते है। वर्ग में निहित आर्थिक शक्ति के तीन स्रोत हैः स्वामित्व , नियन्त्रण विक्रेयता।

रन्सीमन, का मानना है कि आधुनिक समाज स्वामित्य, नियन्त्रण एंव विक्रेयता के आधार पर सात वर्गों में विभाजित है।

(1) उच्च वर्ग

(2) उच्च मध्यम वर्ग

(3) मध्यम मध्यम वर्ग

(4) निम्न मध्यम वर्ग

(5) कुशल श्रमजीवी वर्ग (Skilled working class)

(6) अकुशल श्रमजीवी वर्ग

(7) निम्न वर्ग (Under class)

जॉन गोल्ड श्रापः त्रिवर्ग रूपरेखा

जॉन गोल्ड प्रॉय, वेबर की दृष्टि में बाजार स्थिति को अपनाते हुए वर्ग की रूपरेखा को पस्तुत करते है। गोल्ड प्राय का मानना है कि वर्ग का निर्माण बाजार स्थिति से होता है। बाजार स्थिति, कार्य स्थिति, नौकरी पेशा की सुरक्षा , एवं कार्य पर नियंत्रण, इन कारकों के आधार पर गोल्ड प्रॉय, वर्ग को तीन भागों में विभाजित करता है।

(1) सेवा वर्ग (Service Class)

(2) मध्यम वर्ग (Intermediate Class)

(3) श्रमजीवी वर्ग (Working Class)

सेवा वर्ग के अर्न्तगत, प्रोफेशनल, कर्मचारी, प्रबन्धक इत्यादि सम्मिलित होते है। माध्यमिक वर्ग के अन्तर्गत, बाबू , छोटे कर्मचारी, स्वयं सेवक इत्यादि स्थान प्राप्त करते हैं। श्रमजीवी वर्ग में, वाहन चालक,नाई, इत्यादि जगह ग्रहण करते हैं। इस तरह से गोल्डप्राय की वर्ग की यह रूपरेखा नव वेबरवादी उपागम की भांति देखा जा सकता है।

7.7 पूंजीवादी समाज में वर्ग

1. उच्च वर्ग

जॉन वेस्टरगार्ड एवं हेनरीआ रेसलर मार्क्सवादी उपागम के आधार पर पूंजीवादी समाज में वर्ग विभाजन की व्याख्या शाषक –वर्ग शक्ति के आधार पर प्रस्तुत करते हैं। वेस्टगार्ड एवं रेसलर का तर्क है कि पूंजीवादी समाज में वर्ग विभाजन की व्याख्या की कुंजी पूंजी पर व्यक्तिगत अधिकार है। शाषक–वर्ग की शक्ति के कारण, सम्पत्ति के आधार पर असमानता पूंजीवादी समाज में बनी हुई है।

पीटर साउन्डर्स पूंजीवादी समाज में वर्ग की व्याख्या प्रभावशाली आर्थिक अभिजन (Influntial Economic Elite) के आधार पर प्रस्तुत करते हैं। मार्क्सवादी विचारधारा से हटकर साउन्डर्स पूंजीवादी समाज में उच्च वर्ग के निर्माण के पीछे पूंजीवादी शाषक वर्ग के स्थान पर प्रभावशाली–आर्थिक अभिजन को उत्तरदायी कारक मानते है।

केन राबर्ट का मानना है कि पूंजीवादी समाज में उच्च वर्ग, दो भागों, पुरातत्व उच्च वर्ग (Old Upper class) एवं नवीन उच्च वर्ग (New upper class) में बंटा हुआ है। पुरातन उच्च वर्ग का निर्माण अभिजात वर्ग से होता है जिनकी सम्पदा का आधार भू–स्वामित्व है खनन एवं विनिर्माण के कार्यों मे संलग्न लोगों से नवीन उच्च वर्ग का निर्माण होता है।

2. मध्यम वर्ग

उच्च मध्यम वर्ग

बारबरा एवं जान इहरेनरिक (Barbara and John Ehrenrieich) पूंजीवादी समाज में उच्च मध्यम वर्ग की व्याख्या 'पेशेवर प्रबन्धकीय वर्ग'' (Profesional & Managerial class) के आधार पर प्रस्तुत करता है। पेशेवर प्रबन्धकीय वर्ग एक ऐसा वर्ग है जो वेतनभोगी है। ओर जिसके पास अपना उत्पादन का तरीका नहीं है। यह वर्ग पूंजीवादी संस्कृति एवं पूंजीवादी वर्ग सम्बन्ध का पुर्नरूत्पादन करता है जिसके आधार पर श्रम का सामाजिक विभाजन उत्पन्न होता है।

अंथोनी गिडेन्स का मानना है कि पूंजीवादी समाज में पाये जाने वाले मध्यम वर्ग में निम्न स्तर के सफेदपोश श्रम–जीवी भी सम्मिलित हैं।

निम्न मध्यम वर्ग

हैरी ब्रेवरमन, पूंजीवादी समाज में पाये जाने वाले निम्न मध्यम वर्ग की व्याख्या लिपिकीय कार्य के विकुशलीकरण (The deskilling of clesical work) के आधार पर प्रस्तुत करता है।

7.8 वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1. बोटोमोर का मानना है कि समाजशास्त्रियों ने सामान्यतया सामाजिक स्तरीकरण के कितने स्वरूपों में भेद किया है–

   क. एक ख. दो

   ग. तीन घ. चार

2. बोटोमोर का मानना है कि सामाजिक वर्ग तथ्यतः होते हैं–

   क. समाज ख. समुदाय

   ग. समूह घ. उपरोक्त में से कोई नहीं

3. फ्रैंक पार्किन के अनुसार भौतिक पुरस्कार और सामाजिक प्रतिष्ठा के संयोग से रचना होती है–

   क. व्यावसायिक प्रस्थिति सोपान ख. आर्थिक प्रस्थिति सोपान

   ग. राजनैतिक प्रस्थिति सोपान घ. उपरोक्त में से कोई नहीं

4. जॉन गोल्फ प्रोप के त्रिवर्ग में शामिल नहीं है–

   क. उच्च वर्ग ख. मध्यम वर्ग

   ग. श्रमजीवी वर्ग घ. सेवा वर्ग

7.9 उत्तर

1. घ

2. ग

3. क

4. क

7.10 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

- डा0 जे. पी. सिंह ,समाजशास्त्रः अवधारणाएं एवं सिद्धांत, पी.एच.आई.लर्निंग प्राइवेट लिमिटेड, नई दिल्ली,
- बेते, आंद्रे, (सम्पादित), 1984, सोशल इनइक्वालिटीः सिलेक्टेड रीडिंग्स
- डहरेंडर्फ, राल्फ, 1959, क्लास एंड क्लास कन्फ्लिक्ट इन इडस्ट्रियल सोसाइटी

इकाई–8

व्यावसायिक क्रमविन्यास

इकाई की रूपरेखा

8.1 उद्देश्य

8.2 प्रस्तावना

8.3 व्यवसाय तथा शक्ति, प्रतिष्ठा और पुरस्कार का सम्बन्ध

8.4 सामाजिक स्तरीकरण के विविध सिद्धांत

8.5 थियोडोर काप्लोव के अनुसार व्यावसायिक क्रमविन्यास के निर्धारक तत्व

8.6 व्यावसायिक क्रमविन्यास की विशेषताएं

8.7 प्रतिष्ठा, शिक्षा, आय एवं व्यवसाय

8.8 व्यावसायिक क्रमविन्यास में भिन्न समाजों के संदर्भ में अन्तर

8.9 वस्तुनिष्ठ प्रश्न

8.10 उत्तर

8.11 सन्दर्भ ग्रन्थ

8.1 उद्देश्य

इस भाग का उद्देश्य

1. स्तरीकरण तथा स्तरीकरण में व्यावसायिक कारकों के योगदान की व्याख्या करना है।
2. स्तरीकरण तथा व्यवसाय सम्बन्धी कारकों के मध्य सम्बन्धों को स्पष्ट करना है।

8.2 प्रस्तावना

प्रत्येक समाज में जिस प्रकार विभिन्न प्रक्रियाओं की एक व्यवस्था होती है उसी प्रकार उसकी आवश्यक संस्थाओं की भी एक व्यवस्था होती है, जैसे परिवार, राजनीति, आर्थिकी आदि की व्यवस्थाएं। आर्थिक व्यवस्था के अंतर्गत उत्पादन एवं वितरण की एक व्यवस्था पाई जाती है। समाज में व्यवसाय एवं उपभोग की भी एक प्रणाली दिखाई देती है। इन सभी व्यवस्थाओं एवं प्रणालियों में एक प्रकार का क्रमविन्यास भी दिखाई देता है जो सामाजिक व्यवस्था के सञ्चालन को समझने

के लिए समाजशास्त्रियों की रूचि का विषय रहा है। यह अध्याय इसी व्यवसायिक क्रम–विन्यास को विभिन्न विद्वानों के दृष्टिकोणों से समझने का एक प्रयास है।

8.3 व्यवसाय तथा शक्ति, प्रतिष्ठा और पुरस्कार का सम्बन्ध

लगभग सभी प्रकार के समाजों में शक्ति, प्रतिष्ठा और पुरस्कार का वितरण असमान रूप से दिखाई देता है। शक्ति, प्रतिष्ठा एवं पुरस्कार के भिन्न व असमान वितरण के आधार पर व्यक्तियों को समाज में क्रमिक रूप से उच्च एवं निम्न स्थान प्राप्त होता है। जाति, वर्ग एवं प्रस्थिति की अवधारणाओं को सामाजिक स्तरीकरण के लिए प्रयुक्त किया जाता है। विशेषतः प्रस्थिति की अवधारणा का प्रयोग व्यावसायिक विभेदीकरण के मूल्यांकन के लिए किया जाता है।

कहना न होगा कि "औद्योगिक" एवं प्रौद्योगिक विकास कर रहे समाजों में सामाजिक वर्ग एवं व्यवसाय अत्यन्त महत्वपूर्ण तत्व हैं। जहाँ सामाजिक प्रस्थितियों के निर्धारण में सामाजिक स्तरीकरण के आधार के रूप में सामाजिक वर्ग एवं व्यवसाय अपनी भूमिका निभा रहे हैं वहीं वे बन्धुत्व एवं जाति जैसे स्तरीकरण के आधारों को प्रतिस्थापित भी कर रहे हैं। विज्ञान, प्रौद्योगिकी एवं उद्योग की भूमिका महत्वपूर्ण हुई है। इसने हमारे सामाजिक जीवन को प्रभावित किया है।

समाज में व्यवसाय का महत्व

स्तरीकरण की व्यवस्था के अन्तर्गत व्यक्ति की प्रस्थिति का निर्धारण उसके व्यवसाय से ही क्यों होता है? इस प्रश्न का उत्तर देते हुए कैप्लोव ने निम्न तीन कारकों की चर्चा की है–

1. संकलन,
2. विभेदीकरण एवं
3. तार्किकीकरण

1. संकलन

संकलन से तात्पर्य एक स्थान पर बड़ी संख्या में व्यक्तियों के एकत्रीकरण से है, चूँकि अधिक से अधिक जनसंख्या नगरीय क्षेत्रों में केन्द्रित है और अपरिचितता, अवैयक्तिकता एवं कार्य का घर से पृथक्करण इस प्रकार की जनसंख्या की प्रमुख विशेषता है। ऐसी स्थिति में एक व्यक्ति दूसरे सहयोगी से अपने संबंधों को व्यवसाय के संदर्भ में ही मुख्यतः परिभाषित करता है।

2. विभेदीकरण

विभेदीकरण अथवा विशिष्टीकरण एक व्यक्ति की क्रियाओं के क्षेत्र को संकुचित और सीमित करता है। यह सामाजिक व्यवस्था में जटिलताएं उत्पन्न करता है। अतः एक विशेषज्ञ दूसरे व्यवसाय के महत्व एवं उत्तरदायित्वों को जान पाने में असमर्थ है तथा अन्य व्यवसायों की उपलब्धियों अथवा भूमिकाओं का मूल्यांकन नहीं कर सकता। अतः एक विशेषज्ञ दूसरे विशेषज्ञ से अपने व्यवसाय अथवा पेशे संबंधी ज्ञान के आधार पर अन्तःक्रिया करता है। इस कारण व्यवसाय के संबंध में विशिष्टता प्रस्थति व्यवस्था का आधार बन जाता है।

3. तार्किकीकरण

तार्किकीकरण से तात्पर्य व्यवसाय संबंधी उद्देश्यों को वैज्ञानिक आधार पर निर्धारित करना है। अतः व्यावसायिक उद्देश्यों की प्राप्ति हेतु बौद्धिकता, योग्यता एवं चरित्र महत्वपूर्ण कारक बन जाते हैं। तार्किकीकरण व्यवसायों के प्रकार्यात्मक महत्व में वृद्धि करता है और इसलिए आधुनिक समाजों की स्तरीकरण व्यवस्था में इसका महत्वपूर्ण स्थान है।

8.4 सामाजिक स्तरीकरण के विविध सिद्धांत

सामाजिक स्तरीकरण की व्यवस्था को समझने के लिए किसी भी समाज में व्यवसाय को एक महत्वपूर्ण कारक माना जाता है। इसीलिए यह जानना आवश्यक है कि समाज में विभिन्न व्यवसाय विभिन्न रूपों में महत्वपूर्ण क्यों हैं? दूसरे शब्दों में, व्यवसायों के क्रमविन्यास की उच्च एवं निम्न प्रस्थिति के क्या कारण हैं?

सामाजिक असमानता की प्रघटना को समाजशास्त्रियों ने उसकी अनिवार्यता एवं महत्व के संदर्भ में मूल्यांकित करने का प्रयास किया है। सामाजिक व्यवस्था को सुचारू बनाए रखने के लिए असमानता एक आवश्यक तत्व है। सामाजिक स्तरीकरण के प्रति इस दृष्टिकोण को "प्रकार्यवादी उपागम" कहा जाता है तथा इस उपागम को प्रस्तुत करने वाले समाजशास्त्रियों को "प्रकार्यवादी" कहते हैं। प्रकार्यवादियों का मत है कि समाज में पुरस्कार व्यवस्था का संबंध व्यवसायों के प्रकार्यात्मक महत्व से है। किसी फैक्टरी के प्रबंधक को श्रमिक की तुलना में अधिक पुरस्कार मिलने का कारण यह है कि प्रबंधक का कार्य श्रमिक के कार्य की तुलना में अधिक महत्वपूर्ण माना जाता है अथवा प्रबंधक का कार्य श्रमिक के कार्य की तुलना में अधिक प्रकार्यात्मक महत्व रखता है। इस प्रकार का विचार किंग्सले डेविस एवं विलबर्ट ई0 मूर ने अपने सिद्धांत में प्रस्तुत किया है।

किंग्सले डेविस एवं विलबर्ट ई0 मूर का प्रकार्यवादी सिद्धांत

डेविस एवं मूर का विचार है कि समाज की कुछ निश्चित बुनियादी आवश्यकताएँ होती हैं जिन्हें वे प्रकार्यात्मक पूर्व–आवश्यकताएँ कहते हैं। ये आवश्यकताएँ पूर्व–आवश्यकताएँ इसलिए हैं कि यदि इन्हें पूरा न किया जाय तो समाज जीवित नहीं रहेगा, इसकी निरन्तरता समाप्त हो जायेगी। दूसरा, वे यह भी मानकर चलते हैं कि समाज के विभिन्न भाग एकीकृत होकर एक व्यवस्था को बनाते हैं।[clxxxiii] इनका विचार है कि किसी भी समाज में कुछ पद अन्य पदों की तुलना में प्रकार्यात्मक दृष्टिकोण से महत्वपूर्ण हैं। इन मुख्य पदों पर भूमिका करने के लिए विशिष्ट ज्ञान एवं प्रशिक्षण आवश्यक है। समाज में दक्षता एवं योग्यता केवल सीमित संख्या में व्यक्तियों में होती है। सीमित संख्या वाले इन व्यक्तियों को महत्वपूर्ण पदों पर भूमिका निर्वाह हेतु प्रशिक्षित किया जा सकता है। योग्यता एवं प्रतिभा सम्पन्न इन व्यक्तियों को प्रशिक्षण के माध्यम से एक विशिष्ट भूमिका में दक्ष किया जाता है। प्रशिक्षण काल में ये व्यक्ति अनेक प्रकार के बलिदान भी करते हैं ताकि दक्षता प्राप्त कर सकें। इन योग्य एवं प्रतिभा सम्पन्न व्यक्तियों को इस बलिदान के प्रत्युत्तर में जब भावी पद दिया जाता है तो साथ ही साथ इन्हें अनेक सुविधाएं एवं इच्छित पुरस्कार भी समाज द्वारा प्रदान किये जाते हैं जो अन्य व्यक्तियों को दी गयी सुविधाओं एवं पुरस्कारों से भिन्न होते हैं। इन योग्य एवं प्रतिभा सम्पन्न व्यक्तियों को वे वस्तुएं प्रदान की जाती हैं जो बहुत सीमित मात्रा में ही समाज में उपलब्ध हैं तथा इन व्यक्तियों के द्वारा इच्छित हैं। इन वस्तुओं के

साथ अधिकार एवं प्रस्थिति के अनुरूप अनेक साधन भी प्रदान किये जाते हैं। इन साधनों को अनेक भागों में वर्गीकृत किया जा सकता है जो निम्न तत्वों के प्राप्ति में सहायक होते हंS[clxxxiv]–

(अ) पोषक आहार एवं सुविधाएं, (ब) मनोरंजन एवं विविधतापूर्ण साधन, एवं (स) स्वयं की प्रतिष्ठा एवं अहम् का विस्तार।

डेविस एवं मोर ने यह तर्क दिया है कि किसी भी समाज में सभी व्यक्ति समान स्तर के नहीं हो सकते हैं। समानता की भी अपनी एक सीमा होती है। समान स्तर के लागों से समाज का निर्माण नहीं हो सकता है। सामाजिक असमानता समाज के लिए नितान्त आवष्यक है, इसीलिए कि प्रत्येक व्यक्ति को विभिन्न कार्यों के निष्पादन के लिए समान रूप से पुरस्कृत नहीं किया जा सकता है। हर एक कार्य के लिए अलग–अलग पुरस्कार और प्रोत्साहन होता है। जिस कार्य की समाज में सबसे अधिक आवश्यकता होती है उस कार्य के लिए समाज ज्यादा पुरस्कार देता है, जैसे– इंजीनियर और मजदूर को बराबर मजदूरी नहीं दी जा सकती है। उसी तरह टैक्सी चालक और हवाई जहाज के पायलट को बराबर वेतन नहीं दिया जा सकता है। हर किसी को यदि समाज में सभी कार्यों के लिए समान मजदूरी या इनाम मिले तो कोई भी व्यक्ति कठिन या जोखिम भरे कार्यों के लिए समान मजदूरी या इनाम मिले तो कोई भी व्यक्ति कठिन या जोखिम भरे कार्य को नहीं करना चाहेगा। सभी लोग आसान काम करके ही जीवन यापन करना पसंद करेंगे।[clxxxv]

किसी समाज में प्रमुख पुरस्कारों का भिन्न–भिन्न सामाजिक इकाइयों में वितरित होना, प्रतिष्ठा एवं सम्मान के उस विभेदीकरण पर प्रभाव डालता है जिसका संबंध विभिन्न प्रकार के प्रस्थिति समूहों से है। यह कहा जा सकता है कि अधिकार एवं सुविधाओं के साथ संस्थागत सामाजिक असमानता उत्पन्न होती है और उसे ही सामाजिक स्तरीकरण कहा जाता है। अतः सामाजिक असमानता सीमित रूप में उपलब्ध एवं वांछनीय वस्तुओं, शक्ति एवं प्रतिष्ठा से उत्पन्न होती है और जो किसी भी समाज में अनिवार्य एवं प्रकार्यात्मक है।

मेलविन एम0 ट्यूमिन का सिद्धांत

डेविस और मूर ने प्रकार्यात्मक सिद्धांत की जो रूपरेखा रखी, उसने सारे अमेरिका में एक लम्बी बहस को जन्म दिया। इन दो लेखकों के सिद्धांत का विरोध कई समाजशास्त्रियों ने किया। इन विरोधियों में मेलविन एम0 ट्यूमिन घनघोर विरोधी थे। ट्यूमिन ने डेविस और मूर के सिद्धान्त पर कई प्रश्न प्रस्तुत किये। ट्यूमिन का आग्रह है कि समाज में किसी भी भूमिका को किस आधार पर अधिक महत्वपूर्ण समझा जाये। डेविस और मूर यह मानकर चलते हैं कि वे भूमिकाएँ जिन्हें सबसे अधिक प्रतिफल या वेतन दिया जाता है, क्या वे सचमुच समाज के लिये अधिक महत्वपूर्ण हैं? यह इसलिये कि कई व्यवसाय जिसके लिये कम वेतन दिया जाता है या जिनकी प्रतिष्ठा निम्न है, समाज के लिये अत्यधिक आवश्यक हैं। उदाहरण स्वरूप ट्यूमिन कहते हैं कि खेती मजदूर जिनकी प्रतिष्ठा थोड़ी है ओर दिहाड़ी भी कम है, उनके बिना खेती का काम चल नहीं सकता। विरोधी समाजशास्त्रियों का कहना है कि किसी भी भूमिका के प्रकार्यात्मक महत्व को वस्तुनिष्ठता की दृष्टि से मापा नहीं जा सकता। यह कहना बहुत मुश्किल है कि वकील और चिकित्सक कृषि मजदूरों की तुलना में अधिक महत्वपूर्ण हैं। बहुसंख्यक लोग ऐसे हैं जिन्हें जीवनपर्यन्त वकील से कोई काम नहीं पड़ता जबकि कृषि उपज के साथ उनका सम्बन्ध सतत् और अनन्त है।[clxxxvi]

ट्यूमिन का कहना है कि डेविस और मूर ने प्रतिफल (Rewards) के गैर–बराबर वितरण में शक्ति के प्रभाव को एकदम नकार दिया है। यह सम्भव है कि लोगों के वेतन और उनकी प्रतिष्ठा में अन्तर इसलिये है कि इसमें शक्ति का गैर–बराबर वितरण है। डेविस और मूर यह मान कर चलते हैं कि समाज में बहुत थोड़े व्यक्ति ऐसे हैं जो प्रतिभावान हैं और जो कुषल–धन्धों को अपना लेते हैं। ट्यूमिन कहते हैं कि डेविस एवं मूर की इस तरह की धारणा संदेहास्पद है। इसका कारण है कि सिद्ध करना बहुत कठिन है कि प्रतिभावान व्यक्ति ही ऊँची भूमिकाओं को पा सकते हैं यदि गइराई और सावधानी से कोई देखे तो पता लगेगा कि आज समाज में बहुत अधिक संख्या में प्रतिभावान व्यक्ति हैं, जिन्हें ऊँचे स्थान नहीं मिलते। डेविस–मूर यह भी कहते हैं कि प्रतिष्ठा सम्पन्न और ऊँचे वेतन वाले लोग बड़े 'बलिदान' के बाद ऊँचे स्थान को पाते हैं। लेकिन ट्यूमिन को यह भी स्वीकार नहीं है। वे कहते हैं कि ऊँचे स्थान वाले अधिकतर लोग तिकड़मबाजी से ऐसा स्थान पा लेते हैं। हमारे देश की आज जो स्थिति है, इससे तो स्पष्ट है कि कुछ अपवादों को छोड़कर अधिकतर व्यक्ति जो ऊँचा वेतन लेते हैं, इसके योग्य नहीं हैं और न इन्होंने कोई 'बलिदान' किया है। उन्होंने तो केवल ऊँचे स्थान को पाने के लिये राजनीतिकरण किया है।[clxxxvii]

डेविस–मूर का यह भी कहना है कि गैर–बराबर प्रतिफल व्यक्तियों को महत्वपूर्ण भूमिका के निर्वाह में अभिप्रेरित करता है। ऊँचा वेतन मिलेगा तो व्यक्ति डटकर अपनी भूमिका निभायेगा। ट्यूमिन को यह स्वीकार नहीं है; वे इसके विपरीत हैं। उनका आग्रह है कि स्तरीकरण व्यक्तियों को अभिप्रेरित नहीं करता, वह तो एक रूकावट का काम करता है। उसकी समझ यह है कि जब एक बार वह ऊँची प्रस्थिति को पा जाता है, तो यह प्रस्थिति उसकी जागीर हो गयी और इसलिये वह काम नहीं करता। इस अर्थ में स्तरीकरण पर्याप्त भूमिका निर्वाह में अभिप्रेरक न होकर रूकावट मात्र है। हमारे देश में तो एक बार अमुक प्रस्थिति को प्राप्त कर लिया तो आगे की भूमिका पर पूर्णविराम ही लग जाता है। स्तरीकरण तो, ट्यूमिन के विचार में एक बन्द (Closes) व्यवस्था है।[clxxxviii]

ट्यूमिन ने असमानता के अपकार्यों (वे दिखाई देने वाले परिणाम जो समाज में समायोजन एवं अनुकूलन की प्रक्रिया को कम करते हैं) की चर्चा की है। ट्यूमिन के विचार में सामाजिक स्तरीकरण की व्यवस्था किसी भी समाज में योग्यतम व्यक्तियों की समग्र खोज की संभावना को सीमित करती है। उपयुक्त प्रेरणा चयन–प्रक्रिया एवं प्रशिक्षण संस्थानों में पाई जाने वाली असमान स्थितियां इसी तथ्य का परिणाम हैं। उपलब्ध योग्य व्यक्तियों अथवा दक्ष व्यक्तियों की खोज में सीमितता के कारण सामाजिक स्तरीकरण की व्यवस्था समाज में उत्पादन स्रोतों की वृद्धि की संभावना को भी सीमित करती है। यदि योग्यतम व्यक्तियों की समग्र खोज की व्यवस्था उत्पन्न की जाए तो उत्पादन प्रक्रिया में वृद्धि हो सकती है तथा अवसरों की समानता का तार्किकीकरण हो सकता है। समाज में विशिष्ट सदस्यता का निर्धारण इस आधार पर होता है कि व्यक्ति की समाज में प्रतिष्ठा क्या है। स्तरीकरण की व्यवस्था इन विशिष्ट सदस्यों के मध्य असमानता का वितरण करती है। विभिन्न क्रियाओं में सहभागिता अथवा क्रियाओं की उपेक्षा किसी सीमा तक समाज में प्रभावशाली सदस्यता पर निर्भर करती है। अतः सामाजिक स्तरीकरण की व्यवस्था असमान सहभागिता की प्रेरणा को उत्पन्न करती है। ट्यूमिन के ये सभी तर्क वे परिकल्पनाएं है जिनका यदि परीक्षण किया जाए तो असमानता को पूरी तरह समझा जा सकता है।[clxxxix]

टाल्कट पार्सन्स का विचार

टाल्कट पार्सन्स भी एक अन्य महत्वपूर्ण प्रकार्यवादी हैं। उनके अनुसार मूल्यांकन की दृष्टि से सामाजिक स्तरीकरण किसी भी समाज व्यवस्था में इकाइयों (व्यवसायों) का क्रमविन्यास है जोकि सामान्य मूल्य व्यवस्थाओं के स्तर के अनुरूप है। समाज के मूल्य ही व्यवसायों से सम्बंधित पुरस्कारों का निर्धारण करते हैं। जैसे फ्रांस में उत्पादक क्रियाओं को उच्च मूल्य प्राप्त है। इसी कारण शारीरिक श्रम संबंधी रोजगार की तुलना में प्रबन्धकीय व्यवसाय के साथ उच्च एवं श्रेष्ठ पुरस्कार संबद्ध हैं क्योंकि प्रबंधकीय व्यवसाय शारीरिक श्रम संबंधी व्यवसायों की तुलना में उत्पादन क्रियाओं पर अधिक बल देता है।

कार्ल मार्क्स एवं मैक्स वेबर के सिद्धांत

विभिन्न समाजशास्त्रियों ने सामाजिक असमानता के आधारों से संबंधित अनेक प्रश्न खड़े किए हैं। मार्क्स एवं वेबर के विचार इन प्रश्नों का उत्तर जानने में सहायक हो सकते हैं। मार्क्स का मत है कि उत्पादन साधनों के साथ व्यक्तियों के संबंध सामाजिक असमानता की उत्पत्ति के मुख्य कारक हैं। मार्क्स के अनुसार पूंजीवादी समाज में दो वर्ग पाए जाते हैं।

प्रथम– जिनका उत्पादन साधनों पर नियन्त्रण नहीं है (सर्वहारा अथवा श्रमिक) वर्ग।

दूसरा– जिनका उत्पादन साधनों पर नियन्त्रण है और जो किसी भी समाज में सामाजिक एवं राजनीतिक क्रियाओं को निर्धारित करता है (बुर्जुआ) वर्ग ।

मार्क्सवादी सिद्धांत में भी अनेक प्रकार की दुर्बलताएं हैं। टी.बी. बाटोमोर का मत है कि मार्क्सवादी सिद्धांत पूंजीवादी समाजों के सामाजिक एवं राजनीतक संघर्षों के विश्लेषण का उपयुक्त एवं उपयोगी प्रारूप है, परन्तु इसके आधार पर जाति स्तरीकरण को समझने में कठिनाइयां हैं। सोवियत संघ एवं पूर्वी यूरोपीय समाजों में हाल ही में हुए राजनैतिक एवं आर्थिक परिवर्तनों से मार्क्सवादी सिद्धांत की निर्बलता स्पष्ट होती है। अनेक अध्ययनों मे यह भी पाया गया है कि धर्म भी राजनैतिक क्रियाओं को प्रभावित करता है।[cxc]

डाहरेनडार्फ जोकि मार्क्सवादी सिद्धांत के आलोचक हैं का मत है कि शक्ति स्तरीकरण का आधार है। जो शक्ति सम्पन्न हैं वे हमशा शक्ति के केन्द्र में बने रहने का प्रयास करते हैं। परिणामस्वरूप कम शक्तिशाली एवं अधिक शक्तिशाली समूहों के मध्य निरन्तर संघर्ष होता है। एक दृष्टिकोण यह भी है कि एकमत्यता एवं संघर्ष की प्रक्रियाओं का अस्तित्व साथ–साथ है। विश्लेषण के स्तर पर इन दोनों दृष्टिकोणों का समन्वित रूप देखा जा सकता है।

मैक्स वेबर ने सामाजिक स्तरीकरण के तीन पक्षों – वर्ग, प्रस्थिति एवं दल का उल्लेख किया है।

1. वर्ग, व्यक्तियों का वह संकलन है जिनमें समान आर्थिक स्थिति एवं समान जीवन अवसर के तत्व पाये जाते हैं।
2. प्रस्थिति समूह व्यक्तियों के वे संकलन है जिनमें समान सामाजिक प्रतिष्ठा एवं समान जीवन शैली के तत्व पाये जाते हैं।
3. दल व्यक्तियों के वे संकलन हैं जिनमें समान राजनैतिक हित के तत्व विद्यमान हैं।

स्तरीकरण के ये तीनों पक्ष भिन्न–भिन्न एवं पृथक रूप में पाये जाते हैं, यद्यपि इनके समन्वित रूपों के अस्तित्व भी सामाजिक यथार्थ का भाग हैं।

8.5 थियोडोर काप्लोव के अनुसार व्यावसायिक क्रमविन्यास के निर्धारक तत्व

काप्लोव ने एक उदाहरण के माध्यम से विविध व्यवसायों की सामाजिक प्रतिष्ठा को निर्धारित करने वाले कारकों का वर्णन किया है जो निम्न प्रकार है[cxci]–

मापन की परिभाषा

1. उत्तरदायित्व

उदाहरण

क) उत्तरदायित्व जो जीवन एवं संपत्ति को प्रभावित करें न्यायाधीश

ख) उत्तरदायित्व जो केवल संपत्ति को प्रभावित करें आडिटर

ग) असावधानी को त्यागने से सम्बद्ध उत्तरदायित्व कार चालक

घ) कोई दायित्व नहीं कलाकार

2. कार्य की प्रकृति

क) प्रतीकों के प्रयोग की कार्य कुशलता संवाददाता

ख) कुछ यंत्रों एवं भौतिक वस्तुओं के प्रयोग के साथ प्रतीकों के प्रयोग की कार्य कुशलता ड्राफ्टमैन

ग) कुछ प्रतीकों के प्रयोग के साथ यंत्रों एवं भौतिक वस्तुओं के प्रयोग की कार्य कुशलता रेडियो संवाददाता

घ) यंत्रों एवं भौतिक वस्तुओं के प्रयोग की कार्य कुशलता ईंट बनने वाला व्यक्ति

3. औपचारिक शिक्षा

क) उच्च शिक्षा की आवश्यकता वस्तु शिल्पी

ख) उच्च स्कूली शिक्षा सचिव

ग) शिक्षा आवश्यक अधिकारी

द) औपचारिक शिक्षा आवश्यक नहीं माली

4. प्रशिक्षण

क) दीर्घ कालिक प्रशिक्षण आवश्यक संगीतज्ञ

ख) कुछ प्रशिक्षण आवश्यक प्यानोवादक

ग) कुछ प्रशिक्षण वांछनीय क्रय प्रतिनिधि

घ) कोई प्रशिक्षण आवश्यक नहीं पत्रवाहक (डाकिया)

5. सत्ता

क) अधीनस्थों का विशाल समूह आकेस्ट्रा का संचालक

ख) अधीनस्थों का लघु समूह स्टेशन एजेंट

ग) केवल उच्च एवं निम्न सहायक विधायक

द) कोई अधीनस्थ नहीं कलाकार

6. वर्ग की विशेषताएं

क) स्थापित उच्च वर्ग व्यवसाय प्रतिनिधि प्रतिबद्ध विक्रय

ब) स्थापित उच्च–मध्य वर्गीय व्यवसाय दन्त चिकित्सक

ग) स्थापित निम्न मध्य वर्गीय व्यवसाय फायर मैन

द) स्थापित निम्न व्यवसाय सामान्य श्रमिक (लांग शेयर मैन)

7. आय

क) उच्च आय सुनिश्चित डाक्टर

ख) उच्च आय सम्भव पर सुनिश्चित नहीं भूसम्पत्ति का क्रेता/एजेन्ट

ग) सामान्य आय सुनिश्चित प्रयोगशाला का तकनीशियन

घ) निम्न आय सुनिश्चित बर्तन धोने वाला

उपरोक्त उदाहरण व्यवाय एवं प्रतिष्ठा के मध्य सम्बन्ध का संकेत देते है। परन्तु इसका अभिप्राय यह नहीं है कि प्रतिष्ठा का प्रत्यक्ष आधार व्यवसाय है। ऊपर सारिणी में दिये समस्त उदाहरणों के कारण प्रतिष्ठा आधार भी हो सकते है और नहीं भी हो सकते हैं।

काप्लोव का यह भी तर्क है कि उपरोक्त तत्वों के अतिरिक्त तीन और तत्व – ऐतिहासिक कारक, पृथक्करण का पक्ष एवं व्यवहार नियन्त्रण – एक व्यवाय की प्रस्थिति को प्रभावित करते है। ऐतिहासिक कारक का अभिप्राय किसी व्यवसाय के इतिहास से है। जिस व्यवसाय का इतिहास जितना पुराना है उतनी ही उसकी अधिक प्रतिष्ठा है। लोकोमोटिव इंजीनियर के व्यवाय का इतिहास चूंकि पुराना नहीं है अतः उसकी प्रतिष्ठा कम है जबकि पुरोहित या पादरी की प्रतिष्ठा उच्च है क्योंकि इसके साथ दो हजार वर्ष का चर्च का इतिहास विद्यमान है। पृथक्करण का पक्ष व्यवसाय की लोकप्रियता की दर से सम्बद्ध है। वह व्यवसाय जिससे समुदाय के सदस्य परिचित नहीं है प्रतिष्ठाक्रम में निम्न स्थान रखता है। काप्लोव का मत है कि यद्यपि ये कारक प्रतिष्ठा के निर्धारक है, इनका प्रभाव भी हो सकता है परन्तु यह निश्चित नहीं है कि इन कारकों एवं व्यवसाय की प्रस्थिति के मध्य सह–सम्बन्ध की दर कितनी है अर्थात् ये कारक एवं व्यवसाय किस स्थिति तक सम्बद्ध है। परन्तु व्यवहार नियन्त्रण की प्रस्थिति के मध्य पूर्ण सह सम्बन्ध है। व्यवहार नियन्त्रण उस स्थति में व्यक्ति की प्रस्थिति का प्रतिनिधित्व करता है जो कि व्यावसायिक भूमिका एवं अन्य सम्बद्ध व्यक्ति की व्यावसायिक भूमिका के परिणामस्वरूप उत्पन्न हुई है। एक व्यक्ति की व्यावसायिक भूमिका एवं सम्बद्ध अन्य

व्यक्तियों जैसे ग्राहक, मुवक्किल, अधीनस्थ, उच्चाधिकारी, यात्री इत्यादि द्वारा व्यावसायिक दायित्वों का निर्वाह करते समय भूमिका या अन्तःक्रिया से स्थिति उत्पन्न होती है। उदाहरण के लिए, बैंकर, कालेज प्रोफेसर, डाक्टर, पुरोहित एवं वकील सभी से सम्बद्ध ग्राहक/मुवक्किलों को नियंत्रित करती है। परिणामस्वरूप, ग्रामीण स्कल शिक्षक की तुलना में उपरोक्त सभी प्रस्थियां उच्च है। ग्रामीण स्कूल शिक्षक का उन सभी प्रतिस्थतियों से सम्बद्ध व्यक्तियों से सम्बन्ध है जो कि व्यवहार के तुलनात्मक रूप से कम नियन्त्रण की विशेषताओं से सम्बद्ध है।[cxcii] परन्तु उपरोक्त सभी तर्क परिकल्पनात्मक मत है। व्यवसाय की प्रतिष्ठा को निम्नलिखित फार्मूला से समझा जा सकता हैः

सारिणी 2

व्यवसाय की प्रतिष्ठा से सम्बद्ध उस व्यवसाय मे व्यक्तियों की उस व्यवसाय में व्यक्तियों का औसत व्यक्तियों का मूल्यांकन=ब1 आय का स्तर + ब2 शैक्षणिक स्तर से सकारात्मक सह सम्बन्ध है। व्यक्ति की आय एवं शैक्षणिक उपलब्धि का व्यवसाय के क्रमविन्यास से सकारात्मक सह सम्बन्ध है।[cxciii]

8.6 व्यावसायिक क्रमविन्यास की विशेषताएं

रिचर्ड एच0 हॉल ने व्यवसायों की उन विशेषताओं का उल्लेख किया है जोकि व्यवसायों के क्रमविन्यास के निर्धारण में महत्त्वपूर्ण भूमिका को निभाती है। हाल के इस संदर्भ में निम्नलिखित तर्क हैं –

निर्वाह किये जाने वाले कार्य की विशिष्ट प्रकृति उत्तरदाता द्वारा व्यवसाय के क्रमविन्यास में स्थान सम्बन्धी निर्मित तर्क को प्रभावित करती है। यदि व्यवसाय में प्राकृतिक एवं भौतिक वस्तुएं प्रयुक्त की जाती है तो उसकी प्रस्थिति निम्न है जबकि वे व्यवसाय जिनमें प्रतीकों का प्रयोग होता है सर्वोग्च्च प्रस्थिति प्राप्त है। उदाहरण के लिए, बढ़ई, जो कि भौतिक/प्राकृतिक वस्तुओं का प्रयोग करता है, की प्रस्थिति निम्न है जबकि प्रतीकों का प्रयोग कर रहे श्वेतपोश श्रमिकों की प्रस्थिति उच्च है। व्यवसाय में प्रवेश सम्बन्धी योग्यताएं जितनी जटिल एवं कड़ी हैं, सम्बद्ध व्यवसाय उतना ही उच्च प्रस्थिति प्राप्त होता है। उदाहरण के लिए, श्वेतपोश व्यवसाय शारीरिक एवं औद्योगिक श्रमिकों सम्बन्धी व्यवसायों से प्रस्थिति की दृष्टि से उच्च है। अन्तः व्यैक्तिक सम्बन्धों के अन्तर्गत व्यवसाय का स्थान भी उसके महत्व को निर्धारित करता है। उदाहरण के लिए, वे व्यवसाय जिनमें निरीक्षण सम्मिलित है उच्च प्रस्थिति प्राप्त है जबकि वे व्यवसाय जो निरीक्षित है, निम्न प्रस्थिति प्राप्त है। यह व्यवसाय जिसमें अधिक उत्तरदायित्व सम्मिलित है उच्च प्रस्थिति प्राप्त है। उदाहरण के लिए, एक जिलाधीश की प्रस्थिति उच्च है चूंकि उसमें अधिक उत्तरदायित्व सम्मिलित है जबकि एक कलाकार, जिसके साथ सम्बद्ध उत्तरदायित्व कम है, निम्न प्रस्थिति प्राप्त है। कार्य करने सम्बन्धी स्थितियां भी व्यवसाय की प्रस्थिति को निर्धारित करती है। उदाहरण के लिए, उद्योग में लिपिक की प्रस्थिति विश्वविद्यालय के लिपिक की प्रस्थिति से उच्च है।

उपरोक्त तत्वों से स्पष्ट है कि व्यवसायों से सम्बद्ध उपरोक्त विशेषताएं एवं कार्य सम्बन्धी स्थितियां व्यवसाय की प्रस्थिति को निर्धारित करती है।

8.7 प्रतिष्ठा, शिक्षा, आय एवं व्यवसाय

सामान्य रूप से यह विश्वास किया जाता है कि व्यवसाय की अपेक्षा जाति, प्रस्थिति की अधिक प्रभावशाली एवं निर्णायक इकाई है। विक्टर एस0 डिसूजा एवं राज मोहिनी सेठी द्वारा किये गये व्यवसाय सम्बन्धी अध्ययन से कुछ दृष्टिकोण स्पष्ट होते हैं।

प्रस्थिति के तुलनात्मक मापन से सम्बद्ध इस अध्ययन हेतु चण्डीगढ़ शहर का चयन किया गया। चण्डीगढ़ शहर में निवास कर रहे परिवारों में से दस प्रतिशत उत्तरदाताओं को, जिनकी संख्या 1908 थी, निदर्श इकाई के रूप में अध्ययन हेतु चुना गया। उत्तरदाताओं को चार वर्गों – उच्च, मध्यम, श्रमिक एवं निम्न – की सूची प्रदान की गयी। प्रत्येक उत्तरदाता को उस वर्ग को बताने के लिए कहा गया जिससे कि वह स्वयं को सम्बद्ध मानता है। उत्तरदाता की मासिक आय के आधार पर उसके आय–समह का निर्धारण किया गया। प्रतिष्ठा पर आधारित व्यवसाय की सात श्रेणियों में उत्तरदाताओं को विभाजित किया गया। अध्ययन स्वयं के प्रस्थिति निर्धारण को आश्रित परिवर्ती बनाता है। व्यवसाय, शिक्षा एवं आय की प्रतिष्ठा को स्वतंत्र परिवर्ती रूप से सम्मिलित किया गया। अध्ययन के निष्कर्ष से यह ज्ञात होता है कि जो तीन विशेषताएं है (1) व्यवसाय की प्रतिष्ठा, (2) व्यवसाय से सम्बद्ध शिक्षा, एवं (3) व्यवसाय से होने वाली आय से सम्बद्ध तथ्य उनमें से उत्तरदाता के द्वारा निर्धारित वर्ग की अभिव्यक्ति से व्यवसाय की प्रतिष्ठा सबसे महत्वपूर्ण है। शिक्षा एवं आय उत्तरदाता के द्वारा वर्ग के स्वनिर्धारण से सम्बन्धित महत्वपूर्ण तथ्य नही है। अतः अध्ययनकर्ताओं का मत है कि व्यवसाय की प्रतिष्ठा व्यवसाय के क्रमविन्यास को निर्धारित करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाती है।

प्रतिष्ठा एवं व्यावसायिक समूह के क्रमविन्यास

आगरा विश्वविद्यालय के समाज विज्ञान संस्थान के शिक्षकों एवं विद्यार्थियों के दल ने 200 विद्यार्थियों (जो कम से कम हाई स्कूल तक पढ़े थे) के उत्तरों के आधार पर आगरा नगर किया। प्रत्येक उत्तरदाता को 44 व्यवसायों की परीयता क्रम में स्थान देने का आग्रह किया गया अर्थात् क्रमविन्यास व्यवस्था को 44 व्यवसायों द्वारा निर्मित करने का अनुरोध किया गया है। इस निर्मित सूची सारिणी मे से चार व्यवसायों को चुना गया। इन चारों व्यवसायों के क्रम को लेकर उत्तरदाताओं में पारस्परिक सहमति थी। कालेज अध्यापक, हायर सेकेण्ड्री अध्यापक, प्रथमिक स्कूल शिक्षक एवं चपरासी इन चार व्यवसायों से सम्बद्ध है। प्रत्येक उत्तरदाता से कहा गया कि 44 मे से प्रत्येक व्यवसाय की वे उपरोक्त चार व्यवसायों से तुलना करें।[cxciv]

तुलना के आधार निम्नलिखित बताये गये :

1. यदि व्यवसाय कालेज शिक्षक, के व्यवसाय से उच्च अथवा श्रेष्ठ प्रकृति का है तब ऐसे व्यवसाय को क्रम–1 प्रदान किया जाये।
2. यदि व्यवसाय की प्रतिष्ठा कालेज शिक्षक के व्यवसाय की प्रतिष्ठा के समकक्ष है अथवा निम्न है परन्तु हायर सेकेण्ड्री (माध्यमिक) शिक्षक की प्रतिष्ठा से उच्च है तो उसे क्रम–2 प्रदान किया जाये।

3. यदि व्यवसाय की प्रतिष्ठा माध्यमिक शिक्षक के व्यवसाय की प्रतिष्ठा के समकक्ष है अथवा निम्न है परन्तु प्राथमिक शिक्षक की प्रतिष्ठा से उच्च है तब ऐसे व्यवसाय को क्रम–3 प्रदान किया जाये।

4. यदि व्यवसाय की प्रतिष्ठा माध्यमिक स्कूल शिक्षक के व्यवसाय की प्रतिष्ठा से निम्न है परन्तु प्राथमिक शिक्षक की प्रतिष्ठा से अधिक है लेकिन चपरासी की प्रतिष्ठा से अधिक है तबऐसे व्यवसाय को चौथा क्रम प्रदान किया जाये।

5. यदि व्यवसाय की प्रतिष्ठा चपरासी की प्रतिष्ठा से अधिक नहीं है तो उसे पांचवा क्रम प्रदान किया जाये।

प्रत्येक व्यवसाय को प्रतिष्ठा के पांच अंकों के पैमाने से सम्बद्ध किया गया। तत्पश्चात् 200 उत्तरदाताओं क्ष्द्वारा प्रत्येक व्यवसाय को प्रदान किये गये क्रम का योग किया गया तथा उस योग को 200 से विभाजित किया गया ताकि प्रत्येक व्यवसाय का औसत ज्ञात किया जा सके। तत्पश्चात् प्रत्येक व्यवसाय को औसत के अनुसार क्रमविन्यास में स्थान प्रदापन किया गया। औसत अथवा माध्यम की गणना निम्नलिखित रूप में की गयी।[cxcv]

उत्तरदाताओं की संख्या	एक व्यवसाय का क्रम	कुल बारंवारता
140	01	140
50	02	100
10	03	30
योग 200		270

प्राप्त औसत अथवा माध्यम 270 / 200 = 1.35

प्रत्येक व्यवसाय के औसत की पृथक रूप से गणना की गयी। इसके पश्चात् सभी औसतों को क्रमविन्यास के अंतर्गत सम्मिलित किया गया। अतः औसत के क्रमविन्यास के आधार पर व्यवसाय के क्रम को क्रमविन्यास में सुनिश्चित किया गया। अध्ययन से ज्ञात हुआ कि सभी 44 व्यवसायों में से सर्वाधिक प्रतिष्ठित व्यवसाय न्यायाधीश का है। तत्पश्चात् क्रमशः जिला कलक्टर एवं शल्य चिकित्सक को प्रतिष्ठा क्रम स्थान दिया गया। उच्च क्रमविन्यास को निर्धारित करने मे व्यवसाय के महत्व, उच्च सत्ता, अच्छी शिक्षा, राष्ट्र निर्माण एवं धन महत्वपूर्ण कारक है जबकि धन प्राथमिक शिक्षा, बेईमानी, शोषण एवं गलत छवि जो जनता के मध्य में हैं, व्यवसाय के क्रमविन्यास को नकारात्मक रूप में प्रभावित करती है। परन्तु इस अध्ययन में प्रत्येक कारक को स्वतंत्र रूप से कितना सापेक्षित भार दिया गया एवं अन्य कारकों के संदर्भ में कितना सापेक्षित भार दिया गया के तर्क स्पष्ट नहीं है। अतः स्पष्ट एवं निश्चित मापन की आवश्यकता इस अध्ययन में महसूस की जा सकती है।

व्यवसाय से सम्बद्ध प्रतिष्ठा का मापन उत्तरदाताओं से इस प्रश्न के उत्तर से भी किया जा सकता है जिसमें निम्न क्रम व्यवस्था में वरीयता प्रस्तुत करने को कहा जाए :

1. सर्वश्रेष्ठ / सर्वोत्म स्थान
2. श्रेष्ठ स्थान

3. औसत स्थान

4. औसत से निम्न स्थान

5. अत्यन्त निम्न स्थान

लिंग एवं व्यावसायिक क्रमविन्यास

आधुनिक समय में व्यवसाय अनेक माध्यमों से परिवर्तित हुआ है साथ ही, अनेक रूपों में इसका परिवर्तन देखा जा सकता है। सबसे स्पष्ट परिवर्तन लिंग एवं व्यवसाय के मध्य संबंधों में देखा जा सकता है। अधिक से अधिक महिलाएं अब उन व्यवसायों में प्रवेश कर रही है जो कि एक समय पुरूषों के प्रभुत्व के थे। परिणामस्वरूप व्यावसायिक अवस्था में नवीन पक्ष उत्पन्न हुए है।

अमेरिका में लिंग एवं व्यवसाय संबंधी प्रतिष्ठा के मध्य संबंध से संबंधित अध्ययन में 197 उत्तरदाताओं (99 महिलाएं एवं 98 पुरुष) का चयन किया गया। 40 उत्तरदाताओं को व्यावसाय का नाम एवं महिलाओं के नाम प्रदर्शित करने वाले कार्ड दिए गए। 80 उत्तरदाताओं को व्यवसाय के नाम एवं आधे पुरुष एवं आधी महिलाओं के नाम प्रस्तुत करने वाले कार्ड दिए गए। उत्तरदाताओं से आग्रह किया गया कि वे 110 व्यवसायों को शून्य से सौ (100) तक क्रम प्रदान करें। अध्ययन से यह पता लगा कि संबंधित व्यक्ति की यौनिक प्रस्थिति परिवार के मुखिया के द्वारा प्रस्तुत क्रम को प्रभावित करती है। संबंधित महिलाओं को औसतन पुरुष की तुलना में दो अधिक, अंक दिए गए। पुरुष उत्तरदाताओं से संबंधित पुरुषों को निम्न क्रम प्रदान किया जबकि महिला उत्तरदाताओं ने संबंधित महिलाओं को उच्च क्रम प्रदान किया। एक अत्यंत दिलचस्प तथ्य अध्ययनकर्ताओं से यह पाया कि कुल मिलाकर लैगिक प्रस्थिति कुछ अंकों को बढ़ा एवं घटा सकती है जिससे यह ज्ञात होता है कि संबंधित व्यक्ति की लैगिक प्रस्थिति शिक्षा की तुलना में कम महत्वपूर्ण है। लैंगिक प्रस्थिति एवं व्यवसाय की प्रतिष्ठा के मध्य संबंधों से सम्बद्ध एक अन्य अध्ययन जो किब्रिटेन में किया गया, से यह निष्कर्ष ज्ञात हुआ कि इन दोनों तत्वों के मध्य महत्वपूर्ण सह संबंध है अर्थात् संबद्ध व्यक्ति की लैंगिक प्रस्थिति व्यवसाय को प्रभावित करती है परिणामस्वरूप, व्यवसाय की प्रतिष्ठा से संबद्ध क्रमविन्यास निर्धारित होता है।

ग्रामीण एवं नगरीय समुदाय तथा व्यावसायिक क्रमविन्यास

व्यावसायिक क्रमविन्यास का अध्ययन करने वाले विद्यार्थियों ने ग्रामीण एवं नगरीय समुदायों के मध्य के भेद व्यवसाय संबंधी क्रमविन्यास के संदर्भ में प्रस्तुत किए है। उपलब्ध साहित्स से ज्ञात होता है कि प्रतिष्ठा के संस्तरण के अध्ययन में व्यवसाय का उपयोग अथवा प्रयोग नगरीय समुदायों के अध्ययन में महत्वपूर्ण है जबकि ग्रामीण समुदायों में प्रस्थति के मूल्याकन का सर्वाप्रमुख आधार भूमि है लेकिन ग्रामीण समुदायों में लगभग समान व्यवसायों की विशेषताएं पाई जाती है। परन्तु हम यह स्पपष्ट रूप से नहीं कह सकते है कि ग्रामीण एवं नगरीय दोनों ही क्षेत्रों में सभी व्यवसायों का क्रमविन्यास समान प्रक्रिया से निर्धारित किया जाता है। ए.एस. मिचैल ने 9 (नौ) कृषक प्रकारों (ज्ञात भूस्वामी, बेनामी भूस्वामी) का अध्ययन 531 कोष्टारिकन (मध्य अमेरिका) के कृषकों को निदर्श इकाई के रूप में सम्मिलित कर किया है। अध्ययन से यह ज्ञात होता है कि सुरक्षा एवं असुरक्षा का स्तर तथा वैज्ञानिक एवं अवैधानिक अधिकारों का स्तर कृष्झक समाजों में व्यवसाय के प्रतिष्ठा क्रम को प्रभावित करता है। ज्ञात भूस्वामी सुरक्षा के कारण उच्च प्रस्थिति प्राप्त है। इससे यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि कृषक समुदायों में व्यवसाय की

प्रतिष्ठा के कारण उन क्षेत्रों में भिन्न हैं जहां पृथक्करण है और उन क्षेत्रों में भी भिन्न है जहां केन्द्रीय स्थानों में लोग निवास करते है।

8.8 व्यावसायिक क्रमविन्यास में भिन्न समाजों के संदर्भ में अन्तर

व्यवसायों के क्रमविन्यास को निर्धारित करने के लिए किए गए अध्ययनों में कारकों को जानने का प्रयास किया गया है– और अनेक व्यवसाय संबंधी प्रतिष्ठा पैमाने विकसित किए है। समाजशास्त्रियों के ऐसे पैमानों की विश्वसनीयता एवं वैधता के परीक्षण करने के प्रयास किए है। अमेरिका एवं इजराइल का तुलनात्मक अध्ययन यह स्पष्ट करता है कि अमेरिका में शिक्षा एवं आय का प्रतिष्ठा के साथ सह संबंधों मे कम अन्तर है जबकि इजराइल में आय की तुलना में शिक्षा प्रतिष्ठा से निर्धारण में अधिक योगदान करती है जबकि अमेरिका में शिक्षा एवं आय का प्रतिष्ठा निर्धारण में समान योगदान है। यह सुझाव दिया जा सकता है कि विभिन्न समाजों के तुलनात्मक अध्ययन हेतु प्रतिष्ठा की तुलना में विशिष्ट कारकों का अध्ययन अधिक वैध है। औपचारिक शिक्षा एवं आय प्रतिष्ठा के निर्धारण में अथवा प्रतिष्ठा के क्रमविन्यास के निर्धारण में कितनी महत्वपूर्ण है तथा श्वेतपोश, कृषि, कुशल एवं आकुशल व्यवसायों को किस सीमा तक प्रभावित करती है, को ग्रामीण अमेरिका एवं ग्रामीण भारत के संदर्भ में समझने का तुलनात्मक प्रयास किया गया। अध्ययन से यह ज्ञात होता है कि ग्रामीण भारत में व्यवसाय के संस्तरण के निर्धारण में शिक्षा की भूमिका महत्वपूर्ण नहीं है जबकि श्रकिों की प्रति व्यक्ति आय व्यवसायों की प्रतिष्ठा के क्रमविन्यास को निर्धारित करने में सर्वाधिक महत्वपूर्ण है। ग्रामीण अमेरिका में औपचारिक शैक्षणिक उपलब्धि व्यवसाय की प्रतिष्ठा के निर्धारण हेतु महत्वपूर्ण है। यह भी पाया गया है कि जाति प्रस्थिति एवं भूमि स्वामित्व वर्तमान व्यवसाय संरचना को प्रभावशाली ढंग से प्रभावित नहीं करते।

हम सामाजिक स्तरीकरण एवं व्यावसायिक विभेदीकरण के मध्य घनिष्ठ संबंध पाते है। व्यावसायिक क्रमविन्यास में अन्तरा समाज एवं अन्तः समाज संदर्भों में अन्तर परिलक्षित होता है। ग्रामीण एवं नगरीय समुदायों में व्यवसाय के क्रमविन्यास के निर्धारिक तत्वों में भिन्नता पाई जाती है। भारत में व्यवसाय संस्तरण एवं सामाजिक स्तरीकरण के मध्य घनिष्ठ संबंध है। सामाजिक स्तरीकरण एक सामाजिक यथार्थ है तथा बहुआयामी प्रघटना है। आज इसे केवल जाति के आधार पर नहीं समझा जा सकता। भारत में सामाजिक स्तरीकरण को पूर्णरूपेण समझने के लिए आवश्यक है कि व्यवसाय साहित सामाजिक क्रमविन्यास को निर्धारित करने वाले अनेक कारकों का विश्लेषण किया जाए। व्यवसाय संबंधी क्रमविन्यास के सिद्धांत निर्माण हेतु आवश्यक है कि भारत के विभिन्न क्षेत्रों में संबद्ध अध्ययन किए जाएं।

8.9 वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1. स्तरीकरण की व्यवस्था के अन्तर्गत व्यक्ति की प्रस्थिति का निर्धारण उसके व्यवसाय से होता है। इस सन्दर्भ में कैप्लोव ने तीन कारकों की चर्चा की है। उनमें शामिल नहीं है?

   क. व्यावसायीकरण ख. संकलन

   ग. विभेदीकरण घ. तार्किकीकरण

2. असमानता के अपकार्यों की चर्चा करने वाले हैं–

   क. डेविस एवं मूर ख. मेलविन एम0 ट्यूमिन

   ग. पारसंस घ. मार्क्स एवं वेबर

3. सर्वहारा एवं बुर्जुआ शब्दों का प्रयोग अपने सिद्धांतों में किया है–

   क. डेविस एवं मूर ख. मेलविन एम0 ट्यूमिन

   ग. पारसंस घ. मार्क्स एवं वेबर

4. वर्ग, प्रस्थिति एवं दल का उल्लेख किया है–

   क. डेविस एवं मूर ख. मेलविन एम0 ट्यूमिन

   ग. पारसंस घ. वेबर

8.10 उत्तर

1. क
2. ख
3. घ
4. घ

8.11 सन्दर्भ ग्रन्थ

- टी बी बोटोमोर, सोशियोलॉजी, 1962
- थियोडोर काप्लोव, द सोशियोलॉजी ऑव वर्क, 1970

[i] एस.एल.दोषी, पी.सी.जैन, ''समाजशास्त्र नई दिशाएं, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, जयपुर 2005

[ii] समाजों में स्तरीकरण, ईएसओ–04, इग्नू

[iii] डा० जे. पी. सिंह ,समाजशास्त्रः अवधारणाएं एवं सिद्धांत, पी.एच.आई.लर्निंग प्राइवेट लिमिटेड, नई दिल्ली, 2010

[iv] एस.एल.दोषी, पी.सी.जैन, ''समाजशास्त्र नई दिशाएं, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, जयपुर 2005

[v] वही

[vi] वही

[vii] समाजों में स्तरीकरण, ईएसओ–04, इग्नू

[viii] वही

[ix] वही

[x] वही

[xi] वही

[xii] वही

[xiii] वही

इकाई–9

विचारधारा तथा स्तरीकरणः श्रेणीबद्धता एवं समानता

इकाई की रूपरेखा

9.1 उद्देश्य

9.2 प्रस्तावना

9.3 विचारधारा

9.4 धर्म और सामाजिक स्तरीकरण

9.5 धर्मनिरपेक्ष विचारधाराएं

9.6 शिक्षा एवं स्तरीकरण

9.7 प्रजातंत्र और समानता

9.8 मार्क्स, दुर्खाइम और वेबर की विचारधाराएँ

9.9 भारतीय संदर्भ

9.10 वस्तुनिष्ठ प्रश्न

9.11 उत्तर

9.12 सन्दर्भ ग्रन्थ

9.1 उद्देश्य

इस भाग का उद्देश्य

1. इस भाग को पढ़ने के बाद छात्र समझ पाएंगे कि किस प्रकार सामाजिक श्रेणीबद्धता को मान्य ठहराने में विचारधारा अपनी भूमिका निभाती है।
2. छात्र जान पाएंगे कि विचारधारा के निर्माण में धर्म, शिक्षा और विविध राजनैतिक स्वरूपों की क्या भूमिका होती है।
3. छात्र विभिन्न चिंतकों के विचारों से अवगत हो पाएंगे।

9.2 प्रस्तावना

विचाराधारा ऐसे मूल्यों और विश्वासों के स्वरूप को कहते हैं जो किसी व्यक्ति या समूह के कार्यकलापों एवं व्यवहारों को निर्धारित करती है। यह अपने में ऐसे विचारों को समाहित किये रहती है जिसे बहुत बड़ी संख्या में लोग यह सोच कर मानते हैं कि यह सबों के सामान्य भलाई के लिये है। जानकारों से मनुष्य इसी मायने में भिन्न है कि मनुष्य सोच सकता है एवं अपने व्यवहार को निर्धारित कर

सकता है। लोग सामान्यतया कोई काम करने से पहले एक दूसरे की राय लेते हैं। अतः उनके क्रियाकलाप सामान्यतः वृहत् समाज द्वारा स्वीकृत संहिताओं से ही निर्धारित होते हैं। विचारधारा ऐसी प्रक्रिया का परिणाम है, जिसमें लोगों के विचार अन्तर्निहित होते हैं।

9.3 विचारधारा

इस तरह, विचाराधाराओं को समाज के एक वर्ग या जनता के चेतना का प्रतिनिधि माना जा सकता है। विचारधारा से सम्बद्ध लोगों को यह मुख्य सिद्धांत लक्ष्य एवं दिशा प्रदान करता है। दूसरे शब्दों में, विचारधारा सामाजिक समूह या लोगों के एक वर्ग की आकांक्षाओं एवं हितों को अभिव्यक्त करने का एक उपकरण है। इसके साथ ही साथ विचारधारा में मनुष्य के सामाजिक विकास की प्रगति की भी एक सामान्य व्याख्या सन्निहित होती है। यह सामान्य व्याख्या वैज्ञानिक भी हो सकती है और अतिमानवी विश्वासों पर आधारित होने की वजह से अवैज्ञानिक भी। इसी तरह विभिन्न सामाजिक, राजनैतिक एवं सौन्दर्यगत आदर्शों एवं हितों का औचित्य भी विचारधारा सिद्ध करती है।

विचारधारा सामाजिक श्रेणीबद्धता को कैसे मान्य ठहराती है?

इसकी व्याख्या हम लोग कुछ उदाहरणों से करें। पारम्परिक हिन्दू समाज में जाति–प्रथा कर्म और धर्म की विचारधारा पर आधारित थी। किसी व्यक्ति का जन्म किसी खास जाति में इसलिए हुआ क्योंकि उसके पूर्वजन्म कर्म वैसा था। इस जन्म ने सच्चाई एवं ईमानदारी से कर्तव्य करके (धर्म) वह चाहे तो अगले जन्म में अपनी बेहतर जिन्दगीसुरक्षित कर सकता है। यह विचारधारा इतनी प्रभावी इसलिए हुई क्योंकि अधिकांश लोग इसकी सत्यता पर विश्वास करते थे। उनका विश्वास था कि अच्छा कर्म करके अपने वर्तमान पर न सही लेकिन अपने भविष्य पर कुछ नियंत्रण है। अगर इस जन्म में वे अच्छा कर्म किये तो इसका फल वे अगले जन्म में प्राप्त कर सकते है। धार्मिक ग्रंथां में जो आचार संहिता है वह इस जीवन में लोगों को अच्छे बने रहने की अवधारणा प्रस्तुत करता है। प्रत्येक जाति के अपने धर्म है और उस जाति के सदस्यों से यह अपेक्षा की जाती है कि वे इस जीवन में अच्छे बने रहें। ऐसी स्थिति में प्रत्येक जाति यह समझाता है कि दूसरे के प्रति अपना कर्तव्य पूरा करना ही उसका धर्म है। वे पूर्व जन्म के फलों का परिणाम समझकर अपने वर्तमान को स्वीकार करते हैं। इस प्रकार, हम लोग पाते हैं कि जाति–व्यवस्था की विचारधारा से सामाजिक स्तरीकरण की पद्धति को न्यायोचित ठहराया जाता है। इस तरह की विचारधारा से ही ऐसे समाज का औचित्य प्रमाणित हो सकता है। सामाजिक गतिशीलता इसमें सीमित हा जाती है। लोग प्रायः अपनी जाति को दिया हुआ एवं सामान्यतः अपरिवर्तनीय मानते है। जाति मे ऐसी स्थिरिता समाज में श्रम का विभाजन एवं एक तरह की सुव्यवस्था प्रदान करता है। सभी तरह के गतिविधियों का केन्द्र व्यक्ति नहीं बल्कि समूह होता है।

विचारधारा एवं परिवर्तन

उपरोक्त विवेचन से आप पर यह प्रभाव पड़ सकता हे कि विचारधारा सिर्फ सामाजिक स्तरीकरण को प्रचलित पद्धति को सुदृढ़ एवं मजबूत बनाता है। परन्तु वास्तव में, हम लोगों ने सिर्फ यह दिखाया है कि कोई भी प्रचलित पद्धति अपने औचित्य को विचारधारा के सहारे सिद्ध करती है। इससे यह भी अर्थ निकाला जा सकता है कि विचारधारा का काम व्यवस्था में किसी भी तरह के परिवर्तन को

रोकना है। यह पूर्णतया सत्य नहीं है। समाज परिवर्तन में भी विचारधारा की महत्वपूर्ण भूमिका होती है। स्तरीकरण पद्धति में परिवर्तन को भी विचारधारा न्यायोचित ठहराती है।

विचारधारात्मक भिन्नताएं

किसी समाज में विचारधारात्मक भिन्नताएं तब पायी जाती है जब मौजूदा स्तरीकरण पद्धति को चुनौती दी जाती है। इसका आरम्भ सामान्यतया स्तरीकरण पद्धति के विचारधारात्मक आधारों पर प्रश्न चिन्ह लगाने से होता है। उदाहरण के लिए, यूरोप मे सामंती प्रथा इस विश्वास पर टिकी हुई थी कि सामाजिक स्तरीकरण का निर्धारण भगवान के द्वारा होता है। (स काई के 6.2.1 में भी इसका संदर्भ दिया गया है)। इसी प्रकार जाति–प्रथा (वर्ण–व्यवस्था) का विचारधारात्मक आधार धर्म और कर्म की अवधारणा पर टिका हुआ है। सामंती इंग्लैंड के स्तरीकरण पद्धति के आधार को निम्ननांकित पंक्तियों में दर्शाया गया है : "अपनी जाति के अनुसार मनुष्य धनी है। गरीब दरवाजे पर खड़ा है। भगवान ही उन लोगों को ऊंचा नीचा बनाया है। वो ही संसार को आदेश देता है।" इससे यह अर्थ निकलता है कि भगवान की इच्छा से ही लोग धनी या गरीब पैदा होते हैं।

इंग्लैंड में औद्योगिक क्रांति ने सामंतवाद का अन्त कर दिया। समाज मे इसने एक नई स्तरीकरण पद्धति को जन्म दिया। इसका आधार सामंती स्तरीकरण के आधारों से भिन्न था। नये समाज ने श्रेणी–क्रम का आधार व्यक्ति के गुण माने जाने पर लोर दिया। लोग धनी या गरीब ऊंच या नीच पैदा नहीं होते है– इस नई विचारधारा ने व्यक्ति के सोच को परिवर्तित किया। मौजूदा स्तरीकरण पद्धति के आधारों पर लोगों ने प्रश्न चिन्ह लगाना शुरू किया, जिससे पद्धति में गई परिवर्तन सम्भव हुए।

अतः विचारधारा मौजूदा स्तरीकरण पद्धति को औचित्यपूर्ण ठहराती है और उसे परिवर्तित करने की भूमिका भी तैयार करती है। इस प्रकार, हम लोग देखते हैं कि विचारधारा और सामाजिक स्तरीकरण एक दूसरे से जुड़े हुए है।

9.4 धर्म और सामाजिक स्तरीकरण

अब हम लोग विचारधारा के दूसरे पक्ष धर्म की विवचेना कर सकते है। स्तरीकरण की पद्धति को न्यायोचित ठहराने में धर्म भी एक प्रमुख भूमिका अदा करती है। वस्तुतः विचारधारा धार्मिक और धर्मनिरपेक्ष दोनों हो सकती है। धर्मनिरपेक्ष विचारधारा की विवचेना हम लोग अगले खंड में करेंगे। इस खंड में हम लोग इस बात पर विचार करेंगे कि सामाजिक स्तरीकरण की प्रकृति को बदलने एवं सुदृढ़ करने में कैसे धर्म एक प्रमुख भूमिका अदा करती है।

लोगों पर धर्म का जो विचारधारात्मक प्रभाव है, वह सामाजिक व्तरीकरण को निर्धारित करने का एक महत्वपूर्ण कारक बन जाता है। लोग सामान्यतः धर्म को एक पवित्र वस्तु मानते हैं क्योंकि उनका विश्वास है कि यह किसी देवी शक्ति की रचना है। अतः जब धर्म स्तरीकण पद्धति को परिवर्तित करने के लिए प्रोत्साहित करती है तो धर्मानुयायी बिना किसी प्रश्न के उसे स्वीकार कर लेते है। इसी तरह धर्म अपनी स्वीकृति देकर किसी भी सामाजिक स्तरीकरण में होने वाले परिवर्तनों को रोक सकती है। यही वजह है कि शताब्दियों तक जाति एक स्थिर प्रणाली बनी रही।

परन्तु धर्म हमेशा ही मौजूदा स्तरीकरण की प्रकृति को कायम रखने में मदद नहीं पहुंचाती। बहुत सारे उदाहरण है जब स्तरीकरण प्रणाली को बदलने के लिए धर्म का प्रयोग एक प्रभुत्वशाली विचारधारा के रूप में किया गया। ईसाई धर्म तब प्रकट हुआ जब समाज में दासों का क्रय–विक्रय हाता था। ईसाई धर्म ने यह प्रचार किया कि ईश्वर की नजर में सभी इंसान बराबर है। यह विचार दास–प्रमा वाले समाज के उस विचार से बिल्कुल विपरीत था जिसके अनुसार सिर्फ स्वतंत्र लोग ही बराबर एवं समाज हो सकते हैं। दासों को मनुष्य नहीं माना जाता था (उन्हें लोग स्वर सहित मशीन कहते थे) और प्राचीन रोम, ग्रीस, मिश्र के देवता दासों को स्वतंत्र मनुष्य से नीचा मानते थे। दासों के क्रय–विक्रय वाले समाज की विचारधारा ने दास प्रथा को न्यायोति ठहराया जिसके अनुसार दास को जानवर की तरह व्यवहार किया जाता था। अपने समानता वाले सिद्धांस के साथ इसाई धर्म ने समाज के इस आधार को चुनौती दिया। इससे अन्नतः दासों के क्रय–विक्रय वाले समाज का पतन हो गया और सामन्तवाद का उदय हुआ। यह समाज कृषिदासों (सर्फ) के प्रति अपने व्यवहार में पूर्व समाज की तुलना में अपेक्षाकृत अधिक मानवीय था।

इस्लाम धर्म का उदय समानता के सिद्धांत पर ही आधारित था। इस्लामी विचारधारा तब अरबों के बीच प्रचलित सामंती स्तरीकरण के ढांचे के ठीक विपरीत था। अरबों ने इस्लामी धर्म के फैसले पर उसने उनकी स्तरीकरण पद्धति को भी बदल दिया। समाज अब ज्यादा समानता पर आधारित हो गया।

ईसाई एवं इस्लाम के बहुत पहले बौद्ध धर्म का उदय हुआ था, जो मनुष्य के समानता पर आधारित था। यह वर्ण–व्यवस्था की मौजूदा विचारधारा के ठीक विरोध में था। बौद्ध धर्म ने जातिगत स्तरीकरण को बदलने की मांग की। बौद्ध धर्म ने एक नयी विचारधारा का प्रचार किया जिसके अनुसार सामाजिक असमानता ईश्वरीय नहीं है बल्कि, मनुष्य द्वारा कायम किया गया है। इस तरह, बौद्ध धर्म ने वर्ग–व्यवस्था के आधार को ही चुनौती देने की कोशिश की। स्वभावतः इसका विरोध हिंदू समाज के प्रभुत्वशाली जातियों ने किया। बौद्ध धर्म सफल नहीं हुआ और हिदू समाज अपने जातिगत आधारों के साथ कायम रहा।

हम लोगों ने कुछ धार्मिक विचारधाराओं का उदाहरण प्रस्तुत किया कि कैसे यह मौजूदा स्तरीकरण की प्रणालियों को बदलती है। ईसाई धर्म एवं इस्लाम धर्म सामाजिक स्तरीकरण को बदलने में सफल हुआ जबकि बौद्ध धर्म ज्याा सफल नहीं हो सका।

9.5 धर्मनिरपेक्ष विचारधाराएं

ऐसा सामान्यतः माना जाता है कि उद्योग पूर्व समाजों में धर्म एवं सामाजिक स्तरीकरण के बीच बड़ा घनिष्ठ संबंध है। आधुनिक औद्योगिक समाजों में स्तरीकरण का अधार बहुत बदल गया है। उदाहरण के लिए मध्यकालीन इंग्लैंड में लोग राजा (मोनार्क) का आदेश मानते थे क्योंकि उन लोगों का विश्वास था कि राजा को दैवी अधिकार है। राजा को भगवान का प्रतिनिध माना जाता था इसलिए वह अपने कामों के लिए भगवान के प्रति उत्तरदायी था किसी प्रजा के प्रति नहीं। आजकल सामाजिक जागरूकता की वजह से लोगों को ऐसा विश्वास नहीं है। अधिकांश स्थितियों में प्रधानमंत्री या राष्ट्रपति लोकमत के आधार पर ही सत्तासीन होते है। लोगों को यह विश्वास है कि व्यक्ति अपनी विशेषताओं की वजह से ही कोई पद प्राप्त करता है। व्यक्तिगत गुण की सफलता का कारण माना जाता है।

विकसित औद्योगिक समाज में सामाजिक स्तरीकरण अपेक्षाकृत ढीला है क्योंकि कोई भी व्यक्ति अपने गुण एवं मेहनत से अपनी सामाजिक स्थिति को बदल सकता है।

9.6 शिक्षा एवं स्तरीकरण

सार्वभौम शिक्षा बहुत हद तक सामाजिक समानता ला सकती है। आधुनिक एवं विकसित औद्योगिक समाज में चाहे तो सभी शिक्षा ग्रहण कर सकते है। यह स्थिति उन समाज की स्थितियों से भिन्न है जिसमें समाज के सभी लोगों को शिक्षा पर अधिकार नहीं था। सिर्फ उच्च वर्ग को ही यह सुविधा थी। शिक्षा–सुविधाएं जब सबों को मुहैया होने लगीं तो समाज में एक तरह की गतिशीलता आई। किसी व्यक्ति के योग्यता की मूल्यांकन उसके शैक्षिक योग्यताओं से भी किया जा सकता है। एक खुले समाज में किसान का पुत्र या पुत्री भी डाक्टर, इंजीनियर या प्रोफेसर बन सकता है। इस प्रकार की अन्तः पीढ़ी गतिशीलता, पार्थक्य, जन्मगत हैसियत एवं रंग पर आधारित पूर्वाग्रहों से लिपटे हुए पारम्परिक समाज में सम्भव नहीं है। यद्यपि शिक्षा सामाजिक गतिशीलता एवं सामाजिक परिवर्तन लाने में सक्षम है लेकिन सभी समाज में यह परिवर्तन एवं गतिशीलता एकरूप नहीं होती। उदाहरण के लिए, सभी समाज में उच्च शिक्षा का प्रावधान रहता है लेकिन हो सकता है कि सबों की पहुंच वहां तक न हो। किसी समाज में शिक्षा सबों के लिए मुहैया हो सकता है लेकिन वह मुफ्त हो यह जरूरी नहीं ऐसे समाज में सिर्फ वैसे लोग उच्च शिक्षा ग्रहण कर सकते है जिनके पास साधन है भले ही वे उच्च शिक्षा की निम्नतम शर्तों को भी पूरे न करते हों। अधिकांश पश्चिमी देशों में यही स्थिति है। दूसरी ओर समाजवादी देश हैं,जहां सभी स्तरों पर शिक्षा लगभग मुफ्त है। यहां उच्च शिक्षाा प्रप्त करने के लिए योग्यता का होना अनिवार्य है, आर्थिक रूप से मजबूत होने की नहीं। वास्तव में, शिक्षा की सुलभता समाज में प्रचलित विचारधारात्मक आग्रहों से निर्धारित होती है।

इसके अलावा, शिक्षा की अन्तर्वस्तु (कंटेट) भी विचारधारा से निर्धारित होती है। लुई अल्थुसरा, जो एक प्रमुख फांसीसी मार्क्सवादी चिंतक है शिक्षा को राज्य का विचारधारात्मक यंत्र (ISA) मानते है। उनका कहना है कि शिक्षा समाज के प्रभुत्वशाली वर्ग के मूल्यों (राज्य के मूल्यों) को पुनस्थार्पित करने में सहायता पहुंचाती है। उदाहरण के लिए, पूंजीवादी समाज में शिक्षा पूंजीवादी मूल्यों का प्रचार करती है। सभी लोग पूंजीवादी मूल्यों को सार्वभौम मानकर सराहना सीख जाते है। इस तरह वे लोग भी जो व्यवस्था में शोषित हैं (यानि मजदूर, बेरोजगार आदि) इन मूल्यों को आदर्श मानकर स्वीकार करना सीख लेते हैं। अल्थुसर मानते हैं कि पारम्परिक समाज में राज्य का विचारधारात्मक यंत्र का काम धर्म करता था। यह सामाजिक स्तरीकरण के प्रचलित रूपों को स्थापित करने में मदद करता है। आधुनिक समाज में जब से शिक्षा का प्रसार हुआ है राज्य का विचारधारात्मक यंत्र, धर्म के बदले शिक्षा हो गया है।

यहां यह जोड़ना प्रासंगिक है कि इमाईल दुर्खाइम एवं तालोत पारसों जैसे समाजशास्त्रियों ने भी स्वीकार किया है कि समाज के मूल्यों को सुदृढ़ करने में शिक्षा एक महत्वपूर्ण भूमिका निभाती है। यद्यपि इन लोगो ने माना है कि यह एक अनिवार्यता है क्योंकि मूल्य समान के साझा विश्वासो को समाहित करने में शिक्षा धनात्मक रूप से मदद करती है। इस बारे में अल्थुसर का मत आलोचनात्मक है क्योंकि वे साझा विश्वास वाले मूल्यों के आधार पर ही प्रश्न चिन्ह लगाते है। अल्थुसर के लिए मूल्य समाज के प्रभुत्वशाली वर्ग (या पूंजीपति वर्ग) की दृष्टि का

प्रतिबिंबन है। पूंजीपति, अपने वर्ग–मूल्यों को सार्वभौम मूल्य के रूप में शिक्षा के द्वारा प्रचार करता है।

9.7 प्रजातंत्र और समानता

धर्मनिरपेक्ष विचारधारा का एक दूसरा पक्ष है : प्रजातंत्र का विकास। प्रजातंत्र जनता का शासन है इसमे उसकी जाति, धर्म या सेक्स कोई आधार नहीं बनता। आधुनिक प्रजातंत्र के उद्‌भव का आधार वह समतावादी विचारधारा है जिसका मूल मंत्र है : सबों को समानता। प्राचीन ग्रीस में जहां प्रत्यक्ष प्रजातंत्र का प्रयोग होता था, औरतों एवं दासों को अलग ही रखा गया था। यहां तक उत्तर–औद्योगिक समाज में भी, जो धर्मनिरपेक्ष विचारधारा पर आधारित थी : प्रजातंत्र सभ्य शक्तिशाली वर्ग तक ही सीमित था। बाद में चलकर इस नियम को बदला गया और सभी व्यक्तियों को वोट (मत) देने का अधिकार मिला। सन् 1920 के आसपास औरतों को मत देने का अधिकार मिला। भारत में स्वतंत्रता–प्राप्ति के बाद सबों को व्यापक मताधिकार प्राप्त हुआ।

उपर्युक्त विश्लेषण से यह स्पष्ट है कि प्रजातंत्र का आगमन एवं उसमें परवर्ती परिवर्तन मूलतः धर्मनिरपेक्ष एवं समतावादी विचारधारा का परिणाम है। यद्यपि आरम्भिक अवस्था में कुछ लोगों को प्रजातंत्रीय प्रक्रियाओं से अलग रखा गया। आज, कुछ अपवादों को छोड़कर सभी प्रजातंत्रीय देशों में समानता एक सर्वस्वीकृत मूल्य है।

शिक्षा के सहार समतावाद की अवधारणा को पुष्ट किया जा सकता है। प्रजातंत्री के सुचारू रूप से चलने के लिए सबसे पहले यह जरूरी है कि जनता को ज्ञान या जानकारी उपलब्ध हो। शिक्षा लोगों के क्षितिज की विस्तृत कर देता है। जिससे वे एक वृहत्तर दुनिया के बारे में जान सकते है एवं उसके साथ चल सकते है। बहरहाल शिक्षा अनिवार्यतः प्रजातंत्र विरोधी मूल्यों का विरोध नहीं भी कर सकती है। अगर शिक्षा और मौजूदा असमतावादी मूल्यों की सुदृढ़ करते हैं तो बहुत सम्भव है कि असमानता समाज में जारी रहे। राज्य का विचारधारात्मक यंत्र लोगों को यह स्वीकार करवाने के लिए अभिमुख करता है कि प्रचलित मूल्य मूलतः प्राकृतिक है। लोग यह सोचते है कि मौजूदा मूल्यों के चौखटे में ही जो विकल्प है सो है उसके बाहर नहीं। वे यह महसूस नहीं कर पाते कि वयस्क मताधिकार जैसे प्रजातंत्रीय साधनों के सहारे मौजूदा श्रेणीबद्ध प्रणाली को बदला भी जा सकता है।

उपर्युक्त विवेचन से यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि शिक्षा और प्रजातंत्र जैसे संस्थान सिर्फ अपने बल पर सामाजिक स्तरीकरण पद्धति को नहीं बदल सकते। मौजूदा सामाजिक स्थिति को ये संस्थान मजबूत करते है या परिवर्तित करने में सहायता चहुंचाते है या इस बात पर निर्भर करता है कि उस समाज की विचारधारात्मक स्थिति कैसी है। अगर विचारधारा स्तरीकरण पद्धति को परिवर्तित करना चाहती है तो शिक्षा सहायक सिद्ध होगी।

9.8 मार्क्स, दुर्खाइम और वेबर की विचारधाराएँ

अब तक हम लोगों ने सामाकिस्तरीकरण पर विचारधारा के प्रभाव कस सामान्य रूप से विवेचन किया है। यह कहा जा सकता है कि किसी भी समाज में स्तरीकरण की प्रकृति बहुत हद तक उस समाज के विचारधारात्मक विन्यासों पर

निर्भर करती है। इस सामान्य विवेचन के बाद अब हम लोग कुछ महत्वपूर्ण चिंतकों के मतों का विश्लेषण करेंगे, विशेषकर मार्क्स, दुर्खाइम एवं वेबर के विचारों का।

कार्ल मार्क्स

मार्क्स के अनुसार वर्ग ही सामाजिक स्तरीकरण का आधार बनाती है। वर्गो का आधार उत्पादन की प्रक्रिया में उनकी भूमिका एवं उत्पादन के साधनों पर उनके कितना नियंत्रण है – इस बात पर निर्भर करता है। किसी भी समाज के लोगों को दो वर्गो में बांट सकते है। पहला वर्ग वह है जो सम्पत्ति पर नियंत्रण रखता है (उत्पादन के साधनों समेत) और दूसरा जिसके पास कुछ भी नहीं है। दूसरा वर्ग अपनी जीवन–रक्षा के लिए पहले वर्ग पर निर्भर रहता है क्योंकि उत्पादन साधनों पर उनका कोई नियंत्रण नहीं है। सामाजिक स्तरीकरण के मार्क्सवादी अवधारणा का यही सारांश है क्योंकि कोई समाज वर्ग श्रेणियों में बंट जाता है इसकी कुछ निश्चित वजहें है।

मार्क्स के अनुसार सामाजिक स्तरीकरण का आधार समाज में श्रम का विभाजन है। इसका आरम्भ तब होता है जब व्यक्ति अपने कामों में विशेषज्ञता हासिल करने लगता है। पारम्परिक समाज में लोग सिफ रोटी, पकड़ा और मकान जैसे मूल आवश्यकताओं की पूर्ति किया करते थे। वहां कोई विशेषज्ञता की जरूरत नहं थी। सभी लोग एक ही काम करते थे – आखेट भोजन संग्रह एवं आश्रय स्थलों का निर्माण। प्राकृतिक विपदाएं एवं वन्श पशुओं के डर से लोग समूह में रहते थे। वन्य पशुओं का शिकार एवं भोजन–संग्रह करना, समूह में रहकर एक व्यक्ति के लिए यह सामान था।

मार्क्स इस अवस्था को "आदिम साम्यवाद" कहते थे। इस अवस्था में श्रम का कोई विभाजन नहीं था क्योंकि सभी एक ही काम किया करते थे। निजी सम्पत्ति भी किसी को नहीं थी। आवश्यकताओं के अनुरूप उत्पादन का भी स्तर काफी नीचा था।

औजारों के आविष्कार से उत्पादन पर नियंत्रण आरम्भ हुआ। प्राकृति पर पूर्णतया आश्रित रहने के बजाय अब मनुष्य उसे पालतू बताने लगा। इससे खास आवश्यकताओं पर उसका कुछ नियंत्रण हो गया जिससे अब खाद्य संग्रह के अलावा भी अन्य गतिविधियों के लिए कुछ अतिरिक्त समय बचने लगा। तकनालॉजी में कुछ और विकास होने पर स्थायी कृषि सम्भव हुआ। समाज में अब अतिरिक्त खाद्य पदार्थ उपादित होना सम्भव हो गया। अब चूंकि खाद्य उत्पादन में समाज के सभी सदस्यों का लगे रहना अनिवार्य नहीं था इसलिए लोग विभिन्न गतिविधियों में अब विशेषज्ञता हासिल कर सकते थे। उत्पादन के साधनों (भूमि, औजार इत्यादि) पर अब निजी स्वामित्व हो गया थाा। इस प्रकार से मानव–समाज का विकास हुआ और व्यवसायों के विविधीकरण से श्रम के विभाजन में भी बढ़ोत्तरी हुई।

समय के साथ–साथ व्यवसायों का मूल्य एक समान नहीं रहा। कुछ व्यवसायों को अन्य से अधिक महत्वपूर्ण माना गया। इसका परिणाम हुआ – सामाजिक असमानता का संस्थानीकरण। बहरहाल मार्क्स ने व्यवसायों के महत्व का विश्लेषण उसके उपयोगिता के आधार पर नहीं किया बल्कि, धन प्राप्त करने की उसकी क्षमता के आधार पर किया। सामंती समाज में कृषि दास एवं पूंजीवादी समाज में मजदूर सभी उत्पादन कार्य सम्पादित करते है। अगर ये काम करना बंद कर दें तो पूरी उत्पादन प्रणाली ही ठप्प हो सकती है।

सामंत या पूंजीपति ऐसे समाज में उत्पादन कार्यों में खुद बहुत कम या एकदम ही हिस नहीं लेते है फिर भी, समाज पर उनका प्रभुत्व होता है। उत्पादन के साधनों को खरीदकर ये लोग समाज में महत्तर श्रेणियां हासिल कर लेते है। साम्यवाद (जिसे समाजवाद भी कहा जाता है) के आरम्भि अवस्था में मजदूर वर्ग (सर्वहारा) उत्पादन के साधनों पर कब्जा कर लेते है। जिससे सामाजिक श्रेणीबद्धता में उनकी स्थति में सुधार आता है। अतः मार्क्स के अनुसार सम्पत्ति पर अधिकार या सम्पत्तिविहीनता ही सामाजिक स्तरीकरण पद्धति में वर्ग–स्थिति को निर्धारित करती है। उत्पादन–विधि द्वारा ही समाज में श्रम का विभाजन निर्धारित होता है और सामाजिक स्तरीकरण मौजूदा उत्पादन विधि का ही परिणाम होता है। सामंती युग में जमींदार समाज में प्रभुत्वशाली वर्ग था जबकि कृषि दास शोषित वर्ग था। उत्पादन के पूंजीवादी विधि के अंतर्गत पूंजीपति सबसे प्रभुत्वशाली वर्ग होगा है और समाजवाद में सार्वहारा ही प्रभुत्वशाली होता है। संक्षेप में, कहा जा सकता है कि जब तक निजी सम्पत्ति का अस्तित्व है, श्रम का विभाजन एवं वर्ग का होना निश्चित है।

यद्यपि, मार्क्स शोषण का आधार का निर्माण करने की वजह से वर्ग की आलोचना करते है फिर भी वे मानव–प्रगति के लिए भी इसे जिम्मेदार मानते है। यह मार्क्स के विश्लेषण का एक महत्वपूर्ण पक्ष है। वर्गो में विरोधी समूह होते है। एक वर्ग का हित दूसरे वर्ग के हित का विरोधी होता है। वर्गों के बीच यह संघर्ष की सामाजिक परिवर्तन का द्वार खोलता है।

इमाइल दुर्खाइम

दुर्खाइम की सामाजिक स्तरीकरण की अवधारणा भी श्रम–विभाजन पर आधारित है। लेकिन मार्क्स की तरह इसे वे शोषण–तंत्र के रूप में नहीं मानते है। दुर्खाइम के अनुसार सभी समाज किसी न किसी रूप में एकता के लिए प्रयत्नशील रहते है। विभिन्न श्रेणियां जो सामाजिक श्रेणीबद्धता का निर्माण करती है एक दूसरे को सहयोग करती है। श्रम–विभाजन ऐसी प्रणाली को कायम रखने में मदद पहुंचाती है। अपनी पुस्तक, "समाज में श्रम का विभाजन" में दुर्खाइम दो सिद्धांत प्रस्तुत करते है, जो समाज में एकता कायम रखने में सहायक होता है। वे ो प्रकार का समाज मानते है : पहला यांत्रिक समाज, दूसरा सामाजिक एकता की प्रकत्ति पर आधारित आवयविक समाज। यांत्रिक एकता सामान्य समाजों में पाया जाता है। इसमें समाज के सभी सदस्य एक ही तरह का काम करते है और इसमें श्रम का कोई विभाजन नहीं होता। यह अवस्था मार्क्स के "आदिम साम्यवाद" वाली अवस्था की तरह है जिसमें श्रम का विभाजन नहीं था। आखेटक एवं संगोहक समाज सामान्य समाज के उदाहरण है। लोगों में विशेषज्ञता नाममात्र की ही होती हौर वे आखोट एवं भोजन संग्रह में ही अपने कौशल को भांपते रहते है। यहां एकता यांत्रिक है क्योंकि लोग एक दूसरे से इसलिए जुड़ रहते है कि वे साथ रहकर ज्यादा सुरक्षित रहेंगे और जिसमें उनकी मूल गतिविधियां भी ज्यादा सुगम हो जायेगी।

इसके विपरीत, जटिल समाज भिन्नताओं की वजह से एकता बनाये रहता है। ऐसे समाज की विशेषता श्रम का वृहत् विभाजन होता है क्योंकि वे विभिन्न व्यवसायों में लगे होते हैं एवं उनकी जीवन–शैलियां भी भिन्न होती है। व्यक्ति या समूह के द्वारा किया गया काम पूरे समाज को अपेक्षित होता है। हम लोगों का समाज भी ऐ ऐसा ही समाज है। इसमें डाक्टर, वकील, श्खिक्षक, व्यवसायी, मजदूर, उद्योगपति, लेखापाल सभी रहते हैं। इसके अलावा, शिल्पी, कारीगर एवं मजदूर भी रहते है। ये समूह एवं उसके सदस्य विशेषीकृत कार्यों को सम्पादित

करते है। एक समाजशास्त्री डाक्टर या लेखपाल का काम नहीं कर सकता उसी तरह एक डाक्टर, जो अपना एक घर बनाता चाहता हो, एक बढ़ई या राजमिस्त्री का काम नहीं कर सकता है। उसे इन लोगों को सहायता लेनी ही पड़ेकी। हर व्यक्ति हर काम नहीं कर सकता है इसलिए उसे अपने दैनिक जीवन में दूसरों की सहायता लेनी ही पड़ती है।

ऐसा लग सकता है कि ऐसी भिन्नता एवं विविधता वाला समाज अस्थायी होगा। विशेषज्ञों में आपसी संघर्ष हो सकता है। लकिन दुर्खाइम का विचार है कि यह संघर्ष इसलिए नहीं होता क्योंकि सभी एक दूसरे पर आश्रित है। हम लोगों को दूसरों की जरूरत होती है क्योंकि अपने हितों के लिए उनके हुनर की हमें आवश्यकता पड़ती है। ऐसे समाज में हर व्यक्ति अपरिहार्य होता है क्योंकि उसके पास जो विशेष हुनर होता है वह दूसरे के पास नहीं है जबकि उसे इसकी जरूरत है। इसी रूप में एकता आवयविक होता है। जैसे किसी जींव के विभिन्न अवयव (उदाहरण के लिए हृदय, यकृत, दुर्दा, मस्तिष्क आदि मानव अंग) जीव को जीवित रखने के लिए मिल–जुलकर काम करते है उसी प्रकार औद्योगि समाज में अधिकृत कार्य विशेषीकृत हो गये है लेकिन वे सामाजिक एकता के लिए मिल–जुलकर काम करते है।

इसलिए समाज में श्रम–विभाजन के साथ सामाजिक स्तरीकरण पाया जाता है जो मूलतः आवयविक एकता का ही आधार है। इस तरह की सामाजिक स्तरीकरण की पद्धति इसलिए स्थयी रह जाती है क्योकि व्यक्ति या समह एक दूसरे के हुनर या कौशल पर आश्रित रहते हैं। सामाजिक श्रेणीबद्धता में किसी व्यक्ति या समूह का स्थान उसके कौशल या हुनर की श्रेणी पर निर्भर करता है। उदाहरण के लिए, एक मजदूर की तुलना में एक डाक्टर का स्थान ज्यादा ऊंचा है क्योंकि डाक्टरी हुनर या कौशल को आसानी से प्राप्त नहीं किया जा सकता है। एक औद्योगिक मजदूर को मजदूर के लिए अपेक्षित जो हुनर है, वह आसानी से प्राप्त किया जा सकता है।

मेक्स वेबर

बेवर की विचारधारा मार्क्स के विचार से बहुत कुछ मिलती–जुलती है। वेबर सामाजिक स्तरीकरण के लिए वर्ग को एक महत्वपूर्ण पक्ष मानते है। वेबर भी मार्क्स की तरह वर्ग को आर्थिक संदर्भों मे ही परिभाषित करते है। लेकिन इसके साथ ही मार्क्स की तुलना में दो महत्वपूर्ण भिन्नताएं भी है। पहला वेबर का मत वर्ग के आर्थिक निर्धारीकरण पर आधारित नहीं है और दूसरे वर्ग के अतिरिक्त वह स्तरीकरण में कुछ और आयाम जोड़ते है। अब संक्षेप में, हम लोग वेबर के मत का विश्लेषण करेंगे।

वर्ग–विभाजन पर विचार करते समय वेबर ने वर्गों में अन्तर आर्थिक भेद के आधार पर किया था। प्रथम, विभिन्न समूहों का "जीवन–अवसर" एवं द्वितीय "बाजार" में उनका स्थान – ये दोनों ही वर्ग का निर्माण करते है। किसी समाज में व्यक्ति को जो आर्थिक और सांस्कृतिक सामग्र में हिस्सा मिलता है उसे ही वेबर "जीवन–अवसर" कहते है। आर्थिक सामग्री से वेबर का अर्थ सम्पत्ति, या उत्पादन शक्तियों, आय एवं धन से है। सांस्कृतिक सामग्री वे हैं जिससे लोगों को समाज में बेहतर स्थान मिलता है। इसके अन्तर्गत शिक्षा, भोजन, वस्त्र एवं आवास स्थानों जैसे भौतिक चीजें भी आती है।

एक समाज में विभिन्न आर्थिक और सांस्कृतिक साम्रग्रियां उपलब्ध रह सकती है लेकिन जिस पर सभी समूहों (वर्गो) का समाज अधिकार नहीं भी हो

सकता है। उदाहरण के लिए, विकसित समाज में रोटी, कपड़ा और मकान सबको उपलब्ध हो सकता है लेकिन सभी वर्गो में रोटी, कपड़ा और समकान की कोटियों में फर्क होगा। उच्च वर्ग के लोग जिस तरह का खाना खाते हैं या खा सकते है वैसा निम्न वर्ग के लिए खा पाना संभव नहीं है। यही बात मकानों के लिए है। हालांकि बड़े–बड़े महल समाज में उपलब्ध है, लेकिन सिर्फ उनके लिए जो इसे वहन कर सकते है। मजदूरों के लिए वहन करना जाहिर है सम्भव नहीं होगा। शिक्षा और वस्त्र तक पहुंच भी समाज के सभी वर्गों के लिए एक समान नहीं होगा। विभिन्न समूहों द्वारा इन सामग्रियों को प्राप्त करने की क्षमता में जो अन्तर है वही उनके जीवन शैलियों को भी निर्धारित करती है। वर्ग का दूसरा पहलू बाजार की स्थिति से संबंधित है। बेवर का मानना है कि सिर्फ सम्पत्ति पर नियंत्रण या स्वामित्व ही वर्ग स्थिति को अनर्धारित नहीं करता है। बाजार में बेहतर स्थिति के कई स्रोतों में पूंजी भी एक स्रोत है जिनके पास पूंजी है वे बेहतर स्थिति में जीते है। लेकिन बाकी केलोग अनिवार्यतः किसी भ्अविभेदित वर्ग का निर्माण नहीं करते। सम्पत्तिहीन लोगों के बीच वर्ग का निर्माण उनके हुनर एवं शिक्षा के आधार पर होता है। वस्तुतः सभी वर्गो के लिए एक बाजार स्थिति है। दुर्लभ कौशल वाले लोगों को उच्च तनख्वाह मिलती है। प्रशिक्षित एवं शिक्षित लोग दुर्लभ होते है इसलिए उनके हुनर का ज्यादा मांग रहता है, जिससे वे ऊंची तनख्वाह पासकते है। ये लोग एक विशिष्ट वर्ग का निर्माणकरते है जिसका आधार बाजार में उनकी स्थिति होती है। ऐसे वर्ग में प्रबुद्ध वर्ग का जीवन अवसर उस समूह के बाजार–स्थिति से संबंधित होता है। वेबर औद्योगिक समाज में मुख्यतः चार वर्ग मानते है। ये हैं –

(क) धनी वर्ग या सम्पत्तिशाली वर्ग,

(ख) प्रबुद्ध प्रशासक एवं प्रबंधक वर्ग,

(ग) छोटे–छोटे व्यवसायी एवं दुकानदारों का परम्परिक निम्न बुर्जुआ वर्ग, और

(घ) मजदूर वर्ग।

वर्ग के अलावा सामाजिक स्तरीकरण के कुछ और भी पहलू हैं। सम्पत्तिशाली वर्ग दूसरे वर्गों से इसलिए उच्च नहीं हैं कि उसे आर्थिक जीवन अवसर प्राप्त है बल्कि इसलिए भी कि उसकी शक्ति तक पहुंच है। ये दो कारक– "जीवन–अवसर" एवं "शक्ति" लोगों को उच्च प्रतिष्ठा प्रदान करती है, जो अनिवार्यतः उच्च सामाजिक सम्मान दिलाने वाले साधन हैं। वेबर का मानना है कि आर्थिक भिन्नताएं वर्गों का निर्माण करती हैं, राजनैतिक (शक्ति) विशिष्टताएं राजनैतिक दल उत्पन्न करती है एवं सम्मान के आधार पर जो भिन्नताएं है वे राजनैतिक दलों का निर्माण करती हैं और, सम्मान के जो अन्तर हैं वे स्तरीकृत समूहों को उत्पन्न करती है। किसी समूह के स्तर–निर्धारण में ये तीन पक्ष आधार हो भी सकते हैं और नहीं भी। अतः वेबर मानते है कि सिर्फ सम्पत्ति संबंध ही सामाजिक स्तरीकरण को निर्धारित करने वाला एक मात्र कारक नहीं हो सकता है।

मार्क्स, दुर्खाइम एवं वेबर का तुलनात्मक अध्ययन

मार्क्स, दुर्खाइम एवं वेबर के बीच पाये जाने वाले कुछ बिन्दुओं का उल्लेख पहले किया जा चुका है। दुर्खाइम एवं मार्क्स दोनों ने सामाजिक स्तरीकरण का आधार श्रम का विभाजन माना। मार्क्स के अनुसार निजी सम्पत्ति के आधार पर जो श्रम का विभाजन होता है वह अन्ततः परस्पर विरोधी वर्गो का निर्माण करता है। सम्पत्ति संबंधों के परिणामस्वरूप श्रम का विभाजन लोगों पर आरोपित कर दिया

जाता है। दूसरी ओर दुर्खाइम मानव–समाज में इसे प्राकृतिक मानते हैं क्योंकि श्रम का विभाजन ही आवयविक समाजिक एकता प्रदान करती है। यह समाज के सामूहिक अन्तरात्मा से उत्पन्न हेाती है। दुर्खाइम का यह भी विश्वास है कि चूंकि आवययिक एकता ही श्रम के विभाजन का आधार है इसलिए इसमें कोई भी परिवर्तन समाज में अराजकता की स्थिति ले आयेगा।[cxcvi]

दुर्खाइम का विचार प्रकार्यात्मक या कार्यपरक विश्लेषण का आधार बनाती है जिसका वाद में चलकर उेडक्लिफ–ब्राउन एवं पार्सन्स ने पल्लिवित किया। मार्क्सवादी चिंतकों ने दुर्खाइम क इस विचार का खंडन किया है। इन लोगों का कहना है कि सामाजिक एकता समाज में स्थायित्व ला सकता है लेकिन इसका मतलब यह नहीं है कि वहां कोई शोष्ज्ञण नहीं है, जैसा कि दुर्खाइम मानते है। इसके विपरीत इस तरह की स्थायित्व की अवधारणा तो सम्पत्तिशाली शासक वर्ग प्रचारित करना चाहेगे क्योंकि इससे वे जो दूसरे वर्गों का शाषण करते हैं वह वैध एवं न्यायोचित ठहराया जा सकता है।

मार्क्स एवं वेबर के विचारों में समानता का आधार यह है कि दोनों ही सामाजिक स्तरीकरण में "वर्ग" को आधार मानते है। यद्यपि, सामाजिक स्तरीकरण एवं वर्ग के निर्माण में वेबर आर्थिक प्रतिमान के अलावा कुछ और भी जोड़ते है। वेबर मानते हैं कि असमान जीवन–अवसर एवं बाजार स्थिति से ही समाज में वर्ग – भिन्नताएं उभरती है। एक निश्चित समय बिन्दु में समाज में वर्गो की जो स्थति होती है वेबर ने उसका अध्ययन किया। वेबर उन ऐतिहासिक परिस्थितियों को नजरअंदाज कर देते हैं जो कुछ वर्गो को बेहतर जीवन'अवसर प्रदान करती है।

वर्ग की मार्क्सवादी अवधारणा में वर्ग–निर्माण में ऐतिहासिक पक्ष की भूमिका पर भी पूरा ध्यान रखा जाता है। मार्क्स इसकी व्याख्या करते हैं कि क्यों समाज में वर्ग भिन्नताएं उभरती है। मार्क्स वर्ग के अस्तित्व की व्याख्या करके ही संतुष्ट नहीं हो जाते हैं बल्कि वे इसकी विवचेना भी करहते हैं कि कैसे ये वर्ग–भिन्नताएं अस्तित्व में आयी। इस प्रक्रिया में मार्क्स वर्ग का भविष्य भी समझते है। दूसरे शब्दों में, मार्क्स वर्ग एवं सामाजिक स्तरीकरण को एक गतिशील निर्माण के रूप में देखते हैं जो क्षण–क्षण परिवर्तनशील है। मार्क्स कोइस परिवर्तनों के कारण को निर्धारित करने में दिचस्पी थी क्योंकि इसके सहारे ही भविष्य के विकासों को समझा जा सकता था। इसलिए मार्क्सवादी प्रणाली में वर्ग की ऐतिहासिकता पर हमेशाजोर दिया जाता है। मार्क्स वर्ग संरचना को गतिशील मानते थे, स्थिर नहीं। परिवर्तन हमेशा ही वर्गो के बीच संघर्ष से उभरता है न कि उनके आपसी सहयोग से। यही वे बिन्दु हैं जो मार्क्स को दुर्खाइम एवं वेबर से विशिष्ट बनाते हैं।[cxcvii]

9.9 भारतीय संदर्भ

भारत में पारम्परिक वर्ग व्यवस्था पर आधारित स्तरीकरण व्यवस्था बहुत ही दृढ़ है और जिसकी प्रकृति समतावादी नहीं है। स्वतंत्रता के पहले इसे बदलने की कोई विशेष कोशिश नहीं की गई थी। आजादी मिलने के बाद सरकार एक समतावादी सामाजिक क्रम लाने के लिए प्रयत्नशील हुआ। भारतीय संविधान के अनुसार भारत एक प्रभुत्वसम्पन्न, धर्मनिरपेक्ष, प्रजातांत्रिक एवं समाजवादी गणराज्य है। यह संविधान सबों को स्वतंत्रता एवं समानता की गारंटी देता है। संविधन में परिकल्पित परिवर्तनों का एक निश्चित विचारधारात्मक आधार है। इसके अनुसार न्यायपूर्ण सामाजिक व्यवस्था के लिए, राज्य, व्यक्ति के अच्छे स्वभाव पर ही सारा

मामला नहीं छोड़ेगा बल्कि सक्रिय हस्तक्षेप के सहारे उसे कायम रखने की कोशिश करेगा।

स्वतंत्र भारत की सरकार ने संविधान में उल्लेखित उद्देश्यां को विभिन्न नीतियों एवं कार्यक्रमों के सहारे पूर्ण करने की कोशिश की। सभी बराबर हैं – सिर्फ यह करने से ही समतावादी व्यवस्था स्थापित नहीं हो जाती। सरकार को यह विश्वास दिलाना होगा कि सभी जनता को बराबर अवसर प्राप्त है। ऐसा घोषित किया गया है कि रोजगार एवं शिक्षा के क्षेत्र में कोई भेदभाव नहीं बरता जायेगा। लेकिनजब तक मल असमानताओं को कम नहीं कर दिया जाता ऐसे घोषणाओं का कोई अर्थ नहीं है। जैसा कि हम लोग देखते हैं कि कुछ गिने चुने लोग ही अच्छी शिक्ष्ज्ञा प्राप्त कर सकते हैं, लाभप्रद नौकरियों पर जिनका एकाधिकार होता है एवं वही सरकार में सत्ता भी हथियाते है। सामाजिक एवं आर्थिक रूप से पिछड़ा वर्ग इन अवसरों का कभी लाभ नहीं उठा पायेगा क्योंकि उनके पास वे साधन ही उपलब्ध नहीं है जिससे वे हमारे समाज के प्रभुत्वशाली वर्ग का मुकाबला कर सके।[cxcviii]

इन अपंगताओं से पिछड़े वर्गों को उबारने के लिए कई कल्याणकारी कार्यक्रमों को आरम्भ किया गया। सामाजिक क्षेत्र में जात, धर्म या लिंग के आधार पर संविधान किसी भी तरह के भेदभाव को स्वीकार नहीं करती है। अनुसूचित जाति, धार्मिक रूप से अल्पसंख्यक एवं औरत के विरूद्व किसी भी तरह के भेदभाव को अपराध माना जाता है। आर्थिक क्षेत्र में, गरीबों की स्थिति को सुधारने के लए गरीबी हटाने वाले कई कार्यक्रम चलाये जा रहे है। राजनैतिक क्षेत्र में अपेक्षित प्रतिनिधित्व देने के लिए अनुसूचित जातियों एवं अनुसूचित जनजातियों को अलग सुरक्षित चुनाव क्षेत्र प्रदान किया गया है। इसके अतिरिक्त नौकरयिों में आरक्षण एवं शिक्षा संस्थानों के दाखिले में भी आरक्षण की व्यवस्था अनुसूचित जातियों एवं अनुसूचित जनजातियों के लिए किया गया है। ऐसा इसलिए किया गया है क्योंकि वर्षो पुराने पूर्वाग्रहों के चलते मुख्य धार से कटे हुए ये लोग सामान्य स्थिति में नौकरी या शिक्षा में अपना उचित हक नहीं प्राप्त कर पाये।

इन सब उपायों के बावजूद आजादी के चार दशक बाद भी आज हम लोग पाते है कि इन लोगों की स्थिति में कोई खास सुधार नहीं हुआ है। अनुसूचित जाति, अनुसूचित जनजाति, धार्मिक अल्पसंख्यक एवं महिलाएं, जो हमारे समाज के कमजोर एवं पिछड़े वर्ग है उन्हें शिक्षा एवं रोजगार में उचित प्रतिनिधित्व नहीं मिल पाया है। अब भी ये कमजोर ही हैं। इसकी मुख्य वजह यह है कि सरकार अभी तक इन कमजोर वर्गों के लिए कुछ खास नहीं कर पाई है। पिछड़ा वर्ग भी समानता के लिए अपनी मांगों को प्रभावी ढंग से नहीं उठा पाया है। यही वजह है कि प्रभुत्वशाली वर्ग सरकार को अपने पक्ष में कर लेता है।[cxcix]

प्राचीन समय में ''राजा के दैवी अधिकार'' के माध्यम से राजा 'दैवी उत्पत्ति के सिद्धान्त' के अनुसार अपनी स्थिति तथा समाज के अन्य लोगों की स्थिति को स्थाई बनाए रखना चाहता था। इस सिद्धान्त के द्वारा उसने अपनी तथा औरों की स्थिति को तार्किक ठहराया। राजा अपनी शक्तियों को अपने अधिकारियों को सौंपता था तथा यह माना जाता था कि राजा के आदेशों की अवहेलना ईश्वरीय आदेश की अवहेलना है। इस तरह विचार को नियंत्रित करके राजा अपनी शक्तियां एवं प्राधिकार को ज्यादा प्रभावी ढंग से प्रकट कर सकता था बजाय इसके कि लोगों कि आवाज को वह जबरदसती दबाए।

आज के सन्दर्भ में अभिजन सूचना की शक्तियों को नियंत्रित करके अपने प्रभाव को प्रदर्शित करते हैं। प्रजातंत्र के अभिजन मीडिया तथा सूचना के स्रोतों तथा सन्दर्भों को नियंत्रित करके अपने लिए अधिक सम्मान तथा स्व–स्वीकृति आर्जित कर लेते हैं। आज ही के सन्दर्भों में सोसल नेटवर्किंग जोकि सूचना का एक सशक्त माध्यम है को भी तोड़–मरोड़ कर प्रस्तुत करते हैं। आज ही के सन्दर्भों में कानूनी तन्त्र उन्हीं कानूनों को लागू करने पर जोर देते हैं जो अभिजनों द्वारा बनाए गए हैं। अभिजन ही पुलिस तथा मिलिट्री को नियंत्रित रखते हैं।

सारांशतः कह सकते है कि अभिजन बिना प्रत्यक्ष दबाव दिये ही विभिन्न माध्यमों से हमारे विचारों, एवं व्यवहार को नियंत्रित करते हैं।

9.10 वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1. विचारधाराओं को प्रतिनिधि माना जा सकता है–

   क. जनता की चेतना का

   ख. समाज के एक वर्ग का

   ग. समाज के एक वर्ग या जनता की चेतना का

   घ. किसी व्यक्ति के व्यक्तिगत विश्वास का

2. बौद्ध धर्म समर्थक था–

   क. जाति प्रथा का ख. वर्ण व्यवस्था का

   ग. मनुष्य की समानता का घ. मनुष्य की विविधता का

3. वेबर औद्योगिक समाज में मुख्यतः कितने वर्गों के अस्तित्व को मानते हैं

   क. दो ख. चार

   ग. छह घ. आठ

4. भारतीय संविधान के अनुसार भारत एक ऐसा राज्य है जिसमें शामिल नहीं है–

   क. प्रभुत्वसम्पन्न, धर्मसापेक्ष, प्रजातांत्रिक एवं समाजवादी गणराज्य

   ख. प्रभुत्वसम्पन्न, धर्मनिरपेक्ष, राजशाही एवं समाजवादी गणराज्य

   ग. औपनिवेशिक, धर्मनिरपेक्ष, प्रजातांत्रिक एवं समाजवादी गणराज्य

   घ. प्रभुत्वसम्पन्न, धर्मनिरपेक्ष, प्रजातांत्रिक एवं समाजवादी गणराज्य

9.11 उत्तर

1. ग
2. ग
3. ख
4. घ

9.12 सन्दर्भ ग्रन्थ

- एम हरलंबस,सोशियोलॉजी थीम्स एंड पर्सपेक्टिव, ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, 1980
- योगेन्द्र सिंह, मॉडर्नाइजेशन ऑफ इंडियन ट्रेडिशन, रावत पब्लिकेशन्स, जयपुर, 1986

[i] समाजों में स्तरीकरण, ईएसओ–04, इग्नू

[ii] वही

[iii] वही

[iv] वही

UGSY-04

सामाजिक स्तरीकरण

उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय,
प्रयागराज

खण्ड – 3

सामाजिक गतिशीलता

इकाई – 10 **149–160**

सामाजिक गतिशीलता : अवधारणा एवं मापन

इकाई – 11 **161–172**

पूर्व आधुनिक समाजों में सामाजिक गतिशीलता

इकाई – 12 **173–184**

आधुनिक समाजों में सामाजिक गतिशीलता

इकाई – 13 **185–194**

व्यवसाय, शिक्षा एवं सामाजिक गतिशीलता

उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय

उत्तर प्रदेश प्रयागराज

परामर्श समिति

प्रो0 के0 एन0 सिंह (अध्यक्ष) — कुलपति, उ0प्र0 राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज

डॉ० ए० के० गुप्ता — कुलसचिव, उ0प्र0 राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज

सम्पादक

प्रो0 संजय सिंह (अध्यक्ष) — समाजशास्त्रए डॉ० राम मनोहर लोहिया राष्ट्रीय विधि, विश्वविद्यालय, लखनऊ

पाठ्यक्रम निर्माण समिति (अध्ययन बोर्ड)

1. डॉ० एम० एन० सिंह – पूर्व निदेशक, समाज विज्ञान विद्याशाखा, उ0प्र0 राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज
2. डॉ० इति तिवारी – पूर्व एसो० प्रोफेसर समाज विज्ञान विद्याशाखा, उ0प्र0 राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज
3. श्री रमेश चन्द्र यादव – शैक्षणिक परामर्शदाता, समाजशास्त्र, समाज विज्ञान विद्यशाखा, उ0प्र0 राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज

UGSY-04– समाजिक स्तरीकरण

लेखक–

1. डॉ० इति तिवारी – पूर्व एसो० प्रोफेसर समाज विज्ञान विद्याशाखा, उ0प्र0 राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज
2. श्री रमेश चन्द्र यादव – शैक्षणिक परामर्शदाता, समाजशास्त्र, समाज विज्ञान विद्याशाखा, उ0प्र0 राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज
3. डॉ० शैलजा सिंह एसो० – प्रोफेसर, डॉ० शकुन्तला मिश्रा राष्ट्रीय पुनर्वास विश्वविद्यालय, लखनऊ
4. डॉ० विजय कुमार वर्मा – असि० प्रोफेसर, डॉ० शकुन्तला मिश्रा राष्ट्रीय पुनर्वास विश्वविद्यालय, लखनऊ
5. डॉ० विलोक सिंह – असि० प्रोफेसर, स्वामी सहजानन्द पी०जी० कालेज, गाजीपुर (उ०प्र०)
6. श्री अजय कुमार त्रिपाठी – जे० एन० पी०जी० कालेज, लखनऊ
7. डॉ० जया द्विवेदी तिवारी – अवध गर्ल्स डिग्री कालेज, लखनऊ
8. डॉ० श्वेता तिवारी ए०पी० – सेन गर्ल्स मेमोरियल पी०जी० कालेज, लखनऊ
9. डॉ० मपीन्द्र कुमार तिवारी – डी०ए०वी० कालेज, लखनऊ

2020 (मुद्रित)

© उ0प्र0 प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज 2020

ISBN- 978-93-83328-41-3

सर्वाधिक सुरक्षित। इस सामग्री के किसी भी अंश को इंदिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय की लिखित अनुमति के बिना किसी भी रूप में, मिमियोग्राफी (वक्रमुद्रण) द्वारा या अन्यथा पुनः प्रस्तुत करने की अनुमति नहीं है।

उ0प्र0 राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज सर्वाधिकार सुरक्षित। इस पाठयसामग्री का कोई भी अंश उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, की लिखित अनुमति लिए बिना मिमियोग्राफ अथवा किसी अन्य साधन से पुनः प्रस्तुत करने की अनुमति नहीं है।

नोट : पाठय सामग्री में मुद्रित सामग्री के विचारों एवं आमड़ों आदि के प्रति विश्वविद्यालय, उत्तरदायी नहीं है।

प्रकाशन – उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन विश्वविद्यालय, प्रयागराज

प्रकाशक – कुलसचिव, डॉ. अरूण कुमार गुप्ता उ0प्र0 राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज – 211021

मुद्रक – चंद्रकला यूनिवर्सल प्राइवेट लिमिटेड, 42/7 जवाहरलाल नेहरू रोड, प्रयागराज

ईकाई–10

सामाजिक गतिशीलता: अवधारणा एवं मापन

इकाई की रूपरेखा

10.1 उद्देश्य

10.2 प्रस्तावना

10.3 सामाजिक गतिशीलता की अवधारणा

10.4 सामाजिक गतिशीलता के प्रकार व स्वरूप

10.5 सामाजिक गतिशीलता का मापन

10.6 सामाजिक गतिशीलता के पक्ष

10.7 भारतीय समाज में सामाजिक गतिशीलता

10.8 बोध प्रश्न

10.9 उत्तर

10.10 संदर्भ ग्रन्थ

10.1 उद्देश्य

इस ईकाई के अध्ययन के बाद छात्र

1. सामाजिक गतिशीलता की अवधारणा को समझ सकेंगे।
2. सामाजिक गतिशीलता के प्रकार व स्वरूप को समझ सकेंगे।
3. जान पायेंगे कि समाज में सामाजिक गतिशीलता की माप के आधार क्या हो सकते हैं।
4. भारतीय समाज में सामाजिक गतिशीलता की प्रकृति को समझ सकेंगे।

10.2 प्रस्तावना

सामाजिक धरातल पर होने वाला परिवर्तन ही सामाजिक गतिशीलता है। परिर्वतन की भांति गतिशीलता भी समाज का शाश्वत नियम है। सामाजिक गतिशीलता एक मूल्य निरपेक्ष प्रक्रिया है जिसकी कोई एक दिशा नहीं होती। बदलाव की इस प्रक्रिया से पता चलता है कि कोई व्यक्ति या समूह समाज में कितना आगे निकल सकता है या पीछे रह सकता है। नयी चीजें या घटनाओं के प्रति लोगों की प्रतिक्रियाओं को जाना जा सकता है। प्रत्येक समाज में उसकी प्रकृति के आधार पर सामाजिक गतिशीलता की माप की जा सकती है। इस माप के आधार पर हम बता सकते हैं कि कोई समाज किस स्तर तक आधुनिक है या

दकियानूस। सामाजिक गतिशीलता, सामज में स्तरीकरण का अभिन्न हिस्सा है। समाज में स्तर नहीं होंगे तब गतिशीलता की कोई बात ही नहीं होगी।

10.3 सामाजिक गतिशीलता की अवधारणा

गतिशीलता का अभिप्राय बदलाव से है तथा सामाजिक गतिशीलता का अभिप्राय एक सामाजिक प्रस्थिति से दूसरी सामाजिक प्रस्थिति की तरफ हुआ बदलाव अथवा परिवर्तन है। ये सामाजिक प्रस्थितियों, आर्थिक, व्यावसायिक, आय इत्यादि संदर्भों से सम्बद्ध हैं। सामाजिक गतिशीलता सदैव दूसरे व्यक्तियों या समूहों के सन्दर्भ में होती है। अतः एक व्यक्ति को जो सामाजिक प्रस्थिति प्राप्त है वह सदैव अन्य व्यक्तियों अथवा समूहों की सामाजिक प्रस्थिति से जुड़ी होती है। गतिशीलता का अध्ययन हमेशा स्तरीकरण की पृष्ठभूमि में ही किया जाता है। स्तरीकरण यदि एक ग्राफ पेपर की तरह है तो गतिशीलता उस ग्राफ पर ऊपर–नीचे और दायें–बायें खिसकने वाला एक प्रकार का रेखा चित्र है।

पी0 सोरोकिन के अनुसार– '' सामाजिक गतिशीलता का अर्थ सामाजिक समूहों तथा स्तरों में किसी व्यक्ति का एक सामाजिक स्थिति से दूसरी स्थिति में पहुँच जाना है''। इस परिभाषा से स्पष्ट है कि सामाजिक स्थिति में परिवर्तन होना ही सामाजिक गतिशीलता है।

मेटा स्पेंसर ने सामाजिक गतिशीलता को व्यापक संदर्भ देते हुए लिखा है कि – सामाजिक गतिशीलता के अंतर्गत उन सभी परविर्तनों को रखा जा सकता है। जिनसे व्यक्ति के पेशे व व्यवसाय में परिवर्तन होता है। अर्थात एक ही सामाजिक स्थिति में रहकर भी व्यक्ति के जीवन में गतिशीलता हो सकती है।

गिडेन्स ने भी इस तथ्य को दृष्टिगत रखते हुए लिखा है कि –'' सामाजिक गतिशीलता का अभिप्राय व्यक्तियों या समूहों को विभिन्न सामाजिक एवं आर्थिक पदों के बीच गतिशीलता से है।'' इस परिभाषा से दो तथ्य सामने आते हैं। पहला– एक ही स्थिति में रहकर यदि पेशे या आमदनी में कोई परिवर्तन होता है तो उसे सामाजिक गतिशीलता माना जायेगा। दूसरे–गतिशीलता केवल व्यक्ति के जीवन में ही नहीं बल्कि सामूहिक जीवन में परिवर्तन को भी इंगित करती है।

हार्टन व हंट ने भी स्पष्ट रूप से कहा है कि सामाजिक गतिशीलता समूहों व व्यक्तियों दोनों के साथ लागू होती है।

समाज के विभिन्न वर्गों में सामाजिक गतिशीलता का प्रतिमान भी एक जैसा नहीं होता। उच्च व निम्न वर्ग के लोगों के जीवन में जब कोई छोटी सी भी नयी उपलब्धि सामने आती है तो उसका वह तुरंत लाभ उठाना चाहता है। लेकिन जब मध्यम वर्ग के लोगों के सामने कोई ऐसा मौका सामने आता है तो वह इंतजार करना चाहता है। वह बड़ी उपलब्धि को प्राप्त करने के लिए साधारण उपलब्धि को कभी–कभी टाल देता है। इस तथ्य को हार्टन व हंट ने ''विलंबित तुष्टिकरण प्रतिमान'' की संज्ञा दी है।

वस्तुतः सामाजिक गतिशीलता, समाज में उच्च स्तर की ओर तथा निम्न स्तर की ओर होने वाले परिवर्तन के साथ–साथ समान स्तर में होने वाले परिवर्तन को भी इंगित करती है। हालांकि उच्च व निम्न दिशा में होने वाला परिवर्तन ज्यादा महत्वपूर्ण है। ऐसा बदलाव सामाजिक स्तरीकरण की व्यवस्था के अन्तर्गत एक स्तर से दूसरे सामाजिक स्तर की ओर होता है जिसका कि व्यक्ति भाग है।

सामाजिक स्तरीकरण धन, प्रतिष्ठा, शक्ति, व्यवसाय, आय इत्यादि के आधार पर व्यक्तियों अथवा समूहों में पाया जाने वाला क्रम विन्यास है। स्तरीकरण वस्तुओं, सेवाओं, शक्ति एवं प्रतिष्ठा के असमान वितरण से उत्पन्न असमानता है जो समाजों में पायी जाती है। इसके परिणामस्वरूप अधिकारों एवं कर्तव्यों में उत्पन्न असमानता भी स्तरीकरण का भाग बन जाती है। वे व्यक्ति जिनमें उच्च अथवा निम्न स्तर की ओर गतिशीलता सामाजिक प्रस्थितियों के संदर्भ में पायी जाती है वे सामाजिक संरक्षण में भी गतिशीलता अथवा सामाजिक क्रम विन्यास में भी परिवर्तन का अनुभव करते हैं। जिसके परिणामस्वरूप वे नवीन सामाजिक वर्ग की सदस्यता प्राप्त करते हैं। समाज में वर्ग निर्माण की प्रक्रिया संभव हो पाती है, साथ ही साथ वर्ग विघटन भी इसमें शामिल है। यह तर्क हमें सामाजिक गतिशीलता के उस पक्ष की ओर ले जाता है जिसमें वे विभिन्न माध्यम सम्मिलित हैं जिनसे किसी व्यक्ति की सामाजिक प्रस्थिति में परिवर्तन होता है।

सामाजिक गतिशीलता समाज में प्रकार्यात्मक के साथ दुष्प्रकार्यात्मक भी है। समाज में व्यक्ति प्रतियोगिता के माध्यम से एक स्तर से दूसरे दूसरे में गतिशील होने का प्रयास करता है। प्रतियोगिता से कुछ लाभ है तो हानियाँ भी। बंद समाजों जहाँ गतिशीलता की संभावनायें कम होती हैं वहाँ माना जाता है कि व्यक्ति की प्रतिभा व विकास पर विपरीत प्रभाव पड़ता है। ऐसे में यह भी ध्यान रखना चाहिए कि समाज में तीव्र गतिशीलता मानसिक तनाव व असंतुलन को भी जन्म देती है। पूर्ण गतिशीलता न होने के परिणामस्वरूप व्यक्ति सीमान्त या हाशिये का व्यक्ति बनकर रह जाता है।

10.4 सामाजिक गतिशीलता के प्रकार व स्वरूप

सामाजिक गतिशीलता के प्रकार के सम्बन्ध में सोरोकिन ने अपनी पुस्तक Social Mobility में सभी का ध्यान आकृष्ट किया। उन्होंने सामाजिक गतिशीलता को प्रमुख रूप से दो भागों में बाँटाः

1. क्षैतिज या समस्तरीय गतिशीलता (Horizontal Mobility)
2. उर्ध्व या लम्बवत विषम स्तरीय गतिशीलता (Vertical Mobility)

रेखाचित्र :

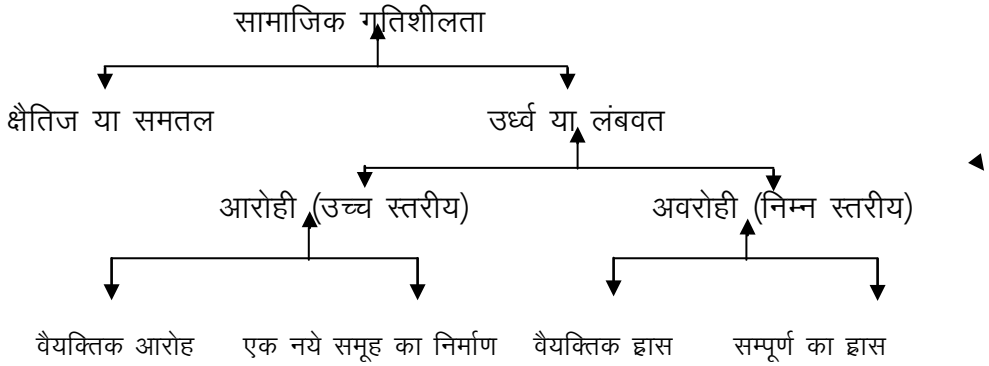

1. क्षैतिज सामाजिक गतिशीलता :

क्षैतिज गतिशीलता का अभिप्राय उस बदलाव से है जो सम्बद्ध व्यक्ति या समूह की सामाजिक प्रस्थिति में कोई परिवर्तन उत्पन्न नहीं करता। जैसे– एक व्यवसाय से समान स्तर व प्रस्थिति के दूसरे व्यवसाय को अपनाना।

एक नागरिकता को छोड़कर दूसरी नागरिकता ग्रहण करना। पेशे में स्थानान्तरण या आमदनी में मामूली कमी और वृद्धि से उत्पन्न परिवर्तन को इसी प्रकार की गतिशीलता की श्रेणी में रखा जाता है। जिस किसी भी गतिशीलता के अन्तर्गत व्यक्ति या समूह की सामाजिक स्थिति में कोई बुनियादी परिवर्तन नहीं आता है तो उसे क्षैतिज, या समस्तरीय गतिशीलता कहा जायेगा।

2. उदग्र लम्बवत या विषम स्तरीय सामाजिक गतिशीलता :

जब व्यक्ति या समूह के जीवन में दो भिन्न स्तरों के बीच गतिशीलता होती है तो उसे विषम स्तरीय या लम्बवत गतिशीलता कहते हैं। इसमें व्यक्तियों व समूहों के मध्य असमान प्रस्थितियों के सन्दर्भ में परिवर्तन होता है। गतिशीलता को तभी उदग्र कहा जायेगा जबकि इसके फलस्वरूप व्यक्ति की सामाजिक स्थिति भी बदल जाय। इसी सन्दर्भ में **इलियट और मैरिल** ने उदग्र या लम्बवत गतिशीलता को वर्गीय संरचना में ऊपर व नीचे की ओर होने वाला परिवर्तन कहा है। उदाहरण के लिए यदि कोई व्यक्ति समाज में निम्न स्तर में जन्म लेकर अपनी योग्यता या गुणों के आधार पर समाज के उच्च स्तर में पहुँच जाता है या ठीक इसके विपरीत यदि कोई व्यक्ति समाज के उच्च स्तर में पैदा होकर अपने दुष्कर्मों के कारण समाज के निम्न स्तर में पहुँच जाय। खुले समाजों में ऐसी गतिशीलता अधिकांशतः देखी जा सकती है।

विशेषताएँ :

1. उदग्र या लम्बवत गतिशीलता प्रत्येक समाज में पायी जाती है। ऐसा कोई समाज नहीं है जहाँ स्थिति समूह (straturm) पूर्णतया बन्द हो।
2. प्रत्येक समाज में कम या ज्यादा लम्बवत गतिशीलता का प्रतिरोध देखा जा सकता है।
3. समाजों में सामाजिक गतिशीलता की तीव्रता व प्रकृति अलग–अलग होती है।
4. लम्बवत या उदग्र गतिशीलता के क्षेत्र में इसकी तीव्रता में वृद्धि या ह्रास के बारे में निश्चित प्रवृत्ति नहीं होती।

लम्बवत गतिशीलता के भी दो प्रकार हैं :

1. आरोही (Upward)
2. अवरोही (Downward)

जब समाज के निम्न स्तर से कोई व्यक्ति या समूह उच्च स्तर की ओर गतिशील होता है तो उसे उर्ध्व, या आरोही सामाजिक गतिशीलता कहा जाता है। ठीक इसके विपरीत कोई व्यक्ति समाज में उच्च स्तर या वर्ग में पैदा होकर किन्हीं परिस्थितियों वश निम्न स्तर या वर्ग में आ जाये तो इसे पतोन्मुखी या अवरोही गतिशीलता कहा जायेगा। उदाहरण के लिए उच्च श्रेणी के रोजगार की तरफ परिवर्तन उर्ध्व या आरोही सामाजिक गतिशीलता को व्यक्त करता है जबकि निम्न श्रेणी के रोजगार की तरफ परिर्वन पतोन्मुखी या अवरोही सामाजिक गतिशीलता का उदारण है। एक निम्न क्रम लिपिक का उच्च क्रम लिपिक बन जाना आरोही गतिशीलता है। इसी प्रकार जब एक नवाब भूमि व सम्पत्ति से वंचित होकर मध्यम

वर्गीय नौकरी को अपना ले तब उसे अवरोही या पतोन्मुखी गतिशीलता की संज्ञा दी जाती है। खुले समाजों में इस प्रकार की गतिशीलता बहुतायत देखने को मिलती है। अब भारत जैसे विकासशील व बंद प्रकृति के देश में भी इस प्रकार की गतिशीलता तीव्र हो रही है।

लिपसेट व बेंडिक्स ने दो प्रकार की पारंपरिक सामाजिक गतिशीलता का उल्लेख किया है।

(1) अंतः पीढ़ी गतिशीलता (Inter-Generational)

(2) अंतरा पीढ़ी गतिशीलता (Intra-Generational)

अंतः पीढ़ी मूलक गतिशीलता का अभिप्राय दो या दो से अधिक पीढ़ियों के मध्य गतिशीलता से है। इसका पारंपरिक मापन पिता व पुत्र की सामाजिक प्रस्थितियों की तुलना द्वारा होता है। यदि पुत्र को पिता की प्रस्थिति की तुलना में उच्च प्रस्थिति प्राप्त है तब पुत्र उच्च स्तरीय गतिशीलता को अभिव्यक्त करता है। यदि पुत्र की प्रस्थिति पिता की प्रस्थिति से निम्न है तो वह पतोन्मुखी गतिशीलता से संबद्ध है। वहीं अंतरा पीढ़ी गतिशीलता में स्वयं की प्रस्थितियों की तुलना की जाती है। यह एक ही पीढ़ी में हो रही गतिशीलता को व्यक्त करती है। उदाहरण के लिए एक व्यक्ति ने अपना व्यावसायिक जीवन जूता–पालिश से शुरू किया। इसके बाद वह नामी स्कूल में आया तथा उच्च विश्वविद्यालयों में शिक्षा के लिए उसने कालेज में प्रवेश किया तत्पश्चात वो एक विद्यालय में अध्यापक हो गया।

कॉल (Joseph A. Kahl) ने सामाजिक गतिशीलता के तीन प्रकारों का उल्लेख किया है।

(1) प्रजनक गतिशीलता (Productive)

(2) प्रवासी गतिशीलता (Migratory)

(3) प्रौद्योगिकी गतिशीता (Technological)

काल के अनुसार जब उच्च वर्ग के लोग उस वर्ग के लायक संतान पैदा नहीं कर पाते तो समाज के मध्यम व निम्न वर्ग के लोग उच्च वर्ग में खाली स्थान को भरने के लिए स्वाभाविक रूप से गतिशील हो जाते हैं। इसे कॉल ने प्रजनक गतिशीलता कहा है।

जब किसी स्थान पर जीवन यापन के नये अवसर आर्थिक विकास से उत्पन्न होते हैं तो वहाँ पर दूसरी जगह से लोग आकर कुछ हासिल करना चाहते हैं। इस प्रकार की गतिशीलता अमरीकी समाज में देखी जा सकती है जिसे कॉल ने प्रवासी गतिशीलता कहा।

औद्योगिकीकरण से नये प्रकार के पेशे उत्पन्न हुए। गरीब व किसानों के बच्चे इन नये प्रकार के पेशे व नौकरियां पाने में सफल हुए। उनकी आमदनी बढ़ी फलतः वे उच्च स्तर की ओर गतिशील हुए जिसे कॉल ने प्रौद्योगिक गतिशीलता की संज्ञा दी।

10.5 सामाजिक गतिशीलता का मापन

गतिशीलता के मापन से हमारा अभिप्राय निम्नलिखित तथ्यों के विवेचन व प्रस्तुति से है।

1. क्या गतिशीलता की प्रक्रिया हुई?
2. यदि प्रक्रिया हुई तो गतिशीलता की दर क्या है?
3. गतिशीलता के निर्धारक क्या हैं?

गतिशीलता का मापन पारंपरिक रूप से दो संदर्भो में किया जाता है जिससे इसकी प्रक्रिया व दर के बारे में पता चलता है। जिन्हें अंतः पीढ़ी एवं अंतरा पीढ़ी संदर्भ के रूप में जाना जाता है।

गतिशीलता का अंतः पीढ़ी संदर्भ

गतिशीलता का मापन इस आधार पर किया जा सकता है कि किस सीमा तक बच्चों ने अपने माता–पिता की तुलना में उच्च प्रस्थिति अर्जित की है अथवा अपने माता–पिता की तुलना में किस सीमा तक निम्न प्रस्थिति अर्जित की है। ये दोनों पक्ष क्रमशः उच्च स्तरीय व निम्न स्तरीय गतिशीलता के परिचायक हैं। उदाहरण के लिए यदि किसी लिपिक का पुत्र डाक्टर बन जाता है तब इसे अंतः पीढ़ी उच्च स्तरीय गतिशीलता कहेंगे। जबकि किसी अधिकारी के पुत्र का स्टेनोग्राफर बनना निम्न स्तरीय गतिशीलता है जिसे अंतः पीढ़ी निम्न स्तरीय गतिशीलता भी कहा जाता है।

गतिशीलता का अंतरा पीढ़ी संदर्भ

इसके अन्तर्गत गतिशीलता का मापन एक ही पीढ़ी के अन्तर्गत किया जाता है। यह उस उच्च स्तरीय अथवा निम्न स्तरीय गतिशीलता से सम्बद्ध है जिसमें एक ही व्यक्ति अपने जीवन काल में अनेक प्रस्थिति सम्बन्धी उतार–चढ़ाव का अनुभव करता है। अर्थात एक ही व्यक्ति द्वारा विभिन्न समयों पर प्राप्त की गयी विभिन्न सामाजिक प्रस्थितियां अंतरा पीढ़ी गतिशीलता को व्यक्त करती हैं। उदाहरण के लिए अशोक बैंक में लिपिक के रूप में प्रस्थिति अर्जित करता है तथा कुछ वर्षों बाद अधिकारी के रूप में पदोन्नत हो जाता है। यह अन्तरा पीढ़ी उच्च स्तरीय गतिशीलता है। जबकि कंपनी के एक निदेशक को पदावनत कर प्रबंधक बना दिया जाता है यह अन्तरा पीढ़ी निम्न स्तरीय गतिशीलता का उदाहरण है।

एक व्यक्ति अंतः व अंतरा पीढ़ी दोनों प्रकार की गतिशीलता का अनुभव कर सकता है। यह भी संभव है कि दोनों में से एक भी प्रकार की गतिशीलता का अनुभव न करे। जैसे– एक लिपिक की पुत्री गीता अधिकारी बन जाती है तत्पश्चात वह प्रबंधक के पद पर पदोन्नत हो जाती है। यह अंतः व अंतरा पीढ़ी दोनों का उदाहरण है। एक व्यक्ति अंतरा पीढ़ी गतिशीलता का अनुभव किये बिना अंतः पीढ़ी गतिशीलता का अनुभव कर सकता है इसके विपरीत स्थिति भी संभव है।

सामाजिक गतिशीलता के निर्धारक तत्वों के रूप में बर्टट्रान्ड (Bertrand) ने तीन स्थितियों की विवेचना की हैः

(i) नये अवसरों की सम्भावना

(ii) जनांकिकीय प्रक्रियायें

(iii) महत्वाकांक्षा का स्तर

उक्त तीनों निर्धारक तत्व भी सामाजिक गतिशीलता के मापन में उपयोगी हैं।

1. समाज में जितने अधिक नये–नये अवसर उपलब्ध होंगे वहाँ लोगों के आगे बढ़ने की संभावना भी अधिक होगी। घुले समाजों में ये अवसर अधिक होते हैं तो वहाँ गतिशीलता अधिक होती है वहीं बंद समाजों में कम। प्राचीन से मध्यकालीन व आधुनिक समाज में अधिक अवसर उत्पन्न हुए हैं। जिससे गतिशीलता बढ़ी है। यहाँ एक तथ्य महत्वपूर्ण है कि केवल अवसरों का उत्पन्न होना ही गतिशीलता के लिए उपयोगी नहीं बल्कि अवसरों का वितरण भी आवश्यक है। भारत में ही अंग्रेजों के समय औद्योगिकीकरण के कारण नये–नये अवसर उत्पन्न हुए किन्तु वे केवल उच्च जातियों तक ही सीमित रहे जिसके कारण पूरा समाज गतिशील न हो सका।

2. प्रवास व सामाजिक गतिशीलता के बीच गहरा सम्बन्ध है। जिस समाज में प्रवासी व्यक्तियों के बीच प्रतियोगिता होती है जिससे सामाजिक गतिशीलता तीव्र होती है। किसी स्थान पर जब जीवन यापन के अवसर काफी उत्पन्न होते हैं तो काम पाने के लिए बाहर के काफी लोग आते हैं और परिणामस्वरूप प्रवासियों के जीवन में अधिक गतिशीलता होती है। अमरीकी समाज में औद्योगिकीकरण के कारण अधिक प्रवास हुआ जिसके कारण उसे अधिक गतिशील व खुला समाज माना जाने लगा।

3. समाज में महत्वाकांक्षा का उच्च स्तर सामाजिक गतिशीलता को तीव्र कर देता है। जिस समाज में भाग्यवाद की जगह कार्यकुशलता, गुणों व योग्यताओं का महत्व होता है वहाँ गतिशीलता तेज होती है।

ब्रूम व सेल्जनिक ने सामाजिक गतिशीलता के निर्धारकों में शिक्षा के महत्व को अधिक उपयोगी माना है। शिक्षा में वृद्धि से व्यक्तियों की आकांक्षाओं में वृद्धि होती है, व्यक्ति अपने गुणों व योग्यताओं को बढ़ाकर समाज में ऊँचा पद प्राप्त करना चाहता है।

सोरोकिन उन दो माध्यमों को पृथक करते हैं जिनके द्वारा शिक्षा व शैक्षणिक संस्थायें सामाजिक गतिशीलता को उत्पन्न व विकसित करती हैं।

1. प्रथम शैक्षणिक संस्थायें व्यक्ति को निम्न प्रस्थिति से उच्च प्रस्थिति की तरफ ले जाती हैं। यह केवल उन समाजों में संभव है जहां शिक्षा समाज में सभी समूहों के लिए उपलब्ध हो तथा प्रत्येक को यह अवसर प्राप्त हो कि वह स्वयं को शिक्षित करे तथा अपनी योग्यता सिद्ध कर उच्च प्रस्थिति को प्राप्त करे। चीन व कुछ यूरोपिये समाज इसके उदाहरण हैं।

2. द्वितीय माध्यम शैक्षिणिक संस्थाओं द्वारा गतिशीलता की उस अनुमति से सम्बन्ध है जो समाज के उच्च स्तर को प्राप्त हैं निम्न प्रस्थिति प्राप्त समूहों को इस लाभ से वंचित कर दिया जाता है। अतः ऐसे समाजों में सभी सदस्यों को शिक्षा के अवसर उपलब्ध नहीं हैं। परंपरागत भारत इसका उदाहरण है जहां केवल उच्च जातियों विशेषकर ब्राहम्णों को ही शिक्षा प्राप्त करने का अवसर उपलब्ध था और शूद्रों को प्रतिबंधित किया गया।

एक तीसरा माध्यम भी है जिसके अंतर्गत शैक्षणिक संस्थायें ''प्रायोजित गतिशीलता'' के माध्यम से गतिशीलता की अनुमति प्रदान करती हैं। आर्थिक व सामाजिक दृष्टि से शोषित व्यक्तियों को आरक्षण के द्वारा इस प्रकार की गतिशीलता के सम्पर्क में लाया जाता है। भारत में अनुसूचित जातियों व जनजातियों को प्राप्त आरक्षण इसका उदाहरण है।

शिक्षा निर्विवाद रूप से सामाजिक गतिशीलता को उत्पन्न करती है और उसे तीव्रता देती है। इसके उच्च स्तरीय गतिशीलता सम्भव हो जाती है। फिर भी अच्छी शैक्षणिक संस्थायें एवं शिक्षा अनेक गैर–शैक्षणिक कारकों जैसे पारिवारिक पृष्ठभूमि, निवास स्थान व संपत्ति इत्यादि से निर्धारित होती है।

10.6 सामाजिक गतिशीलता के पक्ष

सामाजिक स्तरीकरण मुक्त अथवा अमुक्त हो सकता है। अमुक्त स्तरीकरण में सामाजिक गतिशीलता के अभाव की विशेषता होती है जबकि मुक्त स्तरीकरण व्यक्तियों एवं समूहों में सरल व सामान्य गतिशीलता को महत्व प्रदान करता है। कुछ आनुभविक अध्ययनों के आधार पर सामाजिक गतिशीलता के निम्नलिखित महत्वपूर्ण पक्षों की चर्चा की जा सकती है।

1. कोई भी ऐसा समाज नहीं है जहां पूर्ण अगतिशीलता पायी जाती हो। प्रत्येक समाज में किसी न किसी स्तर की गतिशीलता अनिवार्य होती है। प्राचीन काल से ही भारत जैसे जाति आधारित समाज में भी किसी न किसी स्तर की उच्च स्तरीय एवं निम्न स्तरीय गतिशीलता के तत्व विद्यमान थे। उदाहरण के लिए निम्न जाति की महिला, उच्च जाति के पुरूष से विवाह कर उच्च स्तरीय गतिशीलता को प्राप्त कर सकती थी।

2. कोई भी ऐसा समाज नहीं है जिसमें लम्बवत गतिशीलता स्वतंत्र व सरल हो। यहाँ तक कि अमरीकी समाज में जिसमें घुलायन अधिक है कुछ अर्थों में गतिशीलता प्रतिबंधित है। उदारण के लिए शिक्षा एवं रोजगार के क्षेत्र में श्वेत जनसंख्या की तुलना में अश्वेत जनसंख्या को समान अवसर नहीं प्राप्त है।

3. लम्बवत गतिशीलता की दर एक ही समाज में समय–समय पर अलग–अलग हो जाती है उदारण के लिए पिछली सदी के भारत की तुलना में आज के भारत में लम्बवत गतिशीलता का सरलता से अंदाजा सम्भव है। आज व्यक्ति की जाति उसके व्यवसाय का निर्धारण नहीं करती।

4. सामाजिक गतिशीलता की दर व उसका स्तर विभिन्न समाजों में अलग–अलग होता है। जैसे भारतीय समाज की तुलना में अमरीकी समाज अधिक खुलापन लिये हुए है जहां गतिशीलता भी तीव्र है।

5. यद्वपि लोकतांत्रिक समाजों में एक तंत्रीय समाजों की तुलना में गतिशीलता की दर प्रायः उच्च होती है परन्तु ऐसा कोई सामान्यीकरण नहीं प्रस्तुत किया जा सकता।

सामाजिक स्तरीकरण एवं सामाजिक गतिशीलता के क्षेत्र में अनेक सैद्धांतिक एवं आनुवांशिक योगदानों का उल्लेख किया जा सकता है। इस दृष्टि सेू मर्टनके संदर्भ समूह सिद्धांत एवं गतिशीलता, लिपसेट लिपसेट व पिटरबर्ग के कार्य उल्लेखनीय है। इस क्षेत्र में भारत में एम0 एन0श्रीनिवास का योगदान महत्वपूर्ण है।

10.7 भारतीय समाज में सामाजिक गतिशीलता

जाति व्यवस्था पर आधारित भारतीय समाज ने अनेक विदेशी और भारतीय समाजशास्त्रीयों का ध्यान आकृष्ट किया है। जाति एक बंद कोटि वाला संवर्ग है जिसके कारण गतिशीलता बाधित होती रही है। बेरमेन और जॉनसन ने भारतीय समाज को बंद समाज का कठोर उदाहरण माना है क्योंकि जाति व्यवस्था के अंतर्गत व्यक्ति को पूरे जीवन भर एक ही सामाजिक स्थिति में रहना पड़ता है। जाति व्यवस्था पर आधारित समाज बंद समाज का उदाहरण है वहीं वर्ग व्यवस्था पर आधारित समाज खुले समाज हैं उदाहरणार्थ अमरीकी समाज। जॉनसन का माना है कि बंद व खुले समाज की अवधारणा सैद्धांतिक द्विध्रुवीय विभाजन है क्योंकि न तो भारतीय समाज पूरी तरह बंद समाज है ओर न ही अमरीकी समाज पूरी तरह खुला समाज है। बंद समाज की कुछ विशेषतायें अमरीकी समाज में देखने को मिलती हैं, तो खुले समाज की कुछ विशेषतायें भारतीय समाज में भी देखने को मिलती हैं।

प्राचीन समय में भारतीय समाज वर्ण व्यवस्था पर आधारित था तब निश्चित रूप से इसमें खुलापन था। पूर्व वैदिक काल में योग्यता व गुणों के आधार पर व्यक्तियों के वर्ण में परिवर्तन होता था। बंटवारे के आधार पर समाज के स्तर कठोर नहीं थे। उत्तर वैदिक काल से लेकर लगभग 19वीं सदी के पूर्वान्ह तक भारतीय समाज को बंद समाज का सबसे सटीक उदाहरण माना जा सकता है। इस काल में समाज जाति व्यवस्था से इतना ग्रसित था कि सामाजिक गतिशीलता दिवा स्वप्न जैसी थी। निम्न जाति का व्यक्ति ऊँची जाति की सामाजिक हैसियत और सम्मान को नहीं पा सकता था। भारतीय समाज में जड़ता का कारण मात्र ब्राहम्णवादी हिन्दू दर्शन ही नहीं है बल्कि ईस्लामी समाज के साथ संसर्ग भी है। मुस्लिम शासन काल में भारतीय समाज की जड़ता को काफी बढ़ावा मिला। यह सही है कि इस्लामी समाज समानता पर आधारित है लेकिन इस्लाम को मानने वालों का अपने व गैर–महजबों के प्रति ऐसा ख्याल व व्यवहार रहा कि प्रतिक्रिया स्वरूप हिन्दू समाज में काफी जड़ता आ गयी।

जाति व्यवस्था का स्वरूप ऐसा है कि उसमे गतिशीलता की संभावना ही नहीं बनती। आज भारत में जो जाति व्यवस्था में गतिशीलता दिखाई देती है वह गतिशीलता जाति व्यवस्था में नहीं बल्कि मुख्य रूप से वर्ग व्यवस्था में है। आधुनिक भारत में जाति व्यवस्था के ऊपर वर्ग व्यवस्था अध्यारोपित हो गयी है और–परिवर्तन उसी अध्यारोपित व्यवस्था में हो रहा है जिसे भारत के अधिकांश मानवशास्त्री व समाजशास्त्री गतिशीलता के रूप में विश्लेषित करते हैं।

अंग्रेजों के शासक काल में भारतीय सामाजिक स्तरण में धीरे–धीरे परिवर्तन आने लगा। उन्होंने नयी शिक्षा नीति, नयी प्रशासनिक व्यवस्था एवं नयी कानूनी व्यवस्था को भारत में लागू किया। उनके सारे नियम कानून व जीवन के मूल्य काफी हद तक सामाजिक समानता के मूल्य पर आधारित थे। अतः पश्चिमीकरण के कारण भारत में क्रांतिकारी व युगान्तकारी परिवर्तन आया। पश्चिमी मूल्यों के कारण ही भारतीय समाज जो कि जाति मूलक समाज था वर्ग व्यवस्था से प्रभावित होकर खुलेपन की सांस लेने लगा।

1950 में गणतंत्र की स्थापना के बाद भारत नये संविधान के आलोक में समतामूलक समाज की ओर बढ़ने लगा। भारत के इतिहास में यह काल विशेष महत्व रखता है क्योंकि संविधान के अंतर्गत हर व्यक्ति को बढ़ने का समान अवसर

मिला। मौलिक अधिकारों की बात की गयी ताकि प्रत्येक नागरिक अपनी योग्यता, गुण व परिश्रम के आधार पर समाज में आगे बढ़ सके।

वर्तमान भारत में औद्योगिकीकरण, नगरीकरण आधुनिकीकरण एवं नयी वैधानिक व्यवस्था ने संयुक्त रूप से जाति व्यवस्था पर गहरा आघात किया है। कार्यस्थल, विद्यालय व माहविद्यालय में सभी उच्च व निम्न जाति के लोग समान रूप से सहभाग कर रहे हैं। जाति की महत्वपूर्ण विशेषता अंर्तविवाह, अंतर्जतीय विवाहों के कारण खत्म हो रही है। एम0एन0श्रीनिवास द्वारा प्रस्तुत संस्कृतिकरण की अवधारणा सामूहिक गतिशीलता को निर्धारित कर रही है। संस्कृतिकरण का अभिप्राय उस प्रक्रिया से है जिसके द्वारा निम्न जातीय व जनजातीय लोग, उच्च जातियों की जीवनशैली का अनुसरण कर समाज के उच्च स्तर में पहुंचने का दावा करने लग जाते हैं।

सामाजिक गतिशीलता प्रादेशिक स्तर पर असमान है परंतु कोई भी क्षेत्र इससे अछूता नहीं है उदाहरण के लिए गांव की तुलना में शहरी क्षेत्रों में गतिशीलता अधिक तीव्र देखी जा सकती है। शहरों में लोग अब जाति की उच्चता पर उतना विचार न कर व्यक्ति के पद या व्यवसाय के आधार पर समाज में उनकी स्थिति के बारे में विचार करते हैं। इस प्रकार के खुलेपन को जेम्स सिल्वबर्ग ने भी अपने अध्ययनों में स्वीकार किया है। उसके अनुसार भारत अब बन्द समाज नहीं रह गया है। यह सत्य है कि पाश्चात्य देशों की तुलना में यहाँ गतिशीलता कम है परन्तु उसकी तुलना इस देश के किसी भी ऐतिहासिक काल से नहीं की जा सकती। भारतीय समाज में गतिशीलता के प्रमुख निर्धारक इस प्रकार हैं।

(1) अंग्रेजी के आगमन के साथ यहाँ औद्योगिकीरण की प्रक्रिया आरंभ हुई। नये पेशे उत्पन्न हुए जो जाति व्यवस्था के मूल में नहीं थे। इस पेशों के लिए योग्यता के आधार पर लोगों का चयन किया जाने लगा फलतः जाति व पेशा का परंपरागत सम्बन्ध विखर गया।

(2) नगरीकरण के विस्तार के साथ–साथ संचार व यातायात साधन बढ़े। विभिन्न जाति व धर्म के लोग एक जगह रहने लगे। लोग एक साथ यात्रा करने लगे। लोगों के बीच की सामाजिक दूरी खत्म होने लगी। शहरी क्षेत्रों में वर्ग व्यवस्था की स्थापना होने लगी और वर्ग व्यवस्था जाति व्यवस्था पर आध्यारोपित होने लगी।

(3) आधुनिक शिक्षा का आधार वैज्ञानिक चिंतन है अतः इसके द्वारा समतामूलक एवं विकासोन्मुखी समाज को बढ़ाव मिलना स्वाभाविक है। योगेन्द्र सिंह का मत है कि शिक्षा भारत में आधुनिकीकरण के सर्वाधिक महत्वपूर्ण साधनों में से एक है। शिक्षा ने जनता की राष्ट्रवाद, उदारता एवं स्वतंत्रता जैसी आकांक्षाओं को गतिशील किया। भारत में शिक्षा ने विद्यार्थियों की एक उपसंस्कृति का निर्माण किया जो पूरी तरीके से आधुनिक तो नहीं है परंतु परंपरा से आधुनिकता के संक्रमण को दर्शाती है।

(4) भारत में कानूनी व संवैधानिक प्रयासों ने भी गतिशीलता को प्रेरित किया है। अश्प्रश्यता को 1955 में कानूनी रूप से समाप्त कर दिया गया। जाति, धर्म, लिंग व जन्म स्थान के भेदभाव को संविधान ने गैर कानूनी ठहरा दिया। दलितों व पिछड़ों को आरक्षण का लाभ देकर उन्हें भी विकास की दौड़ में आगे निकलने का अवसर दे दिया गया।

(5) पश्चिमीकरण की प्रक्रिया के कारण यहाँ गतिशीलता तीव्र हुई क्योंकि पश्चिमी मूल्य काफी हद तक समता वादी व प्रजातांत्रिक रहे। संस्कृतिकरण की प्रक्रिया के माध्यम से जातीय गतिशीलता संभव हो सकी। संस्कृतिकरण की अवधारणा, ने जातिगत सोपान में उच्च जातियों व निम्न जातियों के बीच की दूरी को कम करके उन्हें गतिशील होने का अवसर दिया है। इस प्रक्रिया के माध्यम से निम्न जातियां समाज के उच्च स्तर में पहुंचने का प्रयास करती है।

वर्तमान भारत बंद समाज व्यवस्था से खुले समाज व्यवस्था की ओर तीव्र गति से अग्रसर है ऐसे में गतिशीलता का बनना स्वाभाविक है। जैसे–जैसे विकास की दर तीव्र होगी, उदारीकरण व विश्व व्यापरीकरण बढ़ेगा वैसे–वैसे खुलापन भी बढ़ता जायेगा और सामाजिक गतिशीलता के अवरोध भी खत्म होते जायेंगें।

10.8 बोध प्रश्न

1. सामाजिक गतिशीलता को एक सामाजिक स्थिति से दूसरी सामाजिक स्थिति की और संक्रमण मानने वाले समाजशास्त्री हैं:

   क. मर्टन ख. वेबर

   ग. गिडेन्स घ. सारोकीन

2. अंतः पीढ़ी गतिशीलता व अंतरा पीढ़ी गतिशीलता का उल्लेख किसने किया है।

   क. गिडेन्स ख. सारोकीन

   ग. लियासेट व बंडिम्स घ. वेबर

3. लम्बवत गतिशलता में क्या परिवर्तित होता है

   क. प्रस्थिति व सामाजिक स्तर ख. जीवन शैली

   ग. संस्कृति घ. जीवन अवसर

4. "Social Mobility" नामक पुस्तक के लेखक हैं–

   क. श्रीनिवास ख. योगेन्द्र सिंह

   ग. सारोकीन घ. कार्ल मार्क्स

10.9 उत्तर

1. घ
2. ग
3. क
4. ग

10.10 संदर्भ ग्रन्थ

- जे0पी0 सिंह, आधुनिक भारत में सामाजिक परिवर्तन पीएचआई लर्निंग, नई दिल्ली, 2010
- योगेन्द्र सिंह, मॉडर्नाइजेशन ऑफ इंडियन ट्रेडिशन, रावत पब्लिकेशन , जयपुर, 1986
- पी0ए0 सारोकीन, सोशल मोबिलीरी, हार्पर व कंपनी, न्यूयार्क, 1927

ईकाई–11

पूर्व आधुनिक समाजों में सामाजिक गतिशीलता

इकाई की रूपरेखा

11.1 उद्देश्य

11.2 प्रस्तावना

11.3 पूर्व आधुनिक समाज

11.4 आधुनिक समाज के लक्षण

11.5 पूर्व आधुनिक समाजों में सामाजिक गतिशीलता

11.6 बोध प्रश्न

11.7 बोध प्रश्नों के उत्तर

11.8 सन्दर्भ ग्रंथ

11.1 उद्देश्य

इस ईकाई के अध्ययन के उपरांत छात्र

1. पूर्व आधुनिक समाजों की प्रकृति से अवगत हो सकेंगे।
2. आधुनिक समाज के लक्षणों को जान सकेंगे।
3. पूर्व आधुनिक समाजों में सामाजिक गतिशीलता के विषय से अवगत हो सकेंगे।

11.2 प्रस्तावना

पूर्व आधुनिक समाज मानव जीवन की प्रारंभिक व मौलिक अवस्था को दर्शाते हैं। समाज प्रायः बंद प्रकृति के गतिहीन समाज रहे हैं। आधुनिक मूल्यों के समावेश के उपरांत इन समाजों में भी सामाजिक गतिशीलता संभव हो सकी। वस्तुतः पूर्व आधुनिक व आधुनिक समाज संक्रमण की स्थिति में हैं। अर्थात किसी समाज को पूर्णतया न तो हम पूर्व आधुनिक समाज और न ही आधुनिक समाज कह सकते हैं। दोनों के बीच सातत्य की स्थिति है। पूर्व आधुनिक समाजों में आधुनिक समाज के लक्षण देखे जा सकते हैं। वैसे ही आज के आधुनिक समाज भी पूर्व आधुनिक समाजों की विशेषताओं से पूर्णतया मुक्त नहीं हैं।

11.3 पूर्व आधुनिक समाज

पूर्व आधुनिक समाज वे समाज हैं जो औद्योगिकरण की प्रक्रिया आरंभ होने के पूर्व विद्यमान थे। एक लंबे समय तक मानव पूर्व आधुनिक समाजों में ही रहा है। ये समाज सरल व आधुनिक समाजों की तुलना में थोड़ा छोटा स्वरूप लिये हुए होते हैं। इन समाजों में विशेषीकरण न होने के कारण श्रम विभाजन न के बराबर होता है और उसका आधार आरोपित (Ascribed) सामाजिक मूल्य होते हैं। जीवन यापन का आधार आखेट, पशुपालन व कृषि होता है। लोगों के बीच भूमिकाओं, कर्त्तव्यों, अधिकारों व सुविधाओं का आधार लिंग भेद, जन्म व वंश हुआ करता है। समाज की मूल प्रकृति बंद प्रकार की होती है। इस अर्थ में वहां सामाजिक गतिशीलता सीमित होती है। वैसे तो मानव सभ्यता में पूर्व आधुनिक समाज के अनेक रूप विद्यमान रहे हैं किन्तु प्रमुख रूप से उन्हें इस प्रकार वर्गीकृत किया जा सकता है।

(i) आखेटक व खाद्य सामग्री एकत्र करने वाले समाज।

(ii) चरावाहा (Pastoral) समाज

(iii) जनजातीय समाज व परंपरागत समाज

(iv) कृषक समाज

(i) मानव समाज का प्रारंभिक स्वरूप शिकार करने वालों एवं फल–फूल आदि एकत्र करने वालों से निर्मित था। ये लोग शिकार करके, मछली पकड़कर तथा जंगलों में उगने वाले खाने योग्य फल, फूल, पौधे आदि एकत्र करके अपनी आजीविका चलाते थे। आज भी विश्व के कुछ भागों में जैसे– ब्राजील व न्यू गाइना के जंगलों में शिकारी व संग्रहण पर आधारित संस्कृतियां पायी जाती हैं। शिकारी व संग्रहणशील समाज ऐसे अदिम समाज नहीं हैं जिनकी जीवन पद्धति में हमारी रूचि न हो। उन लोगों की संस्कृतियों के अध्ययन से हमें ज्ञात होता है कि हमारी कुछ संस्थायें ऐसी नहीं हैं जिन्हें मानव जाति के स्वाभाविक लक्षण कहा जा सके। इन लोगों के समाजों में युद्ध की अनुपस्थिति, इसमानताओं का अभाव, स्पर्धा व संघर्ष की जगह सहयोग हुआ करता है।

(ii) सभ्यता के विकास के क्रम में आखेटक व संग्रहकर्ता समूहों ने पशुपालन एवं निश्चित भूमि पर कृषि करना शुरू किया। उनकी आजीविका का तरीका बदल गया। वैसे तो पशुचारी समाज उन्हें ही कहा जा सकता है जो पशुओं पर ही निर्भर हों परंतु कुछ सीमा तक उनका जीवन कृषि पर भी निर्भर होता है। इस प्रकार उनकी अर्थव्यवस्था मिश्रित प्रकृति की होती है। चरावाही लोग प्रकृति पर निर्भर रहते हुए गाय, भैंस, बकरी, भेड़, ऊँट आदि पालते हैं। ये समाज उन क्षेत्रों में रहते हैं जहां पषुओं के लिए घास पायी जाती हो या जहां रेगिस्तान या पहाड़ हों। न्यूर (Nuer) लोगों का समाज चरावाही समाज का उहारहण है। इनका अध्ययन इवांस प्रिचार्ड ने किया था। ये अफ्रीका के दक्षिणी सुडान में रहते हैं और इनकी आजीविका का आधार पषुपालन ही है। चरावाही समाज का जीवन आखेटक व संग्रहणकर्ता समूहों से जटिल होता है। अपनी घुमंतु प्रकृति के कारण ये अन्य लोगों के संपर्क में आते हैं जिससे व्यापार व युद्ध कार्यों में भी शामिल हो जाते हैं। ये आक्रमण करके दूसरे समूहों के पषु उठा लेते हैं।

युद्धप्रियता के कारण इनका सामाजिक जीवन स्पर्धा व संघर्ष से पूर्ण होता है। इनका समाज समरूपी न होकर काफी हद तक विषमरूपीय हो जाता है।

(iii) कृषक समाज की उत्पत्ति आज से लगभग 12000 वर्ष पूर्व हुई जिनका आज भी अस्तित्व है। कृषक समाज की उत्पत्ति कृषि और बागवानी से मानी जाती है। इस समाज के लोगों के का जीवन अक्रामक व हिंसा युक्त था किन्तु उतना नहीं जितना कि चरवाही समाज का। इस अवस्था में लोग छोटे–छोटे समुदायों में रहा करते थे। आजीविका मुख्य रूप से कृषि पर निर्भर थी परंतु सीमित ही सही लेकिन षिकार भी इनके जीवन का हिस्सा था।

विशेषतायें

राबर्ट रेडफील्ड ने कृषक समाज की विशेषताओं का उल्लेख किया है जो इस समाज के सदस्यों पर लागू होती हैं।

(A) कृषक वह है जो कृषि को जीवन जीने के तरीके के रूप में अपनाता है।

(B) कृषक न केवल भूमि से जुड़ा रहता है बल्कि अपने परिश्रम से उसे लाभदायक भी बनाता है।

(C) कृषक अपनी भूमि पर नियंत्रण रखता है।

(D) कृषक स्वयं के उपभोग के लिए उत्पादन करता है न कि बाजार में बेचने के लिए।

(E) कुलीन लोग उसके मार्गदर्षक होते है।

(F) कृषक समाज अपेक्षाकृत समरूपी, इसतरीकृत व अविभेदीकृत समाज होता है।

(G) आर्थिक आधार पर कृषक समाज से भिन्नता लिए होता है।

कालांतर में इस समाज में भी स्तरीकरण प्रारंभ हो गया। और शासन की बागडोर सामुदायिक मुखिया के हाथ में केन्द्रीत हो गयी। समाज में प्रतिष्ठा सीधे–सीधे शक्ति से जुड़ गयी। यद्यपि इस काल मे जमींन के मालिक ही सबसे ज्यादा ताकतवर थे लेकिन नगरों में वाणिज्य व उद्योग भी विकसित हो रहे थे। धीर–धीरे संपत्ति, प्रतिष्ठा व शक्ति, सामाजिक प्रतिष्ठा से जुड़ गये।

(iv) परंपरात्मक समाज नगरीय विकास पर आधारित थे। इनमें संपत्ति तथा शक्ति संबंधी इसमानतायें पायी जाती थीं। ऐसे समाजों में राजा या सम्राट शासन करते थे। इस समाज में लेखन का प्रयोग होने के कारण विज्ञान व कला का विकास हुआ। अतः अन्य समाजों की अपेक्षा यहां अधिक समन्वित सरकार थी। इन समाजों के लिए परंपरात्मक राज्य शब्दावली का भी प्रयोग हुआ। परंपरात्मक राज्य का एक उदाहरण माया सभ्यता रही जो ईसा पष्चात तीसरी सदी से आठवीं सही तक फली फूली। इस सभ्यता से जुड़े लोग मैक्सिकन खाड़ी मे यूकेटन प्रायद्वीप में रहते थे। यह काफी विकसित प्राकर की सभ्यता थी। इस समाज में अधिक जटिल व्यवसायिक

व्यवस्था अस्तित्व में आयी लेकिन अभी भी चरावाही या कृषक समाजों की तरह लिंग के आधार पर ही श्रम विभाजन पाया जाता था। स्त्रियों का कार्यक्षेत्र घर व खेत थे। पुरूषों मे कुछ विशेषीकृत प्रकार के व्यवसायों का उदय हो चुका था। कुछ लोग व्यापारी कुछ दरबारी कुछ सैनिक व कुछ सरकारी प्रषासक थे। कुछ परंपरात्मक राज्य व्यापार के माध्यम से निर्मित हुए और व्यापारियों द्वारा शासित थे। लेकिन अधिकतर राज्यों की स्थापना सैनिक आक्रमण व विजय द्वारा हुई। आज ऐसा समाज व संस्कृति अधिकतर लुप्तप्राय है परंतु इसका कारण इनकी निम्नता या घटियापन न होकर पष्चिमी देषों द्वारा स्थापित आधुनिक औधोगिक व सैनिक शक्ति से मुकाबला न कर सका था।

(v) जनजातीय समाज मानव की आदिकालीन संस्कृति के प्रतिनिधि हैं। उन्हें आदिवासी व वन्य जाति भी कहा जाता है। फुर्ये ने उन्हें पिछड़े हिन्दू के नाम से संबोधित किया। जनजातीय समुदाय का सामाजिक जीवन वास्तव में पिछड़ा था इसभ्य न होकर पूर्व आधुनिक समाज की विषेषता को ही प्रकट करता है। जनजाति एक क्षेत्रिय समुदाय है जिसका एक निश्चित दायरा होता है। जनजातियां आत्मनिर्भर होती हैं। उनकी एक पृथक भाषा होती है। उनकी सामान्य संस्कृति होती है जो समरूपी विशेषता को प्रकट करती है। जनजाति एक अंर्तविवाही समुदाय है इसके आधार पर ही उनकी पहचान सामाजिक संगठन निर्धारित होता है। मौलिक रूप से जनजाति एक पृथक व राजनीतिक ईकाई है। उनके आने सामाजिक कानून है। जिसके आधार पर व्यक्तियों को दण्ड व पुरस्कार दिया जाता है।

वस्तुतः मनुष्य प्रारंभिक काल में पूर्व आधुनिक समाजों में ही रहता था। उसका जीवन लघु समुदायों में ही पला बढ़ा। ये समुदाय ही मानव निवास के प्रमुख रहे। लघु समुदायों का उल्लेख राबर्ट रेडफील्ड ने किया है उनके अनुसार मानवता के संपूर्ण इतिहास में मानवीय विकास व निवास का सबसे स्पष्ट स्वरूप लघु समुदाय में ही विद्यमान रहा है। वास्तच में इन लघु समुदायों की संस्कृति, पूर्व आधुनिक समाजों की महत्वपूर्ण विशेषताओं को ही दर्शाती है। रेडफील्ड ने अपनी पुस्तक (The Little Community) दी लिटिल कम्युनिटी में लघु समुदाय के विषिष्ट तत्वों व विषेषताओं को स्पस्ष्ट किया है जो कि पूर्व आधुनिक समाज की विषेषतायें ही कही जा सकती हैं।

(i) विशिष्टता (Distintiveness)

(ii) लघुता (Smallness)

(iii) समरूपता (Homogenity)

(iv) आत्म निर्भरता (Self Sufficiency)

सर्वप्रथम रेडफील्ड ने इन समुदायों की विषिष्टता या अस्मिता का ही उल्लेख किया है। विषिष्टता का लक्षण बाहरी व्यक्ति को दिखायी देता है किन्तु समुदाय के सदस्यों की सामूहिक चेतना में अभिव्यक्त होता है। समुदाय के सभी सदस्य जानते हैं कि इसका प्रारंभ कहां से है अंत कहां है। सदस्यों में हम की भावना और सामूहिक चेतना पायी जाती है। लघु समुदाय की विशिष्टता इस तथ्य से भी स्पष्ट है कि उसके सदस्यों के आवास, खेत खलिहान, जानवरों के रहने के स्थान व चरागाह का स्थान सभी पूर्णतः सुनिश्चित होता है। प्रत्येक लघु समुदाय

उससे संबंधित देवी देवता व धार्मिक अनुष्ठान भी उसे विशिष्टता प्रदान करते हैं। वास्तव में ये सभी लक्षण पूर्व आधुनिक समाजों में रहने वाले लोगों के ही हैं जो विभिन्न लघु समुदायों में अपना जीवन जीते रहें।

पूर्व आधुनिक समाजों में अस्तित्वमान लघु समुदायों की दूसरी महत्वपूर्ण विशेषता को रेडफील्ड ने लघुता कहा है। आकार सीमित होने के कारण लघु समुदायों में लोग एक दूसरे से प्रत्यक्ष व प्राथमिक संबंध रखते हैं। जब समुदाय का आकार इतना बढ़ जाय कि व्यक्तिगत व प्राथमिक संबंध न रखे जा सके तो उसे लघु समुदाय नहीं कहा जा सकता। अर्थात विजातीयता और आधुनिक मूल्यों का विस्तार आरंभ हो जाय। आकार की दृष्टि से गांव लघु समुदाय के अत्युन्तम उदाहरण हैं। जैसे–जैसे लघु समुदायों की जनसंख्या बढ़ती जाती है वहां कस्बे व नगर बन जाते हैं। जिसे आधुनिकीकरण की प्रक्रिया की शुरूआत माना जा सकता है।

पूर्व आधुनिक समाजों में लोगों के जीवन को रेडफील्ड के अनुसार समरूपी कहा जा सकता है। समरूपता उनके अनुसार लघु समुदाय की एक महत्वपूर्ण विषेषता है। ऐसे समाजों में रहन–सहन, खान–पान, विश्वास, धर्म, संस्कृति आदि में मोटे तौर पर समानता या समरूपता पायी जाती है। इसका अर्थ यह नहीं है कि वहां भिन्नता बिलकुल नहीं पायी जाती। समरूपी जीवन उनमें सामूहिक चेतना को प्रबल बनाता है। यहां दुर्खीम को भी उद्दत किया जाता सकता है। दुर्खीम के अनुसार ऐसे समाज यांत्रिक प्रकृति के होते हैं। यंत्रवत व्यवहार वास्तव में सामूहिकता के कारण ही संभव हो पाता हैं इन अर्थों में पूर्व आधुनिक समाज यंत्रवत व सामूहिक जीवन को व्यक्त करते हैं।

पूर्व आधुनकि समाजों की प्रकृति परंपरात्मक व आत्मनिर्भर रही। रेडफील्ड के अनुसार यह समुदाय की आत्मनिर्भरता के लक्षण को व्यक्त करता है। सदस्यों के समस्त एवं अधिकांष क्रियाकलापों व आवष्यकताओं की पूर्ति इसी समुदाय में होती हैं लघु समुदाय वास्तव में पालने से लेकर कब्र तक का प्रबंध है। ये विषेषता भी पूर्व आनुधनिक समाजों पर लागू होती हैं पूर्व आधुनिक समाजों में भिन्नता व विशेशीकरण नहीं था। सभी पर धर्म, परंपरा व जनमत का प्रभाव रहता था। उत्पादन का उद्देष्य आत्मनिर्भरता तक था। आधुनिकीकरण की प्रक्रिया के आलोक में यह कहा जा सकता है कि आधुनिक समाजों पर यह लक्षण अब नहीं लागू होता क्योंकि वैष्वीकरण के कारण सभी समाज परस्पर निर्भर हुए हैं।

विशेषतायें

पूर्व आधुनिक समाजों की विशेषतायें इस प्रकार हैः–

(A) पूर्व आधुनिक समाज बंद और गतिशीलता विहिन समाज थे।

(B) पूर्व आधुनिक समाज भरण–पोषण आधारित अर्थव्यवस्था पर निर्भर थे।

(C) ऐसे समाजों में मुद्रा का पैमाना विकसित नहीं था बल्कि वस्तु विनिमय प्रथा थी।

(D) सामूहिकता, धर्म, परंपरा व आस्था का स्तर प्रबल था।

(E) ऐसे समाजों में विशिष्टतावाद व आरोपित मूल्य प्रबल थे।

(F) समरूपता व परंपरात्मक पेशा आधारित समाज था।

(G) कुटीर उद्योग कारीगरी आधारित आत्मनिर्भर समाज था।

(H) प्रकृति पर निर्भर ग्रामीण संस्कृति का अस्तित्व था।

(I) इन समाजों की प्रकृति यंत्रवत व सामूहिक थी।

(J) सरल प्रौधोगिकी के साथ–साथ इन समाजों में पूंजी का अभाव हुआ करता था।

(K) पूर्व आधुनिक समाज अविभेदीकृत, व इसतरीकृत समाज था।

11.4 आधुनिक समाज के लक्षण

आधुनिक समाज की मूल विषेषता वैज्ञानिक संदर्भ के लिए हुए हैं। यह समाज किसी संस्कृति के घेरे में बंद नहीं है। आधुनिकीकरण की प्रक्रिया द्वारा ही किसी समाज में आधुनिक मूल्यों का समावेश होता है जिसके आधार में वैज्ञानिक मूल्य ही हैं। इस प्रक्रिया के कई आयाम हैं जिन्हें व्यक्ति, समूह व समाज के स्तर पर देखा जा सकता है। वर्तमान समाज में हम आर्थिक, राजनैतिक, सामाजिक, शैक्षणिक, प्रौद्योगिकीय, प्रशासनिक सभी क्षेत्रों में आधुनिक मूलयों के संक्रमण को देख सकते हैं। योगेन्द्र सिंह ने आधुनिक समाजों के लक्षणों के अंतर्गत तार्किक अभिवृत्ति, सार्वभौम, दृष्टिकोण, पारानुभुति, वैज्ञानिक विश्वदृष्टि, मानवता, प्रौद्योगिक प्रगति आदि को शामिल किया है जो आज सामाजिक जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में देखी जा सकती है। लर्नर के अनुसार वर्तमान समाज में नगरीकरण में वृद्धि हो रही है। आधुनिक शिक्षा का प्रसार व प्रचार बढ़ा है। आर्थिक विकास व प्रति व्यक्ति आय में बढ़ोत्तरी हो रही है। आधुनिक समाज मे चलने वाली आधुनिकीकरण के आदर्श पश्चिमी देश व उनमें होने वाले परिवर्तन रहे हैं। आज लोकतंत्र, शिक्षा प्रणाली व औद्योगिक प्रगति की शुरूआत प्रायः पश्चिमी देशों से ही हुई है। इसके परिणाम स्वरूप सामाजिक आर्थिक व राजनीतिक क्षेत्रों में आधुनिक मूल्यों का समावेश हुआ। आधुनिक मूल्यों के श्रोत पूर्णतया पश्चिमी देश ही नहीं बल्कि चीन, जापान, रूस आदि देश भी रहे हैं। इस संदर्भ में लर्नर का विचार प्रासंगिक लगता है कि पश्चिमी मॉडल केवल ऐतिहासिक दृष्टि से ही पश्चिमी है, लेकिन समाजशास्त्रीय दृष्टि से विश्वव्यापी है। इसके लक्षण इस प्रकार हैंः–

I. वैज्ञानिक मिजाज, तर्क व बुद्धिवाद

II. वैयक्तिक विश्वास में धर्म निरपेक्षता

III. लोगों में उच्च आकांक्षा व उपलब्धि की मनोवृत्ति

IV. नयी प्रकार्यात्क संस्थाओं का गठन

V. विकासोन्मुख अर्थव्यवस्था की प्रधानता

VI. सभी को समुचित अवसर व खुलापन

VII. भाई–भतीजावाद की जगह राष्ट्रहित पर बल

VIII. व्यक्तित्व में गतिशीलता

11.5 पूर्व आधुनिक समाजों में सामाजिक गतिशीलता

पूर्व आधुनिक समाजों के लिए आधुनिकीकरण की प्रक्रिया ने एक प्रबल चुनौती उत्पन्न कर दी है। इस प्रक्रिया ने अनेक धार्मिक, सांस्कृतिक व मनौवैज्ञानिक अवरोधों के बावजूद भी पूर्व आधुनिक समाजों को प्रभावित किया है और इसके साथ ही साथ सामाजिक प्रकार्यों को भी बदल दिया है। आधुनिकीकरण की प्रक्रिया ने शिक्षा, राजनीति, प्रशासन, उत्पादन, व्यापार, वाणिज्य, संचार, यातायात, रहन–सहन व जीवन शैली में नवीन परिवर्तनों को प्रोत्साहित किया है। निश्चित ही इन परिवर्तनों के कारण सामाजिक गतिशीलता बढ़ी है। पूर्व आधुनिक समाज आधुनिक समाजों को सामाजिक आर्थिक, सांस्कृतिक, बौद्धिक, राजनीतिक, शैक्षणिक इत्यादि क्षेत्रों में अनुसरण करते हैं। यह अनुसरण भौगोलिक गतिशीलता या प्रवास व सामाजिक गतिशीलता को बढ़ावा देता है। आधुनिकीकरण की प्रक्रिया के कारण पूर्व आधुनिक समाज निम्नांकित क्षेत्रों में गतिशील होते हैं:–

I. औद्योगिकरण के कारण आर्थिक क्षेत्र में विकास ।

II. परंपरागत पेशों की जगह विशेषीकरण।

III. खेती की पुरानी पद्धति के चलन में कमी और वैज्ञानिक पद्धति में वृद्धि।

IV. विनिमय की वस्तु व्यवस्था का मुद्रा व्यवस्था में परिवर्तन।

V. पृथक्करण कम होना व पारस्परिक बढ़ना।

VI. नगरीकरण की प्रक्रिया में बढोत्तरी।

VII. आरोपित स्थिति की जगह अर्जित स्थिति का विस्तार।

VIII. सोपानक्रम (Hierarchy) की जगह सामाजिक समानता को बढ़ावा।

IX. वंशानुगत नेतृत्व की जगह निर्वाचित नेतृत्व का विस्तार।

X. बेहतर स्वास्थ्य के फलस्वरूप मृत्यु दर में कमी।

आर्थिक क्षेत्र में सामाजिक गतिशीलता

पूर्व आधुनिक समाज सरल प्रकृति के थे। प्रौधोगिकी के आधार पर ही पूर्व आधुनिक समाजों को पिछड़ा माना जा सकता है। आर्थिक क्षेत्र में ये समाज आत्मनिर्भर प्रकृति के थे। इनके समाज में श्रम विभाजन और विशेषीकरण जैसे तत्व विद्यमान नहीं थे। मार्क्स के संदर्भ में हम आदिम व प्राचीन समाज को उस श्रेणी में रख सकते हैं जहां वर्ग व्यवस्था का पूरी तरह प्रादुर्भाव नहीं हो सका था। उत्पादन की प्रकृति सामूहिक थी। मार्क्स के अनुसार पूंजीवादी समाज में भी आरोही सामाजिक गतिशीलता कतई संभव न थी। उनका चिंतन सर्वहाराकरण के सिद्धांत से इतना प्रभावित था कि उन्होंने समाज में मात्र अवरोही गतिशीलता को ही देखा। मार्क्स की तरह परेटो भी अवरोही गतिशीलता के विचार में विश्वास रखते थे।

पूर्व आधुनिक समाजों की आदिकालीन प्रकृति का संदर्भ लिया जाय तो वर्तमान समय में आर्थिक क्षेत्र में अनेक परिवर्तनों को इंगित किया जा सकता है जिससे समाज में अवरोही के साथ–साथ आरोही सामाजिक गतिशीलता संभव हो सकी है। औद्योगिकीकरण की प्रक्रिया के कारण वृहद स्तर पर उत्पादन संभव हुआ। जिसके कारण लोगों का न केवल आर्थिक जीवन उन्नत हुआ बल्कि उद्योगों की तरफ होने वाले प्रवास ने भूभागीय गतिशीलता को संभव बना दिया। इसके पूर्व

भूभागीय गतिशीलता न के बराबर थी। भारतीय संदर्भ में संयुक्त परिवारों का संरचनात्मक विखंडन मूलतः इसी कारण हुआ फलतः एकाकी परिवारों की संख्या बढ़ी। जाति भारतीय समाज में पेशा जातिगत हुआ करता था लेकिन औद्योगीकरण और नगरीकरण के कारण पेशा और जाति का संबंध बिखर गया। अब किसी भी जाति या व्यक्ति किसी भी पेशे को अपना सकता है। जातिगत सोपान में निम्न स्तर पर अवस्थित व्यक्ति भी आरोही सामाजिक गतिशीलता के कारण आर्थिक क्षेत्र में समुन्नत हो सका।

ग्रामीण भारत में अर्थव्यवस्था जजमानी व्यवस्था पर आधारित थी। जिसके माध्यम से उच्च व निम्न जातियों के बीच उदग्र व अनुवांशिक संबंध स्थापित किया गया था। कुछ समाजशास्त्री इस व्यवस्था को प्रकार्यात्मक और कुछ ने इसे अप्रकार्यात्मक माना। अब जजमानी व्यवस्था मृतप्राय है। ऐसी स्थिति में पेशों का जातिगत जुड़ाव खत्म होता जा रहा है। कोई भी व्यक्ति अपनी कुशलता, कार्यक्षमता के आधार पर कोई भी पेशा अपना सकता है।

आर्थिक क्षेत्र में खेती की पुरानी पद्धति की जगह वैज्ञानिक प्रकृति यानी यांत्रीकरण ने जीवन में आरोही सामाजिक गतिशीलता को संभव कर दिया है। भारत में हरित क्रांति के जरिये 1960–70 के दशक में अकाल को चुनौती दी जा सकी। इस पैकेज प्रोग्राफ के अंतर्गत उन्नत किस्म के बीज, रासायनिक खादों व यंत्रीकरण के जरिये उत्पादन को बढ़ाया जा सका। अनाज के क्षेत्र में देश आत्मनिर्भर हुआ। हालांकि इस कार्यक्रम के जरिये भी आरोही व अवरोही सामाजिक गतिशीलता देखी जा सकती है। अवरोही इस अर्थ में कि इसने वर्गीय इसमानता को बढ़ाया।

ग्रामीव व जनजातीय जीवन की प्रारंभिक अवस्था में वस्तु विनिमय प्रथा विद्यामान थी। धीरे–धीरे इस सरल प्रकृति के समाज में मुद्रा पैमाने का प्रवेश हुआ। वस्तु विनिमय के अंतर्गत वस्तुओं की आवश्यकतानुसार अदला–बदली होती थी। जबकि मुद्रा पैमाने के अंतर्गत वस्तुओं का मुद्रा के बदले विनिमय होने लगा। आर्थिक क्षेत्र में इसी कारण जटिल च वृहद संगठनों का निर्माण संभव हो सका। जटिल व वृहद संगठनों के कारण निश्चित ही आर्थिक क्षेत्र में आरोही सामाजिक गतिशीलता संभव हो सकी। पूर्व आधुनिक समाजों में आरोपित प्रस्थिति ज्यादा महत्व रखती थी लेकिन इसकी जगर अर्जित प्रस्थिति का विस्तार निश्चित ही सामाजिक गतिशीलता को बढ़ाने वाला तथ्य साबित हुआ। आरोपित मूल्य जन्म, रंग, लिग, वंष पर आधारित थे और व्यक्ति का मूल्यांकन भी इन्हीं आधारों पर हूआ करता था। परन्तु योग्यता व प्रयास पर आधारित अर्जित प्रस्थिति व मूल्य ने सामाजिक जीवन को सकारात्मक दिशा दी। इस आधारभूत परिवर्तन ने भी सामाजिक जीवन को आर्थिक, सामाजिक व राजनीतिक स्तर पर गतिशील किया।

राजनैतिक क्षेत्र में गतिशीलता

पूर्व आधुनिक समाजों में राजनीतिक क्षेत्र में एकक्षेत्रीय व्यवस्था थी। जनजातीय परिषदें हुआ करती थी। भारतीय समाज के संदर्भ में जातीय परिषदों का भी उल्लेख किया जा सकता है। ये परिषदें प्रजातांत्रिक मूलयों की बजाय निरंकुश प्रकृति की थी। राजनैतिक नेतृत्व भी वंशानुगत था। परिषदें अपने सदस्यों पर नियंत्रण रखती थी। इनके द्वारा दिये गये दण्ड की प्रकृति भी मानवीय नहीं थी। परिषदों का गठन भी विभेदकारी था। जाति परिषदों में प्रायः उच्च जातीय लोग हुआ करते थे इस कारण न्याय का स्वरूप भी विभेदकारी था। नेतृत्व भी उच्च जातिय सदस्यों द्वारा निर्धारित हुआ करता था। और साथ ही साथ वंशानुगत

भी था। आधुनिक लोकतंत्र व प्रजातांत्रिक मूल्यों के कारण उन लोगों के जीवन में भी गतिशीलता देखी जा सकती है जिन्हें पूर्व में राजनैतिक जीवन में कोई अधिकार नहीं थे। संविधान के लागू होने के बाद अनेक प्रावधानों के जरिये उन लोगों का जीवन गतिशील हुआ जो अभी तक जातिगत सोपान में निम्न स्तर पर थे।

संविधान के माध्यम से उन्हें भी नेतृत्व व राजनीतिक सहभाग में शामिल किया गया जो वंचित थे। इस वंचित समूह में मुख्यरूप से दलित, पिछड़े, महिलायें, अनुसूचित जातियों व जन जातियों (Grass Root Level) स्तर तक पहुँचने के कारण शक्ति का विकेन्द्रीकरण हुआ। शक्ति व सत्ता का आधार जातिगत न रहकर कानूनी और तार्किक हुआ। निष्चित रूप से राजनैतिक क्षेत्र में इस तरह के परिवर्तनों ने लोगों को सामाजिक व राजनीतिक रूप से गतिशील किया।

सामाजिक– सांस्कृतिक क्षेत्र में सामाजिक गतिशीलता

पूर्व आधुनिक समाजों में सामाजिक–सांस्कृतिक क्षेत्र में भी उल्लेखनीय सामाजिक गतिशीलता देखी जा सकती है। भारतीय समाज में मुख्य रूप से जातीय गतिशीलता का संदर्भ दिया जा सकता है। भारतीय जाति व्यवस्था जो कि भारतीय समाज एवं संस्कृति का एक मुख्य आधार रही है, मंथर गति से परिवर्तित होती रही है। जाति व्यवस्था में खुलेपन का विचार एम0एन0 श्रीनिवास की संस्कृतीकरण की अवधारणा से स्पष्ट होता है। श्रीनिवास ने ''संस्कृतीकरण'' शब्द का प्रयोग कर्नाटक राज्य के अंतर्गत कूर्ग लोगों के सामाजिक व धार्मिक जीवन में होने वाले परिवर्तनों के विश्लेषण के लिए किया था जो जाति व्यवस्था में संरचनात्मक समाजिक गतिशीलता को स्पष्ट करता है।

श्रीनिवास के अनुसार ''संस्कृतीकरण एक ऐसी प्रक्रिया है जिसके अंतर्गत कोई निम्न हिन्दू जाति का कोई जनजाति अथवा कोई अन्य समूह, किसी उच्च और प्रायः ''द्विज'' जाति की दिशा में अपने रीति रिवाज, कर्मकाण्ड, विचारधारा और जीवन पद्धति को बदलता है। उन्होंने यह भी स्पष्ट किया है कि किसी स्थानीय प्रभावी जाति को आदर्श मानकर अपनी जीवन शैली में परिवर्तन लाना भी संस्कृतीकरण माना जायेगा। ऐसे परिवर्तनों के फलस्वरूप जाति, परंपरा से क्षेत्रीय समाज द्वारा प्रदत्त सामाजिक स्थिति से ऊपर स्थान का दावा करने लगती है। दो तीन पीढ़ियों तक दावा करते रहने के बाद ही उसके दावे को स्वीकृति मिलती है।

श्रीनिवास संस्कृतीकरण की परिभाषा को तथ्यों के आलोक में बदलते रहे हैं। इस परिवर्तन से ऐसा लगता है कि संस्कृतीकरण के अंतर्गत श्रीनिवास संदर्भ समूह के क्षेत्र को बढ़ाते व बदलते रहे हैं। संदर्भ समूह की अवधारणा राबर्ट किंग मर्टन ने प्रतिपादित की है। इस अवधारणा के अंतर्गत व्यक्ति गैर–सदस्यता समूह को अपना संदर्भ बनाता है उससे स्वयं को मनोवैज्ञानिक रूप से जोड़ता है। और गैर सदस्यता समूह का सदस्य बन जाता है। संस्कृतिकरण को एक प्रत्याषित समाजीकरण की प्रक्रिया भी कहा जा सकता है। संस्कृतिकरण से गुजरने वाली जाति अपने से उच्च जाति की संस्कृति को इस उम्मीद से अपनाती है कि उसे उस जाति की सदस्यता या सामाजिक स्थिति मिल जायेगी।

एम0 एन0 श्रीनिवास के अनुसार–''सामूहिक गतिशीलता आधुनिक समाज की विशेषता है जबकि अकेले परिवार की गतिशीलता मध्य युग की विशेषता है''। मध्यकालीन व आधुनिक युग की शुरूआत में केवल वैयक्तिक गतिशीलता स्वाभाविक भी थी क्योंकि ऊपर उठने का प्रयास सामूहिक न होकर वैयक्तिक होता था। श्रीनिवास सामाजिक गतिशीलता के सामूहिक प्रयास को इस अवधारणा के माध्यम से स्पष्ट करते हैं।

राबर्ट रेडफील्ड ने भारत में सांसकृतिक परिवर्तन व सांस्कृतिक गतिशीलता की प्रक्रिया को समझने के लिए परंपरा की अवधारणा का प्रयोग किया। इन्हें दो भागों में बांट कर समझा जा सकता है। प्रथम वृहद व द्वितीय लघु परंपरा। वृहद परंपरा अभिजात लोगों की परंपरा है वहीं लघु परंपरा आम लोगों की परंपरा है। भारतीय समाज में उक्त दोनों परंपरायें पृथक–पृथक न रहकर इनमें आदान–प्रदान (अंतःक्रिया) होता रहा है। इस आदान–प्रदान (अंतःक्रिया) को सामाजिक गतिशीलता ही कहा जायेगा।

इस संदर्भ में मैकिम मैरियट का अध्ययन दृष्टव्य है। मैरियट ने उ0प्र0 के अलीगढ़ जिले में किशनगढ़ी गांव के अध्ययन के आधार पर लघु व वृहद परंपराओं के मध्य होने वाली अंतःक्रिया को स्पष्ट करने के लिए दो अवधारणाओं का प्रयोग किया।

(i) स्थानीयकरण (Parochialization)

(ii) सार्वभौमिकीकरण (Universalization)

(i) Parochial शब्द का अर्थ संकीर्णता से लगाया जाता है। शाब्दिक रूप से वह प्रक्रिया जो समूह की भावनाओं को संकीर्ण बनाती अथवा स्थानीय विशेषताओं को उत्पन्न करती है स्थानीयकरण की प्रक्रिया कहलाती है। इस प्रक्रिया का उल्लेख मौरिस ओपलर ने सबसे पहले किया था। मैकिम मैरियट का मानना है कि अनेक संस्कृतियां जब काफी पहले से चली आ रही होती हैं और पुरानी हो जाती हैं उनका वृहद परंपराओं में परिवर्तन होने लगता है तब साधारणतया ऐसी परंपराओं को स्थानीय विश्वासों का आवश्यकताओं के अनुसार परिवर्तित किया जाने लगता है। मैरियट के अनुसार– वृहद परंपरा के तत्वों का नीचे की ओर बढ़ना तथा उनका लघु परंपरा के तत्वों से मिल जाना ही स्थानीयकरण की प्रक्रिया है। स्थानीय विश्वास एक दीर्घ परंपरा के प्रसार में बाधा डालकर उसमें क्षेत्र को सीमित कर देते हैं। यदि वृहद परंपरा लघु परंपरा के विकास को रोकना चाहे तो अनेक छोटी या काल्पनिक परंपराये इन वृहद परंपराओं के विकास में बाधा डालकर उसके प्रभाव को कम कर देतीं। हैं। वृह्द परंपराओं के अंतर्गत अनेक छोटी–छोटी स्थानीय परंपराओं का विकास हो जाता है। वास्तव में यह संस्कृति का अल्प विकास अथवा ह्रासोन्मुख परिवर्तन है जिसे अवरोही सामाजिक गतिशीलता कहा जा सकता है। मैरियट ने इस अवरोही सामाजिक गतिशीलता को स्पष्ट करने के लिए किसनगढ़ी गांव में गोबर्धन पूजा का उल्लेख किया है। यह अभिजात लोगों का पर्व है और दीर्घ परंपरा का हिस्सा है। मैरियट के अनुसार इसका संकीर्ण रूप लघु परंपरा के तत्व के रूप में आम लोगों के जीवन का अंग बन जाता है। संकीर्णता के कारण आम लोग गोबर को धन मानकर पूजने लगे। अर्थात जब वृहद परंपरा (गोबर्धन पूजा) के सांस्कृतिक तत्वों की गति नहीं की ओर हो जाती है तो इस यात्रा के दौरान उसका रूप बदल जाता है (गोबर को धन मानकर पूजना) और वे लघु परंपरा में एकीकृत हो जाते हैं। यह परिवर्तन अवरोही सामाजिक गतिशीलता को स्पष्ट करता है।

(ii) सार्वभौमिकीकरण की अवधारणा मूलतः स्थानीयकरण की अवधारण के विपरीत है। शाब्दिक अर्थ में सार्वभौमिकीकरण का आशय किसी सांस्कृतिक विशेषता के प्रत्येक स्थान में प्रसार होने से है। मैरिएट के अनुसार जब लघु परंपरा के तत्व (देवी, देवता, संस्कार आदि) ऊपर की ओर बढ़ते हैं

अर्थात उनके फैलाव का क्षेत्र विस्तृत हो जाता है तब वे वृहद परंपरा के स्तर तक पहुंच जाते हैं और उनका मूल स्वरूप बदल जाता है तो इस प्रक्रिया को सार्वभौमिकीकरण कहा जाता है। अर्थात लघु परंपरा के तत्व जैसे देवी–देवता, प्रथायें, संस्कार, वृहद परंपरा के स्तर तक प्रचलित हो जाते हैं और उन्हें वृहद परंपरा का ही अंग माना जाने लगता है तो इसे सार्वभौमिकीकरण कहा जाता है। मैरिएट ने किशनगढ़ी गांव में मनाये जाने वाले सौरती पूजा का उल्लेख किया है। सौरती से जुड़ा विश्वास लघु परंपरा से संबंधित है लेकिन जब इसमें फैलाव का क्षेत्र विस्तृत हो गया एवं यह फैलाव ऊपर की ओर होता गया तो इस लंबी यात्रा में उसका स्वरूप बदल गया और उसने लक्ष्मी का रूप ग्रहण कर लिया। इस प्रकार एक क्षेत्र विशेष में प्रचलित लघु परंपरा (सौरती पूजा) कालांतर में वृहद परंपरा (लक्ष्मी पूजा) में बदल गई। यह स्थानान्तरण ही सार्वभौमिकीकरण कहलाता है। ऊपर की ओर होने वाले इस परिवर्तन को आरोही सामाजिक गतिशीलता कहा जा सकता है।

11.6 बोध प्रश्न

1. आधुनिकीरकण हैः–

   क. प्रक्रिया ख. अवस्था

   ग. अवरोध घ. परिणाम

2. जन्म के आधार पर प्राप्त प्रस्थिति है–

   क. अर्जित ख. प्रदत्त

3. जनजातियों को पिछड़े हिन्दू कहा है–

   क. घुर्ये ने ख. एल्विन ने

   ग. मजूमदार ने घ. योगेन्द्र सिंह ने

4. संस्कृतीकरण की प्रक्रियाा दर्शाती है–

   क. पदमूलक परिवर्तन को ख. संरचनात्मक परिवर्तन को

   ग. वर्गीय परिवर्तन को घ. जातीय परिवर्तन को

11.7 बोध प्रश्नों के उत्तर

1. क
2. ख
3. क
4. क

11.8 सन्दर्भ ग्रंथ

- जे0 पी0 सिंह, आधुनिक भारत में सामाजिक परिवर्तन, पी एच आई लर्निंग प्राइवेट लिमिटेड, नई दिल्ली, 2010.
- एम0 एम0 लवानिया व शशी के0 जैन, ग्रामीण समाजशास्त्र, रिसर्च पब्लिकेशन, नई दिल्ली, 1999.
- जी0 के0 अग्रवाल, समाजशास्त्र, साहित्य भवन पब्लिकेशन, आगरा, 2013.

इकाई–12

आधुनिक समाजों में सामाजिक गतिशीलता

इकाई की रूपरेखा

12.0 उद्देश्य

12.1 प्रस्तावना

12.2 आधुनिक समाज

12.2.1 आधुनिक समाज की अवधारणा

12.2.2 आधुनिक समाज की विशेषतायें

12.2.3 परंपरागत समाज बनाम आधुनिक समाज

12.3 सामाजिक गतिशीलता

12.3.1 सामाजिक गतिशीलता की अवधारणा

12.3.2 सामाजिक गतिशीलता के प्रकार

12.3.3 सामाजिक गतिशीलता एवं सामाजिक परिवर्तन

12.4 पारंपरिकता से आधुनिकता की तरफ

12.4.1 बंद समाज के संदर्भ में

12.4.2 खुले समाज के संदर्भ में

12.5 सारांश

12.6 संदर्भ ग्रन्थ सूची

12.7 बोध प्रश्न

12.8 वस्तुनिष्ठ प्रश्न एवं उत्तर

12.0 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के उपरान्त आप :–

- आधुनिक समाज की महत्वपूर्ण विशेषतायें समझ सकेगें।
- आधुनिक गतिशीलता एवं विभिन्न समाजों में आधुनिकीकरण की प्रक्रिया के मध्य संबंध को जान सकेगें।
- सामाजिक गतिशीलता पर आधुनिकीकरण का विश्लेषण कर सकेगें।

- सामाजिक गतिशीलता का आधुनिकीकरण के विभिन्न स्तरों से संबंध को स्पष्ट कर सकेगें।
- खुले एवं बंद समाजों के मध्य अंतर को स्पष्ट कर सकेगें।

12.1 प्रस्तावना

समाजशास्त्र में यह एक निश्चित अवधारणा है और इसलिए इसका अर्थ भी तकनीकी है। सामान्यतया यह अवधारणा इतिहास के एक निश्चित काल (म्चवबी) से जुड़ी हुई हैं। कहते है जब एक काल समाप्त हो जाता है, तब दूसरा काल आता हैं हिन्दू मान्यता के अनुसार सतयुग के चले जाने क बाद त्रेता युग आया और त्रेता के बाद द्वापर युग आया और द्वापर युग के बाद कलयुग। कुछ इसी तरह आधुनिकता का सम्बन्ध भी युग या काल के साथ है। इतिहासकार भारतीय इतिहास को तीन कालों में बांटते हैं : प्राचीन काल, मध्यकाल, और आधुनिक काल। आधुनिकता का अर्थ केवल काल से जोड़ना सही नहीं होगा। समाजशास्त्री जार्ज रिट्जर आधुनिकता का सम्बन्ध कतिपय मूल्यों और विचारधारा के साथ जोड़ते है। वे कहते है कि पहले समज पवित्रता के साथ जुड़ा था, फिर यह समाज धर्मनिरपेक्ष यानी सेक्युलर बना। यह काल परिवर्तन पवित्र से धर्मनिरपेक्ष कहलाता है या दूसरे शब्दों में समाज परम्परागत अवस्था से आधुनिकता याप औद्योगिक अवस्था में आया तब इसे आधुनिक कहते है। आधुनिकता का यह अर्थ मूल्य या विचारधारा प्रधान है।

देखा जाये तो आधुनिकता का सम्बन्ध एक खास तरह के अनुभव, एक विशेष प्रकार की संस्कृति से है। इसमें आर्थिक, समामाजिक और राजनीतिक गठबन्धन होना है, जो इसे एक पृथक पहचान देता है। आधुनिकता में **सांस्कृतिक एकाधिकता** (Cultural Pluralism) होती है, अनेक जातियां, भाषाएं और संस्कृति क्षेत्र (Culture Areas) होते है। आधुनिकता में लचीलापन होता है और यह हमेशा नये अविष्कारों में जुटी रहती है। इस काल का सौन्दर्य बोध (।मेजीमजपब) बड़ा परिष्कृत होता है। इसकी पोपुलर कल्चर (Popular Cilture) जादुई होती है, इसे खान–पान, रहन–सहन सभी में देखा जा सकता है। आधुनिकता एक प्रकार से औद्योगिक अर्थव्यवस्था का दर्पण होती है।

12.2 आधुनिक समाज

औद्योगिक समाज को आधुनिक समाज भी कहा जाता है क्योंकि यहां संबंधों में अत्याधिक जटिलता उत्पन्न हो जाती है विभिन्न तरह के सम्बन्ध नहीं बल्कि इसकी प्रकृति एवं बारम्बारता में भी वृद्धि हो जाती है। कुछ हद तक प्रोद्योगिक प्रगति को आधुनिक समाज में सम्बन्धों की जटिलता का कारण माना जाता है जटिल समाजों में अप्रत्याशित आवश्यकताओं में वृद्धि होती है। प्रारम्भ में परिवर्तन की शुरूआत आधुनिक समाजों की अवधारणा को समझने की दो विधियाँ है। प्रथम विधि ऐतिहासिक दृष्टि से आधुनिक समाज के मूल्यांकन से संबद्ध है। हम प्राचीन, मध्ययुगीन एवं आधुनिक समाजों को समझने का प्रयास करते है। दूसरी विधि मानव व्यवहार के वैज्ञानिक अध्ययन से संबद्ध है। दूसरी विधि में हम उस समाज को आधुनिक मानते है जहाँ परंपरा की भूमिका कम महत्वपूर्ण हो जाती है। यह उन संबंधों पर भी निर्भर करता है जो की भूमिका कम महत्वपूर्ण हो जाती है। यह उन संबंधों पर भी निर्भर करता है जो कि औद्योगीकरण के परिणाम है। यह ऐतिहासिक दृष्टि से भी तथ्य है। यूरोप में औद्योगिक क्रान्ति के साथ सभी

संबंधों में परिवर्तन उत्पन्न हुए। औद्योगिक क्रान्ति के परिणामस्वरूप हुए इन परिवर्तनों की दर पूर्व परिवर्तनों की तुलना में अत्यंत तीव्र थी। कोई भी समाज स्थर नहीं है। वैज्ञानिक खोज एवं प्रोद्योगिकीय नवाचार उन आधारों को उत्पन्न करते है जिनके कारण सामाजिक संबंधों के नवीन प्रतिमान उत्पन्न होते है। यद्यपि सामाजिक संबंधों एवं जीवन शैली में परिवर्तन उत्पन्न करने में अधिक समय लगता है।

12.2.1 आधुनिक समाज की अवधारणा

तुलनात्मक संदर्भ में अनेक समाज वैज्ञानिकों ने आधुनिक समाज की अवधारणा का विवेचन किया हैं। एमाइल दुर्खीम का मत था कि आधुनिक समाज में "सावयवी एकता" पाई जाती हे। अनेक विशिष्ट एवं अत्यंत विशिष्ट भूमिकाएँ आधुनिक समाज में अंतः निर्भर स्वरूप प्राप्त करती है। इस सामाजिक व्यवस्था में श्रम का जटिल विभाजन पाया जाता है। सभी प्रकार के समूहों एवं व्यक्तियों से सहयोग इस समाज का आवश्यक तत्व है। यह विशेषता "यांत्रिक एकता" से विपरीत है। यांत्रिक एकता, मूल्यों एवं व्यवहारों की समरूपता, कठोर अनौपचारिक सामाजिक नियंत्रण एवं परंपरा तथा प्रदत्त भूमिकाओं के तत्वों पर आधारित है। मैक्स वैबर के मतानुसार आधुनिक समाजों में अवैयक्तिक संबंधों की प्रबलता पाई जाती है क्योकि व्यक्तिगत संबंधों, परंपरा एवं बंधुत्व की भूमिका का महत्व कम हो जाता है। वस्तुतः इन पक्षों की भूमिका आंशिक ही हो जाती है। आधुनिक समाजों में प्रशासनतंत्र अत्यंत प्रभावशाली हो जाता हे अथवा वे तत्व महत्वपूर्ण हो जाते है जिनकी चर्चा सावयवी एकता के संदर्भ से दुर्खीम ने की है। हेनरी मेन ने संविदा पर आधारित संबंधों को आधुनिक समाजों की प्रकृति से संबद्ध किया है। ये संबंध परंपरागत अथवा पूर्व–आधुनिक समाजों में पाए जाने वाले प्रस्थिति आधारित संबंधों के विपरीत है। आधुनिक समाज परिवर्तन पर आधारित लौकिक दृष्टिकोण उत्पन्न एवं विकसित करने के अवसर प्रदान करता है। ये सामाज उन अन्य समाजों से भिन्न है जो प्रतिरोध करते है।

12.2.2 आधुनिक समाज की विशेषतायें

आधुनिक समाज की अवधारणा में निम्नलिखित विशेषताओं की विस्तार से चर्चा की जा सकती है :

1. औद्योगिक समाजों को अन्य प्रकार के समाजों से पृथक् करने वाली एक महत्वपूर्ण विशेषता यह है कि नौकरी में लगी जनसंख्या का अधिकतर भाग कारखानों या कार्यालयों में काम करता है, न कि कृषि क्षेत्र में। परम्परात्मक समाजों में प्रौद्योगिक विकास के भिन्न स्तर के कारण अधिकांश लोगों को अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये कृषि पर ही निर्भर रहना पड़ता हैं इसके विपरीत, औद्योगिक समाजों में 2 से 5 प्रतिशत तक जनसंख्या ही सामान्यत : कृषि–कार्यों में लगी होती है और इनके प्रयत्नों से सभी लोगों की खाद्य–पदार्थ सम्बन्धी आवश्यकताओं की पूर्ति हो जाती है।

2. परम्परात्मक समाजों की तुलना में औद्योगिक समाज काफी अधिक नगरीकृत होते है। कुछ औद्योगिक समाजों में 90 प्रतिशत या इससे भी अधिक लोग कस्बों व नगरों में रहते है जहां विभिन्न प्रकार की नौकरियां पायी जाती है और नई नौकरियों की सुविधा निरन्तर बढ़ती जाती है। यहां

बड़े नगरों का आकार परम्परात्मक समाजों की कुल नगरीय जनसंख्या से भी बड़ा होता है।

3. नवीन औद्योगिक क्षेत्रों में सामाजिक जीवन पहले किी तुलना में अधिक अवैयक्तिक एवं गुमनाम होता है। व्यक्ति का प्रतिदिन नये–नये व्यक्तियों से मिलना होता है, न कि उन व्यक्तियों से जो एक–दूसरे को व्यक्तिगत आधार पर जानते है। यहां बड़े संगठनों,त्र जैसे व्यापारिक निगम, राजकीय एजेन्सियां, आदि प्रत्येक के जीवन को प्रभावित करते रहते हैं।

4. औद्योगिक समाजों की एक प्रमुख विशेषता यह है कि वहाँ राजनीतिक व्यवस्थाएं परम्परात्मक समाजों की तुलना में काफी विकसित प्रकार की होती है। परम्परात्मक समाजों में, राजा तथा शासक का आत्मनिर्भर स्थानीय ग्रामीण समुदाय में रहने वाले लोगों की प्रथाओं व आदतों पर बहुत कम प्रत्यक्ष प्रभाव होता है, लेकिन औद्योगीकरण के साथ–साथ आवागमन एवं सन्देशवाहन के साधन काफी तीव्र हो गये और इससे एकीकृत राष्ट्रीय समुदाय निर्मित हो सके।

5. औद्योगिक समाजों में प्रौद्योगिकी का प्रयोग आर्थिक विकास की शान्तिपूर्ण प्रक्रियाओं तक ही सीमित नहीं है। औद्योगीकरण क प्रारम्भ के समय से ही आधुनिक उत्पादन प्रक्रियाओं का प्रयोग सैन्य कार्य हेतु भी किया गया। इससे युद्ध के तौर–तरीकों में काफी बदलाव आया। श्रेष्ठ आर्थिक शक्ति, राजनीतिक दृढ़ता तथा सैनिक बल ने मिलकर पिछली दो शताब्दियों में विश्व में पश्चिमी जीवन के ढ़ंग के प्रसार में योग दिया।

औद्योगिक समाज की विशेषताओं को हम संक्षेप में इस प्रकार हैः जनसंख्या की बहुलता, जनसंख्या की विभिन्नता, व्यवसायों की बहुलता एवं विभिन्नता, धर्म एवं परिवार का कम महत्व, विभिन्न क्षेत्राों में प्रतिस्पर्द्धा का पाया जाना, प्रत्येक प्रकार की सुविधाओं का उपलब्ध होना, श्रम–विभाजन एवं विशेषीकरण, द्वैतीयक सम्बन्धों की प्रधानता, भौगोलिक एवं सामाजिक गतिशीलता का पाया जाना, व्यक्तिवादिता, सामाजिकम समस्याओं एवं जीवन में कृत्रिमता का बोलबाला, उन्नत प्रौद्योगिकी, घनी नगरीय आबादी, नौकरशाही संगठन, साक्षारता एवं शिक्षा का प्रसार, बाजार के लिए उत्पादन आदि।

12.2.3 परंपरागत समाज वनाम आधुनिक समाज

परंपरागत समाज के नाम से ही स्पष्ट है कि समाज परंपराओं से संचालित होता है। परंपराये वे सामाजिक प्रथाये है जो समाजीकरण की प्रक्रिया के द्वारा एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को हसतांतरित होती है। फलस्वरूप परंपरायें नियंत्रण का साधन बन जाती है। परंपरायें, विश्वास, व्यवस्थाओं, मूल्यों तथा समूह के चितन की विधाओं का प्रतिनिधित्व करती है ये समाज आंतरिक पक्षों से निर्देशित समाज के रूप में भी जाने जाते हैं। इन समाजों में परिवर्तन के प्रति अधिक आकर्षण नहीं होता। व्यक्तिगत संबंध एवं प्रस्थिति आधारित संबंध इन परंपरागत समाजों की विशेषतायें है जिन्हें दुर्खीम ने 'यांत्रिक–एकता' के अंतर्गत व्यक्त किया है।

यह केवल विचारों एवं चिंतन तक ही सीमित नहीं है, अपितु कृषि में उत्पादन की प्रविधि, यातायात एवं संचार साधन, संस्थाओं के संगठन एवं स्वास्थ्य, को आधुनिक समाज से पृथक करती है। जबकि आधुनिक समाज में उत्पादन की परंपरागत प्रविधियों को वैज्ञानिक ज्ञान पर आधारित नवीन प्रविधियों द्वारा रूपांतरित

किया गया है। निश्चित रूप से ये रूपांतरण वैज्ञानिक अनुसंधान एवं प्रौद्योगिकीय विकास के स्तर पर निर्भर करते है। इसके कारण आधुनिक समाजों को वस्तुतः आधुनिक बनने में समय लगता है क्योंकि परंपरागत प्रविधियों का नवीन प्रविधियों द्वारा रूपांतरण समाज में समिति होने में समय लेता है। परंतु कभी सामाजिक परिवर्तन पूर्णरूपेण गुणात्मक अथवा पूर्ण बदलाव वाला नहीं हो सकता। उदाहरण के लिए नवीन वैज्ञानिक प्रविधियों के साथ हम आज भी बैलों प्रयोग जताई हेतु करते है। अतः बैलों द्वारा संचालित हल एवं ट्रेक्टर दोनों ही प्रविधियाँ प्रयुक्त होती है।

12.3 सामाजिक गतिशीलता

सामाजिक गतिशीलता का तात्पर्य एक व्यक्ति या समूह द्वारा एक पद, स्थान या व्यवसाय त्यागकर दूसरा पद, स्थान या व्यवसाय ग्रहण करने से है। विभिन्न विद्वानों ने सामाजिक गतिशीलता को इस प्रकार से परिभाषित किया है :–

बोगार्डस के अनुसार, "सामाजिक पद में कोई भी परिवर्तन सामाजिक गतिशीलता है।"

फिचर के अनुसार, "सामाजिक गतिशीलता व्यक्ति, समूह या श्रेणी के एक सामाजिक पद या स्तृत से दूसरे में गति करने को कहते है।"

हार्टन तथा **हण्ट** के अनुसार, "सामाजिक गतिशीलता का तात्पर्य उच्च या निम्न सामाजिक प्रस्थितियों में गमन करना है।"

12.3.1 सामाजिक गतिशीलता की अवधारणा

कोई भी समाज अखण्ड व्यवस्था नहीं है बल्कि प्रत्येक सामाज में पदों की एक संस्तरणात्मक व्यवस्था होती है। सामाजिक स्तरीकरण की इस व्यवस्था में सामान्यतः व्यक्तियों का और कभी–कभी किसी संपूर्ण समूह की भिन्न प्रस्थितियों अथवा स्तरों के बीच होने वाले परिवर्तन को सामाजिक गतिशीलता कहते है। सामाजिक गतिशीलता सरंचना में प्रस्थिति के परिवर्तन का संकेत देती है। उदाहरणार्थ किसी गरीब व्यक्ति द्वारा व्यवसाय में सफल होकर अमीर बना जाना या किसी शिक्षक द्वारा चुनाव लड़कर मंत्री बन जाना सामाजिक गतिशीलता को दर्शाता है।

कोई समाज ऐसा नहीं है जहाँ सामाजिक गतिशीलता की संभावनाएं पूर्णतः अनुपस्थित हों। किसी भी समाज में सामाजिक गतिशीलता की मात्रा उस समाज के स्तरीकरण की प्रकृति पर निर्भर करती है। समाज की प्रकृति जब सरल एवं परंपरागत होती और जहां प्रदत्त प्रस्थिति को महत्व दिया जाता है (जातीय समाज) तो वहां गतिशीलता के अवसर भी सीमित होते है। लेकिन जैसे ही समाज परंपरा से जटिलता या आधुनिकता की ओर अग्रसर होता है, जां अर्जित प्रस्थिति की महत्व दिया जाता है (अर्जित समाज) गतिशीलता के अवसर भी बढ़ जाते है।

12.3.2 सामाजिक गतिशीलता के प्रकार

सामाजिक गतिशीलता को मुख्यतः दो भागों में बाँटा गया है –

1. समस्तरीय क्षैतिज गतिशीलता
2. विषम या उदग्र गतिशीलता

समस्तरीय क्षैतिज गतिशीलता

यदि किसी व्यक्ति अथवा समूह की प्रस्थिति में परिवर्तन होता है लेकिन उसके सामाजिक स्तर में कोई परिवर्तन नहीं होता तो इसे हम क्षेतिज या समतल गतिशीलता कहते है। इस प्रकार की गतिशीलता में व्यक्ति की प्रस्थिति–प्रतिष्ठा एवं सम्मान में कोई विशेष प्रकार का अन्तर नहीं होता है क्योंकि इसमें व्यक्ति को सामाजिक उन्नति या अवनति का एहसास नहीं होता है। स्पष्टतः सामाजिक संगठन पर ऐसी गतिशीलता का प्रभाव कम पड़ता है। एक उच्च न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश का दूसरे राज्य के उच्च न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश के रूप में तबादला या फिर एक विश्वविद्यालय के कुलपति का दूसरे विश्वविद्यालय में कुलपति के रूप में नियुक्ति आदि क्षैतिज गतिशीलता के उदाहरण है।

हम क्षैतिज गतिशीलता के कुछ प्रकारों की श्रेणी में रखकर चर्चा कर सकते है, जैसे–

1. **पेशा–संबंधी क्षैतिज गतिशीलता :–** इस प्रकार की गतिशीलता के अंतर्गत वैसे व्यक्तियों को लिया जा सकता है जो किसी विशेष कार्य या व्यवसाय को छोड़कर उसी स्थिति या प्रकृति के दूसरे कार्य अथवा व्यवसाय को अपना लेते है क्योंकि इस प्रकार के व्यक्तियों की परिस्थिति में कोई परिवर्तन नहीं होता है। एक मजदूर जब एक कारखाने को छोड़कर दूसरे कारखाने में चला जाता है तो यह पेक्षा– संबंधी क्षैतिज गतिशीलता को दर्शाया है।

2. **अंतर पारिवारिक गतिशीता :–** एक विवाहित युगल जब विवाह–विच्छेद के बाद पुनः विवाह कर लेते है तो इससे भी उनकी स्थिति में कोई मूल परिवर्तन नहीं होता। इसका कारण यह है कि पुनः विवाह करने के पश्चात् भी वे किसी के पति या पत्नी ही रहते है।

3. **भू–भागीय गतिशीलता :–** एक स्थान से दूसरे स्थान पर जाने की प्रक्रिया भू–भागीय गतिशीलता कहलाती है। जिससे व्यक्ति के स्तर में कोई परिवर्तन नहीं होता है। यातायात की सुविधाओं के विकास के साथ ही शिक्षा या चिकित्सा सुविधा, रोजगार आदि की सुविधा जहां उपलब्ध है वहां लोग आकर्षित हो रहे है और आ जा रहे है। फलतः पिछले पचास वषों में भू–भागीय गतिशीलता पहले की तुलना में बढ़ी है।

4. **नागरिकता परिवर्तन से होने वाली गतिशीलता :–** एक राज्य से दूसरे राज्य में जाकर बस जाना और वहां नागरिक बन जाना भी एक प्रकार की गतिशीलता है। नागरिकता परिवर्तन की अनेक घटनाएँ विभिन्न देशों में देखने को मिली है। विभिन्न देशों में जब बंटवारा हुआ तो नागरिकता परिवर्तन एक सामान्य घटना के रूप में देखा गया। भारत, वर्मा और बंग्ला देश में उपनिवेशी शासन से मुक्त होने के बाद नागरिकता परिवर्तन हुआ। नागरिकता में परिवर्तन कुछ आर्थिक कारणों से भी होता है। भारत से अनेक इंजीनियर, डॉक्टर या वैज्ञानिक पश्चिमी देशों में जाकर बस गये है और भारत की नागरिकता को छोड़कर वहां की नागरिकता ले ली जहां उन्हें अनुसंधान के लिए अधिक सुविधायें प्राप्त होती है।

उदग्र गतिशीलता

सामाजिक गतिशीलता का ऐसा प्रकार जिसमें व्यक्ति अथवा समूह सामाजिक स्तरीकरण व्यवसाी में एक स्तर से दूसरे स्तर में स्थानांतरित होता है तो इसे उदग्र गतिशीलता कहा जाता है। ऐसी गतिशीलता में न केवल व्यक्ति के पद में अन्तर आ जाता है बल्कि उसकी कार्य कुशलता एवं सामाजिक व्यवहार भी प्रभावित होता

है। साथ ही व्यक्ति की प्रतिष्ठा एवं सम्मान में भी अंतर आ जाता है। इस तरह उदग्र गतिशीलता भी दो तरह की होती है। मूलतः नीचे से ऊपर की ओर जिसे आरोही उदग्र सामाजिक गतिशीलता और दूसरा, ऊपर से नीचे की ओर जिसे अवरोही उदग्र सामाजिक गतिशीलता कहते हैं उदाहरणार्थ जब व्यक्ति अपने व्यक्तिगत गुणों के चलते निम्न पद से उच्च पद में जाता है तो इसे आरोही गतिशीलता कहते है, जैसे एक विधार्थी के आई ए.एस. पदाधिकारी के पद पर नियुक्त होना या एक वकील का न्यायाधीश बन जाना या गरीब का लखपति बन जाना आदि। ठीक इसके विपरीत, जब व्यक्ति उच्च पद से निमनपद की ओर जाता है तो इसे अवरोही गतिशीलता कहते है, जैसे एक प्रधानाचार्य की अवनति हो जाने पर शिक्षक बन जाना या एक करोड़पति का व्यवसाय में हानि होने पर निम्न वर्ग में आ जाना आदि।

12.3.3 सामाजिक गतिशीलता और सामाजिक परिवर्तन

सामाजिक परिवर्तन का तात्पर्य समाज के सरंचनाात्मक या प्रकार्यात्मक या प्रकार्यात्मक पक्षों में होने वाला कोई भी परिवर्तन है जबकि सामाजिक गतिशीलता स्तरीकरण की किसी व्यवस्था में स्तर परिवर्तन या प्रस्थिति परिवर्तन का सूचक है।

समाज की प्रकृति जब सरल, परंपरागत एवं स्थिर होती है तब वहां व्यक्ति या समूहों में गतिशीलता के अवसर भी सीमित होते है लेकिन जैसे ही समाज परम्परागत से आधुनिकता की ओर परिवर्तित होता है सामाजिक गतिशीलता के अवसर बढ़ जाते है। इस परिवर्तन के साथ–साथ योग्यता एवं अर्जित प्रस्थिति के महत्व में वृद्धि होती जाती है और ये तत्व तथा बढ़ती महत्वाकांक्षा सामाजिक गतिशीलता के लिए प्रेरक का कार्य करते है। सामाजिक परिवर्तनों में सामाजिक गतिशीलता की दर को भी तेज कर दिया है। परन्तु अगर सामाजिक गतिशीलता की इस दर को अमेरिकी समाज के सापेक्ष देखें तो यह अभी भी कम है।

दूसरी ओर वह समाज जहां सामाजिक गतिशीलता की दर अधिक होती है (वर्ग–समाज), सामाजिक परिवर्तन एवं आधुनिकीकरण संपोषित है और इसकी गति तेज होती है जबकि इसके विपरीत स्थिति होने पर यह कम हो जाती है,उदाहरणार्थ 1947 के पश्चात् भारत में आधुनिकीकरण के रूप में सामाजिक परिवर्तन की प्रक्रिया प्रारंभ करने के बावजूद जाति व्यवस्था इस परिवर्तन की गति को धीमा बनाए रखने में महत्वपूर्ण रही है (बेबर)। जबकि, पश्चिमी समाजों में ठीक इसके विपरीत स्थिति देखी जाती है। सामाजिक गतिशीलता की प्रक्रिया में प्रस्थिति सुधार करने में वर्ग या समूह पुरानी जीवनशैली को त्यागकर नवीन जीवनशैली को अपनाता है। यह भी सामाजिक गतिशीलता का सामाजिक परिवर्तन के क्षेत्र में महत्वपूर्ण योगदान है।

स्पष्ट है दोनों ही अवधारणाएं एक–दूसरे से संबद्ध है और जहां आधुनिक सामाजिक परिवर्तन गतिशीलता की दर को बढ़ाते है, वहीं अधिक गतिशीलता की दर वाला समाज आधुनिक सामाजिक परिवर्तन को संपोषित करता है।

12.4 पारंपरिकता से आधुनिकता की तरफ

सामाजिक गतिशीलता का एक महत्वपूर्ण पक्ष यह है कि संपूर्ण परंपरागत संदर्भ–संरचना से आधुनिक संदर्भ संरचना की तरफ गतिशील होता है। इस प्रकार का परिवर्तन युग का निर्माण करता है तथा समाज के इतिहास में बहुत कम घटित होता है। यद्यपि यह तर्क देना भी अतयंत कठिन है कि समाज कब परंपरा से

आधुनिकता की तरफ गतिशील होता है। जैसा कि हम जानते हे कि आधुनिकीकरण के कुछ संकेतक होते है। जब उन संकेतकों को हम समाज में क्रियाशील पाते हे तो यह तर्क देते है कि समाज आधुनिक मूल्यों की तरफ अग्रसर हो रहा है। इस अग्रसरता के साथ यह यथार्थ है कि इस परिवर्तन के साथ ही समाज में स्थापित परंपरागत मूल्य भी विद्यमान है।

12.4.1 बंद समाज के संदर्भ में

परम्परागत समाज साधाणतः परम्रागत समाज में परम्पराओं एवं प्रथाओं का विशेष महत्व होता है। परम्परागत समाज में धर्म का जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में काफी प्रभाव पाया जाता है। व्यक्तियों के विश्वासों, दृष्टिकोणों एवं व्यवहार में धार्मिक या आध्यात्मिक तत्वों की प्रधानता देखने को मिलती है। ऐसे समाज में विज्ञान को कोई महत्व नहीं दिया जाता। व्यक्तियों की प्रस्थिति और भूमिका का निर्धारण अधिकतर परम्पराओं के आधार पर और कहीं–कहीं जन्म के आधार पर होता है। व्यक्तियों के व्यवहारों को नियन्त्रित करने या सामाजिक नियन्त्रण को बनाए रखने में धर्म, नैतिकता, प्रथा, परम्परा, रूढ़ि एवं जनमत का विशेष महत्व होता है। ऐसा समाज प्रौद्योगिकीय दृष्टि से विकसित नहीं होता है और इसी कारण यहां श्रम–विभाजन व विशेषीकरण भी नही ंके बराबर होता है। ऐसे समाज में भाग्यवादिता एवं रूढ़िवादिता का काफी प्रभाव पाया जाता है। परिणामस्वरूप यहां स्त्रियों की स्थिति न्म्नि होती है। संक्षेप में हम कह सकते है कि परम्परागत समाज वह समाज है जिसकी सामाजिक व्यवस्था में धर्म, नैतिकता, प्रथा, परम्परा, जनमत, जन्म, भाग्यवादिता एवं रूढ़िवादिताह का विशेष महत्व देखने को मिलता है तथा परिणामस्वरूप जिसमें सामाजिक गतिशीलता एवं सामाजिक परिवर्तन की गति सापेक्ष रूप से काफी धीमी होती है।

सभी समाजों में वर्ग पाये जाते है वस्तुतः वर्ग–विहीन समाज की चर्चा करना एक भ्रम है। परन्तु जब ये वर्ग आन्तरिक बाध्यता हेतु क्रियाशील होते है अर्थात इकाइयों के व्यवहार को नियंत्रित करते है तथा वाह्य रूप से विशिष्ट हो जाते है अर्थात अन्य समूहों/वर्गों से अनतर बनाये रखते है, तब अगतिशीलता का प्रतिमान उत्पन्न होता है। जाति, प्रजाति, संस्कृति/धर्म एवं राज्य की विशेषताओं से निर्मित समाज सापेक्षिक दृष्टि से स्तरीकरण की बन्द व्यवस्था के उदाहरण है।

जाति समाज में सापेक्षिक दृष्टि से सामाजिक गतिशीलता कम है। परम्परायें कुछ सामाजिक इकाइयों को उच्च प्रस्थिति की प्रापित में सहायक होती है जबकि कुछ इकाइयों के लिये उच्चस्तरीय सामाजिक गतिशीलता में बाधक है। आधुनिकीकरण इन समाजों में कठिन है तथा इस प्रक्रिया में अधिक समय भी लगता है। यद्यपि जाति ने अनेक संस्थाओं जैसे चुनाव, व्यवसाय एवं व्यापार, प्रवसन, सामाजिक समझौतों इत्यादि के साथ अनुकूल किया है अथवा इन्हें स्वीकारा है। इस तथ्य को स्वीकार किया जा सकता है कि जाति व्यवस्था के बावजूद परिवर्तन की प्रक्रिया भारत में तीव्र है।

औद्योगिक विकास के बावजूद भारत में जाति प्रथा विद्यमान है। जाति एक ऐसी सामाजिक शक्ति है जो व्यक्तियों को सांस्कृतिक दृष्टि से संगठित रखती है। अतः जाति, समुदाय एवं प्रजातीय समूह अनौपचारिक सामाजिक सम्बन्धों के स्रोत है।

12.4.2 खुले समाज के संदर्भ में

मुक्त समाज का तात्पर्य 'खुला समाज' से है। साधारणतः इस प्रकार के समाज में परम्परागत समाज से कुछ भिन्न प्रकार की विशेषताएं पायी जाती है, परन्तु इसका

तात्पर्य यह नहीं है कि ऐसे समाज में धर्म, नैतिकता, प्रथा, परम्परा, आदि का महत्व बिल्कुल नहीं पाया जाता। इतना अवश्य है कि मुक्त समाज में परम्परागत समाज की तुलना में इन सबका महत्व काफी कम होता है। मुक्त समाज रूढ़िवादी समाज नहीं होकर प्रगतिशील और सामेक्ष रूप से अधिक स्तरीकरण का आधार जन्म, प्रथा, परम्परा, आदि नहीं होकर वैयक्तिक योग्यता या गुण होते है। यहां जाति–व्यवस्था के बजाय वर्ग–व्यवस्था का महत्व पाया जाता है। ऐसे समाज में जन्म, जाति, प्रजाति, आदि के आधार पर व्यक्ति की सामाजिक प्रस्थिति एवं भूमिका का निर्धारण नहीं होकर शिक्षा, धन, गुण, योग्यता, व्यवसाय, आदि के आधार पर होता है। ऐसे समाज में सामाजिक निन्त्रण के औपचारिक साधनों–प्रथा, जनमत, रूढ़ि, धर्म, नैतिकता की तुलना में अधिक महत्व पाया जाता है। मुक्त समाज में विज्ञान का व्यापक प्रभाव देखने को मिलता है। मुक्त समाज वह समाज है जिसकी सामाजिक व्यवस्था में धन, शिक्षा, वैयक्तिक गुण या योग्यता, आदि को विशेष महत्व दिया जाता है और जिनके आधार पर व्यक्ति की सामाजिक प्रस्थिति का निर्धारण होता है। ऐसा समाज रूढ़िवादी नहीं होकर प्रगतिशीलता अधिक पायी जाती है और सामाजिक परिवर्तन की गति तुलनात्मक दृष्टि से तीव्र होती है।

स्वतंत्रता एवं सामाजिक परिवर्तन के अवसर खुले समाज की विशेषताएं है। ये समाज उस स्थिति को अभिव्यक्त करते है जिसमें कोई व्यक्ति अथवा समूह अपनी प्रस्थिति को परिवर्तित कर लेता है। उच्चस्तरीय एवं निम्नस्तरीय (ऊर्ध्वगामी एवं अधोगामी) गतिशीलता के लिए किसी भी प्रकार के परंपरागत एवं वैधानिक प्रतिबंध नहीं होते। इसके अतिरिक्त उच्च सामाजिक प्रस्थिति प्राप्त करने के प्रयासों को सकारात्मक मूल्य व्यवस्था में सम्मिलित किया जाता है।

समाज के सदस्यों में इस प्रकार की गतिशीलता स्वयं के जीवन काल में (अंतरापीढ़ी) एवं दो पीढ़ियों के या विभिन्न पीढ़ियों के मध्य (अंतःपीढ़ी) स्पष्टतया अवलोकनीय है। खुले वर्ग की व्यवस्था का आदर्श प्रारूप स्पष्ट करता है कि व्यक्तियों को उनकी उपलब्धियों के आधार पर वर्ग संस्तरण में स्थान दिया जाता है।

अतः हम कह सकते है कि खुले समाजों में सामाजिक गतिशीलता का क्षेत्र अधिक व्यापक है एवं इसकी गति तीव्र हें परंतु जब हम खुले समाज में आधुनिकीकरण की भूमिका के मूल्यांकन का प्रयास करते हे तो अनेक कठिनाइयां सामने आती है। कोई भी समाज पूर्णरूपेण खुला समाज नहीं है। यदि तुलनात्मक दृष्टि अपनाये तो पाते है कि आधुनिक समाजों में भी सामाजिक समीकरण भी तन्त्र समस्या के लुप्त प्रदत्त पाये जाते है। सामाजिक वर्ग मूख्यतः व्यक्ति की योग्यता के स्थान पर परिवार की प्रस्थिति से निर्धारित होता है। योग्यताओं का निर्धारण सामाजिक परिवेश से होता है। परिवार एवं उसके सदस्य इस सामाजिक परिवेश के कभी भी पृथक न होने वाले अंग है। हम पाते है कि परिवार की परम्परा एवं संस्कृति एक निश्चित भूमिका का निर्वाह करती है। समाज में खुलेपन की प्रस्तुति की भी एक सीमा होती है। यहां तक कि सबसे अधिक आधुनिक समाजों में भी परम्पराओं को पूर्णरूपेण अपने से पृथक नहीं किया है। अभी हमारे सम्मुख ऐसा समाज अस्तित्व में नहीं आया है जहां माता–पिता की सामाजिक प्रस्थिति एवं व्यवसाय का सन्तानों के साथ किसी प्रकार का कोई सम्बन्ध नहीं है।

12.5 सारांश

- कोई भी समाज पूर्णरूपेण आधुनिक नहीं है, आधुनिक समाज की अवधारणा एक दृष्टि से आदर्शात्मक है। सभी समाजों में सातत्व एवं परिवर्तन की संयुक्तता पायी जाती है। परम्परागत समाजों में परिवर्तन को उत्पन्न करने वाली प्रक्रिया आधुनिकीकरण कहलाती है।

- समाज जितना अधिक आधुनिक होगा , परिवर्तन की प्रक्रिया उतनी ही अधिक तीव्र होगी। अन्तरापीढ़ी एवं अन्तःपीढ़ी के रूप में दोनों प्रकार की गतिशीलताएं समाज को गत्यात्मक एवं प्रगतिशील बनाती है।

- वर्तमान वैश्वीकरण के दौर में जहाँ सामाजिक परिवर्तन की दर तीव्र हुई है वहीं सामाजिक गतिशीलता की दर में भी वृद्धि हुई है। यद्यपि गतिशीलता में वृद्धि के परिणामों को राजनीतिक सुरक्षा कवच के रूप में देखा जा रहा है फिर भी यह निर्विवाद है कि योग्यता के महत्व में वृद्धि एवं तीव्र सामाजिक गतिशीलता आधुनिक समाज की महत्वपूर्ण विशेषता है।

1. सिंह, योगेन्द्र 1989 "सोशल स्ट्रेटीफिकेशन एण्ड सोशल चेन्ज इन इण्डिया" नई दिल्ली मनोहर।

2. यू.जी.एस.वाई–04 सामाजिक स्तरीकरण, तृतीय खण्ड, सामाजिक गतिशीलता, इन्दिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय, नई दिल्ली।

3. गुप्ता एवंम शर्मा (2009), ''समाजशास्त्र' सहित्य पब्लिकेशन नई दिल्ली।

4. कॉक्सन, ए.पी. एम.एव. जोन्स, सी.एल. 1979. सोश्यल तेबिलिटी : सिलेक्टेड रीडिंग्स. हारमण्ड्सवर्थ : पैन्गुअन।

12.7 बोध प्रश्न

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

प्रश्न : 01 – आधुनिक समाज को परिभाषित कीजिए तथा इसकी प्रमुख विशेषतायें लिखिए।

प्रश्न : 02 – सामाजिक गतिशीलता की अवधारणा को स्पष्ट कीजिए तथा इसके प्रमुख प्रकारों का वर्णन कीजिए।

प्रश्न : 03 – बन्द समज एवं खुला समाज की विस्तृत विवेचना कीजिए।

12.8 वस्तुनिष्ठ प्रश्न एवं उत्तर

प्रश्न 1–'मोर्डनाइजेशन ऑफ इण्डियन ट्रेडिशन (1972) पुस्तक के लेखक कौन है?

(क) मायरन विनर (ख) योगेन्द्र सिंह

(ग) एम.एन. श्रीनिवास (घ) हरबर्ट ब्लूमर

प्रश्न 2–किसने लंबवत सामाजिक गतिशीलता और क्षैतिज सामाजिक गतिशीलता की अवधारणा दिया?

(क) लिपसेट (ख) वेन डिक्स

(ग) रास (घ) सोरोकिन

प्रश्न 3–निम्नलिखित में से यह मत किसका है कि आधुनिकीकरण एक मूल्य–भारित अवधारणा है?

(क) बी.के. सरकार (ख) एम.एन. श्रीनिवास

(ग) गुन्नार मिर्डल (घ) योगेन्द्र सिंह

प्रश्न 4– अन्तः पीढ़ीगत व्यवसायिक गतिशीलता की अवधारणा किसने दिया?

(क) गिलिन और गिलिन (ख) लिपसेट और वेन्डिक्स

(ग) मैकाईवर और पेज (घ) इलिएट और मेरिल

उत्तर :– 1. (ख), 2. (घ), 3. (ख), 4. (ख)

इकाई–13

व्यवसाय, शिक्षा एवं सामाजिक गतिशीलता

इकाई की रूपरेखा

13.0 उद्देश्य

13.1 प्रस्तावना

13.2 आधुनिक शिक्षा के पक्ष

13.3 शिक्षा के उद्देश्य

13.3.1 शिक्षा एवं सामाजिक परिवर्तन

13.3.2 शिक्षा संकल्प एवं कुशलता

13.4 शिक्षा एवं अध्यापन

13.4.1 अध्यापन का स्तर

13.4.2 अध्यापकों की प्रस्थिति

13.5 शिक्षा एवं सामाजिक प्रस्थिति

13.5.1 शिक्षा एवं राष्ट्रीय विकास

13.6 व्यवसाय एवं सामाजिक गतिशीलता

13.6.1 अध्यापन का स्तर

13.6.2 अध्यापकों की प्रस्थिति

13.6.3 नातेदारी सम्बन्धी शब्दावली

13.6.4 विवाह नियम

13.6.5 नातेदारी के बीच उपहारों का औपचारिक आदान–प्रदान

13.7 सामाजिक गतिशीलता की प्रक्रियाएँ

137.1 सामाजिक गतिशीलता का मापन

13.7.2 सामाजिक गतिशीलता की वृद्धि एवं उनमें बाधा उत्पन्न करने वाले कारक

13.7.3 शिक्षा व्यवसाय एवं सामाजिक गतिशीलता

13.8 सारांश

13.0 उद्देश्य

इस इकाई के माध्यम से हमने व्यवसाय, शिक्षा और सामाजिक गतिशीलता को स्पष्ट करने का प्रयास किया है। इससे आप इन पक्षों को स्पष्ट रूप से जान पायेंगे –

- समाज की स्थिति में तीव्रता लाने में व्यवसाय और शिक्षा का योगदान,
- शिक्षा और व्यवसाय के विभिन्न पक्षों का विवेचन,
- व्यवसाय से सम्बद्ध सामाजिक गतिशीलता के मुख्य कारकों का वर्णन,
- सामाजिक गतिशीलता में शिक्षकों की भूमिका और व्यवसायीकरण की आवश्यकताओं की व्याख्या,
- सामाजिक गतिशीलता की प्रक्रियाओं का वर्णन, और
- शिक्षा, व्यवसाय और सामाजिक गतिशीलता इन तीनों के मध्य सम्बन्धों को समझना

13.1 प्रस्तावना

सामाजिक गतिशीलता सामाजिक परिवर्तन का ही दूसरा रूप है। जब सामाकि संरचना में कोई अदल–बदल होता है तो ऐसी स्थिति को हम सामाजिक परिवर्तन कहते हैं। जब उसी सामाजिक संरचना की किसी इकाई की स्थिति में किसी भी प्रकार का परिवर्तन होता है तो उसे सामाजिक गतिशीलता कहते हैं।

यहाँ पर हम शिक्षा और व्यवसाय के परिप्रेक्ष्य में सामाजिक गतिशीलता की चर्चा करेंगे। यहाँ हम आधुनिक शिक्षा के विभिन्न पक्षों की व्याख्या करेंगे, तत्पश्चात् हम शिक्षण के विभिन्न स्तरों का भी मूल्यांकन करेंगे, तदुपरान्त हम व्यवसाय से सम्बन्धित गतिशीलता का विवेचन करेंगे और शिक्षा की भूमिका, स्थिति, व्यवसाय और गतिशीलता के पक्षों और विभिन्न प्रकारों की चर्चा करेंगे। अन्त में हम शिक्षा, व्यवसाय और गतिशीलता के अन्तःसम्बन्धों की चर्चा करेंगे।

साधारणतः, व्यक्ति अपनी सुविधा और सफलताओं के आधार पर एक स्थान से दूसरे स्थान को, एक पद से दूसरे पद को, एक पेशे से दूसरे पेशे को छलाँग मारता है। यही सामाजिक गतिशीलता है जो अपने सुस्पष्ट रूप में आधुनिक समाज की एक विशेषता बन जाती है।

13.2 आधुनिक शिक्षा के पक्ष

भारत में परम्परागत रूप में शिक्षा प्राप्त करने का अधिकार उच्च जाति के सदस्यों को ही था, परन्तु अंग्रेजी शासनकाल से ही जिस आधुनिक शिक्षा का प्रसार हुआ, उसमें बिना किसी जातीय भेदभाव के प्रत्येक नागरिक को शिक्षा प्राप्त करने की समान सुविधा उपलब्ध करवायी गयी। विशेषकर स्वतंत्राता प्राप्ति के बाद इस दिशा में अनेक महत्वपूर्ण प्रयास किए गए।

भारत की जनगणना, 2011 के अनुसार देश में सन् 1981 में साक्षरता दर का प्रतिशत 43.6 प्रतिशत था, जो 1991 में बढ़कर 52.2 प्रतिशत हो गई जबकि देश में सन् 2011 में साक्षरता दर 74 प्रतिशत अंकित की गई है।

भारतीय संस्कृति के अनुकूल शिक्षा को बनाने की आवश्यकता पर विशेष महत्व दिया गया है तथा उसके लिए सार्थक प्रयास किए गए। शिक्षा को ऐसे रूप में प्रस्तुत किया गया जो कि कृषि तथा उद्योगों के क्षेत्रा में मानव की सहायता करे क्योंकि यही औपचारिक शिक्षा, मानव के चेतनशील विकास में महत्वपूर्ण भूमिका निभाती है। शिक्षा मानव की उन्नति का मार्ग प्रशस्त करता है। इस चेतनशील,

बुद्धि सम्पन्न मानव ने न केवल स्वाधीनता आन्दोलनों में साथ दिया अपितु समाज की राजनीतिक, आखथक सुधार हेतु महत्वपूर्ण योगदान दिया।

अतः आधुनिक शिक्षा न केवल व्यक्ति के व्यक्तित्व में निखार लाती है अपितु उसका परिचय आधुनिक विचारों और व्यवहार के तरीकों से भी करवाती है और यह शिक्षा हमें विद्यालयों, महाविद्यालयों, विश्वविद्यालयों द्वारा प्राप्त होती है।

13.3 शिक्षा का उद्देश्य

शिक्षा का प्रमुख उद्देश्य मनुष्य को बुद्धिजीवी बनाना है जिससे उसमें सही एवं गलत को समझने की क्षमता विकसित हो सके। शिक्षा के मुख्य तीन उद्देश्य इस प्रकार हैं–

1. मनुष्य का स्वयं से और इस जगत से परिचय तथा स्वयं को शिक्षा जगत से जोड़ना,
2. अतीत और भविष्य के बीच पुल का निर्माण,
3. यथासम्भव प्रगति की प्रक्रिया का विस्तार करना।

इसके अतिरिक्त कुछ उद्देश्य और भी हैं जिसमें व्यक्तित्व के गुणों अर्थात बुद्धि, दक्षता, इच्छाशक्ति, चरित्रा और अभिरुचियों का समग्र विकास। मनुष्य की जीवन दशाओं में विकास अर्थात मनुष्य और समाज दोनों का ही विकास, समाज के सामाजिक, आखथक, सांस्कृतिक और राजनीतिक विकास से है और मनुष्य के विकास में शिक्षा एक विवेकपूर्ण मस्तिष्क बनाने में सहायक होती है। शान्ति और समन्वय उत्पन्न करना और उसे सुदृढ़ करना भी शिक्षा के माध्यम से सम्भव है। यहाँ, शान्ति का अर्थ सकारात्मक दृष्टि से है। अतः यहाँ सभी लोगों के प्रति आदर भाव, उनकी सभ्यता, संस्कृति और जीवन शैली के प्रति सम्मान समाहित है।

विकास के दृष्टिकोण से देखा जाए तो शिक्षा के माध्यम से सामाजिक स्थिति में काफी सुधार लाया गया है। 1947 के बाद भारत सरकार ने शिक्षा में सुधार हेतु प्रयास किए जिसमें शिक्षा पद्धतियों में परिवर्तन किया गया। योग्य शिक्षकों को नियुक्त किया गया, कृषि वैज्ञानिकों द्वारा कृषि के विषय में लोगों को जानकारी प्रदान की गयी एवं व्यवसाय से सम्बन्धित जानकारी भी प्रदान की गयी।

13.3.1 शिक्षा एवं सामाजिक परिवर्तन

शिक्षा का सामाजिक परिवर्तन के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध है क्योंकि शिक्षा के माध्यम से आविष्कार और खोज होते हैं जिनके कारण समाज में परिवर्तन आता है। परिवखतत समाज फिर शिक्षा को अपने नए स्वरूप के अनुसार दिशा देती है और शिक्षा का कर्तव्य है कि समाज में प्रगतिशीलता लाना और मनुष्य का दृष्टिकोण उदार और व्यापक बनाना। यहाँ, उदार का अर्थ उचित तथ्य को ग्रहण करने में आनाकानी या भेदभाव नहीं करना है।

शिक्षा द्वारा समाज में प्रगति लाने के लिए आविष्कारों, अन्वेषणों, परीक्षणों, अनुसन्धानों आदि को उचित प्रोत्साहन दिया जाना बहुत आवश्यक है। इससे नए–नए तथ्यों का पता लग सकेगा अैर नई वास्तविकताएँ प्रकाश में आयेंगे। इन विभिन्न क्रियाओं से समाज में तेजी से परिवर्तन आता है और वह प्रगति करता है।

शिक्षा द्वारा हम अपनी सांस्कृतिक और सामाजिक सम्पत्ति की रक्षा कर सकते हैं और आधुनिक युग की विध्वंसात्मक मनोवृत्तियों से बचा जा सकता है। शिक्षा ही समाज में शान्ति मार्ग द्वारा परिवर्तन ला सकती है।

13.3.2 शिक्षा, संकल्प एवं कुशलता

शिक्षा के माध्यम से व्यक्ति अपने अधिकारों पर पूर्णतः नियंत्राण रख सकता है। शिक्षा व्यवस्था ही मनुष्य में संकल्प और कुशलता को उत्पन्न करती है तथा इसे विकसित भी करती है। अतः शिक्षा द्वारा राष्ट्रीय विकास पूर्णतः सम्भव है। शिक्षा व्यवस्था के माध्यम से ही मनुष्य में नीति–निर्धारण, शिक्षा–नियोजन और प्रशासन जैसे गुण आते हैं। कुछ व्यक्तियों जैसे – शिक्षक, प्रबन्धक, लेखक और प्रशासक में संकल्प और कुशलता जैसे गुणों का होना अत्यन्त आवश्यक है।

13.4 शिक्षा और अध्यापन

अध्यापक का शिक्षा के क्षेत्रा में विशेष योगदान होता है। शिक्षण क्षेत्रा में अध्यापक की भूमिका अत्यन्त महत्वपूर्ण है। शिक्षा के क्षेत्रा में शिक्षा नीति, शिक्षा प्रबन्धन, इत्यादि महत्वपूर्ण है, परन्तु शिक्षक का स्थान इनमें सर्वोपरि है। अतः किसी भी शिक्षण संस्था में शिक्षकों का होना अनिवार्य है।

किसी भी विद्यालय की उन्नति या प्रतिष्ठा वहाँ के शिक्षक पर निर्भर करती है अर्थात् शिक्षक की योग्यता का आंकलन किया जाता है, अतएव शिक्षक की योग्यता पर ध्यान देना अत्यन्त आवश्यक है। एक शिशु को विवेकशील बुद्धिजीवी बनाने में एक शिक्षक की महत्वपूर्ण भूमिका होती है। शिक्षक केवल ज्ञान का संचान ही नहीं करता अपितु समाज का भविष्य भी गढ़ता है।

13.4.1 अध्यापन का स्तर

समाज के पूर्ण रूप से निखमत होने का श्रेय अध्यापक पर है। अध्यापक अपने अध्यापन द्वारा विद्याखथयों में ऐसे ज्ञान का संचार करता है जिससे उसमें व्यवहार कुशलता और सही–गलत की परख करने की क्षमता आ जाती है जिससे वह समाज के स्वरूप को सुचारु रूप से गढ़ सकता है।

वर्तमान समय में यह महत्वपूर्ण है कि शिक्षक स्वयं व्यवसायिक अध्यापन और उससे सम्बन्धित कार्यशील स्थितियों को निखमत करे। शिक्षक जब अध्यापन व्यवसाय से सम्बद्ध होता है तो वह निरन्तर विकास करता रहता है जिससे वह शिक्षण के उद्देश्यों को पूर्ण कर सके। अतः शिक्षा व्यवस्था समाज निर्माण की प्रक्रिया में तभी प्रभावी सिद्ध हो सकती है जब एक शिक्षक अपने दायित्व का पूर्णतः निर्वहन करे। अतः अध्यापन के स्तर को उपयुक्त बनाए रखने के लिए शिक्षक को शिक्षा के प्रति पूर्णरूप से समखपत होना अनिवार्य है।

13.4.2 अध्यापकों की प्रस्थिति

यदि हम अध्यापकों की प्रस्थिति पर ध्यान दें तो शिक्षक की व्यवसायिक अध्यापन दक्षता ही उसकी प्रस्थिति को निर्धारित करती है। व्यवसायीकरण की प्रक्रिया में सभी शिक्षक अपने कर्तव्यों के प्रति पूर्णतः समखपत होते हैं। वह राष्ट्र की उन्नति के लिए सर्वदा तत्पर रहता है। शिक्षक विद्यार्थी में आत्मविश्वास की भावना जागृत करता है और आत्महीनता की भावना को समाप्त करता है। विद्यार्थी को

क्रियाशील बनाने के लिए निरन्तर प्रेरित करता रहता है और उनका पथ प्रदर्शक होता है।

शिक्षक का व्यवसायीकरण शिक्षा प्रक्रिया के माध्यम से राष्ट्रीय विकास का महत्वपूर्ण अंग है जिसके फलस्वरूप सामाजिक परिवर्तन होता है। शिक्षा के माध्यम से ही व्यक्ति एक के बाद एक आविष्कार करता जा रहा है जिससे तीव्र गति से समाज में परिवर्तन हो रहे हैं और सामाजिक स्थिति में उन्नति हो रही है। अतः शिक्षा राष्ट्रीय विकास का केन्द्र बिन्दु बन गया है।

13.5 शिक्षा एवं सामाजिक प्रस्थिति

शिक्षा व्यक्ति को आवश्यक ज्ञान और दक्षता प्रदान करती है जो व्यक्ति को समाज में आदर्श रूप में कार्य करने योग्य बनाती है। उच्च शिक्षा प्राप्त व्यक्ति को उच्च प्रतिष्ठा प्राप्त कराती है। उच्च शिक्षा के फलस्वरूप व्यक्ति अपने व्यवसाय को शिखर तक पहुँचाता है जिससे वह समाज में प्रतिष्ठित व्यक्ति कहलाता है।

गोरे (1990:29) का कहना है कि "प्रौद्योगिकी विशेषज्ञता अख्रजत करना, उच्च प्रशासनिक पद ग्रहण करना और नए धन्धे सीखना, धन की सफलता और समाज में सम्मान प्राप्त करने के लिए कुछ कार्यक्षेत्रा हैं। योग्यता और श्रेष्ठता प्राप्त करना केवल शिक्षा से ही सम्भव है।"

शिक्षा का मुख्य सम्बन्ध व्यवसाय और आय से है जो सामाजिक प्रस्थिति का निर्धारक है। शिक्षा व्यक्ति की प्रस्थिति को शिखर तक पहुँचाने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाती है।

13.5.1 शिक्षा और राष्ट्रीय विकास

शिक्षा जिस प्रकार व्यक्ति को रोजगार प्राप्त कराती है, उसी प्रकार पूँजीवादी शासक वर्ग के हितों की पूख्रत एवं रक्षा करती है। उनके लिए प्रशिक्षित श्रम शक्ति तैयार करती है जिससे कि वे अधिक लाभ कमा सके जिससे राष्ट्रीय विकास हो सके। किसी भी उद्योग में उन्नति से राष्ट्र का विकास निर्भर है। शिक्षा के फलस्वरूप नित नए आविष्कार होते हैं जो सामाजिक गतिशीलता के कारण हैं। इस सामाजिक गतिशीलता से राष्ट्रीय विकास सम्भव है। अतः शिक्षा और व्यवसाय का सामाजिक गतिशीलता से घनिष्ठ सम्बन्ध है।

13.6 व्यवसाय और सामाजिक गतिशीलता

व्यवसाय भी सामाजिक गतिशीलता में अत्यन्त सहायक है। एक व्यक्ति अपनी व्यावसायिक योग्यता और कुशलता द्वारा समाज में ऊँचा पद ग्रहण कर सकता है और उसके व्यवसाय में उन्नति से सामाजिक गतिशीलता में महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह करता है। व्यक्ति श्रेष्ठ अभिनेता, डाक्टर, वकील, इंजीनियर, कलाकार, संगीतज्ञ एवं शिक्षक बनकर प्रसिद्धि और प्रतिष्ठा प्राप्त करता है जो सामाजिक गतिशीलता का आधार है।

प्रत्येक समाज में एक व्यवसाय की उच्च या निम्न प्रतिष्ठा होती है। जूते बनाने का कार्य सब्जी बेचने से निम्न है उसी प्रकार सब्जी बेचने का कार्य कपड़े सिलने से निम्न है। इस प्रकार व्यक्ति उच्च सामाजिक प्रस्थिति वाले व्यवसाय को करके अपनी सामाजिक स्थिति को ऊँचा करता है।

13.6.1 शिक्षा एक कारक के रूप में

समाज में सभी मनुष्यों की एक समाज योग्यता नहीं होती है। अतः एक विवेकपूर्ण समाज की कल्पना करना मूर्खता होगी, परन्तु शिक्षा सभी के उद्देश्यों और आकांक्षाओं की पूख्रत के लिए समान अवसर प्रदान करती है।

भारत में जाति की असमानता शिक्षा में बाधक थी। शिक्षा पर ब्राह्मणों का ही एकाधिकार था, परन्तु वर्तमान समय में प्रत्येक जाति का व्यक्ति विद्या अख्रजत कर सकता है, परन्तु अब जब सभी जाति के व्यक्ति विद्यालय जा सकते हैं तो विद्यालय की कमी और वित्तीय समस्याएँ उत्पन्न हो गयी हैं यह समस्याएँ औद्योगिकीकरण के परिणामस्वरूप उत्पन्न हुए हैं। आधुनिक समय में विद्यालय व्यवसाय के रूप में गतिशील है।

शिक्षा समाज की उन्नति में महत्वपूर्ण भूमिका निभाती है। अतः शिक्षा को सबसे उच्च स्थान दिया गया है क्योंकि यह आधुनिक समाज को उन्नति की ओर अग्रसर करती है।

13.6.2 व्यवसाय एवं सामाजिक प्रस्थिति

अंग्रेजों के आने के पश्चात् देश औद्योगिकीकरण की दिशा में आगे बढ़ने लगा। पहले जो वस्तुएँ हाथ से बनायी जाती थीं अब वह मशीनों की सहायता से बनायी जाने लगी और बड़े पैमानों में इनका उत्पादन किया जाने लगा। विभिन्न कार्यों के लिए विभिन्न योग्यता वाले व्यक्ति की आवश्यकता पड़ने लगी। धीरे–धीरे अनेक शिक्षण संस्थाओं की स्थापना होने लगी। अब डाक्टर, इंजीनियर, वकील, शिक्षक, मैनेजर आदि बनने लगे। विज्ञान का क्षेत्रा भी उन्नति की ओर बढ़ने लगा। अनेक वैज्ञानिक आविष्कार हुए। ऐसी अनेक कम्पनी है जिनसे व्यवसायों का विविधीकरण देखने को मिलता है। जैसे हिन्दुस्तान लीवर कम्पनी ढेर सारी वस्तुओं का निर्माण करती है जो व्यक्ति सोच भी नहीं सकता। इन व्यवसायों के विविधीकरण के कारण अनेक लोगों को जीविका चलाने का अवसर मिल रहा है।

शिक्षा, व्यवसायिक प्रतिष्ठा में मुख्य भूमिका निभाती है। जैसे किसी फल बेचने वाले का पुत्रा पढ़कर डॉक्टर या इंजीनियर बन जाता है। फल बेचने वाले की प्रतिष्ठा से डॉक्टर या इंजीनियर की सामाजिक प्रतिष्ठा अधिक होती है। अतः सामाजिक स्तर को ऊँचा उठाने के लिए व्यवसाय में उन्नति आवश्यक है।

13.6.3 सामाजिक गतिशीलता के पक्ष

किसी व्यक्ति या समूह की सामाजिक प्रस्थिति या पद में परिवर्तन ही सामाजिक गतिशीलता है। उदाहरण स्वरूप, एक अध्यापक प्रशासनिक परीक्षा उत्तीर्ण कर कलेक्टर बन जाता है या फिर इलाहाबाद का एक व्यक्ति मुम्बई में जाकर बस जाता है या एक किसान का बेटा डॉक्टर बनकर धनोपार्जन करता है। ये सभी परिवर्तन सामाजिक गतिशीलता के अन्तर्गत आयेंगे।

ग्रामीण समाजों में सामाजिक गतिशीलता अत्यन्त कम पायी जाती है और इसकी तुलना में आधुनिक नगरों में सामाजिक गतिशीलता अधिक पायी जाती है क्योंकि ग्रामीण क्षेत्रों मं आज भी धर्म, नातेदारी, प्रथा एवं परम्पराओं की पकड़ मजबूत है। वहाँ विज्ञान के नए आविष्कारों का प्रयोग नहीं होता अतः यहाँ गतिशीलता कम है। वास्तव में गतिशीलता औद्योगिक नगरों की ही विशेषता है।

शिक्षा और व्यवसाय दोनों ही क्षेत्राों में सामाजिक गतिशीलता के अवसर अधिक है। सामाजिक गतिशीलता का व्यक्ति की प्रतिष्ठा से गहरा सम्बन्ध है। शिक्षा या व्यवसाय दोनों ही क्षेत्राों में उन्नति से प्रतिष्ठा में वृद्धि होती है। इस परिवर्तन से सामाजिक गतिशीलता आती है।

13.6.4 सामाजिक गतिशीलता के प्रतिमान और प्रकार

भारत में शिक्षा और व्यवसाय में गतिशीलता के प्रतिमान और प्रकार द्वारा नकारात्मक और सकारात्मक प्रभाव पड़ते हैं। यदि किसी समाज में धर्म और जाति के आधार पर भेदभाव हो या आयु, लिंग के आधार पर असमानता हो तो गतिशीलता नकारात्मक हो जाती है। जैसे, उच्च जाति के लोग ही शिक्षा प्राप्त कर सकते हैं एवं निम्न जाति के नहीं, या पुरुष ही व्यवसाय कर सकते हैं, महिलाएँ नहीं, इससे गतिशीलता नकारात्मक हो जाती है।

जहाँ व्यक्ति एक सामाजिक स्तर से दूसरे स्तर पर या एक पद से दूसरे उन्नत पद को ग्रहण करता है तो गतिशीलता सकारात्मक प्रभाव डालती है। जैसे कोई मजदूर कारखाने का मालिक बन जाए या फिर कोई नेता प्रदेश का मुख्यमंत्राी बन जाए।

कहीं–कहीं पर गतिशीलता साधारण होती है। जैसे एक आदमी एक नौकरी छोड़कर दूसरी नौकरी करने लगता है या एक गाँव छोड़कर दूसरे गाँव चला जाता है।

13.6.5 सामाजिक गतिशीलता के कारक

किसी भी समाज में गतिशीलता का अवसर उस समाज पर निर्भर करती है। अतः अवसर प्राप्त होने पर पद प्रतिष्ठा में वृद्धि होती है। सरल, ग्रामीण तथा कृषक समाज की गतिशीलता में बाधा उत्पन्न करते हैं इसके विपरीत जटिल, व्यापारिक तथा शिक्षित समाज सामाजिक गतिशीलता के अधिक अवसर प्रदान करती है।

सामाजिक गतिशीलता का एक अन्य कारक जनसंख्या भी है। जब ग्रामीण लोग अपने सामाजिक स्तर को ऊँचा उठाने के लिए शहरों में आकर बस जाते हैं। इसी प्रकार नौकरी में पदोन्नति या अधिक वेतन के लिए एक क्षेत्रा से दूसरे क्षेत्रा में चले जाते हैं।

शिक्षित वर्ग के लोगों की इच्छाएँ अत्यन्त बड़ी होती हैं। उन्हें पूरा करने के लिए वे अत्यन्त प्रयत्नशील रहते हैं और पुरानी नौकरी को छोड़कर नई जगह नौकरी करने लगते हैं।

शिक्षण या अध्यापन भी एक व्यवसाय है। यहाँ शिक्षक भी कई स्तरों में विभक्त हैं, प्राथमिक विद्यालय का शिक्षक, माध्यमिक विद्यालय का शिक्षक, महाविद्यालय का शिक्षक और विश्वविद्यालय का शिक्षक। यहाँ कक्षाओं के बढ़ते ही शिक्षकों की पद प्रतिष्ठा बढ़ जाती है।

13.7 सामाजिक गतिशीलता की प्रक्रिया

प्रत्येक जाति, सभी जातियों में अपने को उच्च कोटि का दिखाना चाहता है या उच्च कोटि का बनाने का प्रयत्न करता है। संस्कृतिकरण की दृष्टि से निम्न जाति के लोग अपने रीति–रिवाजों, संस्कारों, जीवन पद्धति तथा अपने जीवन शैली को अन्य की तुलना में उच्च कोटि का दिखाना चाहती है या उनकी जीवनशैली

को अपनाती है। उदाहरणस्वरूप, ग्रामीण लोग शहरी लोगों के पहनावे को अपनाकर अपने को शिक्षित दिखाना चाहते हैं।

वर्तमान समय में भारत के लोग अपने देश की सभ्यता और संस्कृति को छोड़कर पश्चिमी देशों की सभ्यता और संस्कृति को अपना रहे हैं। उदाहरणस्वरूप, भारत के लोगों को अमेरिका के लोगों का रहन–सहन और पहनावा अपनाना अच्छा लगता है और इसके विपरीत पश्चिमी देशों के लोग भारत की पूजा पाठ की पद्धति, रहन–सहन और पहनावा अपनाना चाहते हैं।

13.7.1 सामाजिक गतिशीलता का मापन

भारत में प्रति दस वर्ष में सामाजिक गतिशीलता के आंकलन के लिए जनसंख्या के आँकड़े तैयार किए जाते हैं, रोजगारों की संख्या का पता लगाया जाता है। श्रमिकों की संख्या का भी ज्ञान होना आवश्यक होता है जिससे यह पता लगाया जा सके कि देश में कितने लोग रोजगार प्राप्त किए हुए हैं और कितने लोग बेरोजगार हैं जिससे सामाजिक गतिशीलता के उच्चस्तर या निम्नस्तर पर होने की जानकारी प्राप्त होती है।

आँकड़ों द्वारा हमें यह पता चलता है कि ग्रामीण क्षेत्राों में श्रमिक वर्गों द्वारा गतिशीलता का स्तर निम्न है परन्तु औद्योगिकीकरण के कारण शहरी क्षेत्राों में सामाजिक गतिशीलता का स्तर उन्नत अवस्था में है। अतः हमें ग्रामीण क्षेत्राों की गतिशीलता के स्तर करे उन्नत अवस्था में लाना होगा।

13.7.2 सामाजिक गतिशीलता की वृद्धि एवं उसमें बाधा उत्पन्न करने वाले कारक

व्यक्ति साधारणतः अपनी प्रस्थिति को ऊँचा उठाने का प्रयत्न करने के लिए गाँव से कृषि कार्य को छोड़कर शहर चला जाता है, अपना आवास भी त्याग देता है एवं शहर में आकर उच्च रोजगार कर अपने सामाजिक स्तर में वृद्धि करता है। वह अच्छे वेतन तथा अच्छे पद प्रतिष्ठा के लिए अपने कार्यक्षेत्रा में भी परिवर्तन करता है। इन सभी कार्यों से ही सामाजिक गतिशीलता में वृद्धि होती है। अतः व्यक्ति अपनी योग्यता, गुणों और परिश्रम के आधार पर उच्च स्तर, उच्च पद या उच्च समूह की सदस्यता को ग्रहण करता है जिससे सामाजिक गतिशीलता में वृद्धि होती है।

सामाजिक गतिशीलता सदैव लाभकारी सिद्ध नहीं होती । जो लोग सामाजिक गतिशीलता के कारण समाज में उन्नति करना चाहते हैं, यदि उनके लक्ष्यों की प्राप्ति नहीं होती है तो वे समाज विरोधी प्रवृत्तियों को अपना लेते हैं और कानून व्यवस्था को तोड़ने का प्रयास करते हैं, फलस्वरूप गतिशीलता की दौड़ में शामिल व्यक्ति परेशान और चिन्तित रहने लगते हैं।

13.7.3 शिक्षा, व्यवसाय और सामाजिक गतिशीलता

शिक्षा एक ऐसा माध्यम है जिसके फलस्वरूप सामाजिक गतिशीलता अपने शिखर पर पहुँचती है। विद्यालयों तथा विश्वविद्यालयों से शिक्षा प्राप्त कर मनुष्य अपने सामाजिक जीवन स्तर को ऊँचा उठाता है और नवीन व्यवसायों में संलग्न होता है। उदाहरणस्वरूप, एक किसान का लड़का मेडिकल की पढ़ाई कर डॉक्टर बनता है जिससे उसके पद, प्रतिष्ठा और सम्मान में वृद्धि होती है एवं उसके जीवन स्तर में उन्नति होती है। अतः शिक्षा और व्यवसाय ही गतिशीलता को निर्धारित करती है क्योंकि उच्च स्तरीय शिक्षा, उच्च स्तरीय व्यवसाय दिलाने में सहायक

होती है और यह सामाजिक गतिशीलता को प्रभावित करती है। अतः इन तीनों का आपस में घनिष्ठ सम्बन्ध है।

13.8 सारांश

इस इकाई में हमने आधुनिक शिक्षा तथा शिक्षा के उद्देश्यों की व्याख्या की है। हमने शिक्षा एवं सामाजिक परिवर्तन तथा संकल्प एवं कुशलता का भी वर्णन किया है। अध्यापन तथा अध्यापकों से सम्बन्धित विषयों पर भी चर्चा की है। शिक्षा की सामाजिक प्रस्थिति और राष्ट्रीय विकास का विश्लेषण किया है।

इसके अतिरिक्त, व्यवसाय की सामाजिक प्रस्थिति तथा सामाजिक गतिशीलता के प्रकारों, प्रतिमानों तथा कारकों का वर्णन किया है। सामाजिक गतिशीलता में वृद्धि तथा उत्पन्न होने वाले बाधाओं का भी वर्णन किया है और अन्त में शिक्षा, व्यवसाय और सामाजिक गतिशीलता के सम्बन्ध को स्पष्ट किया है।

बोध प्रश्न

1. शिक्षा के माध्यम से किस प्रकार सामाजिक गतिशीलता प्रभावित होती है? स्पष्ट करें।
2. क्या शिक्षा और व्यवसाय मानव के लिए अत्यन्त आवश्यक हैं, स्पष्ट करें।
3. व्यवसाय द्वारा सामाजिक गतिशीलता कैसे प्रभावित होती है?
4. अध्यापकों की प्रस्थिति का समाज में क्या योगदान है?

उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय,
प्रयागराज

UGSY-04

सामाजिक स्तरीकरण

खण्ड –4

भारतीय समाज में स्तरीकरण

इकाई – 14 **197–210**

जनजातीय समाजों में स्तरण

इकाई – 15 **211–236**

भारतीय समाज में जाति एवं समुदाय

इकाई – 16 **237–258**

वर्ग और जाति

इकाई – 17 **259–272**

सोपानात्मक व्यवस्था के रूप में जाति

उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय

उत्तर प्रदेश प्रयागराज

परामर्श समिति

प्रो0 के0 एन0 सिंह (अध्यक्ष) — कुलपति, उ0प्र0 राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज

डॉ० ए० के० गुप्ता — कुलसचिव, उ0प्र0 राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज

सम्पादक

प्रो0 संजय सिंह (अध्यक्ष) — समाजशास्त्रए डॉ० राम मनोहर लोहिया राष्ट्रीय विधि, विश्वविद्यालय, लखनऊ

पाठ्यक्रम निर्माण समिति (अध्ययन बोर्ड)

1. डॉ० एम० एन० सिंह – पूर्व निदेशक, समाज विज्ञान विद्याशाखा, उ0प्र0 राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज
2. डॉ० इति तिवारी – पूर्व एसो० प्रोफेसर समाज विज्ञान विद्याशाखा, उ0प्र0 राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज
3. श्री रमेश चन्द्र यादव – शैक्षणिक परामर्शदाता, समाजशास्त्र, समाज विज्ञान विद्यशाखा, उ0प्र0 राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज

UGSY-04– समाजिक स्तरीकरण

लेखक–

1. डॉ० इति तिवारी – पूर्व एसो० प्रोफेसर समाज विज्ञान विद्याशाखा, उ0प्र0 राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज
2. श्री रमेश चन्द्र यादव – शैक्षणिक परामर्शदाता, समाजशास्त्र, समाज विज्ञान विद्याशाखा, उ0प्र0 राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज
3. डॉ० शैलजा सिंह एसो० – प्रोफेसर, डॉ० शकुन्तला मिश्रा राष्ट्रीय पुनर्वास विश्वविद्यालय, लखनऊ
4. डॉ० विजय कुमार वर्मा – असि० प्रोफेसर, डॉ० शकुन्तला मिश्रा राष्ट्रीय पुनर्वास विश्वविद्यालय, लखनऊ
5. डॉ० विलोक सिंह – असि० प्रोफेसर, स्वामी सहजानन्द पी०जी० कालेज, गाजीपुर (उ०प्र०)
6. श्री अजय कुमार त्रिपाठी – जे० एन० पी०जी० कालेज, लखनऊ
7. डॉ० जया द्विवेदी तिवारी – अवध गर्ल्स डिग्री कालेज, लखनऊ
8. डॉ० श्वेता तिवारी ए०पी० – सेन गर्ल्स मेमोरियल पी०जी० कालेज, लखनऊ
9. डॉ० मपीन्द्र कुमार तिवारी – डी०ए०वी० कालेज, लखनऊ

2020 (मुद्रित)

© उ0प्र0 प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज 2020

ISBN- 978-93-83328-41-3

सर्वाधिक सुरक्षित। इस सामग्री के किसी भी अंश को इंदिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय की लिखित अनुमति के बिना किसी भी रूप में, मिमियोग्राफी (वक्रमुद्रण) द्वारा या अन्यथा पुनः प्रस्तुत करने की अनुमति नहीं है।

उ0प्र0 राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज सर्वाधिकार सुरक्षित। इस पाठयसामग्री का कोई भी अंश उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, की लिखित अनुमति लिए बिना मिमियोग्राफ अथवा किसी अन्य साधन से पुनः प्रस्तुत करने की अनुमति नहीं है।

नोट : पाठय सामग्री में मुद्रित सामग्री के विचारों एवं आमड़ों आदि के प्रति विश्वविद्यालय, उत्तरदायी नहीं है।

प्रकाशन – उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन विश्वविद्यालय, प्रयागराज

प्रकाशक – कुलसचिव, डॉ. अरूण कुमार गुप्ता उ0प्र0 राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज – 211021

मुद्रक – चंद्रकला यूनिवर्सल प्राइवेट लिमिटेड, 42/7 जवाहरलाल नेहरू रोड, प्रयागराज

ईकाई–14

जनजातीय समाजों में स्तरण

इकाई की रूपरेखा

14.1 उद्देश्य

14.2 प्रस्तावना

14.3 समाज तथा सामाजिक संस्तरण

14.4 संस्तरण

14.5 जनजातियों पर किये गये अनुसंधान

14.6 जनजाति की विविधताएं

14.7 जनजाति एवं संस्तरण

14.8 जनजाति एवं जाति

14.9 जनजाति में जाति विभाजन के आधार पर संस्तरण

14.10 विचारधारा के अनुसार संस्तरण

14.11 संरक्षणात्मक प्रावधान

14.12 जनजातियों की समस्याएं

14.13 समस्या समाधान

14.14 सारांश

14.15 वस्तुनिष्ठ प्रश्न

14.16 उत्तर

14.17 पठन उपयोगी पुस्तकें

14.1 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ने का उद्देश्य है कि

1. समाज में स्तरण तथा उसके प्रकार को समझना।
2. विभिन्न जनजातियों में स्तरण को समझना।
3. आधुनिक काल में जनजातियों के उत्थान के लिये किये गये प्रावधानों की समीक्षा।

4. तत्कालीन समय में जनजातियों में आरक्षण तथा संरक्षण भेदभाव को समझना।

14.2 प्रस्तावना

जनजातियों के स्तरण को समझने के लिये सर्वप्रथम उनकी अवधारणा को समझना अत्यंत आवष्यक है। जनजाति क्या है इस बात पर बहुत से विद्वानों का अपना मत है। गिलिन और गिलिन के अनुसार '' स्थानीय आदिम समूहो के किसी भी ऐसे संग्रह को हम जनजाति कहते है जो एक सामान्य क्षेत्र में रहता हो, एक सामान्य भाशा बोलता हो और एक सामान्य संस्कृति के अंतर्गत व्यवहार करता है।'' यह परिभाषा जनजातियों की क्षेत्रीय और सांस्कृतिक विषेशताओं के आधार पर की गयी है। अमेरिकन मानवषास्त्रीय बोआस के षब्दों में जनजाति से हमारा तात्पर्य ''आर्थिक रूप से स्वतंत्र व्यक्तियों के ऐसे समूह से है जो सामान्य बोलते हो तथा बाहरी आक्रमण से अपनी रक्षा करने के लिये संगठित हो।'' इस परिभाशा से जनजातियों की आर्थिक स्वतंत्रता तथा राजनैतिक महत्व पर प्रकाष डाला गया है। बहुत सी जनजातियों का संगठन बहुत कुछ राज्य संगठन के समान होता है। जनजाति समाज सामान्यतः एक समान संस्कृति में जीवन यापन करते है। उनमें अपने अंतः समूहों के लिये विशेषलगाव देखा जाता है। बहुत सी जनजाति इन्हीं अंतः समूहों के आधार पर भी विभेदित होती है। उनका संस्तरण भी इन्हीं समूहों के आधार पर विभाजित होती है। उदाहरण के लिये आसाम की खासी जनजाति है जिसमें मातृस्थनीय व्यवस्था पाई जाती है। इस जनजाति अंतः र्विवाही समूह होने के कारण स्तरण भी इसी आधार पर होता है। डा0 डी0एन0 मजूमदार ने जनजातियों की विस्तृत विषेशताओं के आधार पर परिभाशा प्रस्तुत करते हुये कहा है कि ''जनजाति परिवारों का एक समूह है जो एक सामान्य नाम से जाना जाता है तथा जिसके सदस्य एक सामान्य भू–भाग में रहते है। मजूमदार ने जनजातियों को विवाह, व्यवसाय तथा आर्थिक कार्यो में सामान्य निशेधो को पालन करने वाला समूह कहा है जो एक संगठित व्यवस्था को विकसित करके जीवनयापन करते हो।

14.3 समाज तथा सामाजिक संस्तरण

इसके पहले की हम जनजातियो के बारे में विस्तृत जाने हमें समाज का अर्थ तथा उसके संस्तरण को समझना अत्यंत आवष्वक है। विभिन्न विद्वानों ने समाज को समझाने के लिये कई तरह की परिभाशाओं की चर्चा की है परन्तु समाज का अर्थ उसकी विषेशताओं में ही निहित है। यह एक अमूर्त अवधारणा है जो सम्बंधों के जाल के रूप में परिभाशित की जा सकती है। मैकाइवर एवं पेज के अनुसार ''समाज रीतियों, कार्य विधियों, अधिकार व पारस्परिक सहायता, अनेक समूहों तथा उसके विभाजनों, मानव व्यवहार के नियंत्रणों तथा स्वतंत्रताओं की एक व्यवस्था है।'' समाज परिवर्तनशील है तथा निरंतर उन्नति करता रहता है। समाज की अवधारणा को बताते हुये रयूटर (Reuter) ने सर्वप्रथम कहा था कि समाज कोई भी ऐसा संगठन हो सकता है जिसके माध्यम से व्यक्ति अपना जीवन व्यतीत करते है। जैसा कि प्रस्तुत व्याख्या से स्पश्ट है समाज में सम्बन्धों का प्रमुख स्थान होता है तथा इन्ही सम्बन्धों को जब भौतिक व सामाजिक विषेशताओं के आधार पर समझाया जाता है तो समाज में स्तरण का प्रारूप समाज में विविध सोपानों का प्रतिनिधित्व करता है। जिसमें प्रत्येक स्तर के अपने अधिकार तथा अपने सामाजिक सुविधाऐं होती है। भारतीय समाज में जाति स्तरण का सबसे प्रमुख उदाहरण है। जिस्टबर्ट के अनुसार ''स्तरण समाज को कुछ ऐसे समूहों तथा श्रेढियों में बॉट देता

है। जिसके अंतर्गत सभी व्यक्ति उच्चता तथा अधीनता के सम्बन्धों द्वारा एक दूसरे से बंधे रहते है। विस्तृत रूप में सामाजिक स्तरण दो रूपों का होता है। बंद स्तरण व्यवस्था में व्यक्ति सामाजिक स्थिति, जाति, प्रजाति आदि के आधार पर विभाजित होता है। जबकि मुक्त सामाजिक स्तरण व्यवस्था में धन, सत्ता, षिक्षा आदि से सामाजिक स्थिति का निर्धारण होता है। प्रत्येक समाज में इन्हीं दो बिन्दुओं पर समाज का विभाजन देखा जाता है लेकिन स्तरित समाज में असमानता का रूप चाहे जो भी हो, उस व्यवस्था में अपनी सापेक्षिक योग्यता और मूल्य के आधार पर उनकी श्रेणी से उनका पदानुक्रम निर्धारित होता है।

14.4 संस्तरण

अन्य समाजों की तरह ही जनजाति समाजो में भी संस्तरण देखने को मिलता है। भारतीय परिवेष में जनजाति समाजों को एक अलग सीान प्राप्त है। इन समाजों में सामाजिक ढांचे तथा सम्बन्धों का प्रतिरूप अपनी अलग ही पहचान बनाये हुये है। जनजातियों में एक जैसी कोई समांगी कोटि नहीं होती है। इसी वजह से प्रत्येक जनजाति समाज अलग पहचान बनाये हुये है। प्रत्येक जनजाति समाज की संस्तरण की अवधारणा भी भिन्न होती है। सामान्य रूप से जनजातियों को उनके भौगोलिक तथा जीवनयापन के तरीकों के आधार पर विभाजित किया गया है। विभिन्न जनजाति समूहों में क्रियाषील स्तरण की प्रक्रिया सभ्य समाजो से अलग होती है। समय के अंतराल के साथ इनमें परिवर्तन की सम्भावना क्षीण होती है। भारत में ऐसी बहुत सी जनजातियॉ है जिनमे आज भी संस्तरण का आधार वही है जो आदिम रूप में था। इसी कारणों से जनजाति उत्थान के लिये विभिन्न राज्य सरकारों तथा केन्द्र सरकारो ने उन्नति के लिये कई कार्यक्रम तथा योजनाऐं बनाई है। इन योजनाओं के क्रियान्वयन में भी एक विशेषपरिणामस्वरूप जनजातियों में संस्तरण का स्वरूप पहले की अपेक्षा अधिक सार्वभौमिक हो गया है।

विभिन्न मानवशास्त्रियों तथा समाज विज्ञानियों द्वारा जनजातियों के संस्तरण को समझने के लिये क्षेत्रकार्य पद्धति का प्रयोग किया जाता रहा है। जिससे जनजातियों में संस्तरण को समझने के लिये विभिन्न उदाहरणों का प्रयोग किया गया है। तत्कालीन समय में किये गये अध्ययनों से यह बात उजागर होती है कि जनजातियों को ऐसा समूह नहीं मान सकते जिसमें विभेदीकरण का नितांत अभाव हो। सन् 2011 की जनगणना के अनुसार जनजाति जनसंख्या कुल भारत की जनसंख्या की 8.6 प्रतिशत है। जनजाति समाज अतीत काल से किसी न किसी प्रकार सामाजिक सोपानों में बंटा हुआ है। सत्ता और प्रस्थिति पर आधारित सामाजिक विभेदीकरण जिस प्रकार गैर जनजातियों में प्रचलित है उतना ही जनजाति समाजों में भी देखने को मिलता है। अध्ययनों के आधार पर यह देखा गया है कि दूसरी संस्कृतियों के साथ जनजातियों के संपर्क ने जनजातियों में स्तरण को और बढावा दिया है। उदाहरण के लिये हिन्दुओं के संपर्क में रहने से भील जनजाति में जातिगत संस्तरण देखने को मिलता है।

14.5 जनजातियों पर किये गये अनुसंधान

जनजाति एक ऐसा समुदाय है जिसमें हर स्तर पर अनुसंधान करने के अवसर प्राप्त होते है माना जा सकता है कि जहां विभेद करना मुष्किल हो और सम्पूर्ण समुदाय समांगी सा हो अर्थात सब भाव का राज्य हो वहां संस्तरण नहीं हो सकता है परन्तु इन होमोजीनस समुदाय में भी अध्ययनों से ज्ञात हुआ है कि

विभेदीकरण पाया जाता है। सत्ता तथा प्रस्थिति का सामाजिक सोपान जिस प्रकार जनजाति में देखने को मिलता है उतना गैर जनजाति समुदायों में नहीं है। प्राचीन काल से अध्ययनों में पता चलता है कि जनजाति अपनी पहचान बनाते हुये कई चरणों में विभाजित होती है।

यह सामाजिक स्तरण मानव जीवन का अपरिहार्य अंग है। समतावादी समाज भी कई मायनों में परिवर्तन करता है। मजूमदार ने हिमालय की जनजाति का अध्ययन करके यह बताया कि उनमें किस प्रकार विवाह नियम के आधार पर विभाजन होता है। इसी प्रकार जी.एस. घुरिये, प्रो. बोस, टी.एन. मदन तथा अन्य मानव षास्त्रीय अध्ययनों से पता चला की भारत में किस प्रकार की जनजातियां है तथा उनमें किस प्रकार का विभाजन पाया जाता है।

14.6 जनजाति की विविधताएं

जनजाति समाज देष के अलग–अलग भू भागों में बिखरा हुआ है। प्राकृतिक वास, नृजाति भाशा, संस्कृति और प्रषासनिक तौर तरीके के स्तर के द्वारा इनमें विभेदीकरण पाया जाता है। जैसे पूर्वोत्तर भारत की नागा जाति में ।व नागा तथा भ्।च्व नागा, राजस्थान की भील, हिमालय की गद्दी तथा दक्षिण की नायर जनजाति।

14.7 जनजाति एवं संस्तरण

जनजाति समाजों में कोई एक सामाजिक व्यवस्था नहीं होती है। हर जनजाति के उस समग्र व्यवस्था का हिस्सा माना जाता है जिसमे उसका जीवन यापन होता है। हर वंष या समुदाय उस समग्र के रूप में कार्य करती है। हर जनजाति की अपनी अलग आर्थिक, राजनीतिक, नातेदारी संबंध तथा सांस्कृतिक व्यवस्था होती है। यद्यपि भारतीय संविधान में सभी जनजाति समूहों को एक ही नाम ''अनुसूचित जनजाति'' के अंतर्गत रखा गया है तदापि उनकी एकता केवल उनके सिद्धांतो तक सीमित है। यर्थाथ में हर जनजाति एक पृथक सामाजिक सत्ता प्रकट करती है। इनको सूचियो में रखने के फायदे भी राज्य की सीमाओं से प्रबंधित है। जैसे कि राजस्थान की मीणा जनजाति को राज्य सरकार ने अनुसूचित किया है परन्तु अन्य राज्य सरकार मीणा को जनजाति नहीं मानती है। जनजाति के स्वायत्त स्वरूप के कारण उनके समाजों से स्तरण का अध्ययन काफी जटिल हो जाता है। यहीं कारण है कि जनजाति के अध्ययन के समय मानवषास्त्रीयों को क्षेत्रकार्य प्रविधि द्वारा गहन अध्ययन की तकनीकि का प्रयोग करना पड़ता है। जनजातियों में संस्तरण के लिये समूह के व्यक्तियों की सापेक्षता का अध्ययन आवष्यक हो जाता है। विभिन्न अध्ययनों के आधार पर जनजातियों में संस्तरण ज्ञात करने के लिये कई मानक बनाये गये है। भारत की प्रत्येक जनजाति अलग–अलग अपने भौगोलिक या सामाजिक कारणों से विभेदित है। उदाहरण के लिये तमिलनाडू की नीलगिरी पर्वत श्रंखला में निवास करने वाली 'टोडा' जनजाति जिसमें संस्तरण का आधार भौगोलिक आदान प्रदान है।

भौगोलिक संस्तरण

टोडा जनजाति दक्षिण भारत की नीलगिरी की कोटाकमाऊ तथा कुन्नूर जिले के आसपास निवास करती है। यह चरवाहा जीवनयापन करती है अर्थात अपनी मूलभूत आवष्यकताओं के लिये इनको अपने आसपास की अन्य जनजातियों

से सामन्जस्य बना कर रहना पड़ता है। इनके सबसे नजदीक की जनजाति बदगाह, कोटा कुरूम्बां तथा इरूला है। स्थानीय पदक्रम के अनुसार टोडा जनजाति समस्त क्षेत्र में उच्च स्थान रखती है। उसके बाद बदगाह तथा कोटा तथा अंत में कुरूम्बा तथा इरूला का स्थान है। टोडा के आर्थिक जीवन में यह चारों जनजातियॉ अत्यंत महत्वपूर्ण स्थान रखती है। बदगाह तथा कोटा सबसे ज्यादा टोडा जनजाति से व्यवहार रखती है। इसके अतिरिक्त टोडा अपने में भी आर्थिक रूप से दो भागों में विभाजित होती है। 'टाराटरल' तथा 'विवलाइट'। टोडा में 'तारातर' सर्वोच्च स्थान रखता है। जोकि समस्त आर्थिक क्रियाओं में प्रमुख होता है। कोटा जनजाति टोडा के साथ सामंजस्य के साथ रहते है। सांस्कृतिक रूप से कोटा 'लोहार' तथा संगीतज्ञ होते है। ये टोडा को लोहे का सामान तथा बर्तन की पूर्ति करते है। यह टोडा के अनुश्ठानों में संगीत भी प्रस्तुत करते है। जिसके बदले में इनको भैंस का मांस तथा मक्खन दिया जाता है। परन्तु इतने गहन आत्मीयता के बाद भी कोटा जनजाति को टोडा के घरों में घुसना मना होता है। कुरूम्बा जनजाति टोडा तथा बदगाह के खेतीहर के रूप में कार्य करती है जिसके बदले उन्हें कुछ अनाज दिया जाता है। जबकि इरूला के अपृष्य माना जाता है। इरूला केवल इन बाकी जनजातियों के चारो तरफ निवास करती है उनका आर्थिक स्थिति में कोई योगदान नहीं होता है।

प्रस्तुत जनजाति के अध्ययन के आधार पर यह ज्ञात होता है कि जनजातीय जीवन में भी संस्तरण होता है तथा टोडा जनजाति में सामाजिक संस्तरण आर्थिक रूप से होता है। आर्थिक के अलावा संस्तरण राजनैतिक तथा सामाजिक भी होता है।

राजनैतिक संस्तरण

नागालैण्ड के नागाओं का स्वरूप भी लगभग राजनैतिक संस्तरण के आधार पर है। नागाओं में पॉच मुख्य समूहों में जनजाति का विभाजन देखने को मिलता है। उत्तर में रंगपान, पष्चिम में रेंगाना, मध्य में ओ, दक्षिण में काचा तथा पूरब में कन्योकेन्गू। इन पॉच समूहों के अतिरिक्त उपजनजाति भी देखी जाती है। जैसे जेभी नागा, पेनगन, चायी आदि नागा उपसमूह। ओ नागा को राजनैतिक उच्च स्थान प्राप्त है क्योंकि इनको मुख्यरूप से नागा जनजाति का माना जाता है। ओ नागा दो उपसमूहो 'माड्सेनो' तथा 'चुगलिया' में बंटा हुआ है जिसके बाद चुगलिया और अनेक छोटे–छोटे समूहो में बंटा है। चन्गोलिया एक बर्हिविवाह समूह है तथा इसे मुख्य रूप से पेनगन, इन्गफन तथा चायी में विभक्त किया गया है इस उपजनजाति का स्थान नागा समूह में उच्च माना जाता है। यहां तक कि यदि यदि ग्राम पंचायत किसी व्यक्ति को दंड के रूप में कोई जानवर मारने का आदेष देती है तो उसके मांस का मुख्य भाग इस शाखा के पंचो को तथा फिर वरीयता क्रम से लोंगऋम, तथा चामी को दिया जाता है। इस प्रकार यह कह सकते है कि जनजातियों में संस्तरण उनके रहन–सहन के आधार पर देखा जा सकता है।

इसी प्रकार मेघालय की खासी जनजाति में परम्परागत सोलह (16) राजनैतिक इकाईयॉ पाई जाती है। जिसमें चार सामाजिक वर्ग होते है। कीसियम, की लिन, गोह एवं मंत्री गोत्र। प्रत्येक राजनैतिक इकाई को 'सायम' कहा जाता है। प्रत्येक साइएम अपने आपमें एक राज्य होता है। 'यू सायम' इसका प्रधान होता है। इसके बाद पूरी मंत्री परिशद् होती है जिसे 'काई मंत्री' कहा जाता है। अंत में साधारण जन को रखा जाता है। कहीं कहीं पर युद्ध बंदियों की संतानों को अदृष्य में भी रखा जाता है। खासी जनजाति में मुखिया एक विशेष गोत्र का ही हो सकता है तो गोत्र को प्रतिश्ठा एवं सत्ता के साथ जोड़ कर देखा जाता है। ऐसा माना

जाता है कि इस विशेषगोत्र के लोगो के पास रोग मुक्त करने की शक्ति है तथा वे समाज की कुरीतियों से मुक्त होते हुये सारी वर्जनाओं से परे है।

यहां यह विशेष है कि पद विशेष गोत्र से मिलने के बाद भी मुखिया में अनुभव, अच्छे व्यवहार तथा वैयक्तिक गुणों की अपेक्षा की जाती है। हालांकि 'साइयम' आज भी उपस्थित है अपितु राजनैतिक आधुनिकीकरण तथा आर्थिक विकास की प्रक्रिया खासी जनजाति में नये संस्तरणों को जन्म दे रही है। जिसका मूल आर्थिक विभेदीकरण तथा षिक्षा है। यह कहना अतिष्योक्ति न होगी की जिस प्रकार समाज का बदलाव आधुनिकीकरण को आगे बढा रहा है आने वाले समय में जनजातियों में संस्तरण का स्वरूप भी पूर्णतः परिवर्तित हो जायें।

आर्थिक संस्तरण

आर्थिक संगठन का अभिप्राय मानवीय संबंधो एवं मानवीय संप्रयासो को इस कप में सुव्यवस्थित एवं संगठित करना है कि न्यूनतम प्रयासो से रोजमर्रा के जीवनयापन की अधिक से अधिक आवष्यकताओं की पूर्ति हो सके। भारत की जनजातियों में आर्थिक विकास के विभिन्न स्तरों का प्रतिनिधित्व करती है। जनजातीय आर्थिकी में व्यवसायों का विषिश्टीकरण नहीं पाया जाता है अपितु एक ही जनजाति कई प्रकार के व्यवसायों में संलग्न होती है। यदि कोई जनजाति विषिश्ट व्यवसाय को करने लगे तो वह जाति की श्रेणी में आने लग जाती है। उदाहरणतः खारबार तथा बियार जनजाति जो मिर्जापुर के क्षेत्र में निवास करती है तथा विषिश्ट व्यवसाय के रूप में कत्था बनानें लगे। आर्थिक संस्तरण का मुख्य आधार सम्पत्ति या कार्य का असमान वितरण है। अधिकांष जनजाति समाजों में आर्थिक संस्तरण व्यक्तियों तथा समूहों का सोपानात्मक क्रम निर्धारित करने में बहुत हद तक महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है। लेकिन सभी समाजों में संस्तरण एक सा नहीं होता उदाहरण स्वरूप भारत के सुइट दक्षिण की 'कादर' जनजाति। संभवतः यह भारत की आज भी आदिम स्वरूप की जनजाति है। इनका जीवन लगभग घुमक्कडों जैसा होता है। इसमें आर्थिक संस्तरण का स्वरूप नगण्य होता है क्योंकि पारम्परिक कार्यो के अतिरिक्त इनमे किसी भी तरह का श्रम विभाजन नहीं देखा जाता है यह जनजाति भोजन की तलाष में जंगलों में घूमती रहती है जिससे इनमें स्थितिरतता नहीं होती है। इसके परिणाम स्वरूप इनमें आर्थिक कलह या मितव्वयीतता देखने को नहीं मिलती है।

'कादर' जनजाति के अतिरिक्त अन्य प्रकार के भी आर्थिक स्वरूप देखने को मिलते है। जिसमे पषुपालक आर्थिक स्तर है। नीलगिरी के पर्वतो पर रहने वाली 'टोडा' जनजाति पशुपालन आर्थिक व्यवस्था पर आधारित है। इनकी सभी आर्थिक क्रियाएं भैसों पर केन्द्रित होती है। यह अपने चारों तरफ रहने वाली जनजातियों से आदान–प्रदान के आधार पर निर्भर करती है। दूध तथा दूध उत्पादन के सभी समान टोडा जनजाति अपनी पड़ोसी 'बडागा' जनजाति से आदान–प्रदान के रूप में अनाज तथा बडागाह उसके बाद कोटा जो कि टोडा के घरों में कार्य करने के लिये तथा अत्यंत निम्न स्थान इरूला का है जो कि चारागाह के लिये तथा अपृष्य कार्य करने के लिये होते है।

इसके अतिरिक्त मिश्रित अर्थव्यवस्था भी जनजाति में देखने को मिलती है। कोल्हन के 'हो' जनजाति कृशि के अतिरिक्त कभी–कभी षिकार तथा मछली मारने का भी कार्य करते है। इनका मानना है कि इससे जीवन की एक रसता टूटती है तथा अन्य वैध्विक सुख भी मिलता है। 'हो' जनजाति में साम्यवादी तथा समुदायात्मक आधार रहा है यह जनजाति साझे–सहयोग के आधार पर विभेदित

होती है। यह कलाओं तथा दस्तकारी में दक्षता को महत्व देते है जिसके बदले यह उस वस्तु का भुगतान घर में कार्य करके पूरा करते है।

अतः श्रम विभाजन तत्कालीन समय में बने नियमो के आधार पर किया जाता है जिसका पालन सख्त तरह से सभी लोगो को करना पड़ता है। किसी भी प्रकार के आखेट या कार्य का फल तुरन्त न बांट कर पंचायत द्वारा विभाजित करने पर ही होता है। पंचायत यह विभाजन कार्य के स्तरों के आधार पर करती है। अतः आर्थिक संस्तरण श्रमविभाजन के आधार पर होता है।

समकालीन समय में कृशि क्षेत्र में आधुनिकी करण से परिचय जनजातियों में आर्थिक विभेदीकरण और बढ़ा रहीं है। इसके चलते पूंजी प्रधान खेती का विकास हुआ है। जिससे बाजारोन्मुख अर्थव्यवस्था का स्थान उच्च होता जा रहा है। इस व्यवस्था से कहीं न कहीं सम्पन्न व गरीब जनजातियों के बीच गहराई और बढ़ रहीं है। मूल्य वृद्धि का सामना न कर पाने के कारण बहुत से गरीब जनजातिय लोग मजबूर होकर भूमि का हस्तांतरण, बेचना तथा खेतिहर मजदूर बनने लगे है। आज ज्यादातर जनजातीय लोग खेती योग्य भूमि होने के बाद भी उसको बेचने को मजबूर है क्योकि उनके पास नयी व उन्नत किस्म की मषीने व खेती के उपकरण नहीं है। बहुत से आदिवासी लोग इस वजह से ब्याज पर पैसा लेने के कारण या तो भूमि गवॉ रहे हैं या मजदूरो की तरह अन्य जगहों पर कार्य करने को मजबूर है।

कृषिगत संस्तरण

भारत में आज के समय में ज्यादातर जनजातिय संस्तरण कृशिक समाज में देखने को मिलता है। धनश्याम शाह ने भूमि के मालिकाना अधिकार को आधार बनाकर जनजातिय समाज को तीन स्तरों में बांटा है। सम्पन्न, मध्यम तथा गरीब सम्पन्न जनजाति के लोग अन्य दोनो वर्गों से सेवायें प्राप्त करते हैं तथा जिसके बदले में मध्यम वर्ग को घरेलू कार्य या कुछ आर्थिक सहायता प्राप्त होती है जबकि गरीब कृषक को अन्य दोनों वर्गों के यहां कार्य करने के बदले अनाज या अन्य उपभोग की वस्तुयें दी जाती हैं। प्रो0 बोस के अध्ययन के आधार पर जनजाति को पांच सामाजिक स्तरों में बांटा जा सकता है। जिसमें उच्च स्थान पर 'भू–स्वामी' होते हैं जो पूर्णतः अपनी भूमि होने पर भी काष्तकारों पर निर्भर करते हैं। यह लोग लगान व सूदखोरी का धन अर्जित करते हैं। उसके बाद के क्रमानुसार सम्पन्न कृशक, मध्यम कृषक, गरीब तथा मजदूर कृषक। कृषि कार्यों में लगे आदिवासी केवल खेती पर ही निर्भर नहीं करते हैं वे ग्रामीण क्षेत्रों में दस्तकारी तथा व्यापार तथा बहुत से मजदूर आदिवासी आद्यौगिक क्षेत्रों में कार्य करने को भी बाध्य हैं। भारतीय संविधान ने इसी कारण वष उनके संरक्षण के लिये बहुत से नये नियम बनाये हैं।

14.8 जनजाति एवं जाति

जनजाति एवं जाति सामाजिक संगठन की दो भिन्न पद्धतियां हैं। अतीत काल से इनका अस्तित्व साथ–साथ बना हुआ है। जाति को परिभाशित करते हुये अनेक विद्वानों ने कहा है कि 'जाति परिवारों का ऐसा समूह होता है जिसमें जन्म से स्थान पक्का हो जाता है तथा जो एक क्षेत्र में निवास करने के साथ कई तरह की बोली का प्रयोग करते हैं।'' मैक्सवेबर ने जनजाति को परिभाषित करते हुये कहा है कि ''यह एक ऐसा समूह है जहां परिवार प्रारम्भिक इकाई तथा एक निष्चित स्थान पर निवास करने के साथ–साथ एक सी ही बोली का भी प्रयोग

करते हैं। जनजातियों में सदैव बर्हिविवाही नियम पाये जाते हैं। जन जातियां तथा जातियां सामाजिक संगठन की दो विभिन्न पद्धतियां हैं। तत्कालीन समय में इनका अस्तित्व का आधार लगभग एक हो गया है। चूंकि जाति व्यवस्था में रहने वाले लोगों के पास श्रेश्ठ प्रौद्योगिकी आधार मौजूद है। इसी वजह से जनजाति के लोग इनके प्रभाव क्षेत्र में आसानी से आकृश्ठ होते जा रहे हैं। चूँकि जनजाति जाति व्यवस्था के निचले स्तर से प्रवेष करती है जिसके कारण दलित वर्ग में इसकी गणना होती है। प्रो0 बोस ने इस प्रक्रिया को जाति व्यवस्था का ''हिन्दू विधिकरण'' कहा है। जिसमें जाति व्यवस्था की आत्मसात करने की प्रवृत्ति को बताया गया है। इसे हिन्दू धर्म की सहनषीलता के आधार पर बताया जा सकता है जहां अनेक वर्गों का सम्मिलित रूप भी जाति व्यवस्था को समाप्त नही कर पाया है।

14.9 जनजाति में जाति विभाजन के आधार पर संस्तरण

टोडा सामाजिक संरचना हिन्दू जातियों के ही समान है। टोडा समाज दो भाग तारथारोल एवं तेइवलिओल तथा हिन्दू जातियों में कतिपय साम्यताएं हैं। इनमें एक निष्चित मात्रा में कार्यगत विषिश्टता तथा कतिपय पुरोहित्य स्तर पाए जाते हैं। पुरोहिती केवल तेवइालिओल वर्ग के सदस्य ही कर सकते हैं। इसी प्रकार गुजरात के काली परजा जनजाति तथा उजली परजा जन जाति के बीच अंतर किया जाता है। प्रो0 जी0सी0 मुरात्यार ने अटगाय गांव के बारे में लिखते हुये बताया कि यहां के कोली, जो पहले काली परजा गिने जाते थे, अब अपनी सम्पत्ति या आर्थिक समृद्धता के कारण उजली परजा माने जाते हैं। हैदराबाद राज्य के चेंचू आदिवासियों के बारे में लिखते हुये हेमेण्डोर्फ बताते हैं कि, गांव में रहने वाले चेंचू, कुछेक पीढ़ियों में, स्थानीय सामाजिक व्यवस्था में 'हिन्दू का दर्जा ग्रहण कर लेंगे, चाहें इनकी आर्थिक अवस्था में तब तक कोई स्पश्ट अंतर न भी आए। चूंकि ये आदिम जनजातियां आज काफी मुखर एवं राजनैतिक दृश्टि से सजग हो गयी हैं। इसलिये जातियों के स्थान पर अब ये वर्ग का रूप ग्रहण करने लगी हैं। जिससे इनके अनुसूचित स्तर के लाभ न बदलें। रिजले ने कई ऐसी प्रक्रियाओं का पता लगाया है। जिसमें जनजाति स्वयं को जाति में बदलना चाहती है।

अततः हम यह कह सकते हैं कि सभी समाजों में चाहे वो जनजाति हो या अन्य पिछड़ी जाति संस्तरण का आधार जन्म, व्यवसाय, राजनैतिक, भौगोलिक या सामाजिक होता है। परन्तु आज के वर्तमान समय में जहां यह आधार कमजोर हुये हैं वहीं तार्किकता का प्रसार भी बहुत तेजी से हुआ है।

14.10 विचारधारा के अनुसार संस्तरण

जनजाति समाजों में संस्तरण का आधार यद्यपि विभिन्न रहा हो परन्तु विचारधारा का अंतर तथा उसके अनुसार विभाजन नया नही है। महत्वपूर्ण यह है कि यह संस्तरण लगभग प्रत्येक आदिवासी समूह में देखने को मिल जाता है। जन जातियों में विवाह एक महत्वपूर्ण संस्था है। बहुतायत में यह देखा गया है कि विवाह के लिये कन्या का चुनाव हो या अनुश्ठाानों में कन्या का स्वयंवर हर स्थान पर संस्तरण के अनुसार ही विवाह सम्पन्न होते हैं। दुल्हन को लेना या अपने निवास पर लाना दोनो ही विभिन्न समूहों में संस्तरण की प्रस्थिति के प्रतीक के अनुसार होता है। मध्य प्रदेष के बस्तर क्षेत्र में विभिन्न जनजातियों में इस प्रकार का संस्तरण देखा जा सकता है। इसमें स्तर के अनुसार षिखर पर 'हलबास' उसके बाद भज्ञास, डोरिया तथा मुड़िया एवं माड़िया उपजन जातियां आती हैं।

यहां पर यह बताना आवष्यक है कि इस तरह का विभाजन जाति व्यवस्था की ओर जन जातियों के विलय को इंगित करता है। बहुत से मानवषास्त्रियों तथा समाजषास्त्रियों का यह मानना है कि जनजाति का यह जाति में विलय वर्ग व्यवस्था की दिषा में बढ़ रहा है। अब समाज का विभाजन सम्पत्ति पर अधिकार और आमदनी आदि तर्कों पर सम्भव है, अतः आर्थिक संस्तरण भी नये समय में स्पश्ट रूप से दिखाई देने लगा है।

14.11 संरक्षणात्मक प्रावधान

देश की स्वाधीनता के पश्चात् 1959 में लागू गणतंत्र में जनजाति समाज के लिये विशेषनियम व अधिकार बनाये गये। इनके अनुसार राश्ट्र कमजोर वर्ग के लोगों, विषेशतयः अनुसूचित जातियों एवं अनुसूचित जनजातियों के षैक्षिक एवं आर्थिक हितों का विशेषध्यान रखते हुये उनको प्रोन्नत करेगा तथा हर प्रकार के षोशण से उनकी रक्षा करेगा।

संविधान के अनुच्छेद 46 के अतिरिक्त अन्य 12 अनुच्छेदों को सम्मिलित किया गया। जिसमें विशेशमंत्री (अनुच्छेद 964), विशेष अधिकारी (अनुच्छेद 268)

1. विशेष प्रशासन अनुच्छेद – 144
2. केन्द्रीय नियंत्रण अनुच्छेद – 339
3. विशेष अनुदान अनुच्छेद – 275
4. लोक सभा तथा राज्य सभा तथा विधान सभाओं में सुरक्षित स्थान अनुच्छेद – 332
5. स्थान सुरक्षण तथा प्रतिनिधित्व – 334
6. पदों व सेवाओं को विशेषअधिकार – 335
7. नागालैण्ड के लिये विशेषप्रबंध – 371
8. किन समुदायों को अनुसूचित किया जाये उनकी परिभाशा क्या हो अनुच्छेद – 342 तथा 366

इसके अतिरिक्त अन्य छः संरक्षण भी प्रदान है जो संविधान की व्यवस्था को बताते हैं।

(i) धर्म, जाति, प्रजाति, लिंग तथा जन्म स्थान के आधार पर अनुच्छेद – 15

(ii) भेदभाव समाप्ति तथा जन नियोजन के समान अवसर प्रदान करना अनुच्छेद – 16

(iii) छुआछूत का उन्मूलन अनुच्छेद – 17

(iv) मानव व्यापार व बेगार पर प्रतिबंध – 23

(v) अल्पसंख्यकों के हित की रक्षा – 29

(vi) जनकल्याण के उन्नयन सामाजिक सुव्यवस्था – 38

इन संविधान के प्रावधानों के बाद प्रथम प्रधान मंत्री जवाहर लाल नेहरू ने प्रो0 एलविन से विचार विमर्ष के बाद जन जातियों के विकास के लिये पंचषील सिद्धांत बनाये जिसमें जनजातियों का विकास उनकी प्रकृति के अनुरूप।

1. वन एवं भूमि पर उनके अधिकार की रक्षा।
2. प्रषासनिक एवं विकासीय कार्यकर्ता उन्हीं में से एक।
3. आदिवासियों के सामाजिक तथा सांस्कृतिक संस्थाओं के माध्यम से, योजना–प्रषासन के भार से मुक्त रहकर कार्य करने की अनुमति।
4. निश्कर्श के लिये मानव चरित्र की क्षमता को लिया जाना चाहिये।

संविधानिक संरक्षण के प्रवाधानों से विकास के कार्यक्रमों को अत्यंत बल मिला। इससे जनजातियों में वर्ग भेद देखने को मिलने लगा है। एक वर्ग ऐसा है जिसे आरक्षण तथा अन्य संरक्षणात्मक कार्यों व प्रवाधनों से लाभ पहुंचा है। इसके साथ ही देष के विभिन्न भागों में नयी राजनैतिक प्रक्रिया के चलते जनजातियों में नये राजनीतिक वर्ग का भी उदय हुआ है। जो लोग इस श्रेणी में आते हैं उनके पास न सिर्फ अथाह सम्पत्ति है अपितु अन्य जनजातिय लोगों से उनका दृश्टिकोण भी भिन्न है। हालांकि ये संख्या अत्यंत कम है परन्तु जिस समुदाय में है। अधिक मुखर रूप में है। कुछ विद्वानों का मानना है कि आदिवासियों में भी दो नये संस्तरणों का उदय हुआ है। सुविधा प्राप्त वर्ग तथा षोशित वर्ग। अर्थ व्यवस्था में सुविधा प्राप्त वर्ग उच्च पदों पर आसीन है तथा राजनीति व समाज में भी इन लोगों को उच्च स्थान प्राप्त है। इस विकास क्रम में समस्त लोगों को मिलना वाला लाभ अकेले इसी वर्ग द्वारा ले लिया जाता है जो कि नीचे के अन्य वर्गों तक पहुंच ही नहीं पाता। अतंतः गरीब या अभाव ग्रस्त लोग हमेषा विवषता का जीवन जीने को मजबूर है।

14.12 जनजातियों की समस्याएं

भारतीय जनसंख्या में जनजाति की गणना एक कमजोर वर्ग के रूप में की जाती है जिसकी वजह से संविधान में उसे संरक्षण प्राप्त है। जनजातियों को इन प्रावधानों तथा विकास कार्यक्रमों के बाद भी अनेक व्यैतिक समस्याओं से लड़ना पड़ता है। जनजातियां एकाकी क्षेत्र में निवास करती हैं। अतः उनकी सांस्कृतिक प्रारूप के अनुसार उनकी समस्यायें होती हैं। जिसका निराकरण करने के लिये उनकी समस्याओं को समझना अत्यंत आवष्यक है। जनजातिय दृश्टि से देखें तो भारत की 8 प्रतिषत आबादी आज भी प्राचीन पद्धति से जीवन यापन करती है। जहां तक जनजातिय में व्याप्त समस्याओं का प्रष्न है। ये मूलतः दो प्रकृति की होती हैं :–

- स्वजनित समस्यायें :– जीवन षैली के कारण उत्पन्न ।
- बाहरी समस्यायें :– इनके दो कारक हैं –
    1. सांस्कृतिक सम्पर्क
    2. विकास जनित समस्यायें

इनके अतिरिक्त जनजाति की विकृत होती समस्याओं में पर्यावरण, सांस्कृतिक सम्पर्क, आर्थिक, धार्मिक, राजनैतिक तथा संचार की समस्यायें हैं। प्रत्येक समस्या को उनकी प्रकृति के आधार पर देखने पर पता चलता है कि दुर्गम

क्षेत्रों में निवास करने तथा बाहरी सम्पर्क में कम आने के कारण जनजाति के लोग विकास कार्यक्रमों को नहीं समझ पाते हैं। जो सांस्कृतिक सम्पर्क करते हैं उनके साथ भी कई तरह की समस्यायें सामने आती हैं। उदाहरण के लिए धर्म परिवर्तन, प्रदूशण, स्तरण का जन्म लेना तथा कभी–कभी अपनी पहचान को भुलाकर यह लोग अपने को अन्य संस्कृति में ढाल लेते हैं। विकास के क्रम में सबसे बड़ी समस्या औद्योगीकरण है जिसमें श्रमिकों के रूप में जनजातियों के लोग काम करते हैं। अनपढ़ तथा सरल होने के कारण प्रषासनिक लोगों की मिली भगत से इन लोगों को आर्थिक क्षति तथा कभी–कभी सदा के लिये श्रमिक बनने की नौबत आ जाती है। ऋणग्रस्तता तथा ऋण श्रमिक 'कोलटा' जनजाति इसका सबसे बड़ा उदाहरण है। अंत में संचार के साधनों का इन लोगों के निवासित क्षेत्रों में न पहुंचना भी एक बड़ी समस्या है। इसके अभाव के कारण कोई भी ऐसी योजना इन तक नहीं पहंच पाती जिसका प्रसार सरलता से हो सके। इनके दुर्गम स्थानों तक पहुंचने के लिये अत्याधिक धन व्यय होता है जो कि यदि संचार के उचित साधन हो तो सरलता से पहुंच जाये।

14.13 समस्या समाधान

अभी तक समाधान के रूप में जो दृष्टिकोण अपनाये गये थे उन्हें पांच प्रकार से उल्लेखित किया जा सकता है।

(1) सामाजिक संस्थाओं तथा समाज सेवा में लगे लोगों का प्रयास

(2) राजनीतिक प्रयास

(3) धर्म–सुधार आंदोलन

(4) प्रषासनिक विकास

(5) मानवविज्ञान के कदम

समस्याओं के समाधान के लिये सामाजिक संस्थाओं ने बहुत महत्वपूर्ण कार्य किये जिसमें षिक्षा स्वास्थ्य एवं सहायता के कार्यक्रम। जिसकी अग्रणी षुरूआत 1922 में षील सेवा मंडल के रूप में हुई थी। 1950 में राजेन्द्र प्रसाद की अध्यक्षता में स्थापित 'भारतीय आदिम जाति सेवक संघ' ने जनजातियों में अनेक सुधारत्मक तथा विकासात्मक कार्य किये । इन संस्थाओं की पूर्ण सेवा भाव तथा आर्दष होने के बाद भी ये जनजातियों की विचारधारा को नहीं समझ पाये। अंततः मानव वैज्ञानिक अध्ययन के पष्चात् जनजातियों में अनेक सुधार कार्य किये गये जिनका परिणाम इनमें तत्कालीन समय में दिखाई पड़ता है। कई राजनैतिक, धर्म सुधारक व प्रषासनिक कदम उठाये गये। सर्वप्रथम ''बैरियर एल्विन'' नामक मानवशास्त्री ने मूलरूप से भारतीय जनजाति की समस्याओं के लिये समाधान बताया इनको ही राश्ट्रीय उद्यान नीति तथा राज्य विधि नीति बनाने का श्रेय जाता है। 1955 में एल्विन ने भी जनजातियों के सह अस्तित्व की बात मान ली थी तथा अपने तीन सुझाव दिये जिससे जनजातियों के विकास तथा उन्नयन को आगे बढ़ाया जा सकता है। इन्होंने अपरिवर्तन के साथ पुनर्जीवन, पृथक्करण एवं संरक्षण तथा पूर्ण आत्मसात की नीति अपनाने का जिक्र किया है। जनजातियों में प्रकृति के अनुरूप विकास, उनके परम्परागत अधिकारों का सम्मान, षिक्षा संस्कृति के अनुरूप योजना एवं मानव चरित्र की समता की बात षामिल है। मानव षास्त्रियों एवं समाज

सुधारकों ने जनजातियों को उनकी संस्कृति एवं जीवन षैली की पृश्ठभूमि में देखा है। जनजातीय समस्याओं के समाधान के लिये एक सम्मिलित प्रयास की आवष्यकता है। इसके लिये वैज्ञानिक आधार पर निश्ठापूर्ण योजनाबद्ध तरीके से और बिना किसी पूर्वाग्रह के जन जातियों की समस्याओं का समाधान के प्रयास होने चाहिये। उनके सर्वांगीण विकास के लिये सम्पूर्ण क्षेत्र में सम्पूर्ण विकास आवष्यक है।

14.14 सारांश

उपरोक्त विवेचना से यह स्पश्ट होता है कि अन्य समाजों की तुलना में जनजाति समाजों में भी संस्तरण पाया जाता है। सम्पूर्ण अध्याय में जनजाति समाज के विभिन्न विभेदीकरण तथा उनके आधार पर संस्तरण देखने को मिलता है। ऐसे कई कारक हैं कि जो जन जातीय संस्तरण का निर्धारण करते हैं जैसे भौगोलिक, आर्थिक, राजनैतिक तथा सामाजिक कारक। कभी कभी यह कारक हर समाज में प्रभावषाली रूप में होते हैं। यह सभी कारक प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से सभी जन जातिय समाजों में देखने को मिलते हैं। तथापि ऐसा सम्भव है कि किसी विषिश्ट परिस्थिति में कोई कारक ज्यादा प्रभावषाली हो जायें। जन जातीय समाजों के संस्तरण की दिषा एवं दषा निर्धारित करने में इन विभिन्न कारकों की आपसी क्रिया को जानना इस अध्ययन की मुख्य पृश्ठभूमि थी। उदाहरण के लिये 'खासी' जन जाति का संस्तरण का ढाँचा तत्कालीन समय में राजनीतिक हो गया है। प्रत्येक समाज की संस्तरण की दिषा प्रत्येक स्तर पर अलग होती है जो कि समाज को संगठित रखती है।

जाति के आधार पर संस्तरण भारतीय जन जाति समाज का एक महत्वपूर्ण लक्षण बनती जा रही है। लेकिन इसके बाद भी कुछ जन जातियां जाति व्यवस्था के मूल्यों को अपनाने से बच नहीं पाई हैं। इसके कारण प्रत्येक स्तर में बदलाव होने पर भी समाज का समाजिक रूप वैसा ही बना रहता है।

अध्ययन के संक्षिप्त से यह ज्ञात होता है कि आज जन जाति समाज भी धीरे धीरे कृशि तथा अन्य जटिल समाजों वाले कार्य करने लगे हैं। यह कृत्य इन सरल समाजों को मुख्य धारा से जोड़ने के साथ–साथ उन्हें जटिल समाजो के गुणों को भी अपनाने के योग्य बना रहा है।

संरक्षणात्मक नीति के कारण जहां एक ओर जन जातियों की परिस्थिति में सुधार हुआ है वहीं दूसरी तरफ धनी तथा गरीब दो स्पश्ट वर्गों का निर्माण भी हुआ है। जिन संस्तरण को हमज न जातियों की विषेशता कहते हैं उनमें भी बदलाव देखने को मिल रहा है। प्राचीन काल में प्रकार्यात्मक रूप से संस्तरित जन जाति आज प्रतिस्पर्धा, अस्थिरता तथा उच्च व निम्न वर्ग के रूप में संस्तरित है। इन संस्तरणों में प्राचीन काल में जिन विषेशताओं की आवष्यकता होती थी आज वहीं विषेशताऐं प्रतिस्पर्धा व द्वेश के लिये प्रयोग की जाती हैं।

अंततः जनजाति संस्तरण तथा विकास का स्वरूप आज एकदम नये कलेवर की साथ सामने आया है और यह केवल सांस्कृतिक सम्पर्क तथा सुधारात्मक कार्यों द्वारा संभव हुआ है। जहां सुधार कार्यक्रमों ने अच्छे कार्य किये हैं वहीं दूसरी तरफ इनका उल्टा प्रभाव भी पड़ा है कहीं कहीं दूसरी तरफ इनका उल्टा प्रभाव भी पड़ा है कहीं कहीं पर इन सुधारकार्य द्वारा जनजाति पूरी तरह से अपना स्वरूप खो चुकी है। अतः जन जातियों के स्वरूप को समझ कर उनके विकास के कार्यक्रम यदि बनाये जाये तो उनकी उन्नति को कोई रोक नहीं सकता।

इस इकाई में हमने जन जातियों तथा उनके समाजों के विशय में पढ़ा। हमने संस्तरण तथा उसक प्रकारों को भी जाना। हमने यह भी समझा की जनजाति तथा जाति में क्या संबन्ध है। यहां हमने जन जातियों के विकास तथा संरक्षण के कार्यक्रमों तथा प्रावधानों को भी पढ़ा।

14.15 वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1. संस्तरण का अर्थ है

   क. विभाजन　　ख. वर्गीकरण

   ग. संगठन　　घ. विभेदीकरण

2. चरवाहा जीवन यापन वाली जनजाति?

   क. टोडा　　ख. कादर

   ग. खासी　　घ. कोटा

3. अपृष्यता का अनुच्छेद?

   क. अनुच्छेद 17　　ख. अनुच्छेद 23

   ग. अनुच्छेद 29　　घ. अनुच्छेद 15

4. पंचशील सिद्धांत की रूपरेखा किसने रखी?

   क. वैरियर एल्विन　　ख. एम.एन. श्रीनिवास

   ग. घुरिये　　घ. नेहरू

14.16 उत्तर

1. ख
2. क
3. क
4. क

14.17 पठन उपयोगी पुस्तकें

- बोस, पी0के0, 1985, क्लास एंड क्लास रिलेशन एमंग ट्राइब्स ऑफ बंगाल, नई दिल्ली, अजंता पब्लिकेशन।
- देसाई, ए0 आर0, 1977, ट्राइब्स इन ट्राजिशन, इन रमेश थापर (सं) ट्राइब, कास्ट एंड रिलिजन इन इंडिया, नई दिल्ली मेकमिलन।
- विद्यार्थी, एल0पी0, 1975, भारतीय आदिवासी, नागरी मुद्रण वाराणसी।
- मजूमदार एंड मदन, 1987, सामाजिक मानवशास्त्रीय परिचय नई दिल्ली, नेशनल पब्लिशिंग हाउस।

- एल्विन, वी0, 1945, द एबोजन्लिस (ओ0यू0पी0 पैम्पलेट)।
- दास, टी0सी0, 1953, आस्टिकल इन द इंडियन जर्नल ऑफ सोसल वर्क (वोल्यूम 14 नं0 3) ऑन सोसल ऑगनाइजेषन ऑफ ट्राइबल पीपल।
- हटड्सन, टी0सी0, 1922, द प्रिमिट कल्चर ऑफ इंडिया (द रॉयल एसियाटिक सोसाइटी)।
- घुरिये, जी0एस0, 1950, कास्ट एंड क्लास इन इंडिया, बाम्बे पापुलर बुक डिपो।
- लोवी, आर0एच0, 1940, प्रिमिटिव सोसाइटी, अध्याय 12।

इकाई–15

भारतीय समाज में जाति एवं समुदाय : ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य

इकाई की रूपरेखा

15.1 उद्देश्य

15.2 प्रस्तावना

15.3 जाति का ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य

15.4 भक्तिकाल

15.5 उपनिवेश काल में जाति व्यवस्था

15.6 भारत में समुदाय का ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य

15.7 सारांश

15.8 वस्तुनिष्ठ प्रश्न

15.9 वस्तुनिष्ठ प्रश्नों के उत्तर

15.10 कुछ महत्वपूर्ण पुस्तकें

15.1 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन से आप निम्न तथ्यों को समझ सकेंगेः–

1. जाति का ऐतिहासिक विकास तथा विभिन्न कालखण्डों में जाति व्यवस्था का समाज पर प्रभाव।
2. जाति व्यवस्था की जड़ताओं से मुक्ति पाने के विभिन्न कालखण्ड़ों में प्रयास तथा भारत में समुदायों का विकास।
3. प्रजातीय, भाषायी, जनजातीय, धार्मिक तथा ग्रामीण एवं नगरीय समुदाय का भारतीय समाज में विकास।
4. भारत की सामाजिक बहुलतावादी संस्कृति के वो तत्व जिन्होंने अनेकता में एकता की भावना का विकास किया।

15.2 प्रस्तावना

जाति व्यवस्था भारतीय समाज व्यवस्था का महत्वपूर्ण अंग है। विश्व के विभिन्न विद्वानों का ध्यान संस्तरण की इस प्राचीन व्यवस्था ने आकर्षित किया है। विभिन्न विचारकों ने इतिहास के विभिन्न कालखण्ड़ों में भिन्न–भिन्न दृष्टिकोणों में इसके अध्ययन का प्रयास किया है। भारत में विभिन्न ऐतिहासिक कालों जैसे वैदिक काल, उत्तर वैदिक काल, मौर्य काल, उत्तर मौर्य काल, मध्य काल में जाति

का ऐतिहासिक दृष्टिकोण से विष्लेषण इस इकाई में किया गया है। इस काल तक के इतिहास की खोज में विद्वान धार्मिक ग्रन्थों, पुरातात्विक साक्ष्यों तथा यात्रियों के विवरणों को आधार बनाते है। मध्य काल के बाद भक्तिकाल में जाति–व्यवस्था को समाज के भीतर से ही एक चुनौती मिली और समुदाय को एक नाम मिला– 'हिन्दू'। मुस्लिक शासनकाल में जाति व्यवस्था में कुछ परिवर्तन हुए जहाँ धर्मान्तरण हुआ वहीं जाति जैसी संरचना का उदय मुस्लिम समाज में भी हुआ। मुस्लिम शासनकाल के बाद भारत में उपनिवेषकाल में जाति–व्यवस्था में अनेक सुधारवादी प्रयत्न हुए तथा स्वतन्त्रोत्तर भारत में जाति–व्यवस्था से उत्पन्न असमता को दूर करने का प्रयत्न भारतीय संविधान में किया गया।

भारतीय समाज अनेक समुदायों का भी साक्षी है ब्राह्मण धर्म के प्रयुत्तर में आए जैन तथा बौद्ध धर्म में सामाजिक जड़ता को समाप्त करने का प्रयास किया। सिक्ख धर्म के उदय ने अत्याचार तथा शोषण का प्रतिकार कर समतावादी सामाज की स्थापना की । पारसी धर्म के अनुयायी भारत में ऐसे मिल गए जैसे दूध में चीनी। इस्लाम तथा इसाई धर्म ने समाज के समक्ष चुनौतियाँ उत्पन्न की साथ ही साथ सांस्कृतिक समन्वय तथा सहिष्णुता का भी विकास हुआ। प्रजातीय, भाषायी, तथा जनजातीय समुदाय का ऐतिहासिक अध्ययन भारतीय समाज को समझने हेतु महत्वपूर्ण कड़ी है। ग्रामीण तथा नगरीय समुदाय भारत में आर्थिक, राजनैतिक तथा सांस्कृतिक परिवर्तन एवं विकास के साक्षी हैं।

15.3 जाति का ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य

विश्व के अन्य भागों की तरह भारतीय समाज में भी विभेदीकरण की प्रक्रिया पायी जाती है। विभेदीकरण की यह प्रक्रिया जब उच्चता–निम्नता अथवा श्रेणीक्रम में बदल जाती है तो स्तरीकरण कहलाती है। बॉटोमोर ने स्तरीकरण चार प्रारूपों की चर्चा की है–

जागीर, दासप्रथा, वर्ग और जाति प्रथा। जाति–प्रथा का सम्बन्ध हिनदू धर्म दर्षन से है और हिन्दू जाति–प्रथा की उत्पत्ति में वर्ण–व्यवस्था का महत्वपूर्ण योदगदान है। जाति प्रथा पर देषीय तथा विदेषी विद्वान विभिन्न परिप्रेक्ष्य में विचार व्यक्त करते है कुछ विद्वान शास्त्रीय आधार अथवा पाठीय परिदृष्य के आधार पर जाति व्यवस्था की व्याख्या करते है। जिनमें पी0वी0 काणे, जी0 एस0 घूरिये, पी0 एच0 प्रभु प्रमुख है। दूसरी विचारधारा के समाजषास्त्री क्षेत्र कार्य से मिले निष्कर्षों के आधार पर जाति का विवेचन करते है जिनमें एम0 एम0 श्रीनिवास प्रमुख है।

जाति व्यवस्था की ऐतिहासिक का अगर सिंहावलोकन करे तो जाति–व्यवस्था एक अल्पकालिक घटना का परिणाम नही वरन् शताब्दियों से विकसित उस सुदृढ वृक्ष के समान है जिसकी जड़े भारतीय समाज में गहराई से जमी हुई है। अतः जाति–व्यवस्था एक सारगर्भित विषय है एतएव अध्ययन को सरल, सुगम व गाह्य बनाने हेतु इस विषय का काल क्रमानुसार विभाजित कर प्रस्तुत किया जा रहा है–

1. वैदिक काल (4000–1000 ई0पू0)

ऐतिहासिक सन्दर्भ में भारत का इतिहास ऋगवेद से आरम्भ हुआ। पी0 वी0 काणे ने अस काल को 4000–1000 बी0 सी0 तक माना। ऋगवेद की रचना होने के कारण ही इसे ऋगवैदिक काल भी कहा जाता है। वैदिक कालीन साहित्यों के अध्ययन अनुसंधान से जाति व्यवस्था के तत्कालीन

स्वरूप को लेकर अनेक मतभेद है। इन मतभेदों के कारण जाति–व्यवस्था के तत्काली समाज में विद्यमान स्वरूप को लेकर कई विचारधारायें प्रस्फुटित होती है।

कुछ विचारकों जैसे हॉग (1863) कर्न, और आप्टे (1940) के अनुसार ऋगवैदिक काल में जाति अपने विकसिक स्वरूप में न होते हुए भी विद्यमान थी और समाज ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैष्य तीन भागों में विभाजिक था। अब प्रश्न यह उठता है कि क्या शुद्र तत्कालीन समाज में नही थे? तो इसका उत्तर देते हुए विचारकों का यह वर्ग ऋगवेद के अन्तिम चरण में आर्यों द्वारा 'षुद्र' जाति के अस्तित्व में आने की बात करते है।

द्वितीय वर्ग के विचारक जैसे म्यूर, जिमर, बेबर (1882) और घूरिये (1932) का मानना है कि तत्कालीन समाज में जाति–व्यवस्था जैसी कोई अवधारणा नही थी। समाज वर्ण व्यवस्था पर आधारित थे जो वंश परम्परा वाले न होकर लचीली व्यवस्था वाले थे।

उपरोक्त विचारों के उपरान्त भी कुछ अन्य विचारकों ने यद्यपि वर्ण–व्यवस्था को तो स्वीकारा किन्तु 'वर्ण' शब्द को लेकर अपनी–अपनी व्याख्या प्रस्तुत की है–

ऋगवेद में वर्ण (रंग) शब्द का उल्लेख मिलता है। और ये रंग–भेद पर आधारित वर्ण व्यवस्था वस्तुतः आर्य–अनार्य के मध्य के अन्तर द्योतक थी। कुछ विद्वानों का मानना है कि ऋगवेद में ब्राह्मण या क्षत्रिय का वर्णन ही नहीं है तो निःसन्देह तत् कालीन समाज में दो ही वर्ण अस्तित्व में रहे होंगे–

(1) गौर वर्ण वाले (आर्य जन)

(2) श्याम वर्ण वाले (अनार्य जन)

कुछ विद्वान 'ऋगवेद' के 'पुरूष सूक्त' में वर्णित आदि पुरूष 'ब्रह्मा' के मुख, भुजाओं, उदर और जंघाओं से क्रमषः ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैष्य, शूद्र वर्ण उत्पन्न हुए जिनके मध्य एक प्रकार्यात्मक व्यवस्था थी। ये वर्ण की कालान्तर में जातियों में परिणित हो गए।

भिन्न–भिन्न विचारों के बाद भी सभी विद्वान इस बात पर एक मत है कि वैदिक कालीन समाज में किसी प्रकार की वैमनयता समाज में विद्यमान नही थी। समाज की सभी इकाईयाँ प्रकार्यात्मक रूप से एक–दूसरे से जुड़ी थी उच्चता–निम्नता या छुआ–छूत जैस विध्वंसक धारणाएँ समाज में विद्यमान नहीं थी।

2. उत्तर वैदिक काल (1000–600 ई0 पू0)

उत्तरवैदिक काल जो कि उपनिषदों व 'ब्राह्मण ग्रन्थों' की रचनाओं के कारण ब्राह्मण काल और उपनिषदकाल के नाम से भी जाना जाता है लगभग 400 वर्षों की अवधि का युग माना जाता है। इस युग को अगर ब्राह्मणों की राजनीतिकरण की संज्ञा दी जाए तो अतिष्योक्ति न होगी क्योंकि इस युग में ब्राह्मणवाद का विकास हुआ। धार्मिक क्रिया–कलापों से जुड़ा यह वर्ग उत्तर वैदिक काल में प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रू‍प से क्षत्रियकरण की प्रक्रिया से गुजरा। और परिणाम स्वरू‍प विषेषाधिकारों के लक्ष्य प्राप्ति हेतु कालान्तर में धर्म से जुड़ा ये वर्ग क्षत्रियों के साथ संघर्षित रहा।

अगर हम आर्य–अनार्य वाली वर्ण व्यवस्था को माने तो ये दोनों ही वर्ग आर्यों से सम्बन्धित थे। ऐसे माना जाता है कि ऊपर के तीन वर्ण आर्य और अन्तिम चतुर्थ वर्ण शुद्र अनार्य से सम्बन्धित है। के0 एल0 शर्मा (2006) में लिखते है कि ''यज्ञ कराने वालों को ब्राह्मण के नाम से पुकारा गया। ये लोग एक विषिष्ट वर्ग बने और इनका बहुत सम्मान किया गया क्योंकि वे धार्मिक कार्यों को सम्पन्न करते थे। और जो आर्य पूर्व और दक्षिण दिषाओं में बढ़े उन्हें मूलवासियों से संघर्ष करना पड़ा, और वे एक अन्य वर्ग (क्षत्रिय) के रूप में उभर कर आए। क्षत्रियों का कर्त्तव्य विजित क्षेत्रों की रक्षा करने का था। शेष आर्य एक पृथक वर्ग बने और उन्हें वैष्य की संज्ञा दी गई। अनार्य चतुर्थ वर्ग के रूप में शुद्र कहलाए।"

इस प्रकार हम देखते है कि वैदिक काल की लचीली वर्ण–व्यवस्था उत्तर वैदिक कालीन इतिहास का सूक्ष्म निरीक्षण करत हो जाति की उत्पत्ति के महत्वपूर्ण कारक प्रजातीय कारक, व्यवसायिक पूर्वाग्रह, कर्म तथा शुद्धता, अषुद्धता के धार्मिक तथा दार्षनिक सभी कारक उत्तरदायी रहें है।

ई0 पू0 चौथी शताब्दी के आस–पास ब्राह्मण तथा क्षत्रियों के परस्पर संघर्ष ने सामाजिक समूहों के मध्य सामाजिक सम्बन्धों की समस्या को श्रेष्ठ सीान पर स्थापित किया फलतः "संहिता" और "ब्राह्मण" साहित्यों में जाति भेद अपने अधिक स्पष्अ रूप में उभरकर सामने आया। ये वर्ग भेद महाकाव्य काल (600–323 ई0 पू0) में और अधिक जटिल हो गया। एक ओर सम्राज्य विस्तार की लालसा युद्ध और दूसरी ओर ब्राह्मणों द्वारा अपने को संगठित करते हुए एक नवीन वर्ग का सृजन तथा वंशानुक्रम उत्तराधिकार तथा रक्त की शुद्धता के नवीन विचारों ने जाति–व्यवस्था को आरम्भिक स्वरूप को और अधिक संपोषित व संवर्द्धित किया। कालान्तर में ब्राह्मण और क्षत्रिय दोनों जातियों ने विषेषाधिकारों को स्वयं तक सीमित व नियंत्रित रख तृतीय और चतुर्थ क्रम की जाति (वैष्य व शुद्र) को इनसे दूर रखा। अब जाति विषेष में नामकरण की व्यवस्था का आरम्भ हुआ और विवाह सम्बन्धीं नियमों में कुछ कठोरता आयी उच्च जाति के लोग अपने से निम्न जाति (षुद्र को छोड़कर) में विवाह कर सकता था। यद्यपि शुद्र स्पर्ष वर्जित था किन्तु साथ बैठकर भोजन किया जा सकताा था। जाति व्यवस्था इस युग में अपने आरम्भिक स्वरूप में थी अतः अपेक्षाकृत कठोरता कम थी।

3. मौर्य काल (322–184 ई0 पू0)

नन्दवंश का अन्त करके चाणक्य द्वारा चन्द्रगुप्त का राज्याभिषेक सन् 322 ई0 पू0 में किया गया और इस प्रकार मौर्य वंश की नींव पड़ी। मौर्य वंश में दो शासकों का काल राजनीतिक एकता एवं सहिष्णुता की दृष्टि से महत्वपूर्ण रहा। चन्द्रगुप्त मौर्य (322–298 ई0 पू0) तथा अषोक (273–233 ई0 पू0) के शासनकाल में सम्पूर्ण भारत एक शासक द्वारा नियंत्रित रहा फलतः राजनैतिक एकता के धरातल में सांस्कृतिक एकता का भी उइय हुआ। कौटिल्य द्वारा रचित 'अर्थषास्त्र' ने केवल तत्कालीन सामाजिक, राजनैतिक तथा आर्थिक जीवन के लिए पथ प्रदर्षिका थी वरन् आज के युग में भी मील का पत्थर है। आज भी तत्कालीन सामाजिक व्यवस्था के यथार्थ ज्ञान के लिए कौटिल्य द्वारा रचित लेख व पुस्तक अमूल्य धरोहर है।

जाति व्यवस्था के सम्बन्ध में भी ज्ञात होता है कि तत्कालीन समय में जाति व्यव्स्था अपने परवर्ती रूप में विद्यमान तो रही किन्तु कट्टर संस्था के रूप में विकास न कर सकी। इसका स्पष्ट प्रमाण नन्द वंश की निरंकुषता व अत्याचार पर अंकुष लगा मौर्य वंश की नींव रखने के सन्दर्भ से ज्ञात की जा सकती है। चन्द्रगुप्त ने सिंहासन पर बैठते ही यह घोषणा करवा कर कर कि शासन कानून धर्म से परे एवं ऊपर होगो। जिसक परिणाम स्वरूप शूद्रों पर ब्राह्मणों द्वारा अनावष्यक लागए गए प्रतिबन्धों को हटा कर सामाजिक समरसता लाने का प्रयास किया गया। चन्द्रगुप्त के पौत्र अषोक द्वारा भी ब्राह्मणों को विषेषाधिकारों को नियंत्रित किया गया फलतः ब्राह्मणों को आघात लगा। सम्राट अषोक ने धर्म की परिभाषा को ''सर्वे भवन्तु सुखिनः'' से जोड़ सार्वभौमिक भाईचारें तथा सौहार्द को प्रश्रय दिया। सम्पूर्ण विष्व को एकता के सूत्र में पिरोने के अथक प्रयास ने ही अषोक को बौद्ध धर्मावलम्बी बना दिया। जाति बन्धनों एवं भौगोलिक समस्याओं से युक्त पारमपिक वैदिक संस्कार षिथिल पड़ने लगे। पषु–बलि एवं अस्पृष्यता जैसी अमानवीय प्रथाएँ कुछ कमन्तर हुई।

4. उत्तर मौर्य काल (184 ई0 पू0–600 ई0 पू0)

उत्तर मौर्य काल मौर्य वंश के पतन की गाथा है जिस अखण्ड भारत की नींव चन्द्रगुप्त ने डाली एवं सम्राट अषोक ने जिसे प्रेम, सहिष्णुता एवं बधुत्व रूपी भावनाओं से सिंचित कर समृद्ध किया वह भारत उपयुक्त उत्तराधिकारी के अभाव में अपने ही सेनापति द्वारा नियंत्रित कर लिया गया परिणामस्वरूप मौयकाल का सूर्य अस्त हो गया और पुष्यमित्र सुंगा ने सिंहासन की बागडोर सम्भाली एवं सुंगा वंश की स्थापना की। 112 वर्षों तक शासन करने वाला यह शासक ब्राह्मणवादी विचारधारा का प्रबल समर्थक था एतएव ब्राह्मणों की निरंकुषता इसके शासनकाल की मुख्य विषेषता बन गई। पुष्यमित्र सुंगा से लेकर क्रमषः कल्व (73–28 ई0 पू0) कुषाण (25 ई0 के बाद 327 ई0 पू0) शासकों के संरक्षण में अषोक के शासन काल में रूग्ण पड़ी ब्राह्मणवादी विचारधारा एवं जाति व्यवस्था पुनः स्पन्दिता हो पुर्नजाग्रत हो उठी। एवं एक बार फिर शुद्रों को नियंत्रित किया जाने लगा।

"मनुस्मृति" एवं अन्य स्मृतियाँ इसी काल में लिखि गई जिन्होनें सामाजिक ताने बाने में जाति के कठोर स्वरूप को विकसित करने में अहम भूमिका निभाई। यद्यपि इन स्मृतियों में आपस में कई मौलिक मतभेद भी परिलक्षित होते है तथापि इनके लेखन के माध्यम से वैदिक संस्कारों के रूढ़िवादी स्वरूप को पुनः स्थापित किया गया। 'मनुस्मृति' का रचनाकाल लगभग 185 ई0 पू0 माना जाता है। और प्राचीन ग्रन्थों की प्रमाणिकता के उपरान्त 'मनुस्मृति' में ही प्रथम बार जाति का उल्लेख मिलता है। इरावती कर्वे (1975) ने अपनी पुस्तक ''हिन्दू समाज औज जातिव्यवस्था'' में 'जाति प्रथा' को मनुस्मृति के रचयिता मनु आर्यो के प्रथम पौराणिक राजा माने गए हैं। मनुस्मृति में मनु ने जातियों की उत्पत्ति तथा अभिवृद्धि विषयक तथ्यों का उल्लेख किया है। "मनु ने अपने जाति विषयक विचारों के मूल में वर्ण को ही सीान दिया है चारो वर्णों का वर्णन करते हुए मनु वर्ण को प्राथमिक अथवा आदिकालीन प्रचलित इकाईयाँ बताते हुए इन्ही के अन्तर–सम्मिश्रण से जातियों के उत्पन्न होने की बात स्वीकारते है। वर्णों के अन्तर सम्मिश्रण से उत्पन्न जातियों की व्याख्या के क्रम में मनु अनुलोम तथा

प्रतिलोम विवाह की भी व्याख्या करते हैं जिनके द्वारा जातियाँ और उपजातियाँ अस्तित्व में आयी। जाति व्यवस्था में उच्चरता व निम्नता के मध्य की खाई और गहराती गई तथा ब्राह्मणों की श्रेष्ठता पुनः स्थापित होने तथा शुद्रों के लिए कठोर दण्ड के प्रावधान में कानूनी समानता की धारणा को क्षतिग्रस्त कर दिया एवं जाति–प्रथा एक जटिल कलेवर के साथ समाज में व्याप्त हो गई। सुंगा, कन्व और कुषाण वंशो द्वारा डाली गई ये ब्राह्मणवादी व्यवस्था का यर्थाथ विकास गुप्तकाल (300 ई0 पू0 – 500 ई0 पू0) में हुआ। वस्तुतः इस काल को हिन्दू पुनर्जागरण का स्वर्ण माना जाता है। यद्यपि इस युग में ब्राह्मणवाद ही लोकधर्म था किन्तु जाति–व्यवस्था उतने कठोरतम रूप में विद्यमान नही रही जो आगे के कालों में देखने को मिलती है। गुप्तकाली समाज में जाति–व्यवस्था विवाह–सम्बन्ध व शूद्रों की स्थिति अपेक्षाकृत कुछ लचीले थे। इस काल में विभिन्न जातियों के मध्य वैवाहिक सम्बन्ध होते थे तथा शूद्र केवल द्विजों की सेवा से ही सन्तुष्ट रहे ऐसा न सैद्धान्तिक रहा न व्यावहारिक। शूद्रों को इस काल में यद्यपि कृषक, व्यापारी, इत्यादि बनने की अनुमति थी परन्तु इनका निवास सीान बस्तियों के बाहरी इलाकों में ही रहा कहने का तात्पर्य अस्पृष्यता लगभ्र अपने वर्तमान रूप में मौजूद रही।

5. मध्यकाल (700–1757 ई0 पू0)

गुप्त साम्राज्य के पतन के पष्चात् छोटे–छोटे राज्यों में बंटा देष राजनैतिक अस्थिरता का परिचायक बना रहा जब तक हर्षवर्धन के काल में राजनैतिक अस्थिरता को केन्द्रीय आधिपत्य द्वारा नियंत्रित नही कर लिया गया। यह काल जाति व्यवस्था के सन्दर्भ में अपने से पूर्व के काल की ही भाँति रहा।जाति व्यवस्था के स्वरूप में कोई परिवर्तन नहीं हुआ। जाति व्यवस्था के विकास के क्रम में मध्यकाल की एक विषिष्ट भूमिका रही है। मध्यकाल में राजपूत काल (700–1200 ई0प0) तथा मुस्लिम काल (1200 से 1757 ई0प0) दोनों सम्मिलित रहे है। हर्षवर्धन की मृत्यु के साथ ही परम्परागत हिन्दू समाज का अन्त और मध्यकाल का आरम्भ हुआ। मध्यकाल मुख्यतः दो भागों में विभाजित था – पूर्व मध्य काल एवं उत्तर मध्यकाल पूर्व मध्यकाल जिसे राजपूत काल के नाम से जाना जाता है वह हर्षवर्धन की मृत्यु के पष्चात् छोटे–छोटे राज्यों में विघटित भारतीय राजपूतों राजाओं के उत्थान व उदय से सम्बन्धित है हर्षवर्धन के काल की सांस्कृतिक विरासत इन राजपूत राजाओं ने सम्भाली। अपनी आरम्भिक अवस्था में राजपूत काल बाह्य खतरों से मुक्त अपने पड़ोसी देषों यथा चीन, जावा, सुमात्रा आदि से अलग–थलग रहा यह 500 वर्षों का लम्बा अन्तराल भारतीय सामाजिक व्यवस्था की स्थिरता व जडता का प्रतीक बना और बाह्य समाज से कटे होने के दूरगामी परिणाम जाति की कठोरता के रूप में पनपे। समाज में भोग–विलासिता के अंकुर प्रस्फुटित होने लगे। मन्दिरों में मांस का भोग व देव दासी प्रथा ने समाज के नैतिक पतन व क्रमषः स्त्रियों की निम्न स्थिति के कलंक को स्पष्ट किया। इस प्रकार सभी मन्दिर, मठ आदि विलासिता के केन्द्र बन गए। देष छोटे–छोटे टुकड़ों में बँटा था यद्यपि राजपूत अपनी आन–बान आरे शान के लिए इतिहास प्रसिद्ध रहे है किन्तु ये राजपूत अपने–अपने वंश के प्रति अधिक निष्ठावान थे। अतः क्षेत्रीयता की भावना राष्ट्रीयता की भावना से प्रबल रूप में विद्यमान रही और जब कभी बाह्य आक्रमणकारियों ने भारत में आक्रमण किया तो क्षेत्र–विषेष के राजपूतों ने अकेले ही युद्ध किया। इस प्रकार

एक–एक करके राजपूत वंश धराषायी होते गए। इस घातक परिणाम का मुख्य कारण संकुचित विचारधारा रही जिसने यहाँ के राजाओं को 'राष्ट्रहित' की भावना के प्रति उदासिन रखा। इस प्रकार मुस्लिम आक्रमणकारियों के आगमन से पूर्व ही भारतीय समाज जातियों, उपजातियों, धर्मान्धता, व आपसी वैमनष्यता से युक्त हो चुका था। परिणाम स्वरूप देष का सामाजिक व राजनैतिक जीवन बुरी तहर प्रभावित हुआ। जाति विघटन की यह प्रक्रिया ब्राह्मणों से प्रारम्भ होते हुए अन्य जातियों से गुजरते हुए सामप्त हुई। ब्राह्मण अब अपनी क्षेत्रीय पहचान से जाने जाने लगे अग ऋगवैदिक तथा यजुवैदिक कालीन ब्राह्मण जाति अब उपजातियों में बट गई यथा– कन्नौजियो ब्राह्मण, कोंकणी ब्राह्मण, तेलगू ब्राह्मण आदि। इसी प्रकार क्षत्रियों और वैष्यों में भी उपजातियाँ बनने लगी।

इस्लाम के आगमन के साथ ही जाति–व्यवस्था और सुदृढ हो गई। दो विपरीत सांस्कृतिक मूल्यों के मेल ने भारतीय समाज में पर–संस्कृति भयग्रस्तता की अवधारणा विकसित कर जाति सम्बन्धि जो नियम कुछ लचीले थे उन्हें कठोर करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। ताकि भारतीय समाज इनके सम्पर्क से बचे और सुरक्षित रह सके।

यद्यपि मुस्लिमों ने भारत में प्रवेश हेतु कई बार प्रयास किए किन्तु उन्हें सफलता 711.713 ई0 प0 से आए मोहम्मद बिन कासिम द्वारा सिन्ध और मुल्तान पर विजय प्राप्त करने के रूप में मिली। उसे पष्चात् दसवीं शताब्दी में महमूद गजनी ने पंजाब पर विजय प्राप्त की। अभी तक केवल इन आक्रमणकारियों का उद्देश्य भारत की धन सम्पदा लूटना और अपने निवास सीान ने जाना रहा किन्तु 1175 ई0 में मुहम्मद गौरी ने भारत में मुस्लिम सामाराज्य की स्थापना व विस्तार के उद्देश्य से आक्रमण किया और अपने 30 वर्षों के शासनकाल में इस उद्देश्य की पूर्ति भी की। इसके पष्चात् गुलाम वंश, खिलजी वंश, तुगलक, सैय्यद, लोदी वंश का शासन रहा और 1526 में पानीपत के युद्ध में बाबर की विजय के साथ मुगल वंश की नींव पड़ी।

योगेन्द्र सिंह (2006) के अनुसार मुस्लिम अभिजन जो भारत में इस्लाम की परम्परा के वाहक थे वे विदेशी मूल के थे और सोपानक्रम में उन्हें अषरफ के नाम से जाना जाता था।

'अशरफ' में सैय्यद, शेख, मुगल, और पठान आते थे। सैय्यद और शेख पारम्परिक रूप से धार्मिक प्रस्थिति प्राप्त करते है। जैसे हिन्दूओं में ब्राह्मण। मुगल और पठान योद्धा तथा सामन्त रहे हैं। इस प्रकार इन चार उच्च समूहों द्वारा जाति से मिलती जुलती संरचना का विकास भारत में हुआ।

शर्मा (2006) मानते है कि अनेक निम्न जाति के हिन्दूओं ने अपनी प्रस्थिति में परिवर्तन के लिए इस्लाम धर्म को ग्रहण तो कर लिया था लेकिन वे अपने उद्देश्य में सफल नहीं हो सके। भारत में मुसलमानों में जाति–व्यवस्था के तत्व व्यवहारिक रूप से पाए जाते हैं। गौस अन्सारी के अध्ययन को सन्दर्भित करते हुए नदीम हसनैन (2004) के अनुसार मुस्लिम जातियों को तीन वर्गों में विभक्त कियार जा सकता है– (1) अषरफ (2) अजलफ (3) अरजल।

अशरफ के अन्तर्गत सैय्यद, शेख, मुगल, पठान के अतिरिक्त उच्च हिन्दू जातियों के वे लोग आते हैं जिन्होंने अपना धर्म परिवर्तन कर लिया। जैसे–

मुस्लिम–राजपूत। 'अजलफ' के अन्तर्गत स्वच्छ पेषेवर जातियाँ आती है– जैसे– जुलाहा, दर्जी, मिरासी, धुनियाँ आदि। 'अरजल' जो कि सबसे नीचा माना जाता है इसमें अनुष्ठानिक रूप से प्रदूषित जातियाँ आती है। मुस्लिमों के ये समूह अथवा जातियाँ अन्तर्विवाह का पालन करते है तथा उच्च जाति समूह के अनुकरण कर उच्च प्रस्थिति प्राप्त करने का प्रयत्न करते है हसनैन मानते है कि इससे इस्लामीकरण हिन्दूकरण तथा आधुनिकीकरण के बीच विचित्र स्थिति दृष्टिगोचर होती है।

15.4 भक्तिकाल

भक्तिकाल का भारत के सामाजिक और धार्मिक इतिहास में अत्यन्त महत्वपूर्ण सीान है। भक्ति काल का उदय उत्तर भारत में उस समय हुअर जब सामाजिक व्यवस्था में जड़ता व्याप्त हो गई थी। जातीय वैमनस्य जाती विप्रूपताओं के कारण सामाजिक परिवेष विश्रंखलित हो गया था। ग्रियर्सन, रामचन्द्र षुक्ल, हजारीप्रसाद द्विवेदी जैसे हिनदी साहित्य के मूर्धन्य विद्वान भक्तिकाल के उदय की व्याख्य भिन्न–भिन्न परिप्रेक्ष्य में करते है। जार्ज गियर्सन इसको बाह्य प्रभाव मानते है। रामचन्द्र शुक्ल इसे विदेषी आक्रमण का प्रयुत्तर तथा हजारी प्रसाद द्विवेदी भक्तिकाल को भारतीय परम्पराओं का स्वतः सूकर्त मानते है। भक्ति काल के विष्लेषण के सामाजिक परिप्रेक्ष्य को नकारा नहीं जा सकता। समय और संस्कृति नामक पुस्तक में दूबे (1996) मानते है कि भक्तिकाल के सन्त कवियों एवं सुधारकों ने ऐसी प्रति संस्कृति का निर्माण किया जिसने हिन्दू समाज के अमानवीय पक्षों का विरोध कर सामाजिक न्याय का नारा बुलन्द किया। उनके प्रयास पूरी तरह से सफल भले ही न हुए हो परन्तु उनसे उपजी सामाजिक क्रान्ति की चिंगारिया निश्चित रूप से प्रभावषाली थी। कबीर, बसवा, ज्यातिबा फूले, दादू, रैदास तथा नारायण गुरू के योगदान को विस्मृत नहीं किया जा सकता।

योगेन्द्र सिंह मानते है कि दक्षिण–भारत में उदित हुई भक्ति की धारा ने जाति–व्यवस्था में प्रहार किया। निम्न जातियों की कर्मकाण्डी प्रस्थिति सम्बन्धी उदारवादी सुधार आन्दोलनों का उदय दक्षिण भारत में हुआ। रमानुज तथा माधव जैसे विद्वानों ने निम्न जातियों के मन्दिरों में प्रवेष तथा अनेक निर्योग्यताओं को हटानें में अपना योग दिया। योगेन्द्र सिह मानते है कि हिन्दू धर्म की सांस्कृतिक परम्परा में अन्तः जनित परिवर्तनों में प्रमुख रूप से भक्ति की धारा उदारवादी परम्परा के रूप में विकसित विकसित हुई जिसका मूल दक्षिण भारत में था। हिन्दू धर्म में भक्ति की जो धारा बही उसने सम्पूर्ण उत्तर भारत को अपने आगोष में ले लिया। पंजाब में गुरूनानक, राजस्थान में मीराबाई, उत्तर प्रदेश में कबीर, तुलसीदास, बंगाल में चैतन्य, गुजरात में दादू, महाराष्ट्र में तुकाराम तथा रामदास जैसे सन्तों ने इस धार्मिक आन्दोलन का नेतृत्व किया। योगेन्द्र सिंह भक्ति आन्दोलनों को द्विपक्षीय मानते है। भक्ति आन्दोलन में प्रथमतः धार्मिक विष्वासों को रूढ़िवादी अवधारणाओं से मुक्त किया तथा जन भाषा में शास्त्रों के सार को जन सामान्य तक पहुँचाया। इन सन्तों में से अधिकांषतः ने धर्म, जाति, यौन तथा धार्मिक विष्वासों में आधारित असमानताओं की आलोचना की।

भक्ति आन्दोलन का दूसरा योगदान हिन्दू परम्परा की लघु एवं वृहद परम्पराओं को निकट लाला था। विदेषी आक्रमणों तथा राजकीय उपेक्षा के कारण क्षीण पड़ गई वृहद परम्परा का संचार संतों ने देष के कोनें कोनें में किया। चैतन्य, तुलसी और तुकाराम ने वृहद परम्परा के मूल्यों को जन मानस में पुनर्स्थापित किया तथा शास्त्रों का लोक संस्करण प्रस्तुत किया। रामानंद, कबीर, नानम जैसे सन्तों

की परम्परा ने धर्म दर्षन में समानतावादी तथा गैर–सोपानिक मूल्य व्यवस्था को सीान प्रदान करने का प्रयत्न किया।

कबीर, दादू, पीपा, रैदास, जैसे सन्त निम्न जातियों से आए थे जिन्होंने आडम्बरों तथा पाखण्ड़ों पर प्रहार कर समतावादी सामाजिक व्यवस्था तथा धार्मिक व्यवस्था का पोषण किया।

15.5 उपनिवेश काल में जाति व्यवस्था

देसाई (1976) के अनुसार ब्रिटिष शासन काल में स्थापित नवीन अर्थतन्त्र तथा राष्ट्रीय आन्दोलन की राह में जाति व्यवस्था बाधा थी। औद्योगिक विकास के लिए आवश्यक श्रम शक्ति की आपूर्ति में जाति निष्ठा बाधक हो रही थी कृषि तथा कुटीर उद्योगों के पतन के कारण भूमि हीन श्रमिकों के लिए औद्योगिक श्रम उदरपूर्ति का साधन बनता जा रहा था। अतः पारम्परिक पेषों का त्याग होने लगा था। आधुनिक षिक्षा के कारण शिक्षित भारतीयों ने जाति विरोधी आन्दोलनों की शुरूआत की यद्यपि जाति प्रथा के मूल आधार सजातीय विवाह पर इसका प्रभाव नहीं पड़ा।

शिक्षित भारतीयों के अनुसार भारत की आर्थिक, राजनैतिक एवं सांस्कृतिक प्रगति के लिए व्यक्ति स्वातन्त्रय अपरिहार्य था। इस कालखण्ड में सामजसुधारकों ने गैर–प्रजातांन्त्रिक, एकतान्त्रिक जाति व्यवस्था का विरोध किया विभिन्न समाजसुधारकों ने आन्दोलनों के माध्यम से जाति व्यवस्था में आघात किया। योगेनद्र सिंह के अनुसार नए मानदण्ड़ों तथा सांस्कृतिक प्रसंगों को आत्मसात् करने वाले समाजसुधारकों जैसे– राजाराम मोहन राय, देवेन्द्र नाथ टैगोर, केशवचन्द्र सेन आदि ने धर्म की व्याख्या तार्किक आधार पर की।

ब्रह्मा समाज के संस्थापक राजाराम मोहम राय ने धर्मग्रन्थ महा निर्वाणतन्त्र की मदद से ये सिद्ध किया कि जाति व्यवस्था अब अप्रसांगिक हो गई है। इनका मानना था कि हमारे सारे समाज में व्याप्त समस्त बुराईयों के मूल में जाति–व्यवस्था है। और असका उन्मूलन किए बिना प्रगति नही की जा सकती। राजा राम मोहन राम के पष्चात ब्रह्मसमाज के नेताओं देवेन्द्र नाथ टैगोर तथा केषवचन्द्र सेन ने जाति प्रथा की निन्दा की। मुम्बई की प्रार्थना सभा में ब्रह्म सभा मी तर्ज पर जाति प्रथा विरोधी आन्दोलनों को चलाया। देसाई मानते है कि जहाँ ब्रह्म समाज तथा प्रार्थना सभा ने जाति प्रथा के नाष की बात की वही आर्य समाज ने जाति प्रथा में सुधारों का प्रयास किया।

ज्योतिबा फूले ने 1873 में सत्यषोधक समाज की स्थापना कर जाति–प्रथा के विरूद्ध आन्दोलन चलाया। दक्षिण–भारत में 'आत्म सम्मान आन्दोलन' के द्वारा जाति–प्रथा का विरोध किया गया।

देसाई का मानना है कि आग्र समाज ब्रह्म सामाज एवं अन्य समाज सुधार आन्दोलनों का उद्देश्य बौद्धिक आधार पर भारतीय समाज का नव–निर्माण करना। इसके लिए उन्होंने उन सामाजिक अनितियों के लिए संघर्ष किया जिससे निम्न जाति के लोग पीड़ित थे। हिन्दू शास्त्रों की नई व्याख्या के आधार पर ही अस्पृष्यता तथा अन्य सामाजिक बुराइयों भर्त्सना की है।

भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलनों के गोरवेले तथा गॉधी जैसे नेताओं के साथ ही साथ वामपंथी नेताओं तथा सावरकर जैसे दक्षिण पंथी नेताओं का भी ये मानना था

कि ब्रिटष सरकार से प्रजातन्त्र की मॉग करने लिए आवष्यक है कि प्रजातान्त्रिक मूल्यों के अनुसार समतावादी समाज की मॉग की जाए।

'विपिन चन्द्रा' जैसे इतिहासकार मानते हैं कि 1917 के पहले कांग्रेस समाज सुधार से सम्बन्धित मुद्दों से परहेज करती रहती थी, 1917 में प्रस्ताव पारित करके असमतावादी सामाजिक कुरूरितियों को सामाप्त करने की अपील की। लोकमान्य तिलक जैसे नेताओं ने भी जाति–प्रथा के विरूद्ध आवाज उठाई। जातीय वैषम्यता को दूर करने के लिए कांग्रेस में ठोस उपाय महात्म गाँधी द्वारा उठाए गए। 1923 में छुआ–छुत को दूर करने के लिए लोगों को शिक्षित करने का अभियान चलाया गया।

केरल जो कि अस्पृश्यता से काफी पीड़ित था। 1924 में 'वायकोम मन्दिर सत्याग्रह' प्रारम्भ किया गया। जिसमें विदेश के प्रगतिशील तत्वों ने समर्थन प्रदान किया। केरल में ही गुरूवायर सत्याग्रह मन्दिर प्रवेष आनदोलन से सम्बन्धित महत्वपूर्ण सत्याग्रह था।

गाँधी जी द्वारा 1932 में स्थापित अखिल भारतीय सेवक संघ तथा अन्य संस्थाए भी जाति वैष्म्यता दूर करने के प्रयास में जुटी थी। इन संस्थाओं द्वारा पाठशालाओं सरकारी ऋण समितियों तथा सहकारी आवास समितियों के माध्यम से निम्न जातियों के समावेषन के प्रयास किए गए। 1935 के बाद स्थापित कुछ प्रान्तों में स्थापित कांग्रेसी सरकारों द्वारा निम्न जातियों के समावेषन के लिए प्रयास किए गए।

उदाहरण के लिए मुम्बई की सरकार ने मन्दिर प्रवेश सम्बन्धि एक्त पारित किया। मध्य प्रान्त तथा बिहार की कॉंग्रेसी सरकारों ने निम्न जातियों के लिए पूर्ण निःशुल्क शिक्षा के लिए प्रबन्ध किए। त्रावणकोर, इन्दौर और देवास जैसे देशी विदेशी राज्यों के शासकों ने राजाज्ञा द्वारा मन्दिरों के पट सभी के लिए खोल दिए।

उपनिवेश काल में समाज के निचले स्तर पर रहने वाले भारतीय के लिए तथा जाति प्रथा के दुष्प्रभावों को रोकने के लिए जो वैचारिकी निर्मित हुई वह भारत के संविधान में मूर्त रूप प्राप्त कर सकी।

योगेन्द्र सिंह भारतीय परम्परा का आधुनिकीकरणा में मानते है कि भारत में अंग्रेजी शासन काल के समय जो सुधार आन्दोलन हिन्दू धर्म के विरूद्ध हुए उन्हें दो प्रमुख भागों में बांटा जा सकता है। पहवे वो अनदोलन जो हिन्दू धर्म के मूल्यों तथा प्रथाओं में परिवर्तन लाना चाहते थे। तथा दूसरे वे जो नए मानदण्ड़ों तथा सांस्कृतिक प्रसंगों का हिन्दू संस्कृति की मूल्य व्यवस्था तथाा पारम्परिक प्रसंगो के साथा संष्लेषण की बात करते है। योगेन्द्र सिह पहले प्रकार के सुधारकों में दयानन्द सरस्वती और विवेकानन्द का नाम शामिल करते है तथा दूसरे प्रकार के सुधारकों में महात्म गांधी जी ने हिन्दू धर्म के आधारभूत आदर्ष प्रारूपात्मक सांस्कृतिक प्रसंगों को अस्वीकार्य नही किया। इन सभी ने सोपान क्रम के नियम की वैधता को वर्ण व्यवस्था के सन्दर्भ में स्वीकार किया। दयानन्द सरस्वती ने वर्ण व्यवस्था के प्रकार्यात्मक प्रतिमान का अनुपालन किया। विवेकानंद और गाँधी जी ने वर्ण का प्रारूप गीता में से चुना और कर्मयोग के दर्षन को वैधता प्रदान की। इन सभी ने जाति की कर्मकाण्डी निर्योग्यताओं को गलत माना और उन्हें अस्वीकार करने का आह्वान किया। गाँधी जी ने स्वामी दयानंद एवं स्वामी विवेकानन्द की भाँति गैर हिन्दू सांस्कृतिक मूल्यों को अस्वीकारने की वकालत नही की।

योगेन्द्र सिंह के अनुसार गांधी जा का योगदान स्वामी दयानन्द तथा स्वामी विवेकानन्द की तुलना में समाजषास्त्रीय दृष्टिकोण से अधिक व्यवस्थित तथा परिपूर्ण है।

15.6 भारत में समुदाय का ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य

भारत एक बहुधार्मिक, बहुभाषायी, बहुप्रजातीय देष है। इतिहास के विभिन्न कालखण्डों में सांस्कृतिक रूप से अनेक समुदाय भारतीय संस्कृति का अंग बने। भौगोलिक विविधता, जलवायु सम्बन्धी विभिन्नता विभिन्न दार्शनिक मान्यताओं के कारण भारत की समाजिक संस्कृति काफी धनी है। स्वामी विवेकानन्द के विश्व प्रसिद्ध शिकागो अभिभाषण से भारतीय समाज के सहिष्णुतावादी तत्वों पर प्रकाष पड़ता हैः–

"मैं आपको सभी जाति सम्प्रदाय के लाखों, करोड़ों हिन्दुओं की तरफ से धन्यवाद देता हूँ, मुझे गर्व है कि मैं एक ऐसे धर्म से हूँ, जिसने दुनियां को सहनषीलता और सार्वभौमिक स्वीकृति का पाठ पढ़ाया है.....मुझे गर्व है कि मैं ऐसे देश से हूँ, जिसन इस धरती के सभी देषों के सतायें हुए लोगों को शरण दी है। मुझे बताते हुए गर्व हो रहा है कि हमने अपने ह्रदय में उन इजराइलियों की शुद्धतम् स्मृतियों को बचा कर रखा है। जिनके मन्दिरों को रामनों ने तोड़–तोड़ कर खण्डहर बना दिया। और तब उन्होंनें दक्षिण–भारत में शरणा ली। मुझे इस बात का गर्व है कि मैं ऐसे महान धर्म से हूँ जिसने महान पारसी देष के अवषेषों को शरण दी और अभी भी बढ़ावा दे रहा है।"

दुबे (1996) के अनुसार भारत का आकर्षण कई समूहों को इस धरती पर खींच लाया अपनी–अपनी अस्मिता के साथ युनानी, कुषाण, गुर्जर और हुण आए। इन सब ने कुछ समय तक अपना स्वतन्त्र सांस्कृतिक अस्तित्व बनाए रखा तथा कालान्तर में भारतीय समाज में घुलमिल गए। भारतीय समाज में पुरानी छवियों का संविलयन होता रहा तथा नई स्वतन्त्र छवियाँ भी उभरती रही। भारत भूमि पर भारतीय परम्पराओं से नवीन धार्मिक मान्यताओं का जन्म हुआ। ईसा लगभग 600 वर्ष पहले जैन तथा बौद्ध धर्म के रूप में एक नई क्रान्तिकारी विचारधारा को प्रश्रय मिला। वहीं लगभग 2200 वर्षों बाद सिक्ख धर्म के रूप में एक नवीन समाज को जोड़ने वाली भावना का पोषण हुआ। इन प्रायद्वीपीय धर्मों की जड़े भारतीय भाव–भूमि में है।

दुबे मानते है कि भारतीय सभ्यता में बाह्य तत्वों को आत्मसात् करने की अभूतपूर्व क्षमता थी। और ऐसे सांस्कृतिक तत्वों का भारतीय परिवेष में अनुकूलन भी हुआ और समाकलन भी बाहर से आए इस्लाम, ईसाई तथा पारसी धर्मों ने कुछ भारतीय तत्वों को ग्रहण किया तथा भारतीय संस्कृति में भी अपना योगदान दिया।

भारतीय समाज में सामुदायिक जीवन का विवेचन करना एक दुरूह कार्य है परन्तु कतिपय आधारों पर इनका विवेचन हम करने का प्रयास करेंगे–

1. प्रजातीय समुदाय
2. भाषायी समुदाय
3. जनजातीय समुदाय
4. धार्मिक समुदाय
5. ग्रामीण और नगरीय समुदाय

1. प्रजातीय समुदाय

हसनैन (1997) मानते है कि भारत की जनसंख्या में प्रजातीय तत्वों की स्पष्ट पहचान एवं वर्गीकरण करना सुलभ कार्य नहीं। भारत प्रवास के आकर्षक तत्वों के कारण अन्य देषों से आने वाले लोगों के लिए आकर्षण का केन्द्र रहा है। जो भारत आया सामान्तया यहीं बस गया। विभिन्न प्रजाति के लोग भारत आते गए और भारत में विभिन्न प्रजातियों का समागम होता गया। मजूमदार के अनुसार भारत में प्रजातीय वर्गीकरण के प्रथम वैज्ञानिक प्रया का श्रेय 1891 की जनगणना के निर्देषक हर्बर्ट होप रिजले को जाता है। रिजले ने जनगणना की रिपोर्ट तथा अपनी पुस्तक 'द पीपुल्स ऑफ इण्डिया' में भारत की जनता को सात प्रजातियों में विभाजित किया हैः–

1. **तुर्क ईरानी–** इसके अन्तर्गत बलूचिस्तान और सीमान्त प्रान्त के लोग शामिल थे।
2. **इण्डो आर्यन–** रिजले ने इनमें पंजाबियों, जाटों, राजपूतों और कष्मीरी खत्रियों को शामिल किया है।
3. **साइथो–द्रविड़–** इसके अन्तर्गत रिजले मराठा ब्राह्मण तथा कुर्ग लोगों को शामिल करते है।
4. **आर्य–द्रविड़–** इसके अन्तर्गत रिजले उत्तरप्रदेष, बिहार तथा राजस्थान के लोगों को शामिल किया।
5. **मंगोल–द्रविड़–** बंगाल के ब्राह्मण तथा कायस्थ इस श्रेणी में शामिल है।
6. **मंगोल–** असम, नेपाल तथा वर्मा के लोग इसमें शामिल है।
7. **द्रविड़–** इसके अन्तर्गत तमिलनाडु, आन्ध्रप्रदेष, छत्तीसगढ़ तथा छोटा नागपुर के लोगों को शामिल किया गया।

रिजले के बाद ए0 सी0 हेड्डन ने शारीरिक लक्षणों, भाषाषास्त्र, लोक–कथाओं, रीति–रिवाजों के आधार पर भारत को ती भौगोलिक भागों में प्रजातीय समूहों की व्याख्या की हैः–

1. हिमालय
2. भारत का उत्तरी भाग
3. भारत का दक्षिणी भाग

योगेन्द्र सिंह (1999) का मानना है कि बहुलतावादी भारतीय समाज का यथार्थ वर्णन करने में प्रजाति का सम्बोध विसंगतिपूर्ण है। क्योंकि प्रजातीयता के सम्बोध की विष्लेषण शक्ति इसकी तथ्यपरकता में नहीं वरन् एक प्रक्रिया के रूप में इसके परिचालन में निहित है। योगेन्द्र सिंह मानते है कि सामाजिक आत्म सजगता को प्रजातीय चेतना में बदलने वाले कारक आर्थिक तथा समाजिक विकास की खुली हुई बजारी शक्तियों का परिणाम है। इसलिए योगेन्द्र सिंह का मानना है कि प्रजातीयता के रू‍प में

वर्णित की जाने वाली समाजषास्त्रीय प्रघटना किसी ठोस समाजषास्त्रीय कोटि के बजाए एक प्रक्रिया है। योगेन्द्र सिंह भारतीय समाज के भीतर प्रजातीय प्रक्रियाओं को दो कोटियों में विभाजित करते है। पहलह कोटि के अन्तर्गत धार्मिक तथा सांस्कृतिक परम्पराओं देषीयता, परम्परा प्रान्तीयता तथा सम्प्रदायिकता के प्रभाव और चर्चा करने वाले अध्ययन आते है। पहली कोटि के अन्तर्गत योगेनद्र सिंह महाराष्ट्र में शिवसेना के प्रादेषिक आन्दोलन को रखते हे। दूसरी कोटि के अन्तर्गत उन अध्ययनों को रखा जा सकता है जो कि विशुद्ध देशी परम्पराओं, स्थानीय सामाजिक, राजनैतिक तथा धार्मिक दशाओं से सम्बन्धित होता है। असके अन्तर्गत गोरखा आन्दोलन को रखा जा सकता है। योगेन्द्र सिंह का मानना है कि प्रजातिय आन्दोलनों से जुड़ी मांगों का समाधान रचनात्मक सामंज्जस्य या समझौते, के अन्तर्गत हो सकता है। भारत का संविधान भी समझौते व सामंज्जस्य के प्रति सकारात्मक दृष्टिकोण रखता है।

2. भाषायी समुदाय

के0 एल0 शर्मा (2006) का मानना है कि भाषा में एक व्यवस्था के रूप में कई प्रतीक पाए जाते हैं। भाषा को बोलने वाले उन प्रतीकों को समझते हैं। सांस्कृतिक रू॰ से भाषा अत्यन्त महत्वपूर्ण होती है क्योंकि भाषा के द्वारा व्यक्ति के सीखने की प्रक्रिया एवं ज्ञान संचयन सम्भव हो पाता है। भाषा पर अधिकार कुछ व्यक्तियों को साधन सम्पन्न बनाता है तो कुछ की सामाजिक गतिषीलता में बाधक भी होता है। भाषायी समूह या संगठन एक संजातीय समूह में परिवर्तित होकर राजनैतिक तथा समाजिक क्षेत्रों में अपनी उपस्थिति दर्ज कराते हैं।

भाषा दृष्टि से भारत विष्व में भाषाविदों के लिए आकर्षण का केन्द्र रहा है क्योंकि इस प्रायद्वीप में प्रजातीय भिन्नताओं, भौगोलिक विषमताओं में कारण विभिन्न भाषाओं तथा बोलियों को विकास हुआ। समान भाषा के कारण उत्पन्न भावनात्मक एकता के कारण भाषायी समुदायों को विकास होता है। भारत में बोली जाने वाली भाषाओं को सामान्तया चार भाषा परिवारों में बांटा गया हैः–

1. इण्ड़ो–आर्यन
2. तिब्बती–चीनी
3. ओस्ट्रो–एषियाई
4. द्रविड़

'इण्डों–आर्यन' भाषाओं के अन्तर्गत वो भाषाएँ आती है जिनका जन्म संस्कृत भाषा से हुआ है। इसके अन्तर्गत पंजाब, महाराष्ट्र, राजस्थान, गुजरात, बंगाल, उत्तर प्रदेष, उत्तराखण्ड़, छत्तीसगढ़, हरियाणा, दिल्ली, गोवा, में बोली जाने वाली भाषाएँ शामिल हैं।

'तिब्बती–चीनी' भाषाएँ और बोलियाँ मुख्यतः उत्तरी–पूर्वी जनजातियों में बोली जाने वाली भाषाएँ हैं। 'आस्ट्रो–एषियाई' परिवार में सन्थाल, मुण्डा हो आदि जनजाति भारत की भाषाएँ तथा बोलियां आती हैं। 'द्रविड़ भाषाओं' में तमिल, तेलगू, मलयालम, कन्नड़ आदि जैसी भाषायें सम्मिलित है। संस्कृत जहाँ इण्डो–आर्यन भाषाओं की जननी है वही द्रविड भाषा परिवाार की भाषाओं के बीच समन्वय का कार्य करती है।

22 जुलाई 1913 'हिन्दू' में प्रकाषित भाषायी सर्वेक्षण के अनुसार भारत में 780 भाषाएँ तथा 66 लिपियाँ प्रचलन में हैं। अरूणांचल प्रदेष में भाषायी दृष्टि से सर्वाधिक धनी है। जहाँ 90% भाषायें बोली जाती है। 'पीपुल्स लिंग्विस्टिक सर्वे ऑफ इण्डिया' के अनुसार असाम, गुजरात, महाराष्ट्र, और पष्चिम बंगाल का भाषायी परिदृष्य विविधतापूर्ण है जहाँ क्रमषः 55, 48, 39, 38, भाषायें बोली जाती है। यह सर्वे इस शताब्दी का सबसे बड़ा भाषायी सर्वे है। इससे पूर्व में आयरिष भाषाविद् जार्ज अब्राहम गिर्यसन ने 1898 से 1928 के मध्य भारत का भाषायी सर्वे कराया था जो कि अब तक के भाषायी सर्वे हेतु मील का पत्थर है। नीवनतम् भाषायी सर्वेक्षण के अनुसार झारखण्ड में 16 जनजातिय भाषायें बोली जाती है परन्तु मात्र 2 बोलियाँ है। जबकि पष्चिम बंगाल में 9 लिपियाँ प्रचलित है। पूर्वोत्तर भारत का प्रति व्यक्ति भाषायी घनत्व की दृष्टि से विष्व में प्रथम सीान पर है। 2011 की जनगणना के आकड़ों के अनुसार 122 भाषाएँ इस हजार से अधिक लोगो द्वारा बोंली जाती है। जिनमें से 22 भाषाएँ संविधान की अनुसूची में शामिल है।

इण्डों–आर्यन भाषाओं का मूलाधार संस्कृत भाषा ही है। लम्बे समय तक देव भाषा के रूप में प्रतिष्ठित संस्कृत भाषा का प्रतिवाद सामाजिक स्तर पर प्राकृत और पालि ने किया। जैन तथा बौद्धकाल में हुए दार्षनिक–धार्मिक जीवन में परिवर्तन ने जन समुदाय को प्रावृत तथा पालि जैसी जन भाषाएँ प्रदान की। कालान्तर मे अपभ्रंष तथा अवहदृ के रूप में जन सामान्य की भाषा और सरल होती गई। भक्ति काल तक आते–आते हिन्दी का प्रारम्भिक स्वरूप स्पष्ट होने लगा। भक्तिकाल के सामाजिक दार्षनिक पृष्ठीाूमि ने उत्तर भारत की भाषा को एक नया रूप दिया। इसी काल में अरबी फारसी भाषाओं का प्रभाव भी जन भाषा में पड़ा। शुद्ध खड़ीबोली (हिन्दवी) के उदाहरण अमीर खुसरो की रचनाओं में मिलते हैं। दक्षिण में वजही, वली, सुल्तान कुली कुतुबषाह आदि ने खड़ी बोली में लेखन कार्य किया समर्थगुरू रामदास तथा षिवाजी के काल में भी खड़ी बोली के कवि मिलते थे।

उपनिवेशकाल में ईसाई मिषनरियों ने खड़ी बोली को धर्म प्रचार का माध्यम बना हिन्दी भाषा के उत्थान में सहयोग दिया। अंग्रेजी राज्य में प्रषासकों को हिन्दी भाषा की षिक्षा देने के लिए जॉन गिलक्राइस्ट की अध्यक्षता में फोर्ट विलियम कालेज की स्थापना हुई। जॉल गिलक्राइस्ट तथा उनके सहायकों ने हिन्दी के विस्तार में अपना योगदान दिया।

प्रिटिंस प्रेस की स्थापना, सुधारवादी हिन्दू संगठनों– आर्य समाज ब्रह्म समाज, हिन्दू धर्म सभा ने हिन्दी के विकास में अपनी अह्म भूमिका निभायी। इस प्रकार हम देखते है कि भाषा का सम्बन्ध समाजिक प्रस्थितियों से प्रगाढ़ रूप से है। उपनिवेष काल में अंगेजी के राज–काल की भाषा होने के कारण अंग्रेजी का विस्तार हुआ। भारतीय स्वतंत्रता संग्राम के महानायक महात्मा गाँधाी हिन्दी को राष्ट्रभाषा बनाने के प्रबल समर्थक थे। गाँधी जी का मानना था प्रान्तीय भाषाओं का प्रयोग प्रान्त के भीतर कार्य होने के लिए होना चाहिए तथा अन्तर्प्रान्तीय कार्यों हेतु नागरी लिपि में लिखी जाने वाली हिन्दी भाषा का होना चाहिए। अहिन्दीभाषी क्षेत्रों में महात्मा गाँधी, ने अपने पुत्र देवदास गाँधी, काका कालेकर तथा मोटूरि सत्य नरायण को प्रचार–प्रसार हेतू प्रेरित किया।

स्वतंत्रता के बाद संविधान की धारा 343 में प्रावधान किया की संघ का राजभाषा हिन्दी तथा लिपि देवनागरी होगी। स्वतन्त्रता प्राप्ति पष्चात् भाषायी आधार पर राज्य निर्माण आन्दोलनों ने भाषायी अस्मिता के संघर्ष का पोषित किया।

योगेन्द्र सिंह (1999) का मानना है कि भाषायी सन्दर्भों में एकीकरण या लामबन्दी की प्रक्रियाओं को सम्पादित करने में भाषा की एक आधार है। भाषा जैसी सामाजिक कोटियों का चरित्र योगेनद्र सिंह अखिल भारतीय (पौन–एथनिक) मानते है। स्वतन्त्रता प्राप्ति के पष्चात् भाषा के आधार पर राज्यों के गठन से योगेन्द्र सिंह के अनुसार विषिष्ठ भाषा समूह में समरूपता के दर्षन नही होते। भाषा के आधार पर बने राज्यों में धर्म, जाति और स्थानीयता पर आधारित नए हित समूहों का निर्माण हो गया।

एम0 एन0 श्रीनिवास (1992) के अनुसार मनुष्य के जीवन के आरम्भिक वर्षों में भाषा इत्यादि के लिए होने वाले लगाव राष्ट्रप्रेम के सम्बन्ध में गलत नही। उनका मानना है कि निष्ठाएँ मूल्यों के एक सोपानक्रम का प्रतिनिधत्व करती है। और यह भारतीय राणतन्त्र के मूल्यों से असंगत भी नही होती। सम्पूर्ण देष हेतु एक भाषा श्रीनिवास के अनुसार एकता की ऐसी धारणा है, जो जनता के मन में भय उत्पन्न करती है। उनका मानना है कि पूरे देष के लिए एक भाषा को लागू करने से अखण्डता के सीान पर विभाजन ही बढ़ेगा।

3. जनजातीय समुदाय

डी0 एन0 मजूमदार के अनुसार जनजाति परिवारों तथा परिवारों के समूहों का संग्रह है जिनका एक सामान्य नाम होता है और जिनके सदस्य एक ही भू क्षेत्र में निवास करते है, एक भाषा बोलते है, एवं विवाह वृत्ति या व्यवसाय केप्रति कुछ निषेधों का पालन करते है। घूरिये अपनी पुस्तक द ट्रिषिड्यूल ट्राइब्स में जनजातियों का विशिष्ट, सामाजिक और सांस्कृतिक इकाई मानते हैं। भारत के संविधान के अनुच्छेद 342 के अनुसार राष्ट्रपति को ये अधिकार है कि सार्वजनिक सूचना द्वारा समय–समय पर

जनजातियों तथा जनजातीय समुदायों को सूचीबद्ध कर उन्हें अनुसूचित जातियों की सूची में रखे।

भारत में 1971 से 2011 के मध्य अनुसूचित जनजातियों की जनसंख्या का वितरण इस प्रकार हैः–

भारत में अनुसूचित जनजाति जनसंख्या–1971 से 2011,					
	1971	1981	1991	2001	2011
कुल	36,408,514	51,628,638	67,758,380	84,326,240	104,545,716
ग्रमीण	35,128,288	48,427,604	62,751,026	77,338,597	94,083,844
नगरीय	1,280,226	3,201,034	5,007,354	6,987,643	10,,461,872

भारत में अनुसूचित जनजाति जनसंख्या–उच्च और निम्न पाँच राज्यों/ केन्द्रषासित प्रदेषों में (कुल) : 2011

राज्य/केन्द्रशासित प्रदेश	कुल जनसंख्या	अनुसूचित जनजातियों की जनसंख्या	अनुसूचित जनजातियों की प्रतिशतता
उच्च			
लक्षद्वीप	64.473	61,120	94.8
मिजोरम	1,097,206	1,036,115	94.4
नागालैण्ड	1,978,502	1,710,973	86.5
मेघालय	2,966,889	2,555,861	86.1
अरूणांचल प्रदेष	1,383,727	951,821	68.8
निम्न			
उत्तर प्रदेष	199,812,341	1,134,273	0.6
तमिलनाडु	72,147,030	794,697	1.1
बिहार	104,099,452	1,336,573	1.3
केरल	33,406,061	484,839	1.5
उत्तराखण्ड	10,086,292	291,903	2.9

श्यामाचरण दुबे (1996) का मानना है कि जनजातियों और गैर–जनजातियों के बीच में विभाजन रेखा बहुत स्पष्ट नहीं है। उनका मानना है कि भारत में थोड़े से ही भारतीय ऐसे होंगे जिनमें आदिवासियों का रक्त न हो। पुरातात्विक तथा ऐतिहासिक तथ्यों के आधार पर दुबे मानते है कि प्राजातीय तथा सांस्कृतिक संविलयन की प्रक्रिया के विरोध स्वरूप जनजातियाँ नवविकसित सांस्कृतिक केन्द्रों से दूर बनों तथा पर्वतो में बस गई जनजातियों ने अपनी जीवन शैली को एकान्त में बनाए रखा। सांस्कृतिक तथा धार्मिक दबाव के कारण कुछ जनजातियाँ हिन्दू सामाजिक संस्तरण मे उच्च तथा निम्न सीाप प्रपप्त कर गई तथा कुछ ने अपना पृथक अस्तित्व बनाए रखा। जनजातीय समुदायों की तुलना दुबे के अनुसार उनकी संख्या, सामाजिक संगठन, आर्थिक विकास के स्तर तथा विषिष्ट सांस्कृतिक प्रकार्यों को ध्यान में रखकर की जा रही है। गोण्ड, मुण्डा, भील, सन्थाल जैसी जातियाँ जनसंख्या की दृष्टि से काफी बडे समुदाय है। वही बिरहोर, कमार, चेंचू जैसे जनजातीय समुदायों की संख्या कुछ हजार तक ही सीमित है। तथा ओंगे तथा टोटो की जनसंख्या 100 से भी कम है। भारत में जनजातीय समुदाय अधिकांषतः पितृसत्तात्मक है। यद्यपि दक्षिण और उत्तर–पूर्व मे मातृसत्तात्मक भी मिलते है। आर्थिक प्रक्रियाओं की दृष्टि से भी जनजातीय समुदायों में समरूपता के दर्षन नही होते। युवागृह, विवाह सम्बन्धी प्रथाओं तथा धार्मिक क्रिया–कलापों में जनजातीय समुदाय स्वायत्तता का पक्षधर है। उपनिवेशकाल में सम्राज्यवादी नीतियों के विरूद्ध जनजाति समुदायों ने सन्थाल, कोल, रम्पा तथा मुण्डा विद्रोह के रूप में अपने असन्तोष को मुखरित किया।

भारतीय संविधान में जनजातीय समुदायों के समावेषन के लिए विभिन्न संवैधानिक उपबन्धों का निर्माण कर जनजातीय समुदायों के प्रति संवेदनषील नीति अपनायी है राष्ट्रीय चिन्तन 'नेहरू– एलविन' के विचारों से प्रभावित हुआ जिसकी वैचारिकी के अनुसार आदिवासी परम्पराओं के छेड़ा न जाए और अनावष्यक सुधारों को उनके ऊपर थोपा न जाए।

दुबे का मानना है कि पूर्वोत्तर राज्यों में असनतोष की स्थिति राज्यों की राजनैतिक अस्थिरता नौकरषाही की आदरर्षिता का परिणाम है। रेड कारपेट के नाम से जनजातीय क्षेत्रों में बढ़ते नक्सली प्रभाव के मूल में भी जनजातीय असन्तोष है जो वंचना और शोषण के कारण मुखरित हो रहा है।

4. धार्मिक समुदाय

श्यामाचरण दुबे 'भारतीय ग्राम' नामक पुस्तक मे मानते है कि भारत के धर्म जगत के बारे में पाठ्य–पुस्तकीय ज्ञान तथा उनके सम्बन्ध में आधुनिक तथा प्राचीन मीमांसाओं के आधार पर धार्मिक विष्वासों, विचारों, भावनाओं और रीति–रिवाजों को सही ढंग से निरूपित नही किया जा जा सकता। ऋषि–मुनियों के धार्मिक उपदेषों लघु तथा दीर्घ परम्पराओं ने धार्मिक विचारों मेां प्रभावित किया। शास्त्रीय हिन्दू धर्म की अखिल भारतीय भाषा, प्रादेषिक धार्मिक विष्वासों तथा पूजा पद्धति के साथ–साथ स्थानीय देवी–देवताओं की पूजन पद्धति के साथ–साथ स्थानीय देवी–देवताओं की पुजन पद्धति मिलकर समुदाय के धर्म की जटिल तस्वीर प्रस्तुत करते है। धार्मिक रीति–रिवाज कही परिवार, कही गाँव कहीं जाति तक सीमित है।

हिन्दू धर्म

'समय और संस्कृति' नामक पुस्तक में श्यामाचरण दुबे मानते है कि "हिन्दू" अरबवासियों द्वारा दिया गया नाम था जो भौगोलिक वातावरणा का द्योतक था। सिन्धु के पार निवास करने वाले किसी धार्मिक आस्था से जुड़े हो उन्हें हिन्दू कहा जाता था। दुबे मानते है कि हिन्दू समाज एक आकार–विहीन इकाई नही है। काल–क्रमानुसार सभ्यता सूत्रों के रूप में मिथक, विष्वास और अर्चना पद्धति की परत ने उसे जोड़ रखा है। इस समाज मे अनेक पंथ उभरे और कालांतर में इसके अंग बन गए। अघोरी, अनीष्वरवादी, चरवाक, सगुण व निर्गुण उपासक, वैष्णव, शाक्त, स्मार्त, शैव आदि सभी हिन्दू थे। शक कुषाण, हुण, आभीर, मग जैसे बाहर से आने वाले समुदाय भी हिन्दू धर्म का अंग बन गए। पूर्वोत्तर भारत में अङ्डोम, बोड़ो भाषी समूह भी हिन्दू समाज का अंग बनते गए।

एम0 एन0 श्रीनिवास (1992) के अनुसार हिन्दू धर्म को परिभाषित करन जटिल है। क्योंकि उसमे ऐसे विष्वास तथा संस्थान नही है जिसे सारे हिन्दू एकतम हो स्वीकार करे तथा अन्य से भिन्न एक अस्तित्व प्रदान करे।

हिन्दू धर्म के अध्येता मुख्यतः साहित्यिक स्त्रोत तथा दार्षनिक सम्प्रदायों के आधार पर हिन्दू धम्र सम्बन्धी विचार प्रतिपादित करते है।

हिन्दू धर्म की शास्त्रीय परम्परा लगभग 3000 वर्ष पुरानी है वेदों, उपनिषदों ब्राह्मणग्रन्थों, संस्कृत साहित्य से लेकर लो साहित्य तक हिन्दु समुदाय में वैविध्य का दर्षन होता है। एक ही प्रदेष में एक ही देवता के दो अवतारों को अलग–अनग पूजा जाता है। प्रादेशिक आधार पर देवी–देवताओं के भिन्न–भिन्न स्वरूप मुख्य माने जाते है।

जैन तथा बौद्ध धर्म

ईसा पूर्व शताब्दी में वैदिक धर्म को जैन तथा बौद्ध धर्म द्वारा चुनौती मिली। 590 ईसा पूर्व महावीर स्वामी का जन्म हुआ जो कि जैन धर्म के 24 वें तीर्थांकर हुए। जैन धर्म ने सामाजिक तथा धार्मिक सुधार कर समाजिक पुर्नगठन में महत्वपूर्ण भूमिका निभायीं सत्य और अहिंसा के जैन दर्षन ने भारतीय सभ्यता और संस्कृति का विकास किया। ईसा पर्व 6 शताब्दी के समकक्ष ही बौद्ध के दर्षन ने समाज में व्याप्त असमानता को दूर करने का प्रयत्न किया। बौद्ध धर्म का प्रसार भारत ही नही वरन् विष्व के अनेक सुदूरवर्ती देषों में भी हुआ। बौद्ध धर्म आज भी भारत की सांस्कृतिक धरोहर का अमूल्य भाग है। जैन तथा बौद्ध दोने धर्मों की जड़े हिन्दू धम्र में निहित है। योगेन्द्र सिंह (2006) मानते है कि जैन तथा बौद्ध दोनो ने नए सांस्कृतिक मूल्य दिए और राजकीय आश्रय प्राप्त दोनों धर्मों द्वारा नगरीय व्यापारिक समुदाय का विकास हुआ। प्रारब्ध आत्म के पुर्नचक्रण जैसे निरन्तरतावादी मूल्यों पर दोनों धर्मों ने अधिक जोर दिया तथा जाति और वर्ण को कम महत्व दिया। हिन्दू धर्म ईष्वरवादी धर्म जबकि जैन व बौद्ध धर्म अनीश्वरवादी है तथापि हिन्दू धर्म में भी अनेक दार्शनिक परम्पराएँ अनीश्वरवाद की पोशक है। ये धार्मिक आन्दोलन क्रान्तिकारी थे जिन्होंने कर्मकाण्ड, रूढ़िवादिता तथा जाति–व्यवस्था का विरोध किया। दुबे (1996) मानते है कि जैन और बौद्ध धर्म भले ही हिन्दू धर्म को चुनौती प्रदान करते है परन्तु हिन्दू धर्म इन धर्मों में दूरी नहीं आयी। हिन्दू समाज ने अंहिसा के महत्व को स्वीकार किया और मुनियों और श्रवणों को आदर प्रदान किया तथा बुद्ध को विष्णु का अवतार माना गया।

सिक्ख धर्म

प्रायद्वीपीय धर्म के रूप में सिक्ख धर्म का सीान महत्वपूर्ण है। सिक्ख धर्म के प्रवर्तक गुरू नानक देव जी थे। गुरू नानक देव जी के पश्चात् गुरू अंगददेव जी, गुरू अमरदास जी, गुरू रामदास जी, गुरू अर्जुन देव जी, गुरू हरगोविन्द जी, गुरू हररायजी, गुरू हरकिषन जी तथा गुरू तेग बहादुर जी हुए। अन्तिम और दसवें गुरू गोविन्द सिंह जी ने सिक्खों को संगठित किया तथा अत्याचारों को समाप्त करने हेतु खालसा सम्प्रदाय की नींव रखी।

पवित्र ग्रंथ 'गुरू ग्रंथ साहब' को गुरू के रूप में प्रतिष्ठित किया। उन्होंनें सिक्ख धम्र को पाँच प्रतीक प्रदान किए– केश, कृपाण, कच्छा, कंघा, तथा कड़ा। आज भी भारत में हिन्दू तथा सिक्खों के मध्य रोटी–बोटी के मध्य सम्बन्ध पाए जाते हैं।

पारसी धर्म

'पारसी समुदाय' मुख्यतः फारस (ईरान) की वह जनसंख्या थी, जिसने इस्लामी आस्था को अस्वीकृत कर तत्कालीन फारस से पलायन कर मालाबर क्षेत्र के पष्चिमी तट की ओर चली गई। 'अग्नि उपासक' पारसी समुदाय भारम में व्यापारिक दृष्टि से आए और भाषायी तथा धार्मिक दृष्टि से से भारतीय उदान्त परम्परा से अनुकूलन के भाव ने इन्हें भारत का अभिन्न अंग बना दिया विष्व में पारसियों की कुल जनसंख्या का 70 प्रतिषत भाग भारत में निवास करता है। पारसियों की अवेस्तन भाषा काफी कुछ भारत की देवभाषा संस्कृत से मेल खाती है। पारसी या ईरान का प्राचीन राजधर्म जरथुष्ट्री है जो महात्मा जरथुष्ट्र के नाम सही जाना जाता है क्योंकि ये ही इस धर्म के संस्थापक थे। पारसी समुदाय भी भारतीय समुदायों की भाँति एकेष्वरवाद एक प्रकृतिवाद के समर्थक है।

असत्य पर सत्य की, बुराई पर अच्छाई की विजय की के नैतिक मूल्यों से युक्त पारसी समुदाय ने यद्यपि भारत में लगभग सातवीं सदी में शरणार्थियों के रूप में आए किन्तु तब से अब पारसियों ने भारत के उत्थान में अभूतपूर्व योगदान दिया। अल्पमत होते हुए भी ये लोग फारस से भारत आकर इतने घनिष्ठता से जुड़े है इस समुदाय की एकता ने राष्ट्रीय एकता के समक्ष एक आदर्ष प्रस्तुत किया हैं। 'टाटा उद्योग' का संस्थापक हो, या खेल जगत का सितारा रूसी मोदी, स्वतंत्रता संग्राम में अहम् भूमिका वाले राजनेता दादा भाई नौरोजी हो या फिरोज गाँधी आदि सभी पारसी समुदाय के वे नामचीन व्यक्तित्व है, जिन्होंने अपने–अपने क्षेत्र मे न केवल अपना वरन् देष का भी नाम किया।

इस्लाम धर्म

भारत में इस्लाम का आगमन पश्चिमी एशिया तथा खाड़ी के देशों द्वारा व्यापारिक गतिविधियों द्वारा हुआ। दक्षिण भारत तथा बंगाल की खाड़ी में अरब व्यापारियों ने व्यापारिक चौकियाँ बनाई तथा व्यापार पर नियंत्रण के द्वारा धर्मांतरण हुआ। 10 वीं शताब्दी में उत्तर भारत में मैदानी रास्ते से अफगान, तुर्क, अरबवासी आए और मन्दिरों की अकूत सम्पदा को लूटा। तलवार के दर पर बाद में आने वाले आक्रमणकारियों ने इस्लाम का प्रचार–प्रसार किया भारतीय इस्लाम में यदि एक धारा कट्टरवाद की है तो दूसरी उदारवाद। उदारवादी धारणां के अन्तर्गत सूफी सन्तों ने इस्लाम का प्रचार–प्रसार किया। दुबे (1996) मानते है कि बौद्धिक धरातल पर हिन्दू और मुस्लिम संस्कृति में संवाद हुआ। दोनों संस्कृतियों में पर्याप्त आदान–प्रदान हुआ। समतावादी इस्लाम अपनानें के बाद भी समाजिक बनावट में ज्यादा अन्तर नहीं आया। उहाहरण के लिए पश्चिमी उत्तर प्रदेश में मुसलमान अपना परिचय त्यागी व राजपूत देते हैं। कई समूह निकाह के उपरान्त हिन्दू

विवाह शैली का सम्पादन करते हैं। तथा कई जगह हिन्दू सुहाग चिन्हों का प्रयोग भी किया जाता है।

योगेन्द्र सिंह (2006) का मानना है कि 12 वीं शताब्दी ईस्वीं में जब इस्लाम स्थायी रूप में आया तब इसका संगठन पहले से बदल चुका था। सैद्धान्तिक रूप से समानता तो आदर्ष के रूप में रही किन्तु कुलीन वर्ग में अनुवांशिक पदानुक्रम बनता गया। अशरफ अर्थात मुस्लिमों के चार अप्रवासी समूह (सैय्यद, शेख, मुगल, पठान) के रूप में जाति जैसी उद्विकासीय संरचना का विकास हुआ। भारत में इस्लाम जब चरमोत्कर्ष में था तो राजनैतिक संरक्षणा के कारण फारसी तथा अरबी साहित्य को प्रश्रय मिला। सूफी विचार के अनेक सम्प्रदायों का विकास हुआ। सूफी परम्परा ने भारत में इस्लाम के प्रचार में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई क्योंकि सूफी दर्षन हिन्दू परम्परा से काफी मिलता जुलता था। अकबर के समय 'दीन ए इलाही' के माध्यम से हिन्दू, जैन, बौद्ध, तथा पारसी धर्मों की परम्पराओं की समता पर जोर दिया गया तथा एक समासिक संस्कृति के विकास का प्रयास किया गया। भारत में अंग्रेजों के आगमन से मुस्लिम महाजनों की प्रस्थिति पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ा। 19 वीं शताब्दी में मुस्लिमों में दो प्रमुख सम्प्रदाय बन गए– (1) उदारवादी (2) रूढ़िवादी। 19 वीं शताब्दी के अन्त में मुसलमान आधुनिक षिक्षा की ओर उन्मुख हुए और शिक्षित बुद्धिजीवी वर्ग का उदय हुआ। अंग्रेजों की 'बांटों और राज करो' की नीति के कारण भार तथा पाकिस्तान अस्तित्व में आए। लेकिन आज भी पाकिस्तान से तुलनात्मक रूप से भारत में अधिक मुस्लिम रह रहे हैं।

ईसाई धर्म

भारत में ईसाई धर्म सेण्ट पॉल के सन् 1852 में आगमन के बाद विकसित हुआ। उस काल में केरल तथा तमिलनाडु के कई ब्राह्मण परिवारों ने ईसाई धर्म स्वीकार किया। श्यामाचरण दुबे मानते है तत्कालीन समाज में ईसाई धर्मोपदेषकों ने भारतीय सन्यासियों की वेष–भूषा तथा धर्मोपदेष के तरीकों को अपनाया। केरल तथा तमिलनाडु में ईसाई समुदायों में जाति–प्रथा आज भी विद्यमान है तथा गिरजाघर व कब्रिस्तान भी जाति विषेष मे अलग–अलग बंटे है। सम्राज्यवादी संरक्षण के पष्चात् ईसाई मिशनरियों ने जनजातीय क्षेत्रों में ईसाई धर्म का प्रचार किया। उत्तर–भारत के अधिकांष राज्य ईसाई बाहुल्य है।

विभिन्न जनगणना कालों में भारत में विभिन्न धार्मिक समुदायों की संख्याः–––(प्रतिशत में)

क्र. सं.	धर्म	1961	1971	1981	1991	2001	2011
1.	मुसलमान	10.69	11.21	11.75	12.61	13.43	-
2.	ईसाई	2.44	2.60	2.44	2.32	2.34	-
3.	सिक्ख	1.79	1.89	1.92	1.94	1.87	-
4.	बौद्ध	0.74	0.70	0.70	0.77	0.77	-
5.	जैन	0.46	0.48	0.47	0.40	0.41	-

भारतीय संविधान में अल्पसंख्यक धार्मिक तथा भाषायी अल्पसंख्यकों के सम्बन्ध में अनेक उपबन्ध मिलते है किन्तु अल्पसंख्यक शब्द को परिभाषित नही किया गया। भारत में जैन, ईसाई, बौद्ध, पारसी, इस्लाम, धर्मावलम्बियों को अल्पसंख्यक माना जाता है।

इस प्रकार हम देखते है कि भारतीय समाज बहुसामुदायिक समाज है। जिसमें धर्म, भाषा, जनजातीय, निवास सीान के आधार पर समुदाय मिलते हैं। जिनमें कुछ ऐसे कारक होते जो आन्तरिक सादृष्यता की अभिव्यक्ति करते है लेकिन कुछ तत्व तनाव भी उत्पन्न करते है। इस प्रकार भारतीय समुदायों में विविधता तो है किन्तु साथ एकता की डोर में ये समुदाय बंधे है।

5. ग्रामीण तथा नगरीय समुदाय

भारत में समुदायों का वर्गीकरण ग्रामीण तथा नगरीय समुदायों की एक समृद्ध परम्परा रही है। इस देष में सिन्धुघाटी की सभ्यता जैसी उन्नत नगरी समुदायों के अवषेष मिले है, वही विभिन्न काल खण्डों में ऐतिहासिक, सांस्कृतिक, शैक्षिक, धार्मिक तथा दार्षनिक गतिविधियाँ नगरीय समुदायों में संचालित होती रही है। कालक्रमानुसार नगरों का विकास होता रहा है।

ए0 आर0 देसाई (1997) का मानना है कि ग्रामीण समुदाय का उदय कृषि प्रधान अर्थव्यवस्था के साथ जुड़ा हुआ है। हल के अविष्कार के पष्चात् मनुष्य भ्रमणषील जीवन को समाप्त कर निष्चित भू–भाग में फंस गया और फलस्वरूप ग्रामीण समुदाय का अविर्भाव हुआ। कृषि के निष्चित विकास के साथ गोत्र तथा नातेदारी के आधार पर स्थापित संगठन प्रादेषिक बन्धनों पर आधारित हो गए। ग्रामीण समुदाय ने खाद्यान्नों की प्रचुरता के द्वारा नगरों के उद्भव में योगदान दिया। भोजन सम्बन्धी चिन्ताओं से मुक्त होने के पष्चात् उद्योग, कला तथा विज्ञान को प्रश्रय प्राप्त हुआ। ग्रामीण तथा नगरीय समुदायों में विभेद के लिए जिमरमैन तथा सोरोकिन द्वारा बताए गए विभेदों को ए0 आर0 देसाई स्पष्ट करते हैः–

1. ग्रामीण समुदाय का मुख्य व्यवसाय कृषि तथा इनसे सम्बन्धित कार्य होते है जबकि नगरीय समुदाय में वाणिज्य, व्यापार व्यवसाय आदि मुख्य कार्य होते हैं।
2. ग्रामीण समुदाय का पर्यावरण से प्रत्यक्ष सम्बन्ध होता है जबकि नगरीय समुदाय पर्यावरण से पृथक होता है।
3. ग्रामीण समुदाय का जनसंख्या घनत्व छोटा होता है जबकि नगरीय क्षेत्र बड़ा होता है।
4. ग्रामीण समुदाय का जनसंख्या घनत्व कम तथा नगरीय समुदा का अधिक होता है।
5. ग्रामीण समुदाय में नगरीय समुदाय की अपेक्षा सजातीयता अधिक होती है।
6. नगरीय समुदाय की अपेक्षा ग्रामीण समुदाय में विभेदीकरण तथा स्तरीकरण कम होता है।
7. ग्रामीण समुदाय की अपेक्षा नगरीय समुदाय में प्रादेषिक व्यावसायिक गतिषीलता एव्र प्राव्रजन की मात्रा की मात्रा अधिक होती है।

8. ग्रामीण समुदाय में प्राथमिक, व्यक्तिगत एवं स्थायी सम्बन्धों की बहुलता होती है तथा नगरीय समुदायों में सम्बन्ध जटिल तथा औपचारिक होते है।

योगेन्द्र सिंह का मानना है कि भारतीय समाज में ग्राम समुदाय का बहुत महत्व है। मैने, पॉवल, कार्लमार्क्स, अल्टेकर, राधाकमल मुखर्जी के विचार ग्रामीण समुदाय को अर्द्धस्वायत्त या स्वतन्त्र संरचनात्मक महत्व प्रदान करते है। मैटकॉफ के लिए ग्रामीण समुदाय लघुगणतन्त्र है। भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन क प्रणेता महात्मा गाँधी की विचारधारा आर्थिक, राजनैतिक, नैतिक रूप से स्वतन्त्र समुदाय की थी।

श्रीनिवास का मानना है कि ग्रामीण अध्ययन से प्राप्त निष्कर्ष महान परम्परा के भी भागीदार होते है। ग्रामीण समुदायों के अध्ययनों द्वारा ही प्रभुत्वषाली जाति तथा संस्कृतिकरण जैसी अवधारणाओं का जन्म हुआ। ग्रामीण अध्ययन व्यापक तथा उच्च स्तर पर समस्याओं के विष्लेषण के लिए महत्वपूर्ण है। ग्रामीण समुदायों क अध्ययन के द्वारा क्षेत्रीय राजनैतिक इतिहास तथा भारत में सत्ता सम्बन्धों तथा अन्य समस्याओं को समझनें में सफलता मिल सकती है।

ए0 आर0 देसाई (1976) में मैटकॉफ का उहाहरण हेते है कि भारत के गाँव स्वपोषित रहे हैं। राजनैतिक परिवर्तन होते रहे; हिन्दू, पठान, मुगल, मराठा, सिक्ख, अंग्रेज क्रमषः मालिक बने; किन्तु ग्राम समुदाय यथा बने रहे। भूमि पर ग्राम जनता के पारम्परिक स्वामित्व को शासक तथा उनके प्रतिनिधियों कभी चुनौति नहीं दी गई। जो भी शासक हुआ उसके प्रतिनिधि को पैदावार में हिस्सा मिल जाता था। गाँव में किसानों के अतिरिक्त सेवा प्रदान करने वाली जातियाँ भी थी। जो कि समुदाय का आवष्यक अंग थी। इस प्रकार से पारम्परिक ग्रामीण समुदाय स्थानीय श्रम और स्थानीय साधनों के द्वारा स्थानीय उत्पादनों का उपभोग करने वाला था। कार्लमार्क्स का देसाई उहाहरण हेतु है– "ये छोटे और बड़े पुराने भारतीय जन समुदाय भूमि के संयुक्त अधिकार, कृषि और हस्तषिल्प के संयोजन और अपरिवर्तनीय श्रम विभाजन पर आधारित है .....राजवंशों में हरदम होते रहने वाले परिवर्तन से सामाजिक संगठनों की अपरिवर्तनषीलता का मेल नहीं बैठा राजनैतिक आकाष के बादल बवंडर से समाज के आर्थिक तत्वों की संरचना अछूती रही।"

ब्रिटिश हुक्मरानों ने नवीन भू–स्वामित्व व्यवस्था का लागू किया जिसमें भूमि व्यक्तिगत सम्पत्ति या पण्य वसतु बन गई। जमींदारी, महलवाड़ी तथा रैयतवाड़ी जैसी शोषणकारी व्यवस्थाओं ने किसानों को महाजनों और जमींदारों के चंगुल में फंस कर ऋणग्रसतता की गर्त में ढकेल दिया। सर्वधाराकरण के द्वारा किसान भूमिहीन श्रमिकों में परिवर्तित होने लग। औपनिवेषिक वाणिज्यिक हितों को बलि–वेदी पर लघु तथा कुटीर उद्योग चढ़ गए। षिल्पकार तथा दस्तकार जातियां भी भूतिहीन श्रमिकों की फौल में शामिल हो गई। देष विभिन्न भागों में कृषि दासता की प्रथा ग्रामीण समुदाय में प्रचलित हो गई। ग्रामीण समुदाय ने उपनिवेषकाल में देषी और विदेषी शत्रुओं यथा जमींदार/महाजन तथा अंग्रेजों के खिलाफ संघर्ष किया जो कि विभिन्न कृषक आन्दोलनों में मुखरित हुआ। ये कृषक आन्दोलन भारतीय स्वतंत्रता संग्राम की सहवर्ती धारा के रूप में स्थापित हुए।

स्वतंत्रता प्राप्ति के पष्चात् भू–धारण पद्धति में सुधार तथा नियोजित परिवर्तनों के द्वारा ग्रामीण समुदाय के कायाकल्प के प्रयास प्रारम्भ हुए।

योगेन्द्र सिंह (1999) मानते है कि सामाजिक और आर्थिक सुधारों के लिए संस्थागत रू॰ से जो उपाय किए गए उन्होंने भारतीय ग्रामीण समुदाय में आधारभूत

परिवर्तन उत्पन्न किय। भूमि सुधारों, शक्ति के विकेन्द्रीकरण तथा रानैति सहभागिता के कारण सामाजिक, आर्थिक और सांस्कृतिक ढाँचे के पनर्निमाण की प्रक्रिया प्रारम्भ हुई। 70 के दषक में ग्रामीण समुदाय में आयी हरित क्रान्ति के कारण ग्रामीण समुदाय में मध्यम जाति–वर्ग के किसान उच्च जाति के जमींदारों कें विकल्प बन कर उभरे। हरित क्रान्ति के नेता उत्तर भारत में जाट, यादव, कुर्मी; पष्चिम में, कुनबी, पटेल और मराठा; तथा,दक्षिण में कम्मा, रेड्डी तथा ओक्कालिग्गा बने। ग्रामीण समुदाय में मध्यम जाति वर्ग के किसानों ने आर्थिक प्रस्थिति में सुधार के कारण उर्ध्वमुखी गतिषीलता प्राप्त की जबकि उच्च जाति के भू–स्वामी अधोमुखी गतिशीलता को प्राप्त हुए।

ग्रामीण विकास रिपोर्ट (2012–13) के अनुसार ग्रामीण समुदाय में परम्परा में निहित जाति एवं लिंग की असमानतायें अभी भी सामाजिक बहिष्करण को बनाए हुए है।

योगेन्द्र सिंह (2006) के अनुसार भारत में नगरीय समुदाय शताब्दियों पुराना है। हस्तषिल्प एवं वाणिज्य उद्योग के आधार पर बने इन पुराने नगरों का नियोजन एवं निर्माण धार्मिक–सोपानिक भूगोल तथा आक्रमणों से सुरक्षा को ध्यान में रखकर किया जाता था। प्राचीन भारतीय नगरीय समुदाय सोपानिक, जाति अभिमुख तााि पूर्व औद्योगिक था। प्राचीन नगरीय समुदाय पारम्परिक रूप से स्थापित सांस्कृतिक प्रमिमानों को पुष्अ करता था।

देसाई (1976) का मानना है कि अंग्रेजी शासन के प्रभाव के कारण नागरिक हस्तषिल्प का विध्वंस हुआ और आधुनिक उद्योगों के कारणा आधुनिक नगरों का अविर्भाव हुआ। इस काल में नगरीय समुदाय में होटल, जलपानगृह, ट्राम, बस आदि के कारण विभिन्न जाति व धर्मों के लोग पास आए। आधुनिक सामाजिक अस्तित्व की सुविधाओं ने जातीय सम्प्रदायगत समुदायों को अहमियत प्रदान नही की।

श्रीनिवास (1992) नगरीय समुदायों ने अध्ययन को आवष्यक मानते है साथ ही आधुनिक नगरीय समुदाय के विषय में कुछ प्रश्न भी उठाते है। श्रीनिवास प्रश्न उठाते है कि नगरीय समुदायों में जाति, भाषाई, क्षेत्रीय और नातेदारी सम्बन्धें की भूमिका क्या है? जाति व्यवस्था में नगरीय समुदायों में कौन–कौन से परिवर्तन हो गए है? नगरों में संयुक्त परिवार परम्परा की दषा के सम्बन्ध में भी श्रीनिवास प्रश्न करते है। राज्यतंत्र/ सांस्कृतिक नगरीय समुदायों तथा आधुनिक नगरीय समुदायों में विभाजन किस आधार पर किया जा सकता है।

योगेन्द्र सिंह (2006) के अनुसार देश में हुए नगरीय अध्ययन नगरों के लिए विषिष्ट माने जाने वाले लक्षणों से भिन्न स्वरूप को दर्षाते है। जो कि सांस्कृतिक एवं संरचनात्मक आधिपत्य को परिलक्षित करते है।

उनका मानना है कि औपचारिकीकरण वैयक्तिकरण, परिवारवाद/नातेदारी से विलगता, लौकिक विचारधाराओं की प्रबलता। जैसे नगरीय मूल्यों का भारतीय सन्दर्भ में अभाव है। नगरों में प्रवास सम्बन्धी प्रतिमानों में आकर्षक तत्व के रूप में नातेदारी महत्वपूर्ण भूमिका निभाती है। प्रो0 गाडगिल के अध्ययन बताते है कि अवसरों के प्रबन्धन के लिए जाति तथा सामुदायिक समितियों में मजबूती आयी है।

मिल्टर सिंगर के अनुसार आधुनिक मीडिया के द्वारा नगरों में पारम्परिक संस्कृति का प्रसार हो रहा है।

विभिन्न अध्ययनों को सन्दर्भित करते हुए योगेन्द्र सिंह (2006) का मानना है कि भारत में नगरीकरण की दर अपेक्षाकृत धीमी है। किंग्सले डेविस का अनुमान था कि सन् 2000 तक भारत की 50 प्रतिषत से अधिक जनसंख्या नगरीय होगी परन्तु अनुमान अपेक्षा से भी कम निकला। 2001 की जनगणना के अनुसार भारत की 27.8% जनसंख्या नगरीय क्षेत्रों में निवास करती थी। जबकि 2011 में 31.2 % जनसंख्या नगरीय समुदाय की थी।

योगेन्द्र सिंह (1999) का मानना है कि नगरीय समुदाय के ढाँचे में व्यापक परिवर्तन हुए है। प्रौद्योगिकी, षिक्षा, विज्ञान तथा विभिन्न व्यावसायिक श्रेणियों के कारण नगरीय समुदाय उर्ध्वमुखी गतिषीलता आधुनिकीकरण को निरूपित करती है। नगरीय समुदायों में उत्पन्न व्यावसायिक तथा औद्योगिक मध्यम वर्ग भारतीय समाज के उच्च जातीय समुदाय का यह वर्ग पारम्परिक प्रवृत्तियों की ओर परिवर्तन ही नही वरन् निरन्तरता को भी रेखांकित कर सकते है। यह निरन्तरता लचीलेपन का द्योतक है। साथ ही साथ महानगरों में एक बड़ा भाग झुग्गी–झोपड़ियों में रह रहा है। बेरोजगारी, प्रदूषण, बढ़ते अपराधा तथा महिलाओं के प्रति असहिष्णु दृष्टिकोण नगरीय समुदाय की प्रमुख समस्यायें है।

15.7 सारांश

इस इकाई में हमने भारत में जाति और समुदाय का ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में अध्ययन किया है। भारतीय सामाजिक व्यवस्था में संस्तरण की एक प्रणाली के रू‍प में जाति आज भी महत्वपूर्ण स्थान रखती हैं वैदिकाल, उत्तर वैदिक काल, मौर्य काल, उत्तरमौर्य काल तथा मध्यकाल में जाति व्यवस्था को विवेचित किया गया है। जाति–व्यवस्था की जड़ता पर भक्तिकाल में पड़े प्रभाव का विवेचन भी इस इकाई मं किया गया है। उपनिवेषकाल में भारतीय समाज में काफी परिवर्तन हुए जाति–व्यवस्था भी इन परिवर्तनों से अछूती नहीं रही। आधुनिक षिक्षा प्रणाली जन–संचार के माध्यम तथा समतावादी विचारधारा का प्रभाव जाति व्यवस्था पर पड़ा। भारतीय समाज में नवजागरण के अग्रदूतों ने जाति–प्रथा की बुराइयों के विरूद्ध संघर्ष किया। स्वतन्त्रता आन्दोलन में भी जाति–प्रथा के विरूद्ध गाँधी वादी नीतियों का प्रचार–प्रसार किया गया। स्वतन्त्रताकाल में जाति–प्रथा के लिए बने जनमत का प्रभाव भारतीय संविधान में परिलक्षित होता है।

भारतीय समाज एक बहु–सामुदायिक समाज है इस इकाई में हमने प्रजातीय, भाषायी, जनजातीय, धार्मिक, ग्रमीण तथा नगरीय समुदाय का ऐतिहासिक आधार पर समाजषास्त्रीय विवेचन किया है। धार्मिक समुदायों के अन्तर्गत हिन्दू, जैन, बौद्ध, सिक्ख, पारसी, इस्लाम तथा ईसाई धर्म के अनुयायियों का विवेचन सामाजषास्त्रीय रूप से किया है।

15.8 वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1. **सामाजिक स्तरण की कौन सी प्रणाली भारतीय समाज की प्रमुख विषेषता है:–**

   क. जागीर प्रथा　　ख. जाति प्रथा

   ग. दास प्रथा　　घ. वर्ग

2. कौन सा धार्मिक समुदाय ईरान से भारत आया और इसकी सम्पूर्ण विष्व में जनसंख्या का सर्वाधिक भाग भारत में रहता हैः–

क. जैन ख. बौद्ध

ग. इस्लाम घ. पारसी

3. निम्न में से किस धम्र का उदय भारत में नही हुआः–

क. जैन ख. बौद्ध

ग. इस्लाम घ. पारसी

4. हिन्दी भाषा का सम्बन्ध किस भाषा परिवार से हैः–

क. इण्डो–आर्यन ख. तिब्बति–चीनी

ग. आस्ट्रो–एशियाई घ. द्रविड़

15.9 वस्तुनिष्ठ प्रश्नों के उत्तर

1. **ख**
2. **घ**
3. **ग**
4. **क**

15.10 कुछ महत्वपूर्ण पुस्तकें

- आहूजा, राम, 1995; भारतीय सामाजिक व्यवस्था, रावत पब्लिकेषन्स, जयपुर।
- कर्वे, इरावती, 1975, हिन्दू समाज औज जाति व्यवस्था, ओरिएण्ट लॉन्गमैन, नई दिल्ली।
- घूरिये, जी0 एस, 1957, कास्ट एंड क्लास इन इण्डिया, पापुलर प्रकाषन, बम्बई।
- देसाई, ए; आर, 1976, भारतीय राष्ट्रवाद की सामाजिक पृष्ठभूमि, मैकमिलन इण्डिया लिमिटेड, दिल्ली।
- दुबे श्यामाचरण, 1996, समय और संस्कृति, वाणी प्रकाषन, नई दिल्ली।
- दुबे श्यामाचरण, 1996, भारतीय ग्राम, वाणी प्रकाषन, नई दिल्ली।
- देसाई, ए; आर, 1997, भारतीय ग्रामीण–समाजषास्त्र, रावत पब्लिकेषन्स, जयपुर।

- दोषी, शम्भूलाल एवं जैन, प्रकाष चन्द्र, 2007, भारतीय सामाजिक व्यवस्था, नेषनल पब्लिषिंग हाउस, जयपुर।
- शर्मा, के, एल, 2006, भारतीय सामाजिक संरचना एवं परिवर्तन, रावत पब्लिकेषन्स, जयपुर।
- शर्मा, के, एल, 2011, सामाजिक स्तरीकरण, रावत पब्लिकेषन्स, जयपुर।
- श्रीनिवास, एम, एन, 1992, आधुनिक भारत में जातिवाद तथा अन्य निबन्ध, मध्य प्रदेष हिन्दी अकादमी, भोपाल।
- सिंह, योगेन्द्र, 1999, भारत में सामाजिक परिवर्तन संकट और समुत्थानपरकता जवाहर पब्लिषर्स एवं डिस्ट्रीब्यूटर्स, नई दिल्ली।
- सिंह, योगेन्द्र, 2006, भारतीय परम्परा का आधुनिकीकरण, रावत पब्लिकेषन्स, जयपुर।
- हसनैन, नदीम, 1990, भारतीय मानव विज्ञान, जवाहर पब्लिषर्स एण्ड डिस्ट्रीब्यूटर्स, नई दिल्ली।
- हसनैन, नदीम, 2004, समकालीन भारतीय समाज एक समाजषास्त्रीय परिदृष्य, भारत बुक सेन्टर, लखनऊ।

इकाई–16

वर्ण और जाति

इकाई की रूपरेखा

16.1 उद्‌देश्य

16.2 प्रस्तावना

16.3 वर्ण

16.4 जाति की परिभाषा

16.5 सारांश

16.6 वस्तुनिष्ठबोध प्रश्न

16.7 वस्तुनिष्ठ बोध प्रश्नों के उत्तर

16.8 कुछ महत्वपूर्ण पुस्तकें

16.1 उद्‌देश्य

इस इकाई के अध्ययन से आप निम्न तथ्यों को समझ सकेंगे –

1. जाति, वर्ण एवं वर्ग से क्या अभिप्राय है एवं इनमें क्या भेद है।
2. जाति की विशेषताएँ एवं इनमें होने वाले परिवर्तनों का ज्ञान।
3. संस्कृतिकरण, पश्चिमीकरण के रूप में होने वाले जाति के गत्यात्मक पक्ष का अध्ययन।
4. जाति और राजनीति के गठबन्धनों का समसामयिक ज्ञान।

16.2 प्रस्तावना

अमुक इकाई में वर्ण एवं जाति का विवेचन होगा। जाति के स्वरूप को समझाने हेतु वर्ण के परम्परागत स्वरूप की चर्चा होगी तथा परिणामस्वरूप जाति और वर्ण तथा जाति और वर्ग के भेद को स्पष्ट किया जाएगा। इसकी क्रम में जातिगत गतिशीलता के सन्दर्भ में संस्कृतिकरण एवं पश्चिमी करण का भी यथा स्थान उल्लेख किया जाएगा। पश्चिमीकरण का भी यथा स्थान उल्लेख किया जाएगा। जाति से सम्बन्धित जजमान प्रथा एवं जाति पंचायत को भी स्पष्ट किया जाएगा। इस इकाई के अन्तर्गत अनुसूचित जाति को स्पष्ट किया जाएगा। विभिन्न विद्वानों ने जाति व्यवस्था में जो परिवर्तन रेखांकित किए है उसका विवेचन इस इकाई के अन्त में किया जाएगा।

16.3 वर्ण

'वर्ण' शब्द की व्युत्पत्ति संस्कृत के 'वृञ् वरणे' अथवा 'वरी' धातु से हुई है, जिसका अर्थ है 'चुनना' या 'वरण करना'। 'वर्ण' और 'वरण' शब्दों में साम्य भी है। सम्भवतः 'वर्ण' से तात्पर्य 'वृत्ति' से है, किसी विशेष व्यवसाय के चुनने से है।

प्रभु (1963) के अनुसार प्राचीन भारत में हिन्दू दृष्टाओं ने मनुष्य के जीवन को निर्देशित करने हेतु आश्रम–व्यवस्था की स्थापना की वही सामाजिक जीवन को सुचारू रूप से चलाने हेतु वर्ण–धर्म की व्यवस्था की। एक दूसरे से जुड़ी हुई किन्तु पूरक वर्ण और आश्रम की व्यवस्था ने समाज में व्यक्ति और समाज दोनों को व्यवस्थित बनाने का प्रयास किया। प्रभु मानते है कि आश्रम–व्यवस्था जहाँ व्यक्ति के निजी कौशल तथा विशिष्ट प्रकार के पर्यावरण पर बल देती है वहीं वर्ण–व्यवस्था व्यक्ति की अन्तर्निहित क्षमताओं, गुणों और प्रवृत्तियों आदि के आधार पर व्यक्ति का स्थान निर्धारित करती है।

श्रीनिवास (1992) के अनुसार साधारण व्यक्ति वर्ण की जटिलताओं से अनभिज्ञ है उसके लिए वर्णसे अभिप्राय है हिन्दू समाज का चार क्रम में विभाजन जैसे – ब्राह्मण (पारम्परिक रूप से पुजारी या अध्येता), क्षत्रिय (सैनिक एवं शासक), वैश्य (व्यापारी) तथा शूद्र। प्रथम तीन समूह द्विज है क्योंकि इन समूहों के पुरुष उपनयन के वैदिक संस्कार के द्वारा जनेऊ धारण करने के अधिकारी होते थे जबकि शूद्र नहीं।

श्रीनिवास (1992) के अनुसार वेदों की वर्ण–व्यवस्था में केवल चार क्रम है और अछूतों का इस क्रम में कोई स्थान नहीं है। वैदिक साहित्य में अयोगव, चण्डाल, निषाद, पौलकस जैसे समूहों का उल्लेख है जिनका वर्णन तिरस्कृत समूहों सा प्रतीत होता है।

वर्ण–व्यवस्था के मूल में यह चिन्तन था कि विभिन्न समूहों के लोग प्रतिस्पर्द्धा तथा विरोध को समाप्त कर अपने लिए निर्धारित कर्तव्यों का पालन करते हुए समाज के उत्थान में अपना योगदान दे।

वर्ण–व्यवस्था का विकास धीरे–धीरे हुआ तथा इसको पूर्णतः विकसित होने में सहस्त्र वर्ष लगे। वणों की उत्पत्ति, व कर्तव्य सम्बन्धी विचार विभिन्न कालों में शास्त्रकारों द्वारा प्रतिपादित किए गए।

सामान्यतः वर्ण–व्यवस्था की उत्पत्ति के सन्दर्भ में दैवीय अथवा परम्परागत सिद्धान्त, रंग का सिद्धान्त, गुणों का सिद्धान्ततथा कर्म पर आधारित सिद्धान्त प्रमुखतः प्रचलित थे।

1. दैवीय सिद्धान्त –

प्राचीन धर्म शास्त्रों में वर्णों की ईश्वरकृत माना गया है। पारम्परिक सिद्धान्त यह मानता है कि वर्णो की उत्पत्ति ईश्वर द्वारा हुई है। ऋग्वेद के पुरूष सूक्त के अनुसार –

"ब्राह्मणोडस्य मुरवमासीद बाहू राजन्यः कृत।

उरूतदस्य यद्वैश्य : पद्भ्यां शूद्रोडजायत।।

(ऋग्वेद, 10.90.12)

श्लोक के अनुसार वर्णो की उत्पत्ति विराट् पुरूष से हुई है ब्राह्मण उस विराट पुरूश के मुख से, क्षत्रिय बाहू से वैश्य उरू (जाँघ) से तथा शूद्र की पद (पैर) से हुई है। ब्राह्मणों की उत्पत्ति मुख से इसलिए कही गई क्योंकि उनका सम्बन्ध अध्ययन अध्यापन तथा चिन्तन से था। क्षत्रियों का कार्य सुरक्षा तथा प्रशासन के उत्तरदायित्वों का निर्वहन था इसलिए उनकी उत्पत्ति बाहू से मानी गई। वैश्यों का प्रमुख कार्य अर्थ–व्यवस्था को सुदृढ़ करना था। शूद्रों का कार्य अन्य वर्णों के कार्यों में सहयोग करना तथा समाज को गतिमान रखना था। यह सिद्धान्त सभी वर्णो को अपरिहार्य मानता है क्योंकि जिस प्रकार शरीर के प्रत्येक अंग का महत्व है उसी प्रकार प्रत्येक वर्ण का महत्व है।

घुरिये मानते हैं कि इस विभाजन से जुड़े शरीर के अंग विशेष और उनका क्रम सम्भवतः उस समय के समाज में उनकी प्रतिष्ठाा का सूचक है किन्तु ऐसी स्पष्ट व्याख्या इस स्रोत में नहीं मिलती है।

गीता में भगवान श्रीकृष्ण का कथन है कि मैनें ही चारों वर्णों की सृष्टि की है –

चातुर्वण्यँ यथा सृष्टं गुणकर्मविभागशः।

तस्य कर्तारमपि मां विद्वयकर्तारमव्ययम्।।

(गीता, 4.13.)

इसके अनुसार वर्ण–व्यवस्था का आधार गुण और कर्म है।

गुण का सिद्धान्त – वर्ण व्यवस्थ के मूल में 'गुण' भी है। शास्त्राों के अनुसार सृष्टि त्रिणुणात्मक है और ये तीन गुण है सत्, रज, और तम्। गीता में वर्णन आया है कि सतोगुण सांसारिकता विमुख करने वाला तथा सबसे श्रेष्ठ माना गया है सतों गुण के पश्चात् रजो गुण आता है जो भौतिक संसार में अनुरक्त रखता है। तमो–गुण के कारण अज्ञानताउत्पन्न होकर मनुष्य को आलस्य, प्रमाद, निद्रा आदि से युक्त करता है। चारों वर्णों के लिए अलग अलग गुणों का विधान शास्त्रों में किया गया है। 'मनुस्मृति' के अनुसार ब्राह्मण में सतोगुण, क्षत्रिय मे रजोगुण, वैश्यों में तमो और रजो गुण के मिश्रण की प्रधानता रहती है तथा शूद्र में तमो गुण प्रधान होता है। इसका तात्पर्य यह है कि जिस व्यक्ति में सतो गुण की प्रधानता होती है अर्थात वेदाभ्यास, तप, ज्ञान इन्द्रिय संयम तथा धर्म–कार्य के गुण होते है वे ब्राह्मण होते है। सौर्य, साहसिक कार्य, शासन प्रजा रक्षा जैसे गुणों से युक्त व्यक्ति क्षत्रिय होते है।

2. रंग का सिद्धान्त –

वर्ण का शाब्दिक अर्थ रंग भी है। धूरिये को सन्दर्भित करते हुए श्रीनिवास (1992) का मानना है कि वर्ण अर्थात रग ऐसा लगता है कि आर्य तथा दास में अन्तर बताने के लिए प्रयुक्त होता है। जो कि उनके गोरे एवं काले होने का परिचायक था। धूरिये मानते है कि रंग के अर्थ को यह शब्द इतना ध्वनित करता ाि कि जब नियमित रूप से वर्णो का विभाजन हो गया तब भिन्नता दर्शाने के लिए भिन्न–भिन्न वर्णों की कल्पना कर ली गई।

महाभारत के शान्तिपर्व में वर्णन आया है कि ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र का सम्बन्ध श्वेत, रक्तिम, पीत एवं श्याव वर्णों से है किन्तु रंगों का तात्पर्य त्वचा से ना होकर 'त्रिगुण' के सिद्धान्त से है। इसका आशय यह है कि सफेद रंग सतो–गुण का परिचायकहै, लाल रंग रजोगुण का, पीला रंग रजो तथा तमों दोनों गुणों का तथा काला रंग तमो गुण का परिचायक है।

3. कर्म का सिद्धान्त –

धर्मशास्त्रों में उल्लेख है कि वर्ण का आशय सिभन्न–भिन्न कर्मो से है इसका सम्बन्ध व्यवसाय के चुनाव से भी है। अध्ययन अध्यापन, यजन याजन, आदि धार्मिक कार्य सम्पादित करने वाले ब्राह्मण वर्ण में तथा राज्य की रक्षा का कार्य करना या प्रशासन चलाने वाले क्षत्रिय वर्ण में, पशु पालन, कृष्ि तथा वाणिज्य निजाक प्रमुख कर्म था उन्हें वैश्य वर्ण में तथा इन तीनों के सेवार्थ चौथा व अन्तिम वर्ण उन सेवकों के लिए था जो शूद्र कहलाए।

इस प्रकार से प्राचीन भारत के विभिन्न कालों में चातुर्यवर्ण की व्यवस्था विकसित हुई चार वर्णों का उल्लेख धर्मशास्त्रों में मिलता है, जिनका आधार गुण, कर्म और व्यवसाय था। चातुर्य वर्ण में ब्राह्मणों का सर्वोच्च संस्थान था। प्रधानता ब्राह्मण के छः कर्म थे – वेद पढ़ना, वेद पढ़ाना, यज्ञा करना, यज्ञकाराना,दान देना,दान लेना। आपत्ति काल में ब्राह्मण से यह अपेक्षा की गई थी कि वह स्वधर्म का पालन करने में असमर्थ हो तो कुटुम्ब के जीवन यापन हेतु क्षत्रिय या वैश्य के जीवन यापन को अपना सकता था।

वर्ण व्यवस्था में ब्रह्मणों के बादक्षत्रियों का स्थान था और उनका महत्व ब्राह्मणों सक कम नहीं था। क्षत्रियों का प्रमुख कर्म चातुर्यवर्ण को निरक्षण प्रदान करना। देश की सुरक्षा करना, अध्ययन करना, यज्ञ करना और दान देना।

आपत्ति काल में क्षत्रिय वैश्य वर्ण के कर्म को भी अपना सकते थे।

वर्ण व्यवस्था में क्रमानुसार वैश्य का स्थान तीसरा था। राज्य को आर्थिक–क्रियाओं में वैश्य वर्ण का महत्वपूर्ण थान था। पशु–पालन, कृषि तथा वाणिज्य वैश्यों के व्यवसाय थे। अध्ययन, यजन और दान देना भी वैश्यों का कार्य था। आपत्तिकाल में वैश्यों से अपेक्षा की गई थी कि वो युद्ध कर्म को अपना सकता था। वह गौ, ब्राह्मण और वर्ण की रक्षा के लिए शस्त्र ग्रहण कर सकता था। मनु के अपनुसार वैश्य संकट काल में जीवकोपार्जन के लिए निम्न वर्ण के कर्म को अपना सकता था परन्तु आर्थिक स्थिति सुदृढ़ होने पर वह प्रायश्चित कर अपने वर्ण–कर्म को ग्रहण कर सकता था।

वर्ण–व्यवस्था में शूद्रो का स्थान सबसे निम्न था उन्हे तमो–गुण प्रधान माना जाता था।

नागला (2015) मानते है कि ड्यूमों की मान्यता है कि वर्ण को सन्दर्भित किए बिना जाति को समझ पाना मुश्किल है। भारतीय समाज पारम्परिक श्रेणीबद्धता, वर्ण, रंग तथा सम्पत्ति के साथ जुड़ा हुआ है।

16.4 जाति की परिभाषा

'जाति' भारत में प्रचलित संस्तरण व्यवस्था का एक प्रमुख स्वरूप है। जाति–व्यवस्था एक बन्द श्रेणीबद्ध प्रस्थिति समूह है, जिसकी रचना आनुवांशिक आधार पर होती है। सरल शब्दों में जाति आनुवांशिक व्यवसाय वाला ऐसा समह है जिसकी सदस्यता जन्म से निर्धारित होती है। जाति एक ऐसा अन्तर्विवाही जाति समूह है, जो कि सदस्यों के सामाजिक व्यवहार तथा खानपान पर प्रतिबन्ध आरोपित करता है। उपनिवेशकाल में विभिन्न विद्वानों द्वारा जाति को परिभाषित करने का कार्य किया गया।

भारतीय समाज में व्याप्त समाजिक स्तरीकरण के लिए पुर्तगालियों ने सर्वप्रथम 'कास्ट' शब्द का प्रयोग किया। जिसका मूल शब्द 'कास्टस' है जो कि पुर्तगाली तथा स्पेनिश भाषा का शब्द है। जिसका अर्थ वंशावली से सम्बन्धित है। शर्मा (2011) का मानना है कि जाति की उत्पत्ति लैटिन शब्द 'कास्टस' से हुई है, जिसका अर्थ है पवित्र। ह्टट्न के अनुसार जाति एक ऐसी संस्था है जिसकी उत्पत्ति काफी जटिल है और जाति एक अद्वितीय भारतीय संरचना है।

विभिन्न विद्वानों ने जाति व्यवस्था की विवेचना अपने–अपने ढंग से की। दोषी व जैन (2007) जाति व्यवस्था को एमझने के लिए तीन संदर्शो का प्रयोग करते हैं –

1. धर्मशास्त्रीय संदर्श।
2. मानवशास्त्रीय–सांस्कृतिक संदर्श
3. जाति एक संरचनात्मक प्रघटना–सांस्कृतिक प्रघटना के रूप में।

भारतशास्त्रीय या प्राच्यविद्यावादी प्राचीन धर्म ग्रन्थों के आधार पर जाति की उत्पत्ति की व्ख्याख्या करते है और जाति के मल में धार्मिक व्यवस्था को मानते है।

मानवशास्त्रीय तथा सांस्कृतिक संदर्श के अन्तर्गत विदेशी विद्वानों ह्टट्न, रिजले, कोबर, सेनार्ट, बोगले इत्यादि ने जाति व्यवस्था का क्षेत्रीय आधार पर विवेचन किया है। बोगले मानते है कि जाति वंशानुक्रमण के आधार पर आधारित एक विशेषसमूह है जिसे सोपानिक ढं गसे व्यवस्थित किया गया है। ह्टट्न का मानना था कि जाति व्यवस्था में समाज को अनेक स्वायत्त और पृथक इकाईयों में विभाजित किया जाता है और उनके मध्य पारस्परिक सम्बन्ध एक श्रेणीकृत पैमाने में सांस्कारिक आधार पर निर्धारित किए जाते है।

एम. एन. श्रीनिवास जैसे विद्वान पवित्रता तथा अपवित्रता की धारणा के आधार पर जाति को एक सोपानिक व्यवस्था मानते है जो धर्म एवं कर्मकाण्ड से जुड़ी हुई है।

आन्द्रे बेते 'कास्ट क्लास एण्ड पॉवर' में मानते है कि जाति व्यवस्था को ऐसे नियमों एवं मानको द्वारा संचालित किया जाता है जो सब पर नियंत्रण रखते है। एक जाति दूसरी जाति की पूरक है और कोई भी जाति स्वयं में स्वायत्त नहीं है।

नागला (2015) लुई ड्यमों जाति व्यवस्था को विचारों और मूल्यों की एक गुथी हुई तार्किक व्यवस्था मानते है। इस व्यवस्था का विश्लेष्ज्ञण शुद्धता और अशुद्धता के अन्तर्विरोध के साथ जुड़ा हुआ है। भारत में जाति की सोपानिक व्यवस्था इसी बात पर टिकी है।

जी.एस. धूरिये 'कास्ट एण्ड रेस इन इण्डिया' और 'कास्ट, क्लास एण्ड एक्युपेशन' में जाति–व्यवस्था की व्याख्या करते हुए इसकी विशेषताओं को रेखांकित करते है, जिनकी विस्तृत व्याख्या इस इकाई में आगे की गई है।

दीपांकर गुप्ता ने 'इन्ट्रोगेटिंग कास्ट' नामक पुस्तक में माना कि सोपान की अपेक्षा जातियों में अन्तर अथवा पृथकता जो कि जाति की विशिष्ट पहचान है अत्यन्त महत्वपूर्ण है। दीपांकर गुप्ता का मानना है कि अति प्रतीकवाद के कारण जातियां कुछ विशिष्ट प्रतीकों को अंगीकार कर लेती है जो उनकी पहचान बन जाती है।

जाति–व्यवस्था ने भारत के अन्य धार्मिक समुदायों तथा दक्षिण–एशिया के पड़ोसी देशों की संस्तरणात्मक व्यवस्था को प्रभावित किया और यह व्यवस्था भारतीय सामाजिक व्यवस्था का महत्वपूर्ण अंग है।

जाति की विशेषताएँ

समाजशास्त्र में देशीय तथा विदेशी समाजशास्त्रियों द्वारा विभिन्न उपागमों द्वारा जाति व्यवस्था के लक्षणाों को रेखांकित करने का प्रयास किया गया है। विभिन्न विद्वानो द्वारा बताए गए, जाति के लक्षण कही–कही एक दूसरे के विपरीत भी हो जतो है। जी0एस धुरिये ने जाति व्यवस्था के छः सामान्य लक्षणों की चर्चा की है, जो निम्न है–

1. समाज का खण्डात्मक विभाजन।
2. श्रेणीबद्धता।
3. खान–पान तथा सामाजिक सहवास पर प्रतिबन्ध।
4. नागरिक तथा धार्मिक र्नियोग्यताएँ तथा विशेषाधिकार।
5. निर्बाध व्यवसाय चयन का अभाव।
6. विवाह सम्बन्धी प्रतिबन्ध।

समाज का खण्डात्मक विभाजन –

जाति व्यवस्था समाज को ऐसे अनुप्रस्थ समूहों में विभाति करती है। जिनमें गतिशीलता का अभाव होता है। व्यक्ति जिस जाति में जन्म लेता है, उसी जाति का आजीवन सदस्य बना रहता है। जाति–व्यवस्था में प्रत्येक खण्ड की अपनी एक निश्चित स्थिति होती है। धूरिये मानते है कि जाति आधारित समाज समरूपीय समुदाय से अधिक नहीं थे, जहाँ विभिन्न सामाजिक परिस्थितियाँ व्यक्ति को प्राप्त होती है। व्यक्ति की प्रस्थिति सम्पत्ति पर निर्भर न होके उस जाति पर निर्भर होती थी, जिसमें उसका जन्म होता था। मैकाइवर को सन्दर्भित करते हुए धूरिये बताते है पूर्वी सभ्यताओं में स्तरीकरण में जन्म की भूमिका सम्पत्ति आदि मानको से अधिक होती है।

खण्डात्मक विभाजन से धूरिये का आशय यह है कि जाति एक आभासी सम्प्रभुत्वशाली समुदय के रूप में कार्य करती है। जाति अपने सदस्यों के ऊपर नियंत्रण जाति पंचायतों के माध्यम से रखती है। जाति पंचायतों के माध्यम से विवाह, व्यावसायिक विभागों यौन विभागों तथा अन्तर्जातीय सम्बन्धों के उल्लंघनों तथा अन्य विवादो का निपटारा करते है। इस प्रकार धूरिये के अनुसार जाति के सदस्य समुदाय से पहले जाति से अधिक नैतिक रूप से जुड़े होते है। फलस्वरूप जाति स्वयं अपनी शासक है। व्यक्ति के जीवन चक्र में जाति का बहुत महत्वपूर्ण स्थान होता है। व्यक्ति के विवाह अन्य संस्कारों के सम्पादन से लेकर अन्त्येष्टि

तक में जाति के सदस्यों की भूमिका महत्वपूर्ण होती है इस प्रकार जातियों का अपना एक छोटा पूर्ण संसार होता है जो समाज का खण्डात्मक विभाजन होता है।

श्रेणीबद्धता –

धूरिये के अनुसार श्रेणीबद्धता, संस्तरण या सोपानीक्रम जाति व्यवस्था की महत्वपूर्ण व्यवस्था है। धूरिये श्रेणीबद्धता में जातियों की प्रस्थिति की तुलनात्मक श्रेणी में वर्गीकरण करते है। भारत में प्रत्येक स्थान पर जातियों का एक निश्चित संस्तरण होता है जिसमें ब्राह्मणों को सर्वोच्च स्थान प्राप्त होता है। आर0एम0 मार्टिन का हवाला देते हुए धूरिये मानते है कि संस्तरण में उच्चतम स्थान पर ब्राह्मण है और निम्नतम स्थान पर निम्न जातियाँ है। बहुसंख्यक मध्यवर्गीण जातियाँ अपनी निकटवर्ती जातियों से स्वयं को श्रेणीक्र में उच्च साबित करने का प्रयास करती है। श्रीनिवास भी उपनिवेशकाल में जातियों के अभिलेखीय करण में ऐसा अनुभव करते है।

खान पान तथा सामाजिक सहवास पर प्रतिबन्ध–

धूरिये जाति व्यवस्था में खान–पान तथा सामाजिक सहवास के सम्बन्धी प्रतिबन्धो का सूक्ष्मता से अध्ययन करते है और उनका मानना है कि भारत में इस सम्बन्ध में अत्यधिक भिन्नता प्रकट होती है। इस प्रकार के निषेधों को मोटे तौर पर भारत में दो प्रारूपों में विभाजित किया जा सकता है। पहले प्रारूप में जातियों को 5 समूहों में विभाजित किया जा सकता है; पहले, द्विजजातियाँ; दूसरे, वे जातियाँ जिनके हाथ का पक्का खाना द्विज जातियाँ ग्रहण कर सकती है; सकती, वे जातियाँ जिनके हाथ का भोजन द्विज जातियाँ भोजन ग्रहण नहीं कर सकती किन्तु जल ग्रहण कर सकती है; चौथी, वे जातियाँ जो अस्पृश्य नही है परन्तु द्विज जातियाँ उनके हाथ का भोजन तथा जल ग्रहण नही करती है; पांचवाँ समूह, उन जातियों का है जो अस्पृश्य है।

भोजन को दो भागों में विभाति किया जाता है – ' 'कच्चा' तथा 'पक्का'। पक्का भोजन वह होता है जो घी में बनाया जाता है। 'कच्चा' भोजन सामान्य रूप से जातियाँ अपने अन्तर्विबाही समूहों के अन्तर्गत ही ग्रहण करती है।

निम्न जातियों का स्पर्श अपवित्र करने वाला माना जाता था। उत्तर तथा दक्षिण भारत में अनेक प्रकार के प्रतिबन्ध पाए जाते थे, जोकि विभिन्न जातियों के मिलने–जुलने पर प्रतिबन्ध लगाते थे और सामाजिक दूरी का निर्धारण करते थे।

बंगाल में जातियाँ दो मुख्य भोगों में विभाजित थी; (1) ब्राह्मण (2) शूद्र। शूद्र भी चार उपभागों में विभाजित थे। भोजन तथा जल सम्बन्धी प्रस्थितियों के आधार पर –

1. सत्–शूद्र, जिनमें कायस्थ तथा नबसाख
2. जलाचरनीय शूद्र, वे जातियाँ थी जो कि नबसाख समूह से सम्बन्ध रखती थी तथा उच्च जातियाँ इनके हाथ का जल ग्रहण करती थी।
3. जलाबयाबहारया शूद्रास वे जातियाँ जिनमे हाथ का ब्राह्मण जल ग्रहण नहीं करते थे।
4. अन्तिम समूह अस्पृश्य शूद्र जातियों का था, जिनका स्पर्ष मात्र ही अशुद्ध कर देता था।

बंगाल के पश्चिम भाग में कुछ ऐसे उदाहरण भी मिलते है जिनमें कुछ जातियाँ ब्राह्मणों के हाथ से भी कच्चा भोजन ग्रहण नहीं करती। पक्का भोजन अपनी जातियाँ, अपने से उच्च जातियों तथा हलवाईयों से भी ग्रहण कर सकती थी। निम्न जातियाँ सामान्य रूप से गाँव से बाहर निवास करती थी।

पूर्वी तथा दक्षिण बंगाल, गुजरात और पूरे दक्षिण भारत में भोजन सम्बन्धी विशिष्ट नियम मिलते है। सामान्य रूप से उन भागों में अपनी ही जाति के साथ भोजन सम्बन्धी सम्बन्ध पाए जाते है।

नागरिक तथा धार्मिक र्नियोग्यतायें तथा विशेषाधिकार –

किसी जाति या जाति समूह के लिए विशेषाधिकार तथार्नियोग्यतायें कम या धिक मात्रा में पूरे भारत में पायी जाती रही है। सामान्यतया दक्षिण भारत, मराठा प्रदेश, तेलगू और कन्नड़ क्षेत्रों में अपवित्र जातियों को गाँव के सीमान्त क्षेत्र में बसाया जाता था। मिलनाडु तथा केरल के क्षेत्रों में तीन प्रकार के अवास प्रतिमान पाए जाते थे। पहले भाग में ब्राह्मण रहते थे। दूसरे भाग में शूद्र तथा तीसरे भाग में पंचम् या अस्पृश्य रहते थे। पेशवाओं के समय में निम्न जातियों को पूना में दिन के 3 बजे से प्रातः 9 बजे तक पूना की सड़कों पर आने की अनुमति नही थी,? क्योंकि इस समय उनकी छाया लम्बी होती थी और अन्य जातियों को प्रदूषित कर सकती थी। सम्पूर्ण भारत में प्रदूषित जातियों को सार्वजनिक कुएँ से जल लेने की मनाही थी। महाराष्ट्र में अस्पृश्य जातियों को गले में एकहांडी थूकने के लिए टाँगनी पड़ती थी। इसी प्रकार सार्वजनिक विद्यालयों के द्वार निम्न जाति के विद्यार्थियों के लिए बन्द थे। मालाबार के पूर्वी तट पर 'एजवा' तथा 'सन्नर', जैसी जातियों को छाता लेकर चलने, तथा जूते पहनने तथा आभूषणों को पहनने की मनाही थी।

निर्बाध व्यवसाय चयन का अभाव –

जाति व्यवस्था के अन्तर्गत आनुवांशिक व्यवसायों को प्रश्रय प्रदान किया जाता था। कोई भी व्यक्ति अपने पैतृक पेशे को छोड़कर अन्य पेशे को नही अपना सकता था। विभिन्न जातियों का नामकरण भी उनके द्वारा किए ाजने वाले व्यवसायों के अनुरूप हुआ है। अखिल भारतीय स्तर पर धूरिये मानते है कि व्यसाय सम्बन्धी प्रतिबन्धों को तोड़ना आसान नही था। जातियाँ अपने सदस्यो को अन्य व्यवसाय अपनाने से रोकती थी तथा जाति पंचायतों द्वारा अपनी जाति के सदस्यों की व्यवसायिक गतिविधियों पर नियंत्रण रखा जाता था। कर्मकाण्डी व्यवस्था में ब्राह्मण पुरोहत के रूप में शीर्ष स्तर पर विराजमान थे। कर्मकाण्डों के अतिरिक्त धूरिये ब्राह्मणों के ऐसे व्यवसायों में संलग्न होने को रेखांकित करते है जो कि प्रदूषण रहित थे। कांकणस्थ तथा देशस्थ ब्राह्मण मराठा शासककान में प्रशासनिक पदों पर आसीन थे। प्रथम भारतीय स्वतन्त्रता संग्राम के पहले बंगाल की सेना में कान्यकुब्ज ब्राह्मण काफी मात्रा में विद्यमान थे। बंगाल के रार्ही ब्राह्मण मुस्लिम शासन काल में राजकीय सेवा में थे। अकबर के काल में भ ब्राह्मण व्यवसाय, कृषि तथा राजकीय सेवाओं में संलग्न थे। जो जातियाँ जजमानी व्यवस्था से जुड़ी थी उनके लिए अन्य व्यसायों को अपनाना दुष्कर था। जजमान व्यवस्था में इकाई परिवार होता है। परिवार और जाति पंचायतों के बन्धन को तोड़ पाना इतना सहज नहीं था इसीलिए सेवा प्रदान करने वाली जातियाँ अन्य पेशों को अपनाने के लिए स्वतन्त्र न थी।

कर्वे के अनुसार प्रत्येक जाति का सामान्यतया एक पैतृक या परम्परागत एक व्यवसाय होता है किन्तु यह आवश्यक नही कि पूरी जाति एक ही व्यवसाय करे। प्राचीन काल में जातिगत व्यवसायों की छूट प्रायः नहीं मिलती थी। उच्च जाति के

लोगों को कर्मकाण्डी प्रस्थिति के करण निम्न जाति के लोगों द्वारा किए जाने वाले व्यवसाय निषेध थे तथा निम्न जाति के लोगो को उच्च जातियों द्वारा कृत व्यवसाय करने की छूट नही थी। जातियों के व्यावसयिक पक्ष को समझने पर स्पष्ट होता है कि जिन व्यवसायों में विशेष कौशल की आवश्यकता होती थी। और उन्हे बहुत कम लोग कर पाते थे। कृषि स्वयं में एक विशिष्ट व्यवसाय है और कृषक जातियाँ अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए अन्य जातियों पर निर्भर रहती है। व्यावसायिक विशिष्टीकरण केवल उन्ही समसजों में पनप सकता है जिनकी अर्थव्यवस्था खाद्यान्न उत्पादन मे सीधे तौर पर न लगे रहने वाले श्रमिकों के भरण–पोषण को सम्भव बनाती है। ग्रामीण समाजों में व्यवसायों का अत्यधिक विशिष्टीकरण भारत में ही दिखायी देता है जहाँ किसान, मछुआरे, पशुपालक आदि के साथ भू–स्वामी, व्यापारी, दस्तकार तथा विभिन्न सेवा कर्मी आदि प्रकार के विशिष्ट व्यवसायक पाए जाते है।

विवाह सम्बन्धी प्रतिबन्ध –

घुरिये का मानना है कि कठोर अन्तर्विवाही नियम जाति–व्यवस्था का सबल जंअग है। बेन्स को सन्दर्भित करते हुए घुरिये मानते हैं कि 'जाति–अन्तर्विवाह जाति व्यवस्था का सार है।' महाराष्ट्र का उदाहरण देते हुए घुरिये बताते है कि कोंकणस्थ ब्राह्मण का विवाह कोंकणस्थ परिवार की ही कन्या के साथ हो सकता है। और इस नियम का उल्लंघन करने पर समूह से बाहर किया जा सकता है। इस प्रकार महाराष्ट्र में उपजातियों के स्तर पर विवाह सम्बन्ध स्थापित होते है। महाराष्ट्र की तुलना में गुजरात में विवाह सम्बन्धों की परिधि महाराष्ट्र के उपजाति के स्तर से भी अधिक संकुचित होती है। उदाहरण के लिए व्यावसायिक जातियों में विभाजन श्रीमाली तथा पोरवाल आदि में होता है। इनका पुनः विभाजन होता है जैसे दसापोरवाल और बीसापोरवाल। दसापोरवाल का भी विभाजन पुनः सूरत के रसा तथा मुम्बई के दसा में होता है, जो कि अन्तर्विवाही समूह है।

घुरिये मानते हैं कि अन्तर्विवाह जो कि जाति का सबसे महत्वपूर्ण तत्व है, के कारण तथाकर्थित उपजातियाँ ही जाति की ही भाँति कार्य करती है। उपजातियों के जाति के रूप में स्थित होने के पीछे घुरिये स्थानीयता के भाव को महत्वपूर्ण मानते है।

कर्वे (1975) के अनुसार किसी भी जाति का क्षेत्रीय प्रसार समान्यतया एक भाषा क्षेत्र तक ही सीमित रहता है। लेकिन कभी कभी सीमावर्ती प्रदशों में रहने वाले द्विभाषी समूहों में जाति सम्बन्ध भाषा क्षेत्र को पार कर जाते है। अन्तर्विवाही विशेषता के कारण ही कर्वे जाति को एक 'विस्तारित स्वजन समूह' करती है। जाति के सदस्य वास्तविक या सम्भाविक, प्रत्यक्ष–अप्रत्यक्ष, रक्त या विवाह आधार पर बनने वाले सम्बन्धों से आपस में जुड़े रहते है।

कर्वे का मानना हैकि सामान्यतया व्यवसायों के नाम से ही गांवों में जातियों के नाम होते है जैसे लोहार, सुनार, सुथार तथा बुनकर आदि। परन्तु अन्तर्विवाही समूह के रूप में एक ही जाति नाम वाली कई अन्तर्विवाही इकाईयाँ होती है। प्रत्येक जाति का अपना एक निश्चित क्षेत्र होता है। जिसके अन्तर्गत जाति के सदस्यों के बीच आपसी स्वजन सम्बन्ध एवं विवाह सम्बन्ध प्रचलित होते है। व्यवसाय तथा पद निर्धारण में जातियाँ, जाति एक कोशिका–वत संरचना होती है। एक कोशिका की भाँति जाति अपने अधिकांश क्रिया–कलापो को अपनी जाति तक ही सीमित रखती है।

वर्ण और जाति में भेद –

वर्ण का उद्‌भव व आधार पौरणिक ग्रन्थ है, जो प्राचीन समाज से सम्बन्धित है। जबकि जाति–व्यवस्था सामाजिक जटिलता के साथ ह अस्तित्व में आयी। जो आधुनिक समाज का प्रतिनिधित्व करती है।

वर्ण–व्यवस्था के अन्तर्गत समाज केवल चार वर्णो यथा– ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र में विभाजित था किन्तु जाति–व्यवस्था के अन्तर्गत समाज अनेक जातियों व उपजातियों में विभाजित है।

वर्ण–व्यवस्था कर्म व गुण पर आधारित थी जबकि जाति–व्यवस्था जन्म पर आधारित है।

वर्ण व्यवस्था में व्यवसाय का चुनाव इच्छानुसार होता था जबकि जाति–व्यवस्था में व्यवसाय का चयन वंशानुगत है।

वर्ण–व्यवस्था में गतिशीलता विद्यमान थी जबकि जाति एक बन्द वर्ग है।

वर्ण–व्यवस्था के अन्तर्गत विवाह, सम्बन्धी प्रतिबन्ध अपेक्षाकृत लचीले थे, जबकि जाति व्यवस्था अन्तर्विवाही व कठोर है।

वर्ण–व्यवस्था श्रम–विभाजन पर आधारित है जबकि जाति–व्यवस्था श्रेणीक्रम में।

जाति और वर्ग में भेद –

स्वरूप के आधार पर – जाति बन्द वर्ग है जबकि वर्ग एक खुली जाति है।

व्यवसाय के आधार पर – जाति व्यवस्था में हर जाति का अपना कोई निश्चित जातिगत व्यवसाय होता है जबकि वर्ग व्यवस्था में कोई निश्चित व्यवसाय का प्रावधान नही।

विवाह नियमों के आधार पर – जाति व्यवस्था में अंतर्विवाह के नियमों का पालन होता है, जबकि वर्ग में विवाह सम्बन्धी कोई प्रतिबन्ध नहीं पाया जाता है।

सदस्यता के आधार पर – जाति जन्म आधारित है अतः इसकी सदस्यता प्रदत्त है, जबकि वर्ग गुण, कर्म व आर्थिक आधार पर निर्भर है अतः इसकी सदस्यता अर्जित है।

संस्तरण के आधार पर – जाति में संस्तरण निश्चित व कठोर है, जो संस्थागत है, जबकि वर्ग में संस्तरण में लचीलापन हैं

प्रचलन के आधार पर – जाति व्यवस्था मुख्यतः भारत में ही पायी जाती है जबकि वर्ग वर्ग–व्यवस्था सार्वभौमिक है।

नियमों के आधार पर – जाति नियमों का उल्लंघन करने में जाति – बहिष्करण का प्रावधान है, जबकि वर्ग में क्षैतिज व लम्बवत् गतिशीलता के कारण ऐसी कोई बाध्यता नहीं है।

संख्या के आधार पर – जाति की संख्या संख्या कई हजार है, जबकि वर्ग सीमित संख्या में पाए जाते है जैसे – उच्च वर्ग, निम्न वर्ग और मध्यम वर्ग।

संरचना के आधार पर –जाति की संरचना धर्म द्वारा निर्मित है, जबकि वर्ग इससे भिन्न ठोस यर्थाथ वास्तविकता द्वारा निर्मित आर्थिक संरचना है।

जाति आपसी सामन्जस्य, पारस्परिक सहयोग व सामुदायिक भावना इत्यादि से युक्त सावयवी प्रकृति की है जबकि वर्ग प्रतिस्पर्द्धा तथा वैयक्तिवादिता से युक्त खण्डात्मक प्रकृति का है।

जजमानी व्यवस्था

जजमानी व्यवस्था कासम्अबन्ध परम्परागत है। जजमान व्यवस्था का सर्वप्रथम अध्ययन इटावा के करीमपुर में विलियम वाइजर ने 1936 में किया था। 'द हिन्दू जजमानी सिस्टम' में वाइजर मानते है कि आर्थिक तथा सामाजिक प्रकार्यो की पूर्ति करने वाली ये व्यवस्था भारतीय ग्राम समू को आत्मनिर्भर स्वरूप प्रदान करती है। किसी भी आर्थिक व्यवस्था में इकाई व्यक्ति होते है जबकि जजमानी व्यवस्था में इकाई परिवार होता है। इस व्यवस्था के अन्तर्गत दस्तकारी सेवाओं के बदले कृषि उत्पादों का वितरण होता है। उदाहरण के लिए पुरोहित, नाई, धोबी, लोहार, बढई, कुम्हार इत्यादि समय समय पर अपनी सेवाए प्रदान करते है। तथा फसल कटने पर इनको अपना भाग मिलता है। सेवा प्राप्त करने वालो को जजमान कहा जाता है तथा सेवा प्रदान करने वाली जातियों को कमीन कहा जाता है। जाति व्यवस्था में सर्वोच्च स्थान पर आसीनब्राह्मण भी जजमानों को अपनी सेवाए प्रदान करते है। धार्मिक अनुष्ठानों, विभिन्न संस्कारों के सम्पादन में सेवा प्रदान करने वाली जातियों की महत्वपूर्ण भूमिका होती है। दुर्घटना, आपदा, झगड़ों न्यायिक विवादों में जजमान अपने कमीन की सहायता करते है। जजमानी व्यवस्था सामाजिक बीमे तथाव्यावसायिक सुरक्षा का कार्य करती है। विभिन्न विद्वानों भारत के विभिन्न क्षेत्रों रामपुर (लेविस), उत्तर प्रदेश (गुल्ड, मजूमदार), मैसूर (श्रीनिवास), तंजौर (गफ), शमीरपेट (दुबे) द्वारा किए गए अध्ययन जजमानी व्यवस्था अखिल भारतीय स्वरूप को प्रकट करते है। तथा कुछ स्थानीय विशेषताओं पर भी प्रकाश डालते है।

वाइजर मानते है कि जजमानी व्यवस्था के कारण ग्रामीण क्षेत्रों को व्यवसायिक प्रतिस्पर्द्धा से मुक्ति मिलतीहै तथा आर्थिक सुरक्षा प्राप्त होती है। पीढ़ी दर पीढ़ी सेवाओं के आदान प्रदान के कारण विभिन्न जातियों के मध्य शान्तिप्रद अन्तर्जातीय सम्बन्ध पाए जाते है।

कुछ विद्वान मानते है कि जजमानी व्यवस्था एक शोषण की व्यवस्था है जिसमें शक्तिशाली तथा साधन सम्पन्न जजमानों तथा निर्धन भूमिहीनों के मध्य शक्ति के असन्तुलन के कारण शोषण होता है।

जजमानी व्यवस्था, अन्य संस्थाओं यथा जाति व्यवस्था, धर्म प्रणाली, भू स्वामितत्व, नातेदारी तथा गाँव की राजनैतिक संरचना से सम्बन्ध है। इन सब संस्थाओं में परिवर्तन के कारण जजमानी व्यवस्था कमजोर हो रही है। मौद्रिक प्रणाली, औद्योगिकरण, शिक्षा के विस्तर, नगरीकरण जाति पंचायतों की शक्तियों में कमी के कारण जजमानी व्यवस्था पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ा है। योगेन्द्र सिंह 'भारतीय परम्पराओं का अधुनिकरण का मानना है कि आर्थिक संस्थाओं, शक्ति संरचना तथा अन्तर्जातीय सम्बन्धों के आयाम में बदलाव आ रहा है। भू–सुधारों के परिणाम ने भी जजमानी व्यवस्था को प्रभावित किया है। हरित क्रान्ति के कारण बिहार तथा उत्तर प्रदेश जैसे राज्यों से पंजाब, हरियाणा, महाराष्ट्र जैसे राज्यों में भूमिहीन श्रमिकों के प्रवास ने जजमानी व्यवस्था को प्रभावित किया है।

जाति पंचायत –

जातियों के कतिपय व्यवहार विधान होते है, जिनमें अधिकांशतः जाति के सम्मानित बुजुर्ग व्यक्तियों द्वारा बनी जाति पंचाय द्वारा लागू किए जाते हैं। प्रायः उपजाति के

स्तर पर जाति पंचायते निर्मित होती है। जाति सदस्यों के कल्याणार्थ प्रत्येक क्रिया कलापों से ले उन्हें नियंत्रित करने का दायित्व भी जाति पंचायत के अधिकार एवं कर्तव्यों के अन्तर्गत आते है। भिन्न–भिन्न प्रदेशों में इसे भिन्न नामों से पुकारा जाता है। इन अन्तग्राम जाति पंचायतों को पूर्वी तथा मध्य यू0पी0 में बिरादरी,तो मध्य प्रदेश में कुड़रिया, राजस्थान में चोखला तथा मुज्जफरनगर के जाटों में 'खांप, या 'सर्वखांप' के नाम से जाना जाता है। धुर्ये के अनुसार जाति पंचायत दूसरी निषेधित जाति व उपजाति में भोजन, यौन–विवाद, वैवाहिक सम्बन्धी मामलों का फैसला सुनाती थी और जाति निकाला, आर्थिक दण्ड, भोज देने का आदेश जैसे दण्ड देती थी।

बी0आर0 चौहान (1994:103) के अनुसार उच्च जातियों में अपेक्षाकृत कम अपराध या विवाद होने के कारण जाति पंचायतों नहीं होती थी क्योंकि उच्च जातियाँ नियमों का कठोरता से पालन करती थी। धुरिये तथा हट्टन के निष्कर्षो तथा उत्तर–प्रदेश तथा राजस्थान के अध्ययनों से यह तथ्य स्पष्ट हुआ है।

बी0आर चौहान मैसूर के अलवर का उदाहरण देते हुए यह स्पष्ट करते है कि ये जाति पंचायतें जागीरदारी द्वज्ञरा सम्पोषित व सम्बन्धित थी। मद्रास में एक केव में 'प्रिवी कौसिल' ने यह निर्णय लिया कि परम्परा तथा प्रथा को लिखित कानून की तुलना में अधिक शक्तिशाली माना जाए। सम्भवतः इस निर्णय ने जाति पंचायतों के संविधान को और अधिक शक्तिशाली बनाने में अहम भूमिका निभाई।

बलन्ट, स्लीमैन तथा हट्टन जाति–पंचायत के स्वरूप पर प्रकाश डालते हुए इस निष्कर्ष पर पहुँचते है कि सामाजिक मानदण्ड में जाति का स्थान जितना छोटा था उसका संगठन उतना ही सुदृढ़ होता था। मुकदमे के लिए अपनाया गया तरीका भी सहज, सरल व अनौपचारिक होता था।

कपाड़ियाँ 1861, 1912 तथा 1961 के उदाहरण देते हुए स्पष्ट करते है कि किस प्रकार जाति पंचायते कानून से उच्च स्थान पर विराजमान थी। इसे और स्पष्ट करते हुए वे एक सिविल जज की सपत्नीक आत्महत्या का उदाहरण देते है, जिसने जाति पंचायत द्वारा अपमानित होने पर 'आत्महत्या' जेसे जघन्य अपराध को अंजाम दिया। जाति पंचायते न केवल व्यक्ति, समूह या जाति के नियंत्रण का कार्य करती थी वरन् व्यापारिक संघों के रूप में भी क्रियाशील रहीं है। अपन जाति के हितों को सदैव संज्ञान में रखे हुए जाति पंचायतों ने अपनी जाति के सामाजिक स्तर को उच्चता प्रदान करवाने में भी अथक परिश्रम किया है और संस्तरण को चुनौती देने में सफल भी हुई है।

समाजशास्त्री इन दो विरोधी तथ्यों के सामंजस्य को जानने में भी दिलचस्पी रखते है कि पारस्परिक सहयोग पर आधारित जाति प्रधान समाज कैसे आर्थिक, शैक्षणिक व राजनैतिक क्षेत्रों में प्रतिस्पर्घात्मक हो जाते है। तो इस जिज्ञासा को शान्त करने हेतु श्रीनिवास अपने विचार प्रस्तुत करते हुए कहते है कि इन प्रतिस्पर्धात्मक प्रवृत्तियों के कारण जाति की भापनाएँ उसी प्रकार एक जुट हो सुदृढ़ हो जाति है जैसे युद्ध के समय अपने देश की सेनायें।

संस्कृतिकरण एवं पश्चिमीकरण

संस्कृतिकरण तथा पश्चिमीकरण की अवधारणा से जाति व्यवस्था में गतिशीलता प्रसिद्ध समाजशास्त्री एम.एन.श्रीनिवास द्वारा बताई गई है। 1952 में दक्षिण भारत के कुर्ग समुदाय के अध्ययन में श्रीनिवास द्वारा संस्कृतिकरण के सम्बोध का प्रयोग किया गया है। इस अवधारणा द्वारा श्रीनिवास ने यह बतलाने का प्रयत्न किया है

कि जाति व्यवस्था में भी गतिशीलता सम्भव रही है। श्रीनिवास (1992) अपनी पुस्तक 'रिलिजन एण्ड सोसाइटी एर्मग द कुर्गस आफ साउथ इण्डिया' का सन्दर्भ देते है –

"जाति प्रथा उस कठोर प्रणाली से काफी दूर है जिसमें हर घटक जाति की स्थिति हमेशा के लिए निश्चित कर दी जाती है। परिवर्तन हमेशा हुए हैं और विशेष रूप से सोपानक्रमिक व्यवस्था के मध्य भागों में। एक नीच जाति एक यादो पीढ़ियों में शाकाहरवादी बनकर मद्य त्याग कर तथा अपने कर्मकांड और देवकुल का संस्कृतिकरण कर ऊँची चढ़ जाती है। संक्षिप्त में कहें तो यह अधिकत्तर होता था कि नीची जातियाँ ब्राह्मणों के रीति–रिवाज, विश्वास और उनके तौर–तरीके जितना सम्भव होता अपना लेती थी। नीची जातियों द्वारा ब्राह्मणों जीवन प्रणाली अपनाया जाना प्रायः होता था यद्यपि सैद्धान्तिक रूप से यह वर्जित था। इस पुस्तक में यह प्रक्रिया 'संस्कृतिकरण' कही गयी है जो 'ब्राह्मणीकरण' की अपेक्षा उपयुक्त शब्द है कयोंकि कतिपय वैदिक कृत्य मात्र ब्राह्मणों तथा अन्य द्विज जातियों तक ही सीमित रहे हैं।"

श्रीनिवास ब्राह्मणीकरण के स्थान पर संस्कृतिकरण शब्द का प्रयोग करते है क्योंकि उनका मानना है कि संस्कृतिकरण के अभिकर्ता सदैव ब्राह्मण ही नहीं रहे है। निम्न जातियाँ उच्च जातियो के सांस्कृतिक प्रतिमानों का अनुसरण करतीहै। अनेक मामलों में ये उच्च जातियाँ गैर ब्राह्मण भी होती है।देश के विभिन्न क्षेत्रों में क्षत्रिय वैश्य, जाट आदि जातियाँ संस्कृतिकरण का आदर्श है। एम0एन0 श्रीनिवास भी मानते है कि प्रभु जातियों के आचार, प्रथाओं तथा रीति रिवाजों का अनुसरण निम्न जायिाँ करती है। एम0एन0श्रीनिवास समयसमय पर अपनी संस्कृतिकरण की परिभाषा को पुनः परिभाषित भी यिका है। 'आधुनिक भारत में सामाजिक परिवर्तन' नामक पुस्तक में श्रीनिवास मानते है कि संस्कृतिकरण ऐसी प्रक्रिया है जिसमें निम्न हिन्दू जाति या जनजाति व अन्य समूह प्रायः द्विज जाति के अनुरूप अपनी प्रथाओं रीति–रिवाजों, प्रथाओं और जीवन शैली को प्रायः परिवर्तित करते है। योगेन्द्र सिंह (2006) के अनुसार श्रीनिवास का संस्कृतिकरण से अभिप्राय न केवल नई प्रथाओं या आदतों को अपनाना है बल्कि उन नए विचारों मूल्यों से परिचित होना भी है जो पवित्र के साथ–साथ विशाल लौकिक संस्कृत साहित्य में है। कर्म, धर्म, पाप, माया, संसार, मोक्ष जैसे विषयों को संस्कृतिकरण के माध्यम से अंगीकृत किया जाता है।

योगेन्द्र सिंह के अनुसार विचारधारात्मक अनुकरणात्मक प्रक्रिया के रूप में संस्कृति के पवित्र व लौकिक दोनो पक्षों को उच्च जाति के प्रस्थिति प्रतीको का अनुकरण निम्न जातियों द्वारा किया जाता है। उदाहरण के लिए उत्तर पश्चिम उत्तर प्रदेश की निम्न जातियों द्वारा उच्च जातियों के कर्मकाण्डों तथा पवित्र प्रथाओं के अनुकरण के साथ–साथ रहन–सहन तथा जीवन शैली का भी अनुकरण किया जाता है। श्रीनिवास संस्कृतिकरण की अवधारणा को शक्ति तथा प्रभुत्व सेभी जोड़ते है। श्रीनिवास के अनुसार स्थानीय प्रभु जाति के द्वारा संस्कृतिकरण के विभिन्न प्रारूपो की मध्यस्थता सांस्कृतिक हस्तांतरण की प्रक्रिया में प्रभु जाति की महत्ता पर बल देगी। संस्कृतिककरण के ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य पप्रारूप की अवधारणा स्थानीय प्रभु जाति से सम्बद्ध होती है। श्रीनिवास के अनुसार राजनैतिक अस्थिरता के कारण भूतकाल में अनेक प्रभुजातियाँ राजनैतिक सोपानक्रम में उच्च स्थान पा गई थी। योगेन्द्र सिंह मानते है कि जाति पैसी बन्द व्यवस्था में सांस्कृतिक तथा सामाजिक गतिशीलता की प्रक्रियासंस्कृतिकरण है, जो कि सामाजिक परिवर्तन का अन्तःजनित स्रोत है। उच्च प्रस्थिति प्राप्त करने हेतु उच्च समूह की संस्कृति की ओर पूर्वाभासी समाजीकरण कस संस्कृतिकरण की व्याख्या करते है –

(1) ऐतिहासिक विशिष्ट।

(2) सन्दर्भ विशिष्ट

'ऐतिहासिक विशिष्ट' अर्थ में संस्कृतिकरण का तात्पर्य भारतीय इतिहास क विभिन्न कालों में विभिन्न जातियों की प्रस्थिति तथा सांस्कृतिक प्रतिमानों में हुए परिवर्तनों से है। तथा 'सन्दर्भ विशिष्ट' का तात्पर्य संस्कृतिकरण की प्रक्रिया द्वारा भारत के विभिन्न भागों में निम्न जातियों तथा उपजातियों द्वारा उच्च्व जातियों के सांस्कृतिक अनुकरण की प्रक्रिया से है।

पश्चिमीकरण की अवधारणा उन परिवर्तना से अवगत कराती है जो पश्चिमी विशेषकर इंगलैण्ड के सांस्कृतिक सम्पर्क का परिणाम है। श्रीनिवास पश्चिमीकरण शब्द का प्रयोग भारतीय समाज और संस्कृति में उन परिवर्तनों के लिए करते है। जो 150 वर्षो से अधिक विदेशी राज से उत्पन्न हुए। यह परिवर्तन प्रौद्योगिक, संस्थाओं, विचारो, मूल्यों आदि विभिन्न स्तरों पर होने वाले परिवर्तन है। योगेन्द्र सिंह मानवतावाद तथा तार्किकतावाद को पश्चिमीकरण का महत्वपूर्ण तथ्य मानते है, जिसके कारण भारत में संस्थात्मक तथा सामाजिक सुधार श्रंखलाबद्ध तरीके से हुए। नई राजनैतिक संस्कृति, राष्ट्रवाद का उदय, वैज्ञानिक तथा शैक्षिक संस्थाओं की स्थापना, पश्चिमीकरण का उप–उत्पाद है। श्रीनिवास पख्श्चिमीकरण तथा संस्कृतिकरण को सहगामी प्रक्रिया मानते है। एक सीमता तक श्रीनिवास पश्चिमीकरण को संस्कृतिकरण को पोषित करने वाली प्रक्रिया भी मानते है भारत में जन–संचार, यातायात जो कि पश्चिम के प्रभाव से सुदृढ़ हुए के कारण धार्मिक तथा जातिगत संगठनों को सुविधाएँ प्राप्त हुई।

के0 एल शर्मा (2006) का मानना है कि श्रीनिवास ने पश्चिमीकरण की चर्चा तीन स्तरो पर की है – प्राथमिक, द्वितीयक तथा तृतीयक। प्राथमिक स्तर से अभिप्राय उन लोगो से है, जो ब्रिटिश शासको से प्रत्यक्ष सम्पर्क में आए। द्वितीयक स्तर उन लोगो से सम्बन्धित है, जो प्राथमिक स्तर के लोगों से प्रत्यक्षतः लाभान्वित हुए तथा पश्चिमीकरण की प्रक्रिया का अन्तिम और तृतीयक स्तर उन लोगो को परिभाषित करता है, जो पश्चिमीकरण की प्रक्रिया से अप्रत्यक्ष रूप से लाभान्वित हुए। श्रीनिवास (1992) का मानना है कि "विगत 150 वर्षो में हिन्दू जीवन में सामान्य धर्म–निरपेक्षीकरण बढ़ा है। ब्राह्मण जिनका जीवन कर्म काण्डमय था, वे इससे विशेष रूप से प्रभावित हुए है। हिन्दुओं में किसी जाति का जीवन इतना कर्मकांडी नही होता। वर्तमान हिन्दू जीवन की एक रोचक विसंगति यह है कि ब्राह्मण पाश्चात्यकरण की ओर उन्मुख है जबकि अन्य जातियाँ संस्कृतिकरण की ओर। जाति सोपानक्रम के निचले स्तर पर जातियाँ उन प्रथाओं को अपना रही हैं जिन्हें ब्राह्मण त्याग रहे हैं। जहाँ तक इन जातियों का सवाल है, ऐसा लगता है मानो संस्कृतिकरण पाश्चात्यकरण की पूर्व अनिवार्य भूमिका है।"

श्रीनिवास का मानना है कि भारत में संस्कृतिकरण तथा पाश्चात्यकरण के कारण जो समाज में परिवर्तन आ रहे है उसका जाति व्यवस्था पर प्रभाव का अध्ययन किया जाना जरूरी है। संस्कृतिकरण एवं पश्चिमीकरण जैसी एक साथ चलने वाली प्रक्रियाएँ योगेन्द्र सिंह के अनुसार आनुभाविक अवलोकनों पर आधारित है तथा सांस्कृतिक परिवर्तन के कुछ पक्षों पर वस्तुपरक अन्तर्दृष्टि प्रदान करते है। तथापि योगेन्द्र सिंह के अनुसार संस्कृतिकरण भारत में अतीत तथा समकालीन समाज में होने वाले सांस्कृतिक परिवर्तनों के अनेक पक्षो को स्पष्ट नही करती है कयोंकि संस्कृतिकरण में गैर–संस्कृति या स्थानीय परम्पराओं की उपेक्षा हुई है। पश्चिमीकरण को भी योगेन्द्र सिंह जटिलताओं से मुक्त नही मानते उनका मानना

है कि श्रीनिवास पश्चिमीकरण को भारत में अंग्रेजी प्रभाव के बराबर मानते है, जो एक संकीर्ण अवधारणा है। स्वतन्त्रोत्तर भारत में आधुनिकीकरण रूसी तथा अमरीकी रूपों का प्रभाव भी पर्याप्त प्रभाव पड़ा है।

जाति और राजनीति –

19वीं शताब्दी के उत्तरार्द्व में ही जातिगत समुदायों का झुकाव राजनीति की ओर हो गया था। जातिहितो के संरक्षणार्थ जातीय संघो ने प्रस्ताव पारित किए और श्खासन को प्रभावित करना प्रारम्भ किया। गणतन्त्र में प्रथम आम चुनाव में शमीरपेठ में जाति की भूमिका को एस.सी. दूबे ने भारतीय ग्राम में रेखांकित किया। गणतन्त्र के विकास के 66 वर्षो ने विद्वानो को पर्याप्त अवसर दिया है कि वे जाति और राजनीति के जटिल सम्बन्धो को उद्घाटित कर सके।

भारत में राजनैतिक आधुनिकीकरण की प्रक्रिया अर्थात जनतान्त्रिक राजनैतिक प्रणाली के प्रारम्भ होने के पश्चात सामान्य रूप से यह धारणा विकसित हुई कि पाश्चात्य और जनतान्त्रिक मूल्यों को अपनाने के कारण भारतीय राजनैतिक व्यवस्था में जाति का महत्व घ्झट जाएगा।

रूडॉल्फ एवं रूडॉल्फ (1969) के अनुसर परम्परावादी व्यवस्था आधुनिक मूल्यों के अनुरूप परिवर्तित हो रही है और इसे उन्होने परम्पराओं की आधुनिकता का नाम दिया है।

श्रीनिवास (1992) के अनुसार जातीवाद की शक्ति एवं कार्यकलाप उसी दर से बढ़े जिस अनुपात से शासन से जनता को धीरे–धीरे बढ़ते हुए राजनैतिक अधिकार मिलते गए। अधिकारों का हस्तान्तरण अंग्रजो के काल में प्रारम्भ हुआ। भारतीय गणतन्त्र के संविधान में पूरा हो गया। जिसक अन्तर्गत प्रत्येक पांच वर्षो में मत देने का अधिकार प्रत्येक वयस्क को प्राप्त हुआ।

देसाई (1967) का मानना है कि जाति राजनैतिक शक्ति, संसाधन और सत्ता हासिल करने में अहम भूमिका निभाती है। यद्यपि भारत में संसदीय लोकतान्त्रिक व्यवस्था है, परन्तु जाति इसका अभिन्न अंग बनी है। जाति राजनैतिक दलो, सरकार और प्रशासन को भी काफी हद तक प्रभावित कर रही है।

श्रीनिवास (1992) का मानना है कि स्वतन्त्र भारत में विभिन्न जातियों के मध्य प्रतिस्पर्धा का होना सामान्य बात है। लोगो को राजनैतिक अधिकार मिलने के कारण विभिन्न जातियाँ दबाव समूहों की भाँति कार्य कर रही है। इन जातियों का लक्ष्य राजनैतिक शक्ति प्राप्त करना है।

कोठारी (1970) का मानना है कि राजनैतिक और वैकासिक संस्थाए शून्य में विकसित नही होती है। इनके आधार या तो विद्यमान सामाजिक व्यवस्था में होते है या इनके अनुरूप नए प्रतिमान विकसित होते है। राजनीति एक प्रतियोगात्मक कार्य है। राजनेता सामाजिक ढाँचे को इस चातुर्य के साथ प्रयोग करता है कि समाज के विभिन्न समुच्चयों के सहयोग से राजनैतिक शक्ति को सुनियोजित कर सके।

भारतीय संगठनात्मक ढाँचे में जाति एक ऐसी संरचनात्मक ईकाई है जिसमें व्यक्ति अपनी इच्छा से रहना चाहता है। इसीलिए राजनेता जातीय निष्ठा कीअपेक्षा रखते है। आज भारत में निर्वाचक मण्डल जातिगत आधारो पर विभाजित है। जैसे तमिलनाडु में ब्राह्मण बनाम गैर ब्राह्मण, आन्ध्र में कम्मा बनाम रेड्डी, गुजरात में बनिया बनाम पाटीदार, राजस्थान में जाट बनाम राजपूत, केरल में एजवा बनाम नायर, तथा उत्तर प्रदेश में सवर्ण बनाम पिछड़े के रूप में।

सईढ (1992) के अनुसार भारत में जाति और राजनीति के मध्य अन्तः क्रिया के चार स्वरूप विकसित हुए। पहला तमिलनाडु में ब्राह्मण विरोधी सिका शिखर डी0एम0के0 के उद्भव में दिखायी पड़ता है। दूसरा महाराष्ट्र में ब्राह्मण बनाम मराठा जिसने 1960 में महाराष्ट्र के निर्माण से पूर्णता प्राप्त की। तीसरा भिन्न स्वरूप जो गुजरात, आन्ध्र और कर्नाटक में देखने को मिलता है। जहाँ लगभग दो समान जातियों के मध्य प्रतिस्पर्द्धा पायी जाती है। चौथा स्वरूप बिहार, राजस्थान तथा उत्तर प्रदेश में देखने को मिलता है।

रूडॉल्फ एवं रूडॉल्फ (1969) के अनुसार जाति के परवर्तित रूप ने भ्ज्ञारतीय जनता जिसका अधिकांश भाग गाँव में निवास करता है, में जनतन्त्र को सफल बनाने में सहायता की है। रूडॉल्फ तीन प्रकार के राजनैतिक सक्रियकरण के माध्यम से भारत में राजनैतिक विकास को व्याख्यायित करते है। अनुलम्ब सक्रियकरण, क्षैतिज सक्रियकरण तथा विभदेात्मक सक्रियकरण के माध्यम से रूडॉल्फ जाति और राजनीति के मध्य सम्बन्ध विवेचित करते है। अनुलम्ब सक्रियकरण में राजनैतिक समर्थन पूर्व शक्ति धारको सामन्तो तथा जातीय अभिजनों के माध्यम से र्जित किया जाता है। क्षैतिज सक्रिय करण में वर्ग या सामुदायिक नेताओं और संगठनो द्वारा राजनैतिक समर्थन प्राप्त किया जाता है। विभेदात्मक सक्रियकरण की प्रक्रिया में जातियों के समान हितो, प्रतीको और प्रतिमानो को अभिव्यक्त करने वाली विभेदीकरण की प्रक्रिया के माध्यम से राजनैतिक समर्थन प्राप्त किया जाता है।

स्पष्ट है कि लोकतन्त्रीकरण के परिणामस्वरूप भारतीय सामाजिक व्यवस्था में जातिगत बन्धन ढीले पढ़ गए है परन्तु राजनैतिक प्रक्रिया के कारण जाति का महत्व बढ़ता जा रहा है। राजनीति ने जाति की चेतना को आम आदमी के मस्तिष्क में पुनर्स्थापित कर दिया है।

अनुसूचित जाति –

भारत के संविधान में नागरिकों के समूहों के वर्गीकरण के लिए कुछ शब्दावलियों का प्रयोग किया गया है जिनमें प्रमुख है –

1. नागरिकों के आर्थिक और शैक्षिक दृष्टि से पिछड़े वर्ग । (अनुच्छेद–15(4))
2. नागरिकों के पिछड़े वर्ग (अनुच्छेद–16(4))
3. समाज का कमजोर वर्ग (अनुच्छेद–46)
4. अन्य पिछड़े वर्ग (अनुच्छेद–338) (3)
5. सामाजिक और शैक्षिक रूप से पिछड़े वर्ग (अनुच्छेद–340)
6. अनुसूचित जातियाँ तथा अनुसूचित जनजातियाँ

बसु (1999) के अनुसार संविधान में अनुसूचित जातियों और अनुसूचित जनजातियों की कोई परिभाषा नहीं दी गई है किन्तु राष्ट्रपति को यह शक्ति प्रदान की गई है कि वह प्रत्येक राज्य के राज्यपाल से परामर्श करके एक सूची बनाए। संसद इस सूची का पूर्नरीक्षण कर सकती है। (अनुच्छेद–341–342)

अनुच्छेद–341, 1935 के भारत सरकार अधिनियम की धारा 26(1) को प्रतिबिंबित करता है। जिसमें उल्लेख है कि अनुसूचित जातियों से तात्पर्य उन जातियों, नस्ल या जनजातियो या उनके भाग या समूह से है जोकि महामहिम की परिषद में

व्यक्तियों के वर्गों के रूप में प्रस्तुत किए गए है जिन्हें पहले 'डिप्रेस्ड क्लोसेस' के रूप में जाना जाता था। चटर्जी : (1996:962) के अनुसार अनुसूचित जाति शब्द का प्रयोग सबसे पहले साइमन कमीशन ने किया था और 1935 के भारत सरकार अधिनियम में पहली, पांचवी तथा छठी अनुसूचित जाति का निर्माण उपनिवेश काल में ऐतिहासिक प्रक्रिया के दौरान हुआ। उनका मानना है कि 1857 के विद्रोह के पश्चात् अंग्रेजो ने भारत में 'बांटो और राज करो' की नीति प्रारम्भकी। 1909 के संविधान में यह स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर होता है। जिसमें लार्ड मिन्टो ने मुसलमानों के लिए पृथक निर्वाचन क्षेत्रों की व्यवस्था की भारतीयों द्वारा लोकप्रिय तथा प्रतिनिधिपूर्ण सरकार की मांग के प्रति उत्तर में अंग्रेजो ने भारतीयों को विभिन्न खण्डों में विभाजित करके, जनतांत्रिक अधिकार प्रदान करने शुरू किए। जहाँ एक ओर धार्मिक आधार पर भारतीय समाज को क्षैतिज रूप से बाँटा गया वहीं जातीय आधार पर हिन्दुओं का विभाजन किया गया और जनसंख्या के एक बड़े भाग को दलित वर्ग के रूप में मान्यता प्रदान की गई है। चटर्जी (1996:355) के अनुसार 1935 के संविधान द्वारा एक नई जाति का जन्म हुआ जोकि 'अनुसूचित जातियाँ' थी और जो हिन्दु जाति व्यवस्था का एक स्थायी लक्षण बन गयी। चटर्जी (1996) डिप्रेस क्लोसेस से अनुसूचित जातियों के बनने की प्रक्रिया को अत्यन्त महत्वपूर्ण मानते है। इनके अनुसार मुस्लिम लीग के निर्माण के साथ ही अंग्रेजो की साम्प्रदायिक राजनीति प्रभावी हो गई थी। और उन्होंने डिप्रेस क्लोसेस या दलित वर्गों को हिन्दू समाज की मुख्य धारा से अलग विवेचित करना प्रारम्भ कर दिया। 1911 से जनगणना के माध्यम से अंग्रजों ने विभिन्न जातियों को वर्गीकृत करके प्रस्तुत किया है। 1911 से 1935 तक विभिन्न जनगणनाओं, आयोगों तथा समितियों के माध्यम से दलित वर्गों को वर्गीकृत करने का प्रयास किया गया है। उनमें से कुछ प्रमुख है –

1. 1911 से 1920 तक

   1911 की जनगणना

   1917 की सरकारी सूची

   1917 की शार्प की सूची

   1919 की फ्रैन्चाइज समिति की रिपोर्ट

2. 1921 से 1930 तक

   1921 की जनगणना

   1928 की सरकारी सूची

   1929 की हार्टाग समिति की रिपोर्ट

   1930 की विधि आयोग की रिपोर्ट

3. 1930 के पश्चात

   1931 की जनगणना

   1932 की लौथियन समिति की रिपोर्ट

   1935 के भारत सरकार अधिनियम के आलोक में 1936 का अनुसूचित जाति का आदेश।

इन प्रतिवेदनों में दलित वर्गों को तथा अस्पृश्यों को पर्यायवाची माना गया है जबकि इनके द्वारा दी गई जातियों की सूची में विभिन्नता है।

वर्ष 2011 की जनगणना में भारत में 20.14 करोड़ व्यक्ति अनुसूचित जाति के रूप में प्रगवित थे। जिसमें 10.35 करोड़ पुरुष थे तथा 9.79 करोड़ महिलाए थी। भारत की जनगणना 2011 के अनुसार अनुसूचित जातियों कीसंख्या का 20.5 प्रतिशत उत्तर–प्रदेश में, 10.7 प्रतिशत पश्चिम बंगाल में, 8.2 प्रतिशत बिहार में, 7.2 प्रतिशत तमिलनाडु में, 6.2 प्रतिशत आन्ध्र प्रदेश में, 6.6 प्रतिशत महाराष्ट्र में , 6.1 प्रतशत राजस्थान में, 5.2 प्रतिशत मध्य प्रदेश में, 5.2 प्रतिशत कर्नाटक में, 4.4 प्रतिशत पंजाब में, 3.2 प्रतिशत उड़िसा में तथा 15 प्रतिशत अन्य राज्यों/केन्द्रशासित प्रदेशो में निवास करता था। अनुसूचित जातियों के इस वितरण को चित्र के रूप में निम्न प्रकार देखा जा सकता हैं

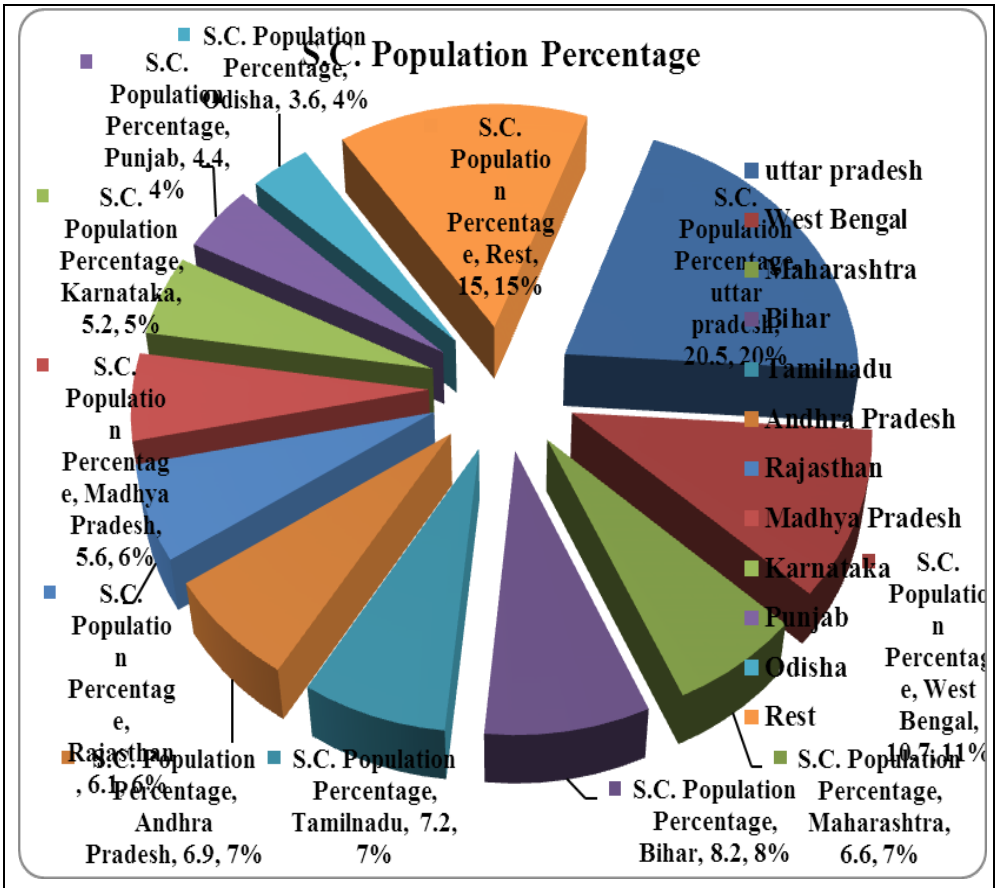

भारत के विभिन्न राज्यों में निवास करने वाली अनुसूचित जातियो की कुल जनसंख्या का प्रतिशत

(शोध भारत की जनगणना–2011)

भारत की जनगणना 2011 के अनुसार पंजाब की जनसंख्या का 31.9 प्रतिशत भाग अनुसूचित जातियों का है। इस प्रकार पंजाब राज्य की कुल जनसंख्या में अनुसूचित जातियों के प्रतिशत के आधार पर प्रथम स्थान पर है। पंजाब के पश्चात अनुसूचित जातियों की उच्च प्रतिशतता वाले राज्यों में हिमाचल प्रदेश, पश्चिम बंगाल, उत्तर प्रदेश तथा हरियाणा में क्रमशः राज्य की जनसंख्या का

25.2 प्रतिशत, 23.5 प्रतिशत, 20.7 प्रतिशत तथा 20.2 प्रतिशत भाग अनुसूचित जातियों का था। मिजोरम में राज्य की कुल जनसंख्या का मात्र 0.1 प्रतिशत भाग ही अनुसूचित जातियों का है। राज्य की जनसंख्या में आुसूचित जातियों के सबसे कम प्रतिशत वाले राज्यों में मिजोरम का प्रथम स्थान है। इसके पश्चात मेघालय, गोवा, दादरा नगर हवलेली तथा दम एवं दीव में राज्य की कुल जनसंख्या का 0.6 प्रतिशत, 1.7 प्रतिशत, 1.8 प्रतिशत तथा 2.5 प्रतिशत भाग अनुसूचित जातियों का है।

जाति व्यवस्था में परिवर्तन –

विभिन्न विद्वानों द्वारा किए गए अध्ययनों से स्पष्ट है कि भारतीय समाज में जाति व्यवस्था में परिवर्तन हुए है। सामाजिक गतिशीलता के साधन प्रवास, धर्म परिवर्तन तथा सांस्कृतिकरण रहे है। निम्न सोपान पर स्थित जातियाँ आर्थिक, राजनैतिक तथा शैक्षिक शक्ति प्राप्त करके सामाजिक अनुक्रम में ऊपर की ओर उठ रही है। समकालीन भारत में जनतान्त्रिक राजनैतिक प्रणाली, नगरीकरण, औद्योगिकरण आधुनिक शिक्षा, विकास कार्यक्रमों में कानूनी उपबन्धों तथा शासन की सकारात्मक विभेदीकरण की नीति के कारण जाति व्यवस्था में महत्वपूर्ण परिवर्तन हो रहे है।

जातियाँ व्यवसाय निर्धारित नही करती, परन्तु ग्रामीण क्षेत्रों में पेशागत परिवर्तनों की गति मन्द है। जजमानी व्यवस्था कमजोर हो गई है, परन्तु भू–स्वामी जातियाँ समान्यतया परिवेक्षी किसानों की तरह काम कर रही है। निम्न जातियों जिनमें अधिकतर सीमान्त किसान तथा भूमिहीन मजदूर है मुख्यतया दिहाड़ी मजदूर की तरह काम कर रहे है। पारम्परिक कुटीर उद्योगों के पतन के कारण शिल्पकार जातियाँ शहरो की ओर प्रवास कर भूमिहीन श्रमिकों की भांति काम कर रही है। नगरीय क्षेत्रों में शिक्षा तथा आर्थिक शक्ति हासिल कर सरकारी नीतियों का फायदा लेकर निम्न जातियाँ विभिन्न व्यवसायों में पर्दापण कर चुकी है।

ग्रामीण क्षेत्रों में अन्तर्जातिय विवाह प्रचलन में नही है तथा विवाह में जाति की भूमिका अभी भी महत्वपूर्ण है। खान–पान सम्बन्धी नियम अब अधिक मजबूत नहीं रह गए। अस्पृश्यता के बन्धन शिथिल हो गए है। पहनावा रहन–सहन तथा आवास जाति से ज्यादा आर्थिक स्थिति का परिचायक है। प्रवासी कामगारो द्वारा धन कमाकर गाँव मेंलाने से पारम्परिक सामाजिक संरचना में परिवर्तन आया है।

जाति अब न्याय प्रान करने वाली इकाईनही रह गई है। जाति पंचायतों की भूमिका में परिवर्तन आया है। जाति पंचायतों झगड़े सुलझाने सम्बन्धी पारम्परिक कृत्यों को सम्पादित करने के बजाय जाति संघों के रूप में राजनीति में दबाव समूह के रूप में काम करने लगी है। 73 वें संविधान संशोधन के पश्चात ग्रामीण भारत में जातियों की राजनीति में भूमिका को संजीवनी प्राप्त हो गई है। भारतीय ग्रामीण क्षेत्राों में जाति व्यवस्था में विलयन (अलग अलग जातियों का एक जुट होना) तथा राजनैतिक क्षेत्र में विखण्डन (जाति का छोटे–छोटे भागों में बंटना) दोनों ही प्रक्रियाएँ दृष्टिगोचर होती है।

16.5 सारांश

इस इकाई में सर्वप्रथम प्राचीन भारतीय संस्तरणात्मक व्यवस्था 'वर्ण' की ऐतिहासिक आधार पर विवेचना की गई है। वर्ण की उत्पत्ति सम्बन्धी सिद्धान्तों के साथ–साथ विभिन्न वर्णों के विषयक चर्चा भी इस इकाई में की गई है। जाति को

परिभाषित करते हुए जाति की विशेषताओं का विवेचन इस इकाई में प्रस्तुत किया गया है। जाति और वर्ण, जाति और वर्ग के मध्यांतर के अन्तर को विवेचित करते हुए जजमानी प्रथा तथा जाति पंचायत पर भी प्रकाश डाला गया है।

समसमायिक रूप से जाति की व्याख्या करते हुए जाति की गतिशीलता सम्बन्धी अवधारणाओं तथा जाति और राजनीति के सम्बन्ध को उजागर करने का प्रयास इस इकाई में किया गया है। भारत में अनुसूचित जातियों की विवेचना करने के साथ साथ जाति व्यवस्था में होने वाले परिवर्तनों को भी स्पष्ट किया है।

16.6 वस्तुनिष्ठबोध प्रश्न

1. निम्न में से किस व्यवस्था का सम्बन्ध विलियम वाइजर से है–

   क. वर्ण व्यवस्था ख. नातेदारी व्यवस्था

   ग. राजनैतिक व्यवस्था घ. जजमानी व्यवस्था

2. 'संस्कृतिकरण' की अवधारणा किसने दी –

   क. एम. एन श्रीनिवास ख. पी.एन. प्रभु

   ग. एस.सी. दूबे घ. बी.आर. चौहान

3. निम्न में से कौन वर्ण नहीं है –

   क. ब्राह्मण ख. क्षत्रिय

   ग. कायस्थ घ. शूद्र

4. भारत की जनगणना 2011 के अनुसार किस राज्य की जनसंख्या में अनुसूचित जाति की प्रतिशतता सर्वाधिक है –

   क. पंजाब ख. उत्तर प्रदेश

   ग. पश्चिम बंगाल घ. हरियाणा

16.7 वस्तुनिष्ठ बोध प्रश्नों के उत्तर

(1) घ

(2) क

(3) ग

(4) क

16.8 कुछ महत्वपूर्ण पुस्तकें

- आहूजा, राम, 1995. भारतीय सामाजिक व्यवस्था, रावत पब्लिकेशन्स, जयपुर।
- कर्वे, इरावती, 1975, हिन्दू समाज और जाति व्यवस्था, ओरिएण्ट लॉग्गमैन, नई दिल्ली।

- धूरिये, जी.एस. 1957, कास्ट एण्ड रेस इन इण्डिया, पॉपुलर प्रकाशन, बम्बई।
- देसाई, ए.आर, 1976. भारतीय राष्ट्रवाद की सामाजिक पृष्ठभूमि, मैकमिलन इण्डिया लिमिटेड, दिल्ली।
- दोषी, शम्भूलाल एवं जैन, प्रकाश चन्द्र, 2007. भारतीय सामाजिक व्यवस्था, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, जयपुर।
- नागला, बी.के. 2015. भारतीय समाजशास्त्रीय चिन्तन, रावत पब्लिकेशन्स, नई दिल्ली
- प्रभु, पी.एन, 1963. हिन्दू सामाजिक संगठन, पॉपुलरप्रकाशन
- शर्मा, के.एल. 2006. भारतीय सामाजिक संरचना एवं परिवर्तन, रावत पब्लिकेशन्स नई दिल्ली।
- शर्मा, के.एल, 2011. सामाजिक स्तरीकरण, रावत पब्लिकेशन्स, जयपुर।
- श्रीनिवास,एम.एन. 1992. आधुनिक भारत में जातिवाद तथा अन्य निबन्ध, मध्य–प्रदेश हिन्दी अकादमी, भोपाल।
- सिंह, योगेन्द्र, 2006. भारतीय परम्परा का आधुनिकीकरण, रावत पब्लिकेशन्स, जयपुर।
- सिंह, योगेन्द्र, 1999. भारत में सामाजिक परिवर्तन संकट और समुत्थानपरकता, जवाहर पब्लिशर्स एण्ड डिस्ट्रीब्यूटर्स, नई दिल्ली।
- हसनैन, नदीम, 1990. भारतीय मानव विज्ञान, जवाहर पब्लिशर्स एण्ड, डिस्ट्रीब्यूटर्स, नई दिल्ली।
- हसनैन, नदीम, 2004. समकालीन भारतीय समाज एक समाजशास्त्रीय परिद्रष्य, भारत बुक सेन्टर, लखनऊ।

इकाई–17

सोपानात्मक व्यवस्था के रूप में जाति

इकाई की रूपरेखा

17.1 उद्देश्य

17.2 प्रस्तावना

17.3 सामाजिक स्तरीकरण और विभेदीकरण

17.4 जाति एक सोपानात्मक व्यवस्था

17.5 सारांश

17.6 वस्तुनिष्ठ बोध प्रश्न

17.7 उत्तर

17.8 कुछ उपयोगी पुस्तकें

17.1 उद्देश्य

1. संस्तरण और सोपान के विषय में ज्ञान प्राप्त करना।
2. संस्तरण की प्रणालियों के सन्दर्भ में सोपानात्मक व्यवस्था की व्याख्या को समझना।
3. जाति और सोपानात्मक व्यवस्था के मध्य सम्बन्धों को ज्ञात करना।
4. शास्त्रीय तथा क्षेत्रीय दृष्टिकोणों के माध्यम से जाति के सोपानात्मक स्वरूप को समझना।

17.2 प्रस्तावना

प्रस्तुत इकाई के अन्तर्गत सामाजिक असमानता के आधार पर समाज के खण्डात्मक विभाजन की चर्चा करते हुए असमानता विभेदीकरण, स्तरीकरण व सोपान को स्पष्ट किया गया है। स्तरीकरण व सोपान की व्याख्या करते हुए जाति व वर्ण के स्तरीकृत तथा सोपानिक व्यवस्था पर भी प्रकाश डाला गया है।

स्तरीकरण के विविधि स्वरूपों की विवेचना करने के साथ ही अनेक विद्वानों के जाति की 'सोपानात्मक व्यवस्था' विषयक विचारों को भी इस इकाई में यथोचित स्थान दिया गया है।

17.3 सामाजिक स्तरीकरण और विभेदीकरण

प्रत्येक समाज व काल असमानताओं से युक्त रहा है, चाहे वह प्राचीन समाज हो या आधुनिक, ग्रामीण रहा हो या नगरीय, सरल समाज हो या जटिल उसमें विभिन्न समूहों के बीच पद, प्रतिष्ठा, धन, शक्ति, लिंग, आयु आदि के आधार पर असमानता देखी गई है। अतः हम कह सकते है कि असमानता प्रत्येक युग में विद्यमान रही है।

के0एल0 शर्मा (2011) मानते है कि 'स्तरीकरण' एक सार्वभौमिक प्रघटना है, भिन्न–भिन्न रूपों में ही किन्तु यह उपस्थित अवश्य रही है। कभी सरल व कम विस्तृत रूप में तो कभी जटिल व अधिक व्यापक रूप में। वस्तुतः समाज में व्याप्त इस असमानता को मुख्यतः विभेदीकरण, स्तरीकरण और सोपानक्रम के सन्दर्भ में समझा जा सकता है।

समाज का विभाजन क्रमशः दो प्रकार से होता है –

1. क्षैतिज विभाजन
2. लम्बवत् विभाजन

क्षैतिज विभाजन में यौन समूह, प्रजातीय समूह व वंशानुक्रम इत्यादि को सम्मिलित किया जाता है, जो सैद्धान्तिमक रूप में उच्चता व निम्नता की श्रेणीयों से सम्बन्धित नहीं किन्तु अपवाद स्वरूप कुछ समाजों में व्यवहारगत रूप से देखी भी जा सकती है। (जैसे– नस्ल आधारित सामाजिक भेदभाव) फिर भी समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण से यह क्षेतिज विभाजन है, जिसे सामाजिक विभेदीकरण कहा जाता है।

नरेन्द्र कुमार सिंघी (1992) विभेदीकरण के चार आधारों की विवचेना करते है –

(1) प्रकार्य

(2) संस्कृति

(3) रूचि

(4) क्रम विन्यास

'प्रकार्य' से सिन्धी का अभिप्राय समाज के प्रकार्यात्मक विभाजन से है, जिसमें समाज की इकाईयाँ अपने–अपने प्रकार्यो के आधार पर समाज को विभेदीकृत करती है जैसे – डॉक्टर का प्रकार्य, अध्यापक का प्रकार्य, मजदूर का प्रकार्य इत्यादि।

'संस्कृति' द्वारा समाज को विभेदीकृत करना एक सहज प्रक्रिया है। भारत के सन्दर्भ में यह और स्पष्ट हो जाता है जब यहाँ बहुत संस्कृति देखी जाती है। उदाहरण स्वरूप उत्तर–भारत की संस्कृति या दक्षिण भारत की संस्कृति इत्यादि।

तीसरा आधार 'रूचि' को माना है जिसके आधार पर भी समाज विभेदीकृत है, सबकी रूचियाँ भिन्न–भिन्न है। ये रूचिगत भिन्नता स्वतन्त्रता के साथ–साथ समाज को विभेदीकृत करने का कार्य भी करती है। उदाहरण के लिए कोई रूचि के आधार पर कला वर्ग का चयन करता है तो कोई विज्ञान या वाणिज्य का और कालान्तर में वे अपने–अपने क्षेत्र विशेष का प्रतिनिधित्व का विभेदीकरण में योगदान देते है।

सामाजिक विभेदीकरण के चौथे आधार के रूप में क्रम–विन्यास उच्चता व निम्नता के क्रम का द्योतक है जिसके अन्तर्गत एक सी प्रस्थिति वाले समाज के एक स्तर के लोग आते है। यहाँ क्रम–विन्यास का आधार प्रस्थिति है, जो सामाजिक मूल्यों पर निर्भर करती है अतः मूल्यों में परिवर्तन के प्रस्थिति व क्रम विन्यास भी बदल जाता है। उदाहरण स्वरूप संयुक्त परिवार के मुखिया की प्रस्थिति।

अतः विभेदीकरण का आधार यदि क्रम विन्यास है तो वह स्तरीकरण कहलाता है। शर्मा (2011) बताते है कि विभेदीकरण और स्तरीकरण में भेद का आधार क्रमशः पूर्व निर्धारित स्थर व्यवस्थाएँ व वंशावली है, और जैसे ही इन स्थिर व्यवस्थाओं में मानकीय रचित सिद्धान्तों या मूल्यों द्वारा परिवर्तन आ जाता है, वे सा0 स्तरीकरण कहलाती है।

सामाजिक स्तरीकरण का अर्थ

समाजशास्त्रीय साहित्य में स्तरीकरण की अवधारणा अपेक्षाकृत वर्ग की अवधारणा के बाद लगभग 1940 में भूगर्भशास्त्र से समाजशास्त्र में अयातित की गई।

शाब्दिक दृष्टि से स्तरण (stratification) शब्द 'स्ट्राटा' (strata) से बना है, जिसका अर्थ 'स्तर' होता है।

इस प्रकार सामाजिक स्तरीकरण से अभिप्राय समाज में समूहों को विभिन्न स्तरों में बांटने की प्रक्रिया है। और इस विभाजन का आधार क्या होगा, इसको स्पष्ट करते हुए एलेक्स इंकल्स कहते है कि विभिन्न समूहों को विभिन्न स्तरों में रखने के दो उपागम है। पहला 'व्यक्ति निष्ठ' तथा दूसरा 'वस्तुनिष्ठ'।

वस्तुनिष्ठ में आय, शिक्षा, शक्ति आधार है और व्यक्तिनिष्ठ में मनोवैज्ञानिक कारक आधार है कि व्यक्ति किस समूह से सम्बन्धित है।

सामाजिक स्तरीकरण के प्रमुख आधार

'स्तरीकरण' प्रत्येक समाज की विशेषता है किन्तु प्रत्येक समाज का संस्तरण भिन्न–भिन्न आधारों में विभाजित है। इन आधारों को मुख्य रूप से दो भागों में बांटा जा सकता है–

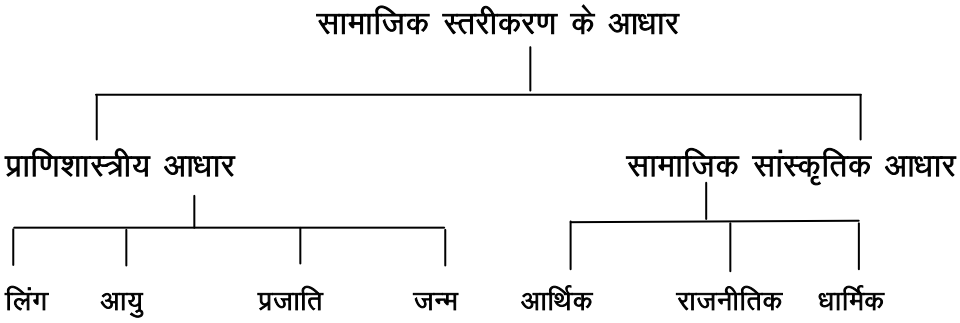

इस प्रकार हम देखते है कि आयु, लिंग, प्रजाति एवं जन्म आदि प्राणिशास्त्रीय आधार के अन्तर्गत आते है जो समाज के विभिन्न व्यक्तियों का उच्चता–निम्नता का निर्धारण करते है, साथ ही साथ इस निर्धारण में आर्थिक, सामाजिक तथा धर्मिक इत्यादि सामाजिक–सांस्कृतिक आधार भी महत्वपूर्ण भूमिका निभाते है।

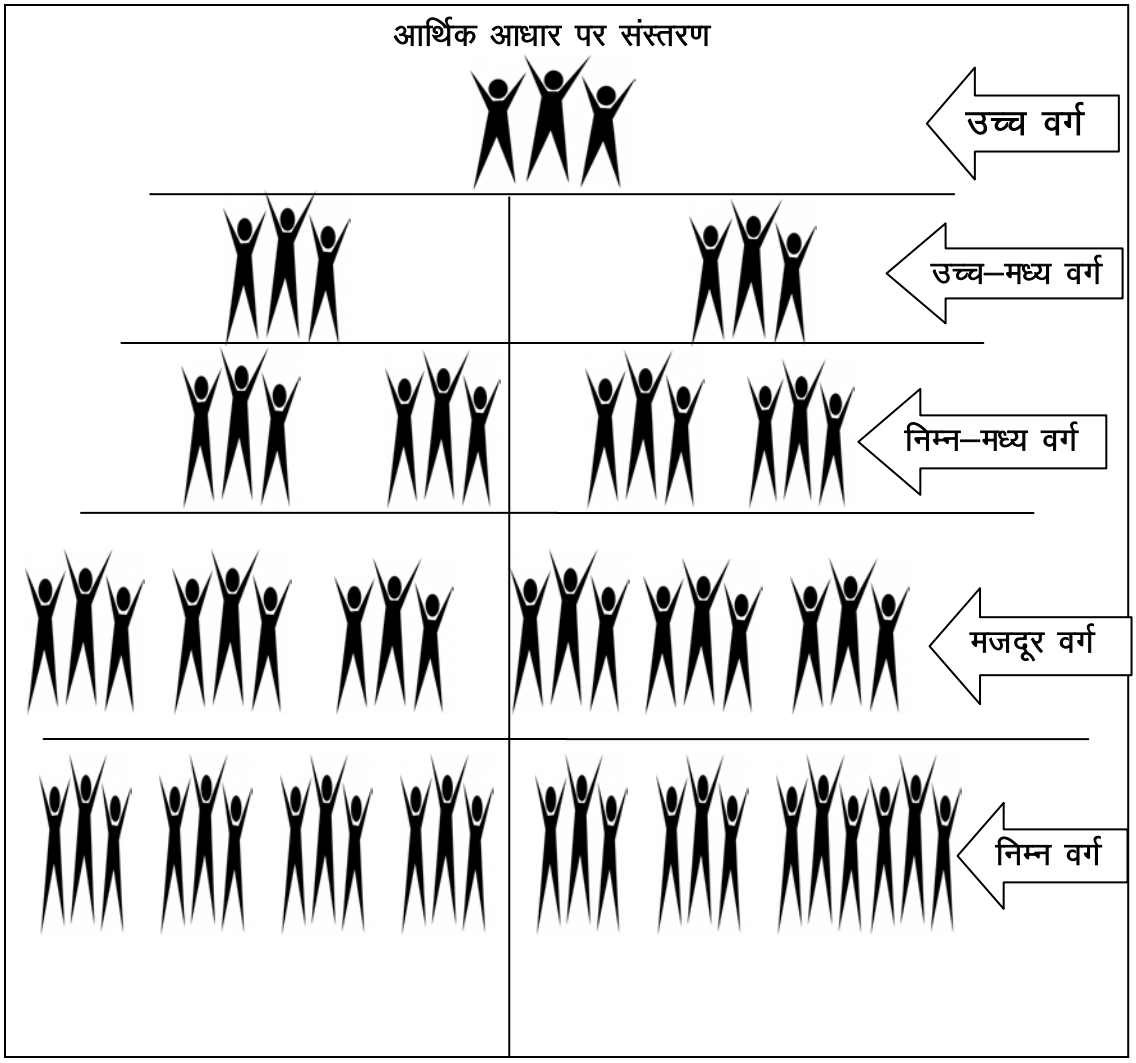

सोपान का अर्थ

'सोपान' या 'पदक्रम' अंग्रेजी के 'Hierarchy' जो स्वयं लैटिन शब्द 'Hierarcha' से उत्पन्न हुआ है का हिन्दी रूपान्तरण है। जिसका शाब्दिक अर्थ 'पवित्र वस्तुओं' या व्यक्तियों में शासन।

प्रारम्भ में ये शब्द धार्मिक शासन–व्यवस्था अर्थात पुजारियों या पादरियों की क्रम–विन्यास वाली संगठित व्यवस्था हेतु प्रयुक्त होता था। परन्तु वर्तमान में 'सोपान' का प्रयोग उस व्यवस्था के लिए किया जाता है, जिसमें व्यक्ति एक दूसरे के ऊपर या नीचे के क्रम, श्रेउियों, अथवा पदों में होते हैं।

अर्थात 'सोपान' का अर्थ किसी सिद्धांत विचारधारा या मानदण्ड के आधार पर व्यक्तियों, पदों, वर्गो, श्रेणियों के लम्ववत् विभाजन से है।

उदाहरणार्थ – भारत का प्रशासनिक ढाँचा सोपानक्रम पर ही आधारित है।

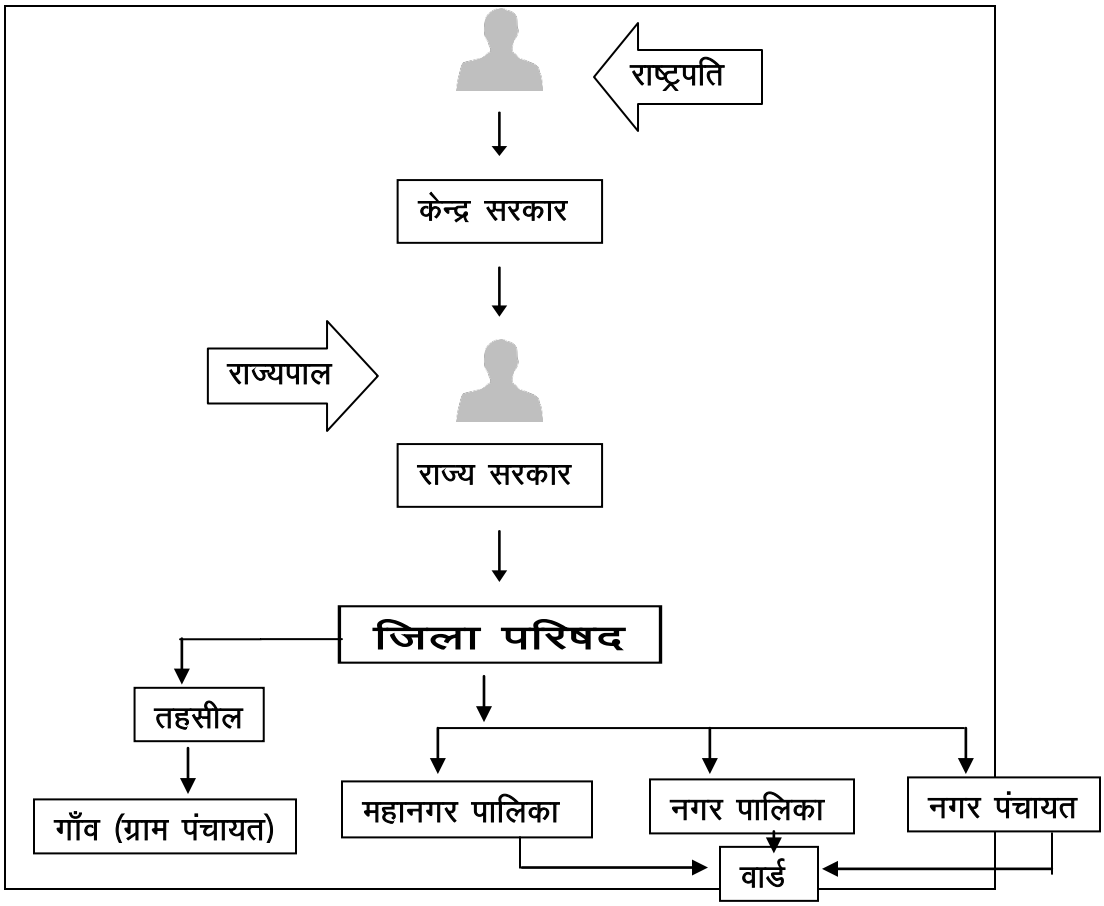

सामाजिक स्तरीकरण के रूप में सोपान

सामाजिक स्तरीकरण एक विशेष प्रकार के सामाजिक विभेदीकरण की व्यवस्था है, जिसके अन्तर्गत सामाजिक पद श्रेणीबद्ध होते है। बी0के0 नागला (2015) पारसन्स और ट्यूमिन को सन्दर्भित करते हुए संस्तरण व श्रेणीबद्धता को समाज में अलगाव व व्यवस्था स्थापित करने के प्रकार्यात्मक साधन तथा मनोवैज्ञानिक संतुष्टि प्रदान करने के अर्थ में परिभाषित कर रहे है।

वस्तुतः किसी सामाजिक व्यवस्था में प्रतिष्ठा, प्रभाव, शक्ति, सम्पति तथा सुविधाओं आदि के आधार पर परिस्थितियों एवं भूमिकाओं की एक अपेक्षाकृत स्थायी श्रेणीबद्धता को ही सामाजिक स्तरीकरण कहते हैं।

इस प्रकार सोपान सामाजिक स्तरीकरण के घनिष्ठ रूप से अन्तः सम्बन्धित है क्योंकि सामाजिक स्तरीकरण की किसी भी व्यवस्था (यथा–दास व्यवस्था जागीर या जाति व्यवस्था) में श्रेणीबद्धता विद्यमान रही। अर्थात जहाँ भी सामाजिक स्तरीकरण विद्यमान होगा उसमें निःसन्देह सोपान समाहित होगा किन्तु इसके विपरीत सोपानिक व्यवस्था के प्रत्येक स्वरूप को स्तरीकरण नहीं कहा जा सकता है, जब तक यह किसी सिद्धान्त या मानदण्ड के आधार पर समाज को उच्चता निम्नता के श्रेणीक्रम में आधारित प्रस्थिति समूहों में स्तरीकृत नहीं करता है। इस प्रकार समाज के लम्बवत् विभाजन का कोई भी विस्तृत व स्थापित स्वरूप सोपान का ही उदाहरण है। सभी प्रकार के सरकारी अथवा औद्योगिक प्रशासन तन्त्रों की विशेषता श्रेणीक्रम है। एक प्रकार से आरम्भिक दास व्यवस्था, सामन्ती व्यवस्था, वर्ण–व्यवस्था एवं जाति व्यवस्था में भी सोपानात्मक व्यवस्था निहित रही है।

17.4 जाति एक सोपानात्मक व्यवस्था

हिन्दू समाज की पहचान 'जाति' शब्द से ही होती है। ड्यूमों के अनुसार भारतीय समाज धार्मिक समाज है जो जाति व्यवस्था की शुद्ध संस्तरण व्यवस्था से परिचालित है। जाति की विशेषताएँ, सोपानीकृत क्रम–विन्यास, अंतर्विवाह, परम्परागत व्यवसाय, कर्मकांडीय प्रस्थिति, खान–पान व सहवास सम्बन्धी निषेध इत्यादि ने फ्रेंच समाज वैज्ञानिक ड्यूमों को भारतीय जाति–व्यवस्था की ओर आकर्षित किया और ड्यूमों ने अपने अध्ययन हेतु भारतीय जाति व्यवस्था को चुना।

ड्यूमों ने विश्व की पूर्वी और पश्चिमी समाजों में विभक्त किया और अपने विभाजन को इस प्रकार प्रस्तुत किया।

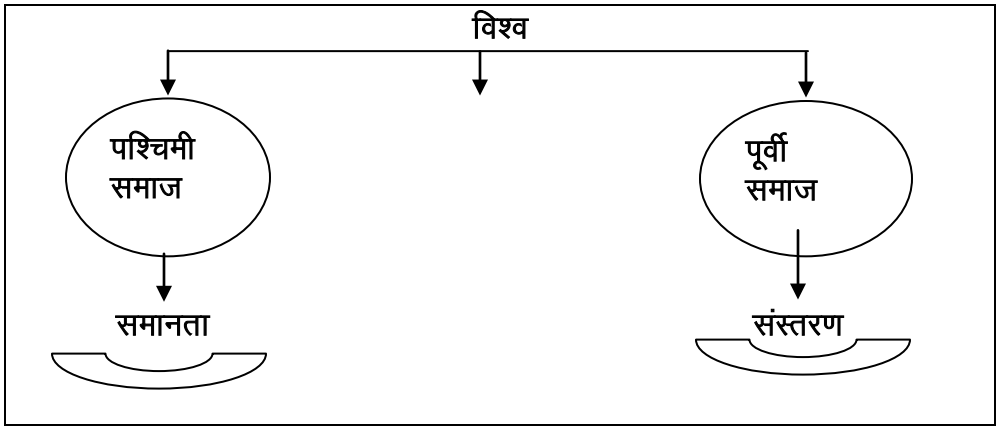

पूर्वी समाज मुख्यतः भारतीय समाज की मुख्य विशेषता के रूप में संस्तरण को परिभाषित किया जिसका आधार ड्यूमों के अनुसार पवित्रता और अपवित्रता की दो परस्पर विरोधी वैचारिकी थी।

ड्यूमों के अनुसार पवित्रता और अपवित्रता सापेक्षित स्थिति है अर्थात पवित्र वह है जो कम अपवित्र है और अपवित्र वह है जो कम पवित्र है। अतः दोनों एक दूसरे के पूरक है। तथा भारीय समाज के सभी पक्षों में संस्तरण का निर्माण करते हैं।

इस द्विशाखीय विभाजन से ड्यूमों का अभिप्राय जाति श्रेणी क्रम में शुद्धता से सम्बद्धि प्रकार्यों को सम्पादित करने वाली जातियाँ उच्च क्रम में तथा अशुद्धता का कार्य करने वाली जातियाँ निम्न स्थान में अवस्थित होती है से है।

ड्यूमों ने अशुद्धता को भी दो भागों में बाँटा –

1. अस्थायी अशुद्धता
2. स्थाई अशुद्धता

अस्थायी अशुद्धता क्षणि है जिसे उचित क्रिया–कलाप या कर्मकांड करके समाप्त किया जा सकता है किन्तु स्थाई अशुद्धता जीवन–पर्यन्त चती रहती है। अशुद्धता के इन दोनों प्रकारों से ड्यूमों का अभिप्राय क्रमशः मासिक धर्म, प्रसवकाल, सूतककाल की अल्पावधि व डोम जाति के प्रकार्य, धोबी के प्रकार्य जो जीवन पर्यन्त चलते है से है।

ड्यूमों शक्ति सोपान तथा कर्म कांडीय प्रस्थिति में विभाजन रेखा खींचते है यह बताया जाता है कि पारम्परिक रूप से राजा व ब्राह्मण दोनों को ही विशिष्ट स्थन प्राप्त था। किन्तु यह आवश्यक नही था कि राजनीतिक अथवा आर्थिक रूप से शक्तिशाली जाति की कर्म–कांडीय प्रस्थति हो अथवा ठीक इसके विपरीत हो अतः जातिगत सोपान का राजनीतिक अथवा आर्थिक शक्ति से कोई सम्बन्ध नही।

ड्यूमों के अनुसार जातिगत सोपान आधारभूत रूप से शुद्ध–अशुद्ध के धार्मिक विचारों पर आधारित है।

इस प्रकार ड्यूमों ने जाति को सोपानात्मक सन्दर्भ में प्रयुक्त किया जिसे वे मूल्यों और विचारों की तार्किक व्यवस्था मानते है। उनका विश्लेषण एक सूत्रीय आधार पवित्रता मानते है। उनका विश्लेषण एक –सूत्रीय आधार पवित्रता और अपवित्रता के अन्तर्विरोध के साथ जुड़ा है। यह धारणा श्रेणी बद्धता का निर्माण कर शुद्ध अशुद्ध जातियों का विभाजन करती है।

और इस क्रम में ब्राह्मम, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र क्रमशः ऊपर से नीचे के क्रम में श्रेणीबद्ध होते है।

श्रीनिवास (1962) जाति की सोपानिक व्यवस्था में हो रहे परिवर्तनों के आधार में कहते है कि "जाति व्यवस्था में सोपान का विचार सर्वव्यापी है न केवल अनेक जातियाँ सोपान बनाती है वरन् उनके व्यवसाय भोजन, रीति–रिवाज आदि सब अलग–अलग सोपान बनाते है।

श्रीनिवास के अनुसार जातियों का सोपान वृहद् सिद्धान्तों तथा क्षेत्रिय कारकों पर निर्भर है। जाति–विशेष का सोपानीकृत क्रम इसके कर्मकाण्डों, प्रथाओं, पारम्परिक सुविधाओं तथा निर्योग्यताओं, उद्भव सम्बन्धी किवदन्तियों, खाना व पान, अन्य जातियों के साथ रोटी–बेटी सम्बन्ध, राजनीतिक शक्ति इत्यादि पर निर्भर है।

'सोपान' में स्थिति के दावे को लेकर न केवल मध्य वरन् 'उच्च' व 'निम्न' स्तर पर भी विवाद देखने को मिलता है। केरल के 'नम्बूदरी' ब्राह्मण और तमिल ब्राह्मण का उदाहरण देते हुए श्रीनिवास कहते है कि "नम्बूदरी ब्राह्मण स्वयं को तमिल ब्राह्मणों से उच्च मानते है और नम्बूदरी में भी जिनके पास वेदाध्ययन का आनुवंशिक अधिकार है, वे अपने–आपको अन्य से उच्च मानते है।

वर्ण और सोपानात्मक व्यवस्था

वर्ण व्यवस्था हिन्दू धर्म में प्राचीन काल से चले आ रहे है सामाजिक गठन का एक महत्वपूण्र अंग है, जिसके अन्तर्गत विभिन्न समुदाय के लोगों को आध्यात्मिक विवेक के आधार पर विभाजन हुआ।

'वर्ण–व्यवस्था' के अस्तित्व को लेकर विद्वानों में मतभेद है कोई इसे ऋग्वेद के पुरुषयूक्त के आधार पर ब्रह्माा के शरीर के विभिन्न अंगो से उत्पन्न वर्णो के द्वारा परिभाषित करता है, तो कोई 'वर्ण' का अभिप्राय 'रंग' से लेकर श्वेत, रक्तिम, पीत व श्याम रंगों को वर्णों की उत्पाति का आधार मानता है। वर्ण–व्यवस्था गुण तथा कर्म आधारित थी ऐसा मान कुछ विद्वान 'सत्', 'रज', 'तम', गुणें के आधार पर वर्णों की उत्पत्ति की बात रखते है।

उपरोक्त मतभेदों के बाद भी वर्ण–व्यवस्था के अन्तर्गत चार वर्णो के श्रेणीक्रम को सभी विद्वान स्वीकार करते है। जो सामाजिक संस्तरण व सोपानीकरण का उदाहरण है।

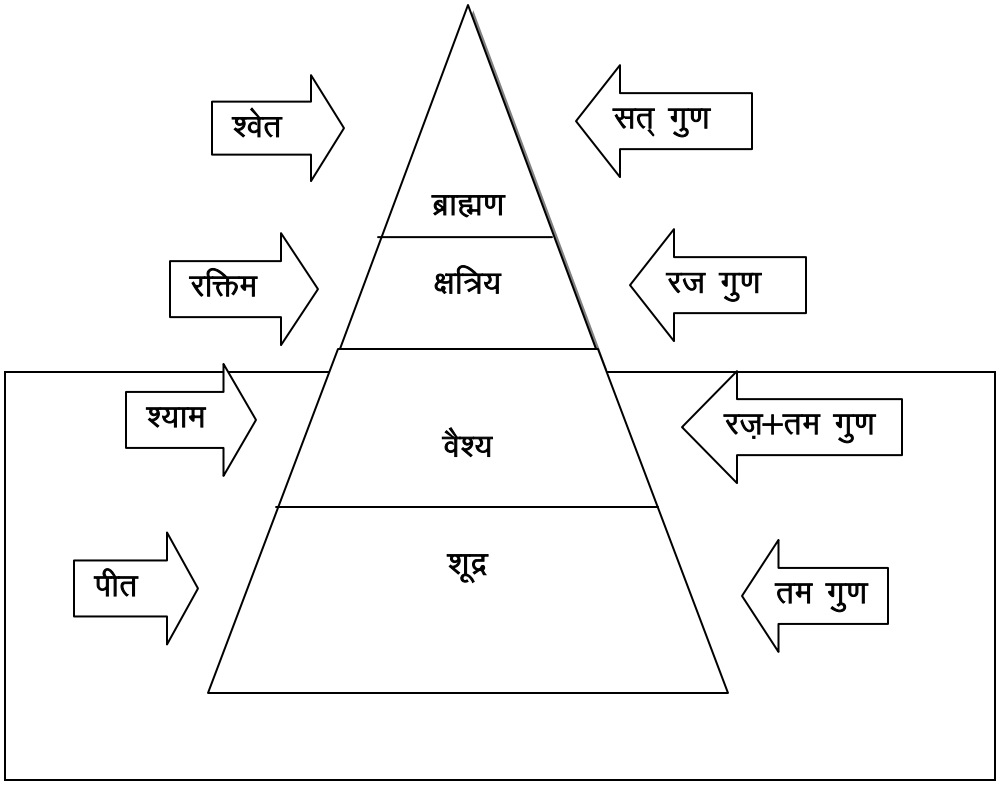

वैदिक कालीन वर्ण व्यवस्था का सोपान क्रम

ये वर्ण–व्यवस्था न के समाज का खण्डात्मक विभाजन करती थी वरन् सामाजिक संस्तरण व प्रकार्यात्मक रूप से समाज को संगठित भी रखती थी। ये समाज के क्षैतिज विभाजन का उदाहरण थी। जो कर्मो के आधार पर विभाजन कर सामाजिक न्याय की स्थापना व प्रत्येक को आत्म सन्तुष्टि प्रदान करने वाली खुली समाज व्यवस्था थी जिसके अन्तर्गत प्रत्येक के समझ अपनी प्रस्थिति उच्च करने का अवसर था। इतिहास में अनेक ऐसे उदाहरण है जिनके आधार पर यह स्पष्ट होता है कि व्यक्ति जन्म आधारित प्रस्थिति वाला न होकर कर्म आधारित था। यथा विश्वामित्र, परशुराम, द्रोणाचार्य इत्यादि जिनमें परशुराम ब्राह्मण होते हुए क्षत्रिय धर्म का पालन किए तथा द्रोणाचार्य शिक्षक के साथ योद्धा भी थे। विश्वामित्र क्षत्रिय कुल में उत्पन्न हुए किन्तु सन्यासी ब्राह्मण का जीवन जिया और ऋषि कहलाए।

स्तरीकरण के अन्य स्वरूप और सोपानात्मक व्यवस्था

प्राचीनसे आधुनिक सभी समाजों में शक्ति अथवा प्रतिष्ठा के आधार पर समाज में विभाजन की कोई न कोई व्यवस्था सदैव विद्यमान रही है जिसे स्तरीकरण के रूप में जाना जाता है। स्तरीकरण के ऐसे ही दो स्वरूप प्रमुख है –

(1) दास प्रथा

(2) जागीरें

दास प्रथा

मानव इतिहास में दास प्रथा सामाजिक स्तरीकरण का प्रमुख स्वरूप रही है। हॉवहाउस के अनुसार "दास वह व्यक्ति है जिसे कानून और परम्परा दोनों, दूसरे

की सम्पत्ति मानते है। कुछ विशिष्ट स्थिति में वह पूर्णतः अधिकार विहीन है तथा कुछ स्थितियों में उसकी रक्षा ठीक उसी प्रकार की जाती है जैसे एक बैल या गधे की।"

इस प्रकार दास प्रथा आमानवीयता से युक्त कल्पनातीत व्यवस्था का उदाहरण है। सामान्यतः दास अधिकार विहीन होते थे। दास आर्थिक व कानूनी दोनों प्रकार की असमानताओं का दंश झेलते थे।

हलांकि दास प्रथा के उदाहरण इतिहास में समय–समय पर मिलते रहे, किन्तु विशेष रूप से यूनानी एवं रोमन सम्राज्यों में इसका अधिक प्रचलन रहा। यूनानी राजपरिवार गुलामों की खरीद–फरोख्त पशुओं की भाँति करते और उन्हें पशुवत् रखकर उनका शोष्ज्ञण करते। विभिन्न त्यौहारों में शाही–परिवार के मंनोरजन हेतु गुलामों का शुद्ध तब तक चलता रहता था जब तक उनमें से एक अपने प्राण न त्याग दे। उपरोक्त उदाहरण अमानवीयता का उत्कृष्ट उदाहरण है जब मृत गुलाम के मांस को शाही कुत्तों के भोजन का आधार बनाया जाता था। इस प्रकार एक गुलाम जीवन से मृत्यु के उपरान्त भी अपने स्वामियों के शोषण का शिकार होते थे।

इसके अतिरिक्त 17 वीं एवं 18 वीं शताब्दी में उत्तरी व दक्षिणी अमेरिका में दास–प्रथा प्रचलन में थी। यहां के मूल–निवासियो तथा अन्य उपनिवेशों से लाए गए दासों से खेती एवं अन्य आर्थिक कार्य करवायें जाते थे।

दास प्रथा में समाज दो स्तरों में स्तरीकृत था –

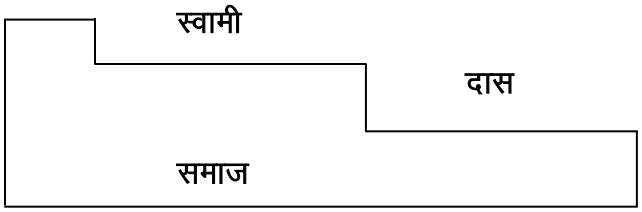

स्वामी वह था जिसके पास अनेक दास होते थे और दासों के श्रम पर वह जीवित रहता था। इस प्रकार दास मालिक की सम्पत्ति था, जिसे मालिक अपनी इच्छानुसार खरीद, बेच सकता था या मार सकता था। स्वामी को यह अधिकार कानून व प्रथाओं द्वारा मुदत्त थे। दास के पास अपने श्रम के अलावा कुछ भी अपना न था, उसका शरीर तक उसका न होकर उसके स्वामी की इच्छा पर अस्तित्व में था।

आज के प्रजातान्त्रिक युग में स्वतन्त्रता, समानता, एवं सामाजिक न्याय जैसी विचारधाराओं के प्रबल होते ही जहाँ किसी व्यक्ति पर दास की भाँति अधिकार जताना कानूनी और प्रथाग्रत रूप से अमान्य हो गया, वही आधुनिक युग में इसे केवल समूह भेद के आदिम स्तर के रूप में इतिहास के अन्तर्गत जाना व समझा जाता है। वर्तमान में स्तरीकरण का यह स्वरूप अस्तित्व में नहीं है।

जागीरें

जागीर प्रथा सामाजिक स्तरीकरण के स्वरूप के रूप में मध्ययुगीन यूरोप में प्रचलित थी। प्रथा व कानून दोनों का सुदृढ़ आधार इन्हे प्राप्त था। इस प्रथा के अन्तर्गत लोगों की सामाजिक आर्थिक एवं राजनीतिक समूहों में गतिशीलता अत्यन्त कठिन थी। इनमें मुख्यतः तीन वर्ग थे –

1. पादरी
2. सरदार
3. साधारण जनता

सामाजिक वर्गो की भाँति तीनों जागीरों के सदस्य एक विशेष जीवन–शैली के अनुसार जीवन यापन करते थे। तथा उच्चता–निम्नता के आधार पर इनमें क्रय–विन्यास था। चूंकि राज्य चर्च के आधीन था अतः पादरियों को स्तरीकरण में प्रथम स्थान प्राप्त था।

जॉनसन ने जागीर प्रथा के सम्बन्ध में अपने विचार निम्न प्रकार प्रस्तुत किए – जागीर वर्ग से दो आधारों में भिन्न है, एक तो यह पद सोपानात्मक क्रम में नहीं थे क्योंकि पादरी नियमानुसार प्रथम वर्ग में थे परन्तु उन्हें को उपाधि प्राप्त नहीं थी। अतः व्यावसायिक रूप से वे सरदारों से जो राजवंश के थे, नीचे थे और जिन पादरियों को उपाधि प्राप्त थी वे सरदारों से अन्तःक्रिया नहीं कर पाते थे। इसके अतिरिक्त पादरी लोग अविवाहित थे, अतः उनके परिवार नहीं थे जिससे सामाजिक स्तरीकरण में उनकी पद–स्थिति स्पष्ट नहीं थी। किन्तु उनके माँ–बाप की प्रस्थिति से उनकी प्रस्थिति का आकलन हो सकता है ऐसा जॉनसन का विचार था।

जागीर प्रथा स्तरीकरण का एक प्रचलित स्वरूप के रूप में विकसित रही है इसकी कुछ विशेषताएँ निम्न है –

1. प्रत्येक जागीर कानून द्वारा मान्य नियमों पर आधारित भिन्न–भिन्न सामाजिक प्रतिष्ठा व विशेषाधिकारों व कर्तव्यों से युक्त थी।
2. जागीरे स्पष्टता एक मोटे क्रम विभाजन का प्रतिनिधित्व करती थी। माना जाता था कि सबके अपने–अपने प्रकार्य है पादरी सबके लिए प्रार्थना करते है, कुलीनता सबके रक्षार्थ है, तथा साधारण लोग सबके लिए भोजन उपलब्ध कराते हैं।
3. जागीरें राजनीतिक समूह के रूप में कार्य करती थीं। जागीरों को अनेक श्रेणियों, राजनीतिक सत्ता धारक व्यक्तियों की अवस्थाओं के संमठित समूहों का समुच्चय माना जाता था। शास्त्रीय सामंतवाद मे केवल दो जागीरें, 'कुलीनता' व 'पादरी' थी जो कालान्तर में यूरोपीय सामंतवाद के पतन के पश्चात भूदासों व कृषि दासों द्वारा सामन्ती समाज के भीतर अपना अलग समूह बना लिया गया।

मध्यकालीन भारत में भी मुगलों के आगमन के साथ जागीरदारी प्रथा की शुरूआत हुई लेकिन ब्रिटिशकाल के विकास के साथ–साथ जागीरदारी प्रथा समाप्त होती गई और वर्तमान में इसका कोई अस्तित्व नहीं है।

जाति की सोपानात्मक व्यवस्था सम्बन्धी नवीन दृष्टिकोण

अभी तक जाति विषयक जितनी भी चर्चा हुयी उसके फलस्वरूप यहनिष्कर्ष निकलता है कि जाति एक सोपानिक व्यवस्था है, जो 'पवित्रता' अपवित्रता के सुदृढ़ स्तम्भों में स्थापित है। किन्तु इन व्याख्याओं के विपरीत दीपांकर गुप्ता (2000) इस परम्परा, रूढिवादी जाति की व्याख्या से सन्तुष्ट नही रहे और 'सोपान' के स्थान पर जाति में 'अन्तर' को सर्वाधिक महत्वपूर्ण मानते है। उनके अनुसार जातियों के विश्लेषण में यह बहुत बड़ी त्रुटि रही कि हमने स्तरीकरण और अन्तर को स्पष्ट नहीं किया। एक जाति का जो दूसरी जाति से अन्तर है, उस अन्तर के कारण

जातियां सोपानिक क्रम में अवस्थित नहीं हो सकती। अपने इस वक्तव्य को और स्पष्ट करते हुए दीपांकर गुप्ता कहते है कि प्रत्येक जाति के कुछ पृथक लक्षण होते है यह पृथकता ही उन्हे दूसरी जाति से अलग करती है।

जातिगत व्यवसायो में स्थिति अपवित्रता व पवित्रता के आधार स्वरूप वर्तमान संदर्भो में देखते हुए वे कहते है कि आज तो ब्राह्मण भी चमड़े और शराब के व्यवसायों में संलग्न है तो आज जातिगत व्यवसायों के आधार पर कहाँ पवित्रता, अपवित्रता रह गई।

जाति की परम्परागत विशेषताओं को चुनौती देते हुए दीपांकर गुप्ता जाति के सारतत्व तो नहीं किन्तु दो महत्वपूर्ण लक्षणों की चर्चा करते है –

1. **सोपान –**

   सोपान को पृथकता के आधार पर परिभाषित करते हुए वे कहते है कि मूल्यों के आधार पर प्रत्येक जाति का अपने अपने सोपानों में निजी स्थान है।

   इस प्रकार अगर ब्राह्मणों की 800 उपजातियाँ है तो उनके 800 सोपान भी होगे। अतः जाति और सोपान संगत नहीं है क्योंकि पृथकता के आधार पर वास्तविकता में सोपान का निर्माण असम्भव है।

2. **अतिप्रतीकवाद (Hypersymbolism) –**

   अति प्रतीकवाद से दीपांकर गुप्ता का आशय किसी भी जाति विशेष की पृथकता को सुनिश्चित करने वाली धर्म विधियाँ है जो मूलतः किसी शास्त्रीय धर्म से संचालित नहीं होती अतः प्रत्येक जाति कुछ प्रतीकों को विकसित कर लेती है जिसके द्वारा वह दूसरी जातियों से पृथक हो सके इसे ही दीपांकर गुप्ता अतिप्रतीकवाद कहते है।

प्रतीकों के आधार पर जातियों को सोपान में रखने का विचार अनुचित है आज कई बार पवित्र–अपवित्र को चुनौती दी जाती है।

अतः दीपांकर गुप्ता के अनुसार जातियों की व्याख्या में सर्वप्रथम एक जाति की पृथक कोटि आती है और इसके बाद सोपान तथा सोपान भी एक दो नहीं जितनी जातियाँ है उतने ही सोपान।

इस प्रकार हम देखते है कि दीपांकर गुप्ता परम्परागत सोपानक्रम के आधारो से परे वर्तमान समाज में प्रासंगिक स्थितियों व दशाओं के आधार पर यथथिता के धरातल में अपने विचारो को प्रस्तुत करते है।

17.5 सारांश

इस इकाई में सामाजिक असमातनता को स्पष्ट करते हुए विभेदीकरण, स्तरीकरण व सोपान क्रम में अन्तर स्पष्ट करते हुए समाज के लम्बवत् व क्षैतिज विभाजन पर भी प्रकाश डाला गया है।

सामाजिक स्तरीकरण के मुख्य आधारों तथा जाति व वर्ण की सोपानिक व्यवस्था को भी प्रस्तुत इकाई में समझाया गया है। लुइस ड्यूमों तथा श्रीनिवास द्वारा जाति की सोपानिक व्यवस्था पर पवित्रता तथा अपवित्रता के आधार पर दिए गए विचारों को यथोचित स्थान दिया गया है।

स्तरीकरण के अन्य स्वरूपों तथा उनके अन्तर्गत विद्यमान श्रेणीबद्धता, को जागीर प्रथा तथा दास प्रथा के सन्दर्भ में विश्लेषित किया गया है।

अन्त में जाति की सोपानात्मक व्यवस्था सम्बन्धी नवीन दृष्टिकोण को भी विवेचित किया गया है।

17.6 बोध प्रश्न

1. ड्यूमों ने अशुद्धता/अपवित्रता के कितने प्रकार बताए है–

   क. अस्थाई ख. स्थाई

   ग. क तथा ख घ. क तथा ख से कोई नहीं

2. सामाजिक स्तरीकरण के आधारों में से कौन नहीं है–

   क. लिंग ख. आयु

   ग. आर्थिक घ. वैज्ञानिक

3. समाज के क्षैतिज विभाजन का उदाहरण कौन सा है

   क. वर्ण व्यवस्था ख. वर्ण–व्यवस्था

   ग. जागीर व्यवस्था घ. दास–व्यवस्था

4. जागीर व्यवस्था में कौन सा वर्ग शामिल नहीं था–

   क. पादरी ख. सरदार

   ग. साधारण जनता घ. सैनिक

17.7 उत्तर

1. ग
2. घ
3. क
4. घ

17.8 कुछ उपयोगी पुस्तकें

- गुप्ता, दीपांकर, 2000. इन्ट्रोगेटिंग कास्ट, पेनगुइंग बुक्स, इण्डिया
- ड्यूमों, लुईस. 1966. होमोहायरैरकिकस : द कास्ट सिस्टम एण्ड इट्स इंप्लिकेशन्स, विकास पब्लिकेशन्स दिल्ली
- तिवारी, जयकान्त, 2003. भारत का समाजशास्त्र, अवध पब्लिशिंग हाउस, लखनऊ

- दोषी, शम्भूलाल एवं जैन, प्रकाश चन्द्र, 2002. भारतीय समाज नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली।
- नागला, बी.के. 2015. भारतीय समाजशस्त्रीय चिन्तन, रावत पब्लिकेशन्स, नई दिल्ली
- सिंधी, नरेन्द्र कुमार एवं गोस्वामी वसुधकर, 1992. समाजशास्त्र विवेचन, राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर
- शर्मा, के.एल., 2011. सामाजिक स्तरीकरण, रावत पब्लिकेशन्स, जयपर
- श्रीनिवास, एम.एन. 1962. कास्ट इन मॉडर्न इण्डिया, बम्बई, एशिया
- श्रीनिवास, एम.एन. 1992. आधुनिक भारत में जातिवाद तथा अन्य निबन्ध, हिन्दी माध्यम कार्यान्वयन निदेशालय दिल्ली विश्वविद्यालय दिल्ली।

UGSY-04

सामाजिक स्तरीकरण

उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय,
प्रयागराज

खण्ड –5

भारत में जाति अध्ययन के उपागम

इकाई – 18 275–290

जाति के गुण–धर्मात्मक उपागम-I

इकाई – 19 291–296

जाति के गुण–धर्मात्मक उपागम-II

इकाई – 20 297–304

जाति के अन्तः क्रियात्मक उपागम-I

इकाई – 21 305–312

जाति के अन्तः क्रियात्मक उपागम-II

इकाई – 22 313–326

जाति एवं गतिशीलता

इकाई – 23 327–336

पृथ्क्करण एवं अस्पृश्यता

उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय

उत्तर प्रदेश प्रयागराज

परामर्श समिति

प्रो0 के0 एन0 सिंह (अध्यक्ष) — कुलपति, उ0प्र0 राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज

डॉ० ए० के० गुप्ता — कुलसचिव, उ0प्र0 राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज

सम्पादक

प्रो0 संजय सिंह (अध्यक्ष) — समाजशास्त्रए डॉ० राम मनोहर लोहिया राष्ट्रीय विधि, विश्वविद्यालय, लखनऊ

पाठ्यक्रम निर्माण समिति (अध्ययन बोर्ड)

1. डॉ० एम० एन० सिंह – पूर्व निदेशक, समाज विज्ञान विद्याशाखा, उ0प्र0 राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज
2. डॉ० इति तिवारी – पूर्व एसो० प्रोफेसर समाज विज्ञान विद्याशाखा, उ0प्र0 राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज
3. श्री रमेश चन्द्र यादव – शैक्षणिक परामर्शदाता, समाजशास्त्र, समाज विज्ञान विद्यशाखा, उ0प्र0 राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज

UGSY-04– समाजिक स्तरीकरण

लेखक–

1. डॉ० इति तिवारी – पूर्व एसो० प्रोफेसर समाज विज्ञान विद्याशाखा, उ0प्र0 राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज
2. श्री रमेश चन्द्र यादव – शैक्षणिक परामर्शदाता, समाजशास्त्र, समाज विज्ञान विद्याशाखा, उ0प्र0 राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज
3. डॉ० शैलजा सिंह एसो० – प्रोफेसर, डॉ० शकुन्तला मिश्रा राष्ट्रीय पुनर्वास विश्वविद्यालय, लखनऊ
4. डॉ० विजय कुमार वर्मा – असि० प्रोफेसर, डॉ० शकुन्तला मिश्रा राष्ट्रीय पुनर्वास विश्वविद्यालय, लखनऊ
5. डॉ० विलोक सिंह – असि० प्रोफेसर, स्वामी सहजानन्द पी०जी० कालेज, गाजीपुर (उ०प्र०)
6. श्री अजय कुमार त्रिपाठी – जे० एन० पी०जी० कालेज, लखनऊ
7. डॉ० जया द्विवेदी तिवारी – अवध गर्ल्स डिग्री कालेज, लखनऊ
8. डॉ० श्वेता तिवारी ए०पी० – सेन गर्ल्स मेमोरियल पी०जी० कालेज, लखनऊ
9. डॉ० मपीन्द्र कुमार तिवारी – डी०ए०वी० कालेज, लखनऊ

2020 (मुद्रित)

© उ0प्र0 प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज 2020

ISBN- 978-93-83328-41-3

सर्वाधिक सुरक्षित। इस सामग्री के किसी भी अंश को इंदिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय की लिखित अनुमति के बिना किसी भी रूप में, मिमियोग्राफी (वक्रमुद्रण) द्वारा या अन्यथा पुनः प्रस्तुत करने की अनुमति नहीं है।

उ0प्र0 राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज सर्वाधिकार सुरक्षित। इस पाठयसामग्री का कोई भी अंश उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, की लिखित अनुमति लिए बिना मिमियोग्राफ अथवा किसी अन्य साधन से पुनः प्रस्तुत करने की अनुमति नहीं है।

नोट : पाठय सामग्री में मुद्रित सामग्री के विचारों एवं आमड़ों आदि के प्रति विश्वविद्यालय, उत्तरदायी नहीं है।

प्रकाशन – उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन विश्वविद्यालय, प्रयागराज

प्रकाशक – कुलसचिव, डॉ. अरूण कुमार गुप्ता उ0प्र0 राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज – 211021

मुद्रक – चंद्रकला यूनिवर्सल प्राइवेट लिमिटेड, 42/7 जवाहरलाल नेहरू रोड, प्रयागराज

इकाई–18

जाति के गुण–धर्मात्मक उपागम–I

इकाई की रूपरेखा

18.1 उद्देश्य

18.2 प्रस्तावना

18.3 जाति व्यवस्था की उत्पत्ति

18.4 जाति व्यवस्था : स्वरूपात्मक विश्लेषण

18.5 गुणधर्मों के आधार पर जाति का विश्लेषण

18.6 सारांश

18.7 वस्तुनिष्ठ प्रश्न

18.8 वस्तुनिष्ठ प्रश्नों के उत्तर

18.9 संदर्भ–ग्रन्थ

18.1 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के बाद छात्र

1. जाति व्यवस्था के उद्भव एवं उसके गुणधर्मों से परिचित हो पाएंगे।
2. जाति के स्वरुप तथा विभिन्न भारतीय एवं विदेशी विद्वानों के विचारों को समझ पाएंगे।

18.2 प्रस्तावना

जाति की स्वरूपात्मक व्याख्या के माध्यम से इस इकाई में जाति के विविध पक्षों की विशद् चर्चा की जा रही है कि किस प्रकार जाति व्यवस्था, व्यक्तियों के समूह को समाज में एक क्रम–विन्यास या सोपान में रखती है। इससे हमारा तात्पर्य है कि जाति व्यक्तियों को ऊँची व नीची असमान स्थितियों में व्यवस्थित करके उनके मध्य सामाजिक असमानताएँ उत्पन्न करती है। जातियों के क्रम विन्यास के विषय में उसके गुण धर्मों के बारे में भी जानकारी दी जा रही है। जाति सम्बन्धी विविध विचारों की चर्चा विविध विद्वानों द्वारा प्रस्तुत की जा रही है। जिसके अध्ययन से हम सभी जाति को समग्रता से समझ सकने में सक्षम हो सकेगें।

18.3 जाति व्यवस्था की उत्पत्ति

यद्यपि विद्वानों ने इसके लिए अनेक तरीके अपनाए हैं, परन्तु हम आपका ध्यान जाति के अध्ययन हेतु एक विशिष्ट पद्धति पर केन्द्रित करेंगे। जाति के विशिष्ट गुण–धर्मों अथवा विशेष लक्षणों के संदर्भ में जाति की व्याख्या पर यह पद्धति आधारित है। इसका अभिप्राय यह है कि हम जाति की अन्तर्निहित विशेषताओं के आधार पर जाति की व्यवस्था को समझने का प्रयास करें। ये गुण–धर्म जाति व्यवस्था में जातियों के व्यवहार तथा अंतःक्रिया में 'बाह्य रूप देखे जा सकते हैं।

आपको यह ध्यान रखना होगा कि,

1) ये गुण–धर्म जाति को परिभाषित करने के आधार हैं,

2) किसी भी स्थिति में 'बाह्य रूप से देखे जाने वाले व्यवहार में ये गुण–धर्म परिलक्षित होने चाहिए।

हम सर्वप्रथम जाति के उद्‌भव की व्याख्या सम्बन्धी विद्वानों के अनेक प्रयासों की ओर ध्यान देंगे। हम सभी को यह ध्यान रखना चाहिए कि जाति की व्यवस्था का लम्बे समय तक केवल इतिहासवेत्ताओं, समाजशास्त्रियों तथा दार्शनिकों द्वारा ही अध्ययन नहीं किया गया, बल्कि यात्रियो, ईसाई मिशनरियों एवं प्रशासकों द्वारा भी अध्ययन किया गया है। अतः इस सामाजिक संस्था की अद्वितीय प्रकृति की चर्चा ईसा पूर्व तीसरी शती में सम्राट चन्द्रगुप्त मौर्य के दरबार में यूनानी राजदूत मेगस्थनीज ने भी अपनी कृतियों में की है तथा 11वीं शती में महमूद गजनी के इतिहासवेत्ता–साथी अलबेरूनी ने भी इसकी चर्चा की है। इससे हमें यह पता चलता है कि भारत में निरन्तर बिना किसी बाधा के यह हजारों वर्षों से चला आ रहा है। जाति की प्राचीन प्रकृति को सिद्ध करते हुए हमारे सामने महत्वपूर्ण प्रश्न यह उठता है कि जाति कहाँ से आई अथवा जाति व्यवस्था का क्या उद्‌भव रहा है? इस संस्था के उद्‌भव में हमारी रुचि इसलिए है कि उद्‌भव के अनेक सिद्धान्तों में जाति के गुण–धर्मों के बारे में अस्पष्ट चर्चा देखने को मिलती है इन गुण–धर्मों में हमारी भी रुचि है। जाति के उद्‌भव के बारे में अनेक व्याख्याएँ व तर्क दिये गये हैं। हम इसके विषय में तीन बिन्दुओं पर विचार करेंगे।

दैवीय उद्‌भव, तीन गुण, प्रजातीय सम्पर्क

यह तर्क दिया गया है कि जाति व्यवस्था का आधार हिन्दू धर्म में है। यहाँ हमारा तात्पर्य, ऋग्वेद में उल्लिखित 'मूल बलि' से है। ऐसी मान्यता है कि इस बलि से ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र नामक चार वर्णों, की उत्पत्ति हुई। ऋग्वेद के पुरुष सूक्त ऋचा के अनुसार समाज की चार व्यवस्थाओं का दैवीय उद्‌भव होता है। यह दैवीय उद्‌भव क्या होता है? यह हमारे पारम्परिक ग्रन्थों में इस विचार से सम्बन्धित है कि सृजक पुरुष अथवा आदि पुरुष के स्व बलिदान से वर्ग व्यवस्था उत्पन्न हुई। इसके शरीर के प्रत्येक भाग से एक विशिष्ट वर्ण का जन्म हुआ। अतः इससे हमें यह पता चलता है कि पुरुष के मुख से ब्राह्मण, उसकी भुजाओं से क्षत्रिय, उसकी उदर से वैश्य तथा उसके पैरों से शूद्र उत्पन्न हुए। यहाँ यह महत्वपूर्ण नहीं है कि शरीर के विशिष्ट अंगों से वर्ण उत्पन्न हुए अपितु उनमें प्रत्येक को एक सामाजिक स्थिति तथा क्रम प्रदान किया गया। यह क्रम इस बात पर आधारित था कि वर्ण शरीर के किन अंग से उत्पन्न हुआ है, अतः ब्राह्मणें को सर्वोच्च स्थान, क्षत्रियों को दूसरा स्थान, तथा वैश्यों को तीसरा स्थान मिला और

शूद्रों को सोपान क्रम अथवा सामाजिक क्रम–विन्यास में निम्नतम स्थान प्राप्त हुआ और इस प्रकार इसका सृजन हुआ। सोपानक्रम पर प्रत्येक समूह को एक निश्चित स्थान प्रदान करने के अतिरिक्त इस उद्‌भव के प्रत्येक वर्ण के साथ एक कर्तव्य भी जोड़ा। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि–

1) सर्वोच्च वर्ण अथवा ब्राह्मणों का कर्तव्य पवित्र ज्ञान उपार्जन एवं अध्ययन करना था। यह तर्क दिया जा सकता है कि चूँकि ब्राह्मण पुरुष के सर्वोच्च स्थान मुख जिसे विद्वता का स्थान माना जाता है उससे उत्पन्न हुए माने जाते हैं, अतः उन्हें इसी से सम्बन्धित ज्ञान उपार्जन व विद्या दान का कर्तव्य सौंपा गया।

2) क्षत्रियों की उत्पत्ति आदि पुरुष की भुजाओं से हुई मानी जाती है, इसलिए उन्हें सुरक्षा जैसे काम करने का दायित्व सौंपा गया। इसके अतिरिक्त इन्हें व्यापार एवं वाणिज्य में काम करने का भी अधिकार था।

3) इसी प्रकार वैश्य, जिसकी उत्पत्ति आदि पुरुष के उदर से मानी जाती है, खेतों में काम करने का दायित्व सौंपा गया। इन्हें व्यापार एवं वाणिज्य में व्यस्त होने का भी अधिकार था।

4) शूद्रों की उत्पत्ति आदि पुरुष के पैरों से मानी जाती है, इसलिए इनका कार्य अन्य सभी समूहों की सेवा करना था।

सामाजिक व्यवस्था में दैविक उद्‌भव तथा असमान क्रम–विन्यास में विश्वास प्रत्येक समूह के कर्तव्यों को भी निर्धारित करना था। धीरे–धीरे ये कर्तव्य इन व्यवस्थाओं अथवा वर्णों के व्यवसाय में विकसित हुए, जिस पर इनका एकाधिकार था। उद्‌भव की इस व्यवस्था ने क्रम–विन्यास निर्धारण के अतिरिक्त समूहों के मध्य अंतःक्रिया पर कुछ निश्चित निषेध भी लगाए। अतः प्रथम तीन समूहों का मिल–जुलकर एक संवर्ग (कैटेगरी) बना जिसे 'द्विज' जातियाँ कहा गया, क्योंकि इन्हें यज्ञोपवीत संस्कार का अधिकार प्राप्त था जबकि शूद्रों को यह अधिकार प्राप्त नहीं था अतः उन्हें 'एकज' अथवा 'एकजाति' कहा गया। प्रत्येक उन जातियों को पारम्परिक कर्तव्य से परिभाषित किया गया जिनके कर्तव्य आनुवंशिक थे।

दैवीय उद्‌भव सिद्धान्त आदि पुरुष के अस्तित्व पर आधारित है, जिसमें यह माना गया है कि उस आदि पुरुष ने समाज में क्रम–विन्यासित समूहों की असमान व्यवस्था को जन्म दिया। कालान्तर में समाज के सोपनीकृत क्रम–विन्यास के उद्‌भव की व्याख्या मिथकशास्त्र से हटकर दार्शनिक विचारों पर निर्भर हो गयी जो इन विभिन्न समूहों के अस्तित्व व उनसे सम्बन्धित गुण–धर्मों की व्याख्या करते हैं। इसी को हम गुण सिद्धान्त कहते हैं। यह एक दार्शनिक सिद्धान्त है, जो तीन अंतर्निहित गुणों को महत्व देता है तथा जो विभिन्न व्यक्तियों में पाए जा सकते हैं। ये गुण निम्नलिखित हैं।

1) 'सत्व'–यह अच्छाई, सत्य, विद्वता, सौंदर्य तथा उत्तमता का गुण है।

2) 'रजस'–यह उन्माद का गुण है, जो किसी भी भयावह, उग्र, सशक्त एवं सक्रिय रूप में पाया जाता है।

3) 'तमस'–यह मंदबुद्धि, उदासी व मूर्खता का गुण है।

इन तीन गुणों की विशेषताओं को ध्यान में रखते हुए समाज की सोपानीकृत व्यवस्था की व्याख्या की गई है–

1) ब्राह्मण, जो कि उत्तम और बुद्धिमान थे, उन्हें सात्विक कहा गया क्योंकि वे शाकाहार जैसी सात्विक प्रथाओं का पालन करते थे,

2) क्षत्रियों व वैश्यों में 'राजसी' गुण माने गए, तथा

3) शूद्रों में तामसिक गुण माने गए।

अब हम उद्‌भव के अंतिम सिद्धान्त की चर्चा करेंगे, जो दो संस्कृतियों के मध्य वास्तविक सांस्कृति सम्पर्क से विकसित समाज की सोपानीकृत व्यवस्था के विचार पर आधारित है। इनमें से एक विदेशी संस्कृति व अन्य स्थानीय संस्कृति थी। इस व्याख्या के प्रमाण अटकलवादी इतिहास पर आधारित हैं। इसका अर्थ यह है कि उपलब्ध ऐतिहासिक तथ्यों के कुछ स्वरूपों का विद्वानों द्वारा पारम्परिक समाज को समझने के लिये आधार के रूप में प्रयोग किया गया है। इतिहासवेत्ताओं का यह तर्क है कि जब इंडो–आर्यन प्रजाति ने सैकड़ों वर्ष पूर्व भारत जीता था तो वह अपने साथ पारम्परिक सामाजिक संस्थाएँ एवं मूल्य भी लाई थी, जिसे उसने स्थानीय जनता पर थोपा था। ये विजेता आर्य प्रजाति के थे तथा लम्बे, गोरे और तीखे नाक–नक्श वाले थे। इनका रंग अथवा वर्ण उस प्रजाति से भिन्न था, जिस पर उन्होंने विजय पाई थी। हारी हुई प्रजाति के लोग ठिगने, काले एवं गठे हुए शरीर वाले थे।

इन भौतिक विशेषताओं तथा रंग या वर्ण जैसे अन्य प्रजातीय गुणों के अंतर के आधार पर आर्यों ने एक द्विशाखी वर्गीकरण किया, जिसमें आर्य वर्ग तथा दास वर्ण, अथवा अनार्य वर्ग (यहाँ दास शब्द हारे हुए लोगों के लिये प्रयुक्त किया गया) थे। इतिहासवेत्ताओं की यह भी मान्यता है कि आर्य अपने साथ–साथ उपविभाजन भी लाए। हम यह देखते हैं कि आर्य दो संवर्गों में विभक्त थे– द्विज व अद्विज। अनार्य स्थानीय जन या दास तथा विदेशी या म्लेच्छ में विभक्त थे। इसमें से प्रत्येक समूह अपने कुछ निश्चित गुण–धर्मों के आधार पर उच्च अथवा निम्न के सोपानीकृत क्रम–विन्यास में व्यवस्थित था।

इन अनेक गुण–धर्मों में से चार को अत्यधिक महत्वपूर्ण माना गया है। वे थे–

अ) किसी का मनुष्य एवं पशुओं पर आधिपत्य है या नहीं,

ब) कोई द्विज है या नहीं।

स) किसी के पुरोहित वाले अथवा पवित्र कर्तव्य है या नहीं, तथा

द) कोई आर्य है या अनार्य।

यदि हम इन गुण–धर्मों को ध्यान में रखते हुए समाज व्यवस्था की प्रकृति की व्याख्या करना चाहें तो रूपरेखा के स्तर पर यह इस प्रकार होगी–

1) हमारे उपरोक्त कथन के अनुसार समाज में पाँच समूह हैं–

- ब्राह्मण
- क्षत्रिय
- वैश्य
- शूद्र

- अनार्य, जिन्हें दास व म्लेच्छ में उपविभाजित किया गया।

ऐसे चार गुण–धर्म हैं, जिनके होने अथवा न होने के आधार पर इन समूहों को सोपानक्रम में विन्यासित करने में मदद मिलती है। ये गुण–धर्म निम्न हैं–

- पवित्रता सम्बन्धी प्रकार्य
- आधिपत्य
- द्विज
- आर्य

इस प्रकार हम गुण–धर्म के आधार पर कह सकते हैं कि–

1) ब्राह्मणों के पवित्र प्रकार्य होते हैं, तथा उनका आधिपत्य भी है। वे द्विज व आर्य भी हैं।

2) क्षत्रियों के पास पवित्र प्रकार्यों के अतिरिक्त वह सब कुछ हैं जो ब्राह्मणों के पास हैं,

3) वैश्यों के पास पवित्र प्रकार्यों व आधिपत्य के अतिरिक्त वह सब कुछ हैं, जो ब्राह्मणों के पास है।

4) शूद्र, सिर्फ आर्य हैं, तथा

5) अनार्य के पास इनमें से कोई भी गुण–धर्म नहीं है। अतः वह निम्नतम् है।

18.4 जाति व्यवस्था : स्वरूपात्मक विश्लेषण

हमें इस बात पर ध्यान देना चाहिए कि जाति, विजय जैसी कुछ प्रक्रियाओं का परिणाम मात्र नहीं है, बल्कि जाति को उसके गुण–धर्मों अथवा बाह्य रूप से अवलोकन योग्य पहलुओं के संदर्भ में भी समझना आवश्यक है। हमें यह ध्यान रखना चाहिए कि जाति को सामाजिक अंतःक्रिया के स्वरूपों में देखने पर ये गुण–धर्म को समझने में सहायक होते हैं। ये निम्न हैं।

1. जातियों के सोपानीकरण में सहायता देते हैं,
2. जातियों के मध्य अंतःक्रिया निर्धारित करने में सहायक होते हैं, तथा
3. किसी जाति के सदस्यों के व्यवहार को निर्धारित करते हैं।

अर्थात् ये जाति के गुणधर्म हैं, जो यह निर्धारित करते हैं कि कोई व्यक्ति किसके साथ बैठ सकता है, किसके साथ खा सकता है तथा किसके साथ विवाह कर सकता है, आदि। अब हम उन कुछ विद्वानों के लेखों पर प्रकाश डालेंगे, जिन्होंने जाति व्यवस्था के अध्ययन के समय इन गुण–धर्मों को ध्यान में रखा है।

कार्ल मार्क्स के विचार :–

जर्मन विद्वान कार्ल मार्क्स ने समाज की प्रकृति और समाज व्यवस्था की प्रकृति किस प्रकार महत्वपूर्ण तरीके से अर्थव्यवस्था से प्रभावित होती है, इस पर प्रकाश डाला। एशियाटिक उत्पादन के तरीके के बारे में लिखते हुए उन्होंने अपने

अध्ययन में ग्रामीण सामाजिक संगठन की प्रकृति पर संक्षेप में लिखा है। मार्क्स के अनुसार किसी भी समाज में किसी भी समूह की स्थिति का निर्धारण उस समूह की जमीन के साथ सम्बन्धों पर आधारित होता है। यह इस बात से भी निर्धारित होता है कि ये सामाजिक समूह भूमि स्वामित्व रखते हैं या नहीं। अतः ग्रामीण भारतीय समाज में परस्पर आंतरिक रूप से निर्भर दो प्रकार की जातियों के अस्तित्व को परिभाषित किया गया जो निम्न हैं–

अ) भूमि पर काम करने वाली जातियाँ, तथा

ब) दस्तकार एवं सेवक जातियाँ।

भूमि पर काम करने वाली जातियाँ, अतिरिक्त उत्पादन करती है और इसे वे दस्तकार जातियों को देती हैं। ये दस्तकार जातियाँ, इसके बदले में उन्हें पारम्परिक दस्तकारी की निर्मित वस्तुएँ देती हैं। इस प्रकार की व्यवस्था में जहाँ दोनों जातियाँ अपनी स्वयं की आवश्यकताओं के लिये तथा परस्पर विनिमय के लिये उत्पादन करती थी, इस तरह एक प्रकार की व्यवस्था विद्यमान थी। सामाजिक संगठन की प्रवृत्ति लगभग परिवर्तनहीन थी तथा इसकी विशेषता यह थी कि इसमें संघर्ष और परिवर्तन का अभाव था अर्थात् इस प्रकार की व्यवस्था में जातियाँ अर्थव्यवस्था से उत्पन्न हो रही थीं अथवा मार्क्स के शब्दों में उत्पादन के तरीकों से उत्पन्न हो रही थीं। इस जाति का विशिष्ट गुण–धर्म यह था कि यह अर्थव्यवस्था से जुड़ी हुई थी। अतः जहाँ हम यह पाते हैं कि मार्क्स सामाजिक संरचनाओं को आर्थिक आधारों पर समझने का प्रयास करता है, वहीं मार्क्स का समकालीन जर्मन समाजशास्त्री मैक्स वेबर समाज में इसके सोपान के आधार पर व्याख्याएँ ढूँढ़ता हैं।

मैक्स वेबर के विचार :–

मैक्स वेबर ने जाति प्रणाली को इसकी विशेषताओं के आधार पर परिभाषित करने का प्रयत्न किया। उसने जाति को प्रस्थिति समूह के रूप में देखा अर्थात् ऐसा समूह जिसमें सदस्यों को उनकी सामाजिक एवं आर्थिक स्थिति तथा जीवन–स्तर के आधार पर जाना जाता है। इस प्रकार के समूहों पर उनकी सामाजिक अंतःक्रिया को सुनिश्चित करने के लिए प्रतिबन्ध लगाए जाते थे। उदाहरण के लिए कौन किससे शादी कर सकता है और एक व्यक्ति क्या काम कर सकता है? समय के अंतराल के बाद इसने जाति की विशेषताओं का रूप ले लिया क्योंकि इन विशेषताओं ने जातियों को परिभाषित करना आसान बना दिया। जातियों के बीच सम्बन्धों को भी सुनिश्चित किया गया और वास्तव में इसकी सुनिश्चितता को दूसरे महत्वपूर्ण वैचारिक सिद्धान्त द्वारा कायम रखा गया है। यह शुचिता और प्रदूषण की स्थिति के बीच धार्मिक संस्कारों के स्तर पर विरोध था, जो स्वयं को वस्तुओं एवं चीजों से संयुक्त कर सका। ऐसा माना जाता था कि जातियों को सोपानात्मक क्रम में रखने का एक महत्वपूर्ण कारण, जातियों में विद्यमान धार्मिक कर्म की शुचिता की मात्रा है। पूजा जैसे 'स्वच्छ व्यवसाय' को करने वाली उच्च श्रेणी की जातियों को कर्मकाण्ड की दृष्टि से अन्य जातियों की अपेक्षा अधिक शुद्ध माना जाता था।

वेबर के अनुसार, सामाजिक संगठन ब्राह्मण विचारधारा पर आधारित था जो हिन्दुओं के कर्म, धर्म एवं संस्कार के दार्शनिक विचारों की मान्यता की ओर संकेत करता है। हिन्दू मान्यता के अनुसार, प्रत्येक पवित्र हिन्दू अपने पूर्व जन्म के कर्म एवं धर्म के कारण विशेष जाति के कुल में जन्म लेता है। अतः प्रत्येक जाति के लिए अपनी पहचान को कायम रखना अति आवश्यक हो जाता है और उसे यह

भी चेष्टा करनी पड़ती है कि समाज में उसकी स्थिति न गिरे। इस प्रकार अपनी स्थिति को बनाए रखना, किसी प्रदूषित तत्व या व्यक्ति से किसी भी प्रकार के सम्बन्ध (चाहे वह प्रत्यक्ष अर्थात् शारीरिक हो या अप्रत्यक्ष अर्थात् भोजन इत्यादि के द्वारा हो) से दूर रहना चाहिए क्योंकि उन्हें इस बात का भय था कि इस प्रकार के सम्बन्ध या मेल–मिलाप से काई व्यक्ति अपनी प्रस्थिति से गिर सकता है।

सी0 बुग्ले के विचार :–

मैक्स वेबर द्वारा जाति को कुछ विशिष्ट गुण–धर्मों के सामाजिक एवं कर्मकाण्डीय आधार पर समझने के प्रयासों को फ्रांसीसी विद्वान सेलेस्टिन बुग्ले के लेखन से और अधिक स्पष्ट किया है। उन्होंने जाति पर 20वीं शताब्दी के आरम्भ में लिखा था। जाति को परिभाषित करने के प्रयास में काफी हद तक मैक्स वेबर के विचारों को दोहराया गया है। अतः बुग्ले के अनुसार हम यह पाते हैं कि–

(1) जाति व्यवस्था ने सम्पूर्ण समाज को समूहों की वृहत् संख्या में विभक्त कर दिया।

(2) ये समूह आनुवंशिक प्रकृति के थे, जिसका अर्थ यह है कि इनके समूहों की सदस्यता जन्म से थी, अर्थात् कोई भी व्यक्ति जाति में जन्म लेता है।

(3) ये समूह पर एक दूसरे से भिन्न होते हैं तथा कुछ निश्चित निषेध इन समूहों के मध्य दूरी बनाकर रखते हैं।

(4) यह दूरी विवाह सम्बन्धी निषेधों में अभिव्यक्त होती है। ये अंतर्विवाह अर्थात् अपने ही समूह में विवाह पर महत्व देते हैं। दूसरा, ये खान–पान पर निषेध लगाते हैं अर्थात् कौन किसके साथ भोजन कर सकता है या कौन किससे भोजन ग्रहण कर सकता है।

(5) इस दूरी के बावजूद इन समूहों में एक प्रकार के सम्बन्ध पाए जाते हैं। ये सम्बन्ध पारम्परिक व्यवसायों की विशिष्टीकृत प्रकृति या श्रम विभाजन पर आधारित अन्तःनिर्भरता का स्वरूप ग्रहण कर लेते हैं,

(6) ये कारक या गुण–धर्म मिलकर एकमात्र सिद्धान्त को व्यक्त करते हैं–शुचिता व प्रदूषण के मध्य कर्मकांडीय विपरीतता।

अतः बुग्ले के अनुसार, जाति के सोपानक्रम में उसका स्थान व उसके सदस्यों के व्यवसाय, उनकी सामाजिक अंतःक्रिया (वैवाहिक अथवा व्यावसायिक) तथा उन पर लगाए गए निषेधों से पहचाना जाता है। सोपानक्रम व समूहों के मध्य ऐसी गुण–धर्म दूरी थी जो किसी भी जाति की प्रस्थिति को सोपानक्रम में रखती थी तथा जातियों के मध्य अंतःक्रिया को निर्धारित करती थी।

18.5 गुणधर्मों के आधार पर जाति का विश्लेषण

उपरोक्त विवरण में हमने आपको यह बताने का प्रयास किया है कि किस प्रकार किन्हीं निश्चित गुण–धर्मों के आधार पर जाति व्यवस्था के अध्ययन की एक शुरुआत हुयी। इन गुण–धर्मों की प्रकृति व अर्थ का जैसा विवरण मार्क्स, वेबर एवं बुग्ले ने दिया है, उससे यह स्पष्ट हो गया है कि जाति की विशेष प्रकृति निर्धारण में ये गुण–धर्म क्या भूमिका निभाते हैं। इस भाग में, हम यह देखेंगे कि गुण–धर्मों के आधार पर जाति व्यवस्था की व्याख्या की यह पद्धति किस प्रकार बीसवीं

शताब्दी में एक प्रकार के उपागम के रूप में विकसित हुयी। अब हम इस संदर्भ में जी.एस. घुरिये के योगदान की चर्चा करेंगे।

जी.एस. घुरिए के विचार

जाति पर लिखते हुए, जी.एस. घुरिए ने कुछ निश्चित गुण–धर्मों को जाति के निश्चित निर्धारक तत्वों के रूप में माना है। घुरिए के अनुसार जाति के निम्न 6 गुण–धर्म अति महत्वपूर्ण हैं।

1) समाज का खण्डात्मक विभाजन

घुरिए जाति को उन सामाजिक समूहों के संदर्भ में देखते हैं जिनकी सदस्यता जन्म और प्रस्थिति से प्राप्त होती है। किसी भी जाति की सामाजिक स्थिति उसकी पारम्परिक महत्ता पर निर्भर होती है। समाज का खण्डात्मक विभाजन अनेक समूहों के उस विभाजन की ओर संकेत करता है, जिसमें प्रत्येक समूह का अपना एक सामाजिक जीवन था तथा अन्य जातियों से वे उच्च व निम्न स्तर के सम्बन्धों से जुड़े हुए थे।

2) सोपानक्रम

जाति का द्वितीय महत्वपूर्ण गुण–धर्म इसी से निकलता है। यह सोपानक्रम का गुण–धर्म समाज में अनेक खण्डों के एक सुनिश्चित योजना के अन्तर्गत व्यवस्थीकरण है। इस योजना ने समूहों को श्रेष्ठता एवं हीनता अथवा उच्च और निम्न स्थितियों में रखा। इन समूहों के क्रम–विन्यास में पूर्वगामिता का एक मान्य नियम था, जिससे सोपानक्रम में सबसे ऊपर ब्राह्मणों को तथा निम्नतम स्थान पर अछूतों को रखा गया।

3) भोजन, पोशाक, भाषा तथा प्रथा पर निषेध

घुरिए के अनुसार, उपरोक्त दो गुण–धर्म दूरी के विचार से प्रतिबिम्बित होते हैं। समूहों के मध्य दूरी तथा सोपानक्रम को विभिन्न समूहों के सदस्यों पर भोजन सम्बन्धी, विवाह सम्बन्धी, पोशाक, भाषा एवं प्रथा सम्बन्धी निषेधों को लगाकर बनाया जाता था। इसी के अन्तर्गत उच्च व निम्न जातियों को भौतिक रूप से भी एक दूसरे से दूर रखा जाता था। इसका तात्पर्य यह है कि निम्न जाति के लोग उच्च जातियों की भाषा, पोशाक, प्रथाओं का अनुकरण नहीं कर सकते थे, क्योंकि ऐसा करने से जातिबद्ध समाज के आधारभूत नियमों की अवहेलना होती थी और यही नियम प्रदूषण को नियंत्रित करता था।

4) प्रदूषण

शुचिता का विचार उस वस्तु के बारे में होता है, जो शूद्र नहीं है अथवा उस क्रिया के बारे में होता है, जो अपनी शुचिता को छोड़कर प्रदूषित बन गए। इस प्रकार शुचिता की क्षति प्रदूषित करने वाली वस्तुओं (जैसे–मल, मूल आदि) अथवा मनुष्य (अछूत) के सम्पर्क में आने से होती है। निम्नतम जातियों को सर्वाधिक प्रदूषित माना गया। वस्तुतः प्रदूषण की मात्रा किसी भी समूह की अयोग्यताओं में प्रतिबिम्बित होती है। सर्वाधिक प्रदूषित जातियाँ सबसे अधिक सुविधाहीन थीं। इन अयोग्यताओं ने अनेक स्वरूप धारण किए और ये अयोग्यताएँ निम्न जाति को गाँव के कुएँ तथा मंदिर से वंचित रखती थीं। इन निम्न जातियों को गाँव की प्रमुख सीमा से बाहर

रहने के लिए मजबूर किया जाता था। वस्तुतः अनेक गाँवों की सड़कों तथा गलियों में विभक्त किया गया था, जिनमें कुछ विशिष्ट जातियाँ ही प्रवेश कर सकती थीं तथा रह सकती थीं। उदाहरण के लिए, हम तंजौर में कबावेहई गाँव में हिन्दू जातियों के तीन प्रमुख विभाजन पाते हैं। ब्राह्मण, गैर–ब्राह्मण तथा आदि द्रविड़ (अछूत)। गाँव में ये भिन्न–भिन्न गलियों में रहते थे, जिससे ब्राह्मण उत्तर में और आदि द्रविड़ गाँव के दक्षिण में रहते थे। इन दोनों क्षेत्रों को धान के खेत व मुख्य सड़कें अलग करती थीं।

इसी प्रकार निम्न जाति के किसी व्यक्ति की उपस्थिति तथा परछाई भी अछूत मानी जाती थी। मराठा और पेशवा के शासन में महार जाति (निम्न जाति के खेतिहर मजदूर) को पूजा स्थल के दरवाजों पर सुबह नौ बचे के पूर्व व दोपहर तीन बजे के बाद प्रवेश नहीं करने दिया जाता था, क्योंकि इस समय परछाई बहुत लम्बी होती है और अनजाने में किसी उच्च जाति के व्यक्ति पर पड़कर उसे प्रदूषित कर सकती थी। कुछ क्षेत्रों में विशेष रूप में मालाबार क्षेत्र में निम्न जातियाँ ऐसा कुछ भी प्रयोग नहीं कर सकती थीं अथवा पहन सकती थीं, जो उच्च जाति के वस्त्राभूषण शैली का अंग हो। इसके अन्तर्गत जूते पहनने, छतरी रखने अथवा स्वर्ण आभूषण पहनने पर निषेध था।

5) व्यावसायिक संघ

घुरिए के अनुसार प्रत्येक जाति एक पारम्परिक व्यवसाय से जुड़ी हुई थी। इसकी चर्चा हम जाति व्यवस्था के उद्‌भव से सम्बन्धित विवरण में कर चुके हैं। चूंकि व्यवसायों के मध्य भी शुचिता व प्रदूषण में भेद किया जाता था, अतः आनुवंशिक व्यवसाय किसी भी जाति की प्रस्थिति के द्योतक थे। उदाहरण के लिए, ब्राह्मण पुजारी का व्यवसाय करते थे, जबकि निम्न जातियों ने नाई, मोची, धोबी आदि व्यवसायों को अपना रखा था।

6) अंतर्विवाह

अंततः प्रत्येक जाति अपने सोपानक्रम व प्रस्थिति को बनाए रखने के लिए अंतःक्रिया व व्यवसाय पर ही निषेध नहीं लगाती थी बल्कि वैवाहिक सम्बन्धों पर भी निषेध लगाती थी। विभिन्न जातियों के मध्य अंतर्विवाह निषिद्ध होता था। अतः एक जाति के सदस्यों का विवाह उसी जाति के सदस्यों से होता था, अर्थात् अंतःविवाह प्रथा का प्रचलन था। प्रत्येक जाति को उपभागों या उपजातियों में बाँटा गया क्योंकि ये अंतःविवाह की इकाइयाँ थीं। उदाहरण के लिए, वैश्य सोपानक्रम। बनिया जाति को श्रीमाली, पोरवल, मोध जैसी अनेक उपजातियों में बाँटा गया। पोरवल उपजाति को दस्सा व बीसा में फिर विभक्त किया गया। दस्सा दो प्रकार के होते हैं, जो सूरत व बम्बई में रहते हैं। सूरत व बम्बई दस्सा के मध्य विवाह होता है।

जे.एच. हट्‌टन के विचार

घुरिए के कार्य के साथ–साथ जे.एच. हट्‌टन की विचारधारा का भी प्रमुख योगदान है। 1946 में प्रकाशित हुई, अपनी पुस्तक 'कास्ट इन इण्डिया' में हट्‌टन ने जाति व्यवस्था की संरचना का वर्णन किया है। उन्होंने जाति को बहुत जटिल संस्था माना है। जिसका मूल आधार अंतःविवाह की धारणा में है। उन्होंने आगे यह बताया है कि कौन व्यक्ति किसके साथ खान–पान करता है, किस पर निषेध है।

इसके अतिरिक्त प्रत्येक जाति का एक निश्चित आनुवांशिक व्यवसाय रहा है। इसके साथ सभी जातियों में विखण्डन (ठीक जैसे अणु विभाजित होकर परमाणुओं की लघुतर इकाईयों में विखंडित होता है) की प्रक्रियाएँ भी चलती रहती है। उदाहरण के लिए, 1931 सें, पशु रखने वाली अहीर, ग्वाला, गोप जैसी अनेक जातियाँ एक नए नाम यादव के अंतर्गत मिल गई। हट्टन की यह भी मान्यता है कि जातियाँ परस्पर वैवाहिक निषेध द्वारा अलग–अलग बनी हुई हैं, फिर भी उनके लिए यह निषेध है कि किसी अन्य जाति द्वारा पकाया हुआ भोजन स्वीकार नहीं करना चाहिए। इस भोजन सम्बन्धी निषेध से अन्य महत्वपूर्ण कारकों पर भी प्रभाव पड़ता है। उदाहरणार्थ–

1) भोजन बनाने के लिए पानी कौन लाया व किसने भोजन पकाया?

2) किस बर्तन में पानी लाया गया अथवा किस बर्तन में भोजन पकाया गया, अर्थात् मिट्टी के बर्तन, पीतल या ताँबे के बर्तन में? इनमें से प्रत्येक एक दूसरे से कम या अधिक प्रदूषित हैं।

3) किस प्रकार का अर्थात् 'कच्चा' या 'पक्का' भोजन परोसा गया? जल में पकाया गया भोजन (ऐसे भोजन को समजाति या उच्च जाति के लोगों से ही स्वीकार किया जा सकता है) कच्चा भोजन होता है, तथा घी में पका भोजन पक्का भोजन होता है, जिसे अन्य जाति के लोगों द्वारा भी स्वीकार किया जा सकता है।

4) अंततः भोजन के विभिन्न प्रकारों में भी सोपान है। इसीलिए शाकाहारी भोजन, माँसाहारी भोजन में उच्चतर माना जाता है। ब्राह्मण सामान्यतया शाकाहारी होते हैं, परन्तु कुछ स्थानों पर जैसे बंगाल व कश्मीर में वे माँस व मछली खाते हैं।

विशेष ध्यान देने से यह पता चलता है कि खान–पान सम्बन्धी निषेध समूहों के मध्य दूरी व सोपान की प्रकृति के द्योतक हैं। भोजन की अस्वीकृति सोपान की श्रेष्ठता का परिचायक है। अंतःक्रिया के इस प्रकार के निषेधों से जुड़ी हुई मुख्य धारणा अशुद्धि की है।

भारत के कुछ भागों में विशेषतः दक्षिण भारत में, सम्पर्क द्वारा अशुद्धि के भय ने उच्च व निम्न जातियों के मध्य शारीरिक दूरी का स्थान ले लिया है। निम्न जातियों को न केवल गाँव के कुएँ व मंदिर से दूर रहना पड़ता है, बल्कि उच्च जातियों के लोगों से अंतःक्रिया के दौरान शारीरिक दूरी भी बना कर रखनी पड़ती है। उदाहरण के लिए, दक्षिण भारत में, 'तियान' नामक ताड़ी बनाने वाली निम्न जाति को नंबूदरी ब्राह्मणों की उच्च जाति से छत्तीस कदम की दूरी रखनी पड़ती थी अथवा, 'पुलायन' नामक खेतिहर जाति को छियानवे कदम की दूरी रखनी पड़ती थी।

इस प्रकार हट्टन ने जाति की व्याख्या का प्रयास किया है कि किस प्रकार लोग एक दूसरे के साथ सम्बन्धित होते हैं तथा अंतःक्रिया करते हैं या एक दूसरे से दूरी बनाकर रखते हैं। किस तरह वे किसी जाति के गुण–धर्म (प्राथमिक रूप से शुद्ध या अशुद्ध विवाह योग्य या विवाह अयोग्य) जातियों के मध्य सम्बन्धों को निर्धारित करते हैं।

इस प्रकार घुरिए तथा हट्टन के योगदानों में हमने देखा है कि जाति व्यवस्था की प्रकृति को किस प्रकार जाति की अंतर्विवाह प्रथा, खान–पान सम्बन्धी निषेध और उच्च व निम्न जातियों के मध्य सम्पर्क के आधार पर समझा जा सकता

है। बीसवीं शताब्दी के आरम्भ में ये विद्वान इस बात पर अधिक ध्यान देते हैं कि किस प्रकार जातियों के मध्य सम्बन्ध उनके गुण–धर्मों द्वारा निर्धारित होते हैं। वहीं पर बीसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध के विद्वान इस बात पर अधिक ध्यान देते हैं कि किस प्रकार ये गुण–धर्म कार्य करते हैं, जिससे जाति के चरित्र तथा जातियों के मध्य अंतःक्रिया को प्रत्यक्ष रूप से निर्धारित कर सके।

एम. एन. श्रीनिवास के विचार :–

एम.एन. श्रीनिवास तथा ड्यूमाँ भी जाति के इन गुण–धर्मों का अध्ययन करते हैं परन्तु उनके अध्ययन का केन्द्र बिन्दु भिन्न है। उनके लिए यह मात्र जातियों के लिए महत्वपूर्ण गुण–धर्म ही नहीं है बल्कि जातियों के मध्य इन गुण–धर्मों के आधार पर उभरने वाले सम्बन्धों की संरचना भी उतनी ही महत्वपूर्ण है। जैसे–जैसे आप आगामी विचारों का अध्ययन करेंगे, वैसे–वैसे इसका अर्थ आपको स्पष्ट हो जाएगा।

एम.एन. श्रीनिवास जाति को एक खण्डात्मक व्यवस्था के रूप में देखते हैं। उनके अनुसार प्रत्येक जाति उपजातियों में बँटी है जो निम्न हैं–

1. अंतर्विवाह की इकाइयाँ,
2. जिसके सदस्य समान व्यवसाय करते हों,
3. सामाजिक एवं कर्मकांडीय जीवन की इकाइयाँ,
4. जिसके सदस्यों की संस्कृति समान हो,
5. जिसके सदस्य पंचायत नामक समान सत्तात्मक संस्था द्वारा नियंत्रित होते हों।

उपजाति के इन कारकों के अतिरिक्त, श्रीनिवास के अनुसार, कुछ निश्चित गुण–धर्म भी बहुत महत्वपूर्ण हैं। ये निम्न हैं–

1) सोपानक्रम

श्रीनिवास के अनुसार, सोपानक्रम जाति व्यवस्था का सार है। यह आनुवंशिक समूहों के क्रम–विन्यास से सम्बन्धित है। उन्होंने यह भी बताया है कि सोपानक्रम के संदर्भ में सिर्फ सर्वोच्च स्थान वाला ब्राह्मण अथवा निम्नतम स्थान वाले अछूतों की प्रस्थिति ही सर्वाधिक स्पष्ट है। सोपानक्रम में मध्य क्षेत्र के बारे में काफी लचीलापन है, यहाँ प्रश्न इस बात का है कि मध्यम क्षेत्र के अंदर कौन से सदस्य आएँगे। वस्तुतः श्रीनिवास के अनुसार सोपानक्रम में पारस्परिक स्थितियों के बारे में विवाद है। इसका अर्थ यह है कि सोपानक्रम में अ, ब, स, तथा द चार जातियाँ हो सकती हैं और ऐसा भी हो सकता है कि इनमें से एक जाति को जो स्थान प्राप्त हुआ है उसे वे स्वीकार न करें। उनके स्थान पर वह एक वैकल्पिक स्थान प्राप्त करने की कोशिश करें। यहाँ इस बात की कोई निश्चितता नहीं है कि किसी जाति द्वारा चाही गई नई स्थिति उसे मिल जाएगी। उदाहरण के लिए दक्षिण भारत में लोहारों के एक समूह ने द्विज प्रस्थिति का दावा किया। वे अपने आपको विश्वकर्मा ब्राह्मण कहते हैं, परन्तु अन्य जातियाँ इसका प्रतिरोध करती हैं और यहाँ तक कि हरिजन भी उनके हाथ का पानी नहीं पीते। चूँकि किसी भी जाति का सोपानक्रम या प्रस्थिति उसके गुण–धर्मों से बहुत गहराई तक जुड़ा होता है, इसलिए सोपान में प्रस्थिति बदलने की

इच्छा का अर्थ है उस जाति के गुण–धर्मों की प्रकृति में भी परिवर्तन लाया जाए। यह प्रयास, 'संस्कृतिकरण' नामक एक महत्वपूर्ण प्रक्रिया का आधार बन जाता है, जिसके बारे में हम आगे चर्चा कर रहे है।

2) व्यावसायिक संघ

श्रीनिवास ने किसी भी जाति व उसके व्यवसाय के मध्य एक घनिष्ठ सम्बन्ध पाया है। उनके अनुसार जाति "व्यावसायिक विभेदीकरण के व्यवस्थीकरण से अधिक कुछ भी नहीं है। जातियाँ उनके व्यवसाय द्वारा पहचानी जानी है तथा अनेक नाम उनके व्यवसाय से जुड़े होते हैं। (उदाहरणार्थ लोहार, सोनार, कुम्हार, चमार, तेली आदि)। उन्होंने इस बाद पर भी बल दिया है कि व्यवसाय उच्च व निम्न के सोपानक्रम में व्यवस्थित होते हैं।

3) खान–पान, पोशाक, भाषा एवं प्रथा सम्बन्धी निषेध

ये सभी जातियों में पाये जाते हैं। भोजन की स्वीकृति पर भी भोजन सम्बन्धी सोपानक्रम व निषेध होते हैं।

4) प्रदूषण

जातियों के मध्य दूरी प्रदूषण के सिद्धान्त पर टिकी होती है। श्रीनिवास का यह भी मत है कि उच्च जातियों को किसी भी ऐसी वस्तु या व्यक्ति के सम्पर्क में नहीं आना चाहिए जो प्रदूषित हो। प्रदूषित के सम्पर्क में आने से जाति अशुद्ध हो जाती है तथा उसे शुद्धिकारक धार्मिक रीतियाँ पूरी करनी पड़ती हैं। यदि अशुद्धि गम्भीर हो जैसे यदि किसी उच्च जाति के व्यक्ति का अछूत के साथ यौन सम्बन्ध स्थापित हो जाए तो उच्च जाति के व्यक्ति को जाति से निकाला भी जा सकता है।

5) जाति पंचायत व सभाएँ

उपरोक्त जाति के गुण–धर्मों के अतिरिक्त प्रत्येक जाति पर एक व्यवस्था बनाए रखने वाली सभा या पंचायत का नियंत्रण होता है। किसी भी गाँव में प्रत्येक जाति के बुजुर्ग सामूहिक रूप से अपनी सत्ता का प्रयोग करके सामाजिक व्यवस्था बनाए रखते है, और प्रत्येक जाति के सदस्य को अपनी जाति सभा की सत्ता माननी पड़ती है। किसी भी जाति सभा की सत्ता गाँव की सीमा के बाहर अन्य गाँवों की जातियों पर भी लागू हो सकती है।

उपरोक्त चर्चा से यह स्पष्ट है कि किसी भी जाति के गुण–धर्म निश्चय ही अंतःजातीय सम्बन्धों की प्रकृति को निर्धारित करते हैं। ये जातीय गुण–धर्म अथवा प्रथाएँ ही जाति की सोपान स्थिति को निश्चित करती हैं।

संस्कृतिकरण

हम यह पहले ही अध्ययन कर चुके हैं कि किस प्रकार प्रत्येक जाति को जातिगत सोपानक्रम में इसके गुण–धर्मों के शुचिता व प्रदूषण के आधार पर प्रस्थिति मिलती है। मैसूर गाँव के अध्ययन में, श्रीनिवास ने यह पाया कि किसी न किसी समय, प्रत्येक जाति, अपने गुण–धर्मों को त्याग कर व अपने से ऊँची जातियों के गुण–धर्मों को अपनाने का प्रयास करके, सोपानक्रम में अपनी प्रस्थिति को ऊँचा उठाने का प्रयास करती है। किसी भी जाति द्वारा निम्न स्तर पर

परिभाषित करने वाले गुण–धर्मों को त्यागकर तथा अपने से उच्च प्रस्थिति वाले गुण–धर्मों को अपनाकर अपनी प्रस्थिति उच्च बनाने वाले प्रयासों की प्रक्रिया, संस्कृतिकरण कहलाती है। इस प्रक्रिया में मूलतः खान–पान में परिवर्तन–माँसाहार से शाकाहार, व्यवसाय में अस्वच्छ व्यवसाय से स्वच्छ व्यवसाय में परिवर्तन आते हैं।

हमने इस बात से आरम्भ किया था कि किस प्रकार श्रीनिवास के लिए जाति के गुण–धर्मों से अधिक महत्वपूर्ण, जातियों के आस–पास उभरने वाले सम्बन्धों की संरचना है। इसका तात्पर्य यह है कि किसी जाति के गुण–धर्म, उनके मध्य अंतःक्रिया के आधार बनते हैं। अंतःक्रिया व अंतःसम्बन्धों के प्रतिमान के गठन की सर्वश्रेष्ठ अभिव्यक्ति श्रीनिवास द्वारा प्रयुक्त अवधारणा 'डोमिनेंट कास्ट' या 'प्रभुत्वशील जाति' में होती है। प्रभुत्वशील जाति में गुण–धर्मों में तीन अन्य गुण–धर्मों का योग होता है। जो निम्न हैं–

1. संख्यात्मक शक्ति
2. भू–स्वामित्व के माध्यम से आर्थिक शक्ति, तथा
3. राजनीतिक शक्ति।

कोई भी प्रभुत्वशील जाति वह है, जो ग्रामीण समुदाय में उपरोक्त तीनों गुण–धर्म रखती है। इस धारणा का रोचक पक्ष यह है कि किसी भी जाति की कर्मकांडीय प्रस्थिति अब सामाजिक सोपान में उसकी प्रस्थिति के लिए महत्वपूर्ण आधार नहीं रहती। यदि कोई जाति सामाजिक सोपान में निम्न स्थान में होने के कारण निम्न प्रस्थिति की होती है, तो भी वह उस गाँव में प्रभुत्वशील जाति या समूह बन सकती है। यदि उसके पास संख्यात्मक शक्ति, भू–स्वामित्व तथा ग्रामीण मामलों में राजनीतिक प्रभाव हो। निस्संदेह, अपेक्षाकृत रूप से उच्चतर कर्मकांडीय प्रस्थिति वाली जाति को प्रभुत्वशील बनने में शायद अधिक आसानी होगी। परन्तु ऐसा सदैव नहीं होता।

लुई ड्यूमाँ के विचार :–

जाति गुण–धर्मों पर स्पष्ट कथन व अंतःक्रियाओं के प्रतिमानों या संरचनाओं को गठित करने में ये कैसे कार्यशील होते हैं, इसका स्पष्ट संकेत फ्रांसीसी विद्वान लुई ड्यूमाँ की लेखनी में मिलता है। अपनी पुस्तक 'होमो हैरारकिकस' (1970) में, ड्यूमाँ ने जाति व्यवस्था की व्याख्या का प्रयास किया है।

ड्यूमाँ के अनुसार जाति व्यवस्था का आधारभूत सिद्धान्त शुचिता व प्रदूषण के मध्य विपरीतता का सिद्धान्त है।

ड्यूमाँ भी जाति को विभक्त रूप में देखता है, उसके अनुसार, इसका तात्पर्य यह नहीं है कि जाति सिर्फ उपभागों में बँटी है और प्रत्येक उपभाग एक दूसरे से स्वतंत्र हैं। बल्कि प्रत्येक खंड अपने ऊपर वाले खंड का भाग है। यह कुछ–कुछ प्याज के छिलके की भाँति है। एक छिलका उतारने पर एक नयी परत सामने आती है, जिसके नीचे वैसी ही कोई और परतें होती हैं। ये सभी परतें मिलकर प्याज बनाती हैं।

ड्यूमाँ के अनुसार जाति व्यवस्था खंडों का योग है। प्रत्येक खंड दूसरे खंड के साथ सोपानबद्ध सम्बन्ध में व्यवस्थित होता है तथा इसमें दूसरा खंड शामिल होता है। जातियों की इस असमानता एवं सम्बन्ध को ड्यूमाँ ने 'दी एकम्पासिंग' (जो अन्य को अपने में समेट लेता हो) व 'दी एन्कम्पास्ड' (जो किसी

में सिमटा हुआ है, निहित हो) कहा है। इसका अर्थ यह हुआ कि प्रत्येक जाति अपने स्वरूप में नीचे वाली जाति को सोपान में निहित करती है, अर्थात् ब्राह्मण की स्थिति का अपने आप में कोई अर्थ नहीं है। यद्यपि यह क्षत्रिय से श्रेयस्कर है, परन्तु क्षत्रिय के विपरीत व क्षत्रिय के साथ तुलना में ब्राह्मण की कर्मकांडीय श्रेष्ठता होती है।

इसके साथ ही ड्यूमाँ द्वारा दिया गया जाति का द्वितीय सर्वाधिक महतवपूर्ण गुण–धर्म, दूरी है। यह जाति के शुचिता अथवा प्रदूषण सोपानक्रम का द्योतक है तथा इसके साथ ही यह जाति की कर्मकांडीय प्रस्थिति को बनाए रखने में भी सहायता करता है। वस्तुतः जातियों के मध्य यह दूरी तथा इस दूरी को इसी तरह बनाए रखने की आवश्यकता, श्रम विभाजन तथा प्रत्येक जाति द्वारा किसी व्यवसाय में पारम्परिक सम्बन्धों के कारण (जिनमें इस जाति की विशिष्टता तथा एकाधिकार होता है) सम्भव हुआ है। शुचिता व प्रदूषण का सिद्धान्त खान–पान व विवाह सम्बन्धी क्षेत्रों में जातियों के मध्य सम्बन्धों का आधार है।

कौन किसके साथ भोजन करेगा या विवाह करेगा, इसके बारे में निषेध तथा इस सम्बन्ध में शामिल जातियों के शुचिता व प्रदूषण सोपानक्रम पर आधारित होता है। भोजन व विवाह सम्बन्धों के लिये केवल शुचिता या उच्च या समान जातियाँ ही विचार योग्य मानी जाती हैं।

इस प्रकार ये सम्बन्ध जाति की शुचिता या प्रदूषण वाले गुण–धर्म द्वारा निर्धारित होते हैं। ये जातियों के मध्य दूरी व सोपानक्रम के भी द्योतक हैं।

18.6 सारांश

इस इकाई में जाति व्यवस्था के गुण धर्मों की विशद् चर्चा की गयी है। जिसमें जाति उद्भव के आधार व अलग–अलग समाजशास्त्रियों यथा जी.एस. घुरिए, लुई ड्यूमाँ, एम.एन. श्रीनिवास, सी. बुग्ले द्वारा जाति सम्बन्धी विचारों की व्याख्या की गयी है। जाति के समाजशास्त्रीय सिद्धान्त निम्न गुण धर्मों पर प्रकाश डालते है यथा मार्क्स का मानना है कि सामाजिक व्यवस्था विशेषतः उत्पादन के तरीके की परिणति है, वही वेबर ने विशेषतः धर्म, कर्म के आधार पर सांस्कृतिक विचारधारा से जाति की व्याख्या की है। ड्यूमाँ ने जाति के गुण धर्मों की सूची बनाने की अपेक्षा इसके उन संरचनात्मक नियमों को पहचाना जो उसके अनुसार जाति व्यवस्था की व्याख्या के लिये मूल कार्य करते है। शुचिता एवं प्रदूषण उनका मूल सिद्धान्त है जिसके आधार पर जाति की व्याख्या करते हैं।

18.7 वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1. जाति व्यवस्था को स्थायी बनाये रखने वाला प्रमुख आधार कौन–सा है?

   क. अन्तर्विवाह ख. वर्ग व्यवस्था

   ग. बहिर्विवाह घ. नगरीकरण

2. जाति निर्धारण का आधार कौन–सा है?

   क. जन्म ख. प्रजाति

   ग. क्षेत्र घ. राष्ट्र

3. 'होमो–हाइरारकिक्स' कृति के लेखक हैं–

   क. घुरिये ख. लुई ड्यूमाँ

   ग. हट्टन घ. के.एम. पाणिक्कर

4. 'कास्ट इन इण्डिया' पुस्तक के लेखक का नाम है–

   क. हट्टन ख. कूले

   ग. घुरिए घ. मजूमदार व मदान

18.8 वस्तुनिष्ठ प्रश्नों के उत्तर

1. क
2. क
3. ख
4. क

18.9 संदर्भ–ग्रन्थ

- घुरिये, जी.एस. 1950, कास्ट एण्ड क्लास इन इण्डिया, बम्बई, पापुलर प्रकाशन।
- श्रीनिवास, एम.एन. 1966, सोशल चेन्ज इन माडर्न इण्डिया, बर्कले, यूनिवर्सिटी ऑफ कैलीफोर्निया प्रेस।
- ड्यूमाँ, लुई. 1970, होमो हैरारकिक्स : शिकागो, द यूनिवर्सिटी ऑफ शिकागो प्रेस।

इकाई–19

जाति के गुण–धर्मात्मक उपागम–II

इकाई की रूपरेखा

19.1 उद्देश्य

19.2 प्रस्तावना

19.3 जाति : गुण–धर्मात्मक उपागम

19.4 जाति के गुण–धर्मात्मक उपागम की आलोचना

19.5 सारांश

19.6 वस्तुनिष्ठ प्रश्न

19.7 वस्तुनिष्ठ प्रश्नों के उत्तर

19.8 संदर्भ–ग्रन्थ

19.1 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के बाद छात्र

1. जाति के अध्ययन पर गुण–धर्मात्मक उपागम द्वारा दिए गए प्रमुख बिन्दुओं के समझ सकेंगे।
2. विविध विद्वानों द्वारा प्रस्तुत गुण–धर्मात्मक उपागम की आलोचना को समझ सकेंगे।

19.2 प्रस्तावना

पिछली इकाई में हमनें जाति व्यवस्था की प्रकृति का अध्ययन किया था और 'गुण–धर्म' वाले उपागम पर ध्यान केंद्रित करके इसकी व्याख्या करने का प्रयास किया था। यह उपागम कुछ अंतर्निहित गुणों के विशिष्ट समूह अथवा गुण–धर्मों के प्रयोग पर आधारित है। ये गुण–धर्म जाति की विशेषता माने जाते हैं और यहाँ तक कि एक सोपानक्रम में जातियों की प्रस्थिति निर्धारित करते हैं। इसके प्रमुख प्रतिपादक आरम्भिक शास्त्रीय लेखकों से लेकर बीसवीं शताब्दी के विद्वान रहे हैं। गुण–धर्म वाले उपागम की आलोचनात्मक समीक्षा का उद्देश्य इसको अस्वीकार करना नहीं है, बल्कि यह देखने का प्रयास है कि गुण–धर्मों के संदर्भ के बिना भी क्या जाति–व्यवस्था की व्याख्या का कोई वैकल्पिक तरीका हो सकता है।

19.3 जाति : गुण–धर्मात्मक उपागम

सबसे पहले हम गुण–धर्मात्मक उपागम के प्रमुख बिन्दुओं का अध्ययन करेंगें। हमें यह ध्यान रखना होगा कि,

1) हमने जाति–व्यवस्था के उद्‌भव को कुछ आरम्भिक सिद्धान्तों की चर्चा से प्रारम्भ किया था।

2) इनमें से प्रत्येक सिद्धान्त, जाति–गुण, प्रजातीय विशेषताओं आदि की चर्चा अवश्य करते हैं।

3) तत्पश्चात् हमने जाति के कुछ हाल के अध्ययनों की चर्चा की है, जिसमें दूरी, सोपान तथा कर्मकांडीय शुचिता एवं प्रदूषण की धारणा (जैसे गुण–धर्मों की भूमिका) पर बल दिया गया है।

4) सोपानक्रम में जातियों के पद क्रम को बनाने व बनाए रखने वाले, उपरोक्त गुण–धर्मों से सम्बन्धित, भोजन व व्यावसायिक निषेध जैसे कुछ अन्य गुण–धर्मों की भूमिका पर चर्चा की है।

5) ये गुण–धर्म जिस बात के लिए महत्वपूर्ण हैं, उन गुण–धर्मों के आधार पर हमने यह पाया है कि किसी भी जाति की 'उच्चता' या 'निम्नता' मात्र गुण–धर्मों की शुचिता या प्रदूषण ही नहीं है, बल्कि इन गुण–धर्मों की उपस्थिति, अनुपस्थिति या मात्रा भी है। यहाँ यह बात भी किसी जाति के शुचिता या प्रदूषित व्यवसाय की धारणा से जुड़ी हुई है।

6) शुचिता व प्रदूषण की धारणा के संदर्भ में हमने देखा है कि किस प्रकार 'पुरोहित' जैसे 'स्वच्छ' व्यवसाय वाली, शाकाहार जैसे खान–पान के निषेध की अनुगामिनी, तथा अंतर्जातीय विवाह प्रथा मानने वाली जाति को इन 'शुद्ध' गुण–धर्मों के आधार पर उच्च जाति का स्थान प्राप्त होगा।

7) इसके विपरीत 'निम्न' जातियाँ हैं जो सफाई या धुलाई व्यवसाय में लगी हुई हैं, तथा जो खान–पान सम्बन्धी नियमों का कठोरता से पालन नहीं कर पातीं। वे माँसाहारी हैं और मद्यपान भी कर लेती हैं तथा अंतर्जातीय विवाह प्रथा को गम्भीरता से नहीं लेतीं।

8) उपरोक्त बिन्दुओं से हमने यह पाया है कि किस प्रकार किसी भी जाति को परिभाषित करने व कर्मकांडीय मूल्यों के पैमाने पर आधारित सोपानक्रम में इस जाति की स्थिति निर्धारित करने व बनाए रखने में खान–पान व्यवसाय व विवाह प्रथा सम्बन्धी शुचिता के आधारभूत गुण–धर्म थे।

गुण–धर्मात्मक उपागम के प्रमुख तर्कों के अध्ययन के पश्चात् अब हम इस उपागम की आलोचना व एक वैकल्पिक सिद्धान्त के प्रस्ताव पर चर्चा करेंगे।

19.4 जाति के गुण–धर्मात्मक उपागम की आलोचना

जब भी किसी नए सिद्धान्त का उपागम का सूत्रीकरण होता है, तब उसकी सत्यता, उपयोगिता अथवा व्यावहारिकता का सत्यापन तब तक नहीं हो सकता, जब तक कि उसका परीक्षण न हो। इसी प्रकार गुण–धर्मात्मक उपागम का परीक्षण उन कुछ विद्वानों द्वारा किया गया, जो जाति के अध्ययन में, इस उपागम के विश्लेषणात्मक मूल्य के बारे में बहुत आश्वस्त नहीं थे।

गुण–धर्मात्मक उपागम के आलोचकों ने इसके आधारभूत तर्कों अर्थात् गुण–धर्मों की भूमिका का विशिष्ट परिस्थितियों में जातिगत सम्बन्धों को समझने में परीक्षण किया है। इस क्षेत्र में मैकिम मैरियट का कार्य महत्वपूर्ण है।

मैकिम मैरियट के विचार

मैरियट ने उत्तर प्रदेश के अलीगढ़ जिले में किशनगढ़ी नामक गाँव में क्षेत्रीय अनुसंधान किया। उसने ग्रामीण सामाजिक सोपान की प्रकृति को समझने के लिए जाति के गुण–धर्मों की धारणा को प्रयुक्त करने का निश्चय किया। गाँव का चरित्र बहु–जातीय व बहु–व्यवसायी था, जिसमें कुल चौबीस समूह थे, ब्राह्मण, काश्तकार, माली, नाई, कुम्हार, भंगी आदि थे। विशिष्ट जातियों के सोपानक्रम के बारे में ग्रामवासियों से प्रश्न पूछने पर उसने पाया कि उसे सदैव उचित उत्तर नहीं मिले। इसके अतिरिक्त, उसने देखा कि उसके अध्ययन में जातियों के सोपानक्रम उनके गुण–धर्मों के अनुरूप नहीं हैं। इसका अर्थ यह हुआ कि सामाजिक सोपानक्रम में जातियों का स्थान उनके गुण–धर्मों की उच्चता या निम्नता का परिणाम नहीं है। वस्तुतः खान–पान व व्यवसाय सम्बन्धी निषेधों जैसे–गुण धर्मों से जातियों में कोई विभेदीकरण नहीं होता।

उदाहरण–1

मैरियट ने यह पाया कि भोजन के 'पक्का' या 'कच्चा' होने के कारण उसकी उच्चता या निम्नता (गुण–धर्म के बारे में जैसा कि पहले बताया गया है) तथा समजाति से भोजन ग्रहण करने की स्वीकृति व निम्न जाति से अस्वीकृति को जातियों के मध्य विभेदीकरण के लिये प्रयुक्त नहीं किया जा सकता, क्योंकि सभी जातियाँ दोनों ही प्रकार के भोजन पकाती व खाती हैं। वस्तुतः इस गाँव में, धोबी जैसी शाकाहारी तथा चमार जैसी माँसाहारी, जातियों को समान सोपानक्रम प्राप्त था। यह बात गुण–धर्म की इस धारणा के विपरीत है कि शाकाहारी जाति को माँसाहारी जाति से उच्चतर सोपानक्रम प्राप्त होता है।

उदाहरण–2

इसी प्रकार, व्यवसायों की शुचिता के आधार पर जातियों के सोपानक्रम या व्यवसायिक सोपानक्रम के बारे में मैरियट ने देखा कि जातियों की सोपानक्रम में स्थिति उनके व्यवसायों की उच्चता या निम्नता पर निर्भर नहीं है। अतः जो जातियाँ स्वच्छ व्यवसाय करती थीं, उनको भी अलग–अलग सोपानक्रम मिले हुए थे। बढ़ई की सामाजिक स्थिति माली से ऊँची थी व माली की स्थिति काश्तकार से ऊँची थी। जबकि दूसरी ओर, विभिन्न व्यवसायिक शुद्धता वाली जातियों का सोपानक्रम भिन्न नहीं था। अतः नाई, गडरिया व कहार (पानी भरने वाला) को स्थानीय सोपानक्रम में समान स्थिति प्राप्त थी। जातियों के गुण–धर्म व उनके सोपानक्रम में ऐसी अनियमितता पाने पर मैरियट इस निष्कर्ष पर पहुँचा कि जाति सोपानक्रम के आधार के रूप में व जातीय सम्बन्धों को समझने में गुण–धर्मों के प्रयोग से समस्याएँ उठती हैं। मैरियट की कठिनाइयों के अतिरिक्त, कुछ अन्य विद्वानों ने भी आनुभविक अवलोकन के आधार पर कुछ आलोचनाएँ दी हैं। यहाँ कुछ आलोचनाओं की संक्षिप्त चर्चा की जाएगी।

अन्य विद्वानों के विचार

1. आलोचनात्मक विचार

प्रायः यह देखा गया है कि जब कोई किसी जाति की प्रस्थिति की प्रकृति एवं ग्रामीण स्तर पर अंतःक्रिया का अध्ययन करता है, तब कभी–कभी तथ्य सिद्धान्त के अनुरूप नहीं मिलते। ऐसा हमने मैरियट के अध्ययन में पाया है। इसी प्रकार कुछ अन्य विद्वानों ने भी अध्ययन करके बताया है कि प्रायः स्वच्छ व शुद्ध व्यवसाय व खान–पान वाली जातियों का सोपानक्रम उन जातियों से निम्न होता है, जो कम शुद्ध अथवा अधिक प्रदूषित व्यवसाय करती हैं।

उदाहरण के लिए श्रीनिवास द्वारा अध्ययन किए गए मैसूर के एक गाँव में शाकाहारी व माँसाहारी, स्वच्छ व अस्वच्छ व्यवसाय वाली दोनों जातियाँ रहती हैं, व्यापारी जाति शाकाहारी भी होती है तथा किसान जैसी अन्य जातियों की तुलना में स्वच्छ व्यवसाय करती है परन्तु किसान जैसी जातियों का सोपानक्रम, व्यापारी जाति से उच्चतर है। यह बात जाति के गुण–धर्म व जाति के सोपानक्रम में अनियमितता दर्शाती है।

2. आलोचनात्मक विचार

यदि हम यह मान लें कि किसी जाति के गुण–धर्म (अर्थात् उसकी भोजन व व्यवसाय सम्बन्धी आदतें) उस जाति के सोपानक्रम को निर्धारित करते हैं वस्त्र धोने जैसे कुछ ऐसे कार्य हैं, जो सभी जातियाँ अपने लिये करती हैं, अथवा दक्षिण भारत में, कुछ जातियाँ अपने निजी भोजन के लिये बकरे मारती हैं। वस्त्र धोना व पशु मारना दोनों ही प्रदूषित कार्य हैं। परन्तु जब सामाजिक स्थितियों का अवलोकन किया जाता है तो यह देखा जाता है कि इन कार्यों से होने वाला प्रदूषण सिर्फ उन जातियों को प्रभावित नहीं करता जो पारम्परिक रूप से वस्त्र धोने व पशु मारने के व्यवसाय में लगी हुई हैं।

यहाँ एक महत्वपूर्ण प्रश्न यह उठता है कि, क्या गुण–धर्म सिर्फ पारम्परिक रूप से चयनित व्यवसायों के लिये ही हैं? यदि यह बात सही है, और मान लीजिए कि एक ही जाति दो विभिन्न क्षेत्रों में भिन्न–भिन्न व्यवसाय करती है, तो इन जातियों का सोपानक्रम कैसे निर्धारित किया जाएगा।

3. आलोचनात्मक विचार

तीसरी समस्या गुण–धर्मों के महत्व की है। कर्मकांडीय मूल्यों के मापदण्ड पर कौन सा गुण–धर्म सोपानक्रम के लिए महत्वपूर्ण है? प्रायः यह देखा जाता है कि किसी जाति के गुण–धर्मों का एक मिश्रण होता है, अर्थात् शुद्ध व्यवसाय वाली जाति माँसाहारी हो सकती है अथवा एक जाति प्रदूषित व्यवसाय के होते हुए भी शाकाहारी व अंतर्जातीय विवाह प्रथा वाली हो सकती है। इस प्रकार दोनों प्रकार की जातियों में शुचिता व प्रदूषण गुण–धर्मों का मिश्रण होता है। इस प्रकार के मामले में, इन दोनों जातियों में से किस जाति को तथा किस गुण–धर्म के आधार पर उच्चतर सोपानक्रम में रखा जाए।

इस संदर्भ में उत्तरी, पूर्वी व दक्षिण भारत में कुछ ब्राह्मण जातियों का एक रोचक उदाहरण है। गुण–धर्मात्मक उपागम के अनुसार, ब्राह्मण वे हैं, जिनके व्यवसाय की शुचिता के गुण–धर्म, अर्थात् पौरोहित्य, भोजन की शुचिता अथवा विशुद्ध शाकाहारी तथा मद्यनिषेध होते हैं। इन 'शुचिता' गुण–धर्मों के कारण इनका स्थान सोपानक्रम में उच्चतम होता है।

परन्तु जब हम कश्मीर, बंगाल व दक्षिण भारत (कोंकण क्षेत्र) के ब्राह्मणों का उदाहरण लेते हैं, तो हम यह पाते हैं कि वे माँसाहारी होते हुए भी अपनी महत्वपूर्ण सामाजिक स्थिति को बनाए हुए हैं। अतः अब हम अपना वह प्रश्न उठा सकते हैं कि सोपानीकरण हेतु कौन सा गुण–धर्म महत्वपूर्ण होता है? क्या प्रदूषित व्यवसाय वाली शाकाहारी जाति निम्न है या शुचिता व्यवसाय वाली माँसाहारी जाति निम्न है? यह एक समस्या मूलक बात है।

4. आलोचनात्मक विचार

जैसा कि मैकियम ने अपने ग्रामीण अध्ययन में यह पाया है कि भोजन व व्यवसाय के समान गुण–धर्मों वाली जातियों का बहुधा सोपानक्रम भिन्न होता है। इसी प्रकार के प्रमाण अन्य स्थानों में भी पाए गए हैं। उड़ीसा के बिसीपारा ग्राम के अपने अध्ययन में एफ.जी. बेली ने बताया है कि किस प्रकार गाँव में सभी इक्कीस जातियाँ माँसाहारी हैं (यहाँ तक कि ब्राह्मण भी बकरियाँ मार कर खाते हैं) परन्तु फिर भी ग्रामवासी उनको भिन्न–भिन्न सोपानक्रम प्रदान करते हैं।

हमने आपको ऊपर कुछ उदाहरण दिए हैं कि किस प्रकार गुण–धर्मात्मक उपागम सभी स्थितियों में लागू नहीं होते अथवा विभिन्न प्रकार की स्थितियों की व्याख्या करने में असफल रहते हैं। आलोचकों के अनुसार, इससे इस बात का पता चलता है कि जिस प्रकार से जाति की व्याख्या हेतु गुण–धर्मों का प्रयोग किया जाता है, उसमें किसी प्रकार की त्रुटि है। यह जाति की व्याख्या हेतु एक वैकल्पिक तरीके की सम्भावना को भी बताता है। आलोचकों ने जाति व्यवस्था व उसकी प्रकृति के बारे में कुछ निश्चित निष्कर्ष निकालने के लिए, इन्हीं गुण–धर्मों का प्रयोग करते हुए एक वैकल्पिक उपागम प्रस्तावित किया है। जैसा कि पहले बताया जा चुका है, कि यह एक अंतःक्रियात्मक उपागम है। जातियों के सामाजिक सोपानक्रम के आधार के रूप में यह जातियों के मध्य अंतःक्रिया के महत्व पर बल देता है।

19.5 सारांश

इस इकाई में हमने यह स्पष्ट करने का प्रयास किया है कि किस प्रकार जाति की व्याख्या के लिये गुण धर्मात्मक उपागम पर्याप्त नहीं है इस इकाई के अन्तर्गत जाति के गुण धर्मात्मक उपागम–II की चर्चा की गयी है एवं विविध आलोचकों के विचारों को भी स्पष्ट करने का प्रयास किया गया है।

19.6 वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1. 'किशन गढ़ी' गाँव का अध्ययन किया है–

   क. घुरिए ख. कूले

   ग. पाणिक्कर घ. मैकियम मैरियेट

2. 'विलेज इण्डिया' के लेखक हैं–

   क. मैरियेट ख. घुरिए

   ग. मजूमदार व मदान घ. हट्टन

3. 'कास्ट, क्लास एण्ड आकुपेशन' कृति किसकी है?

   क. घुरिए ख. कूले

   ग. ड्यूमाँ घ. हट्टन

4. अस्पृश्यता का सम्बन्ध किससे है–

   क. वर्ग व्यवस्था ख. जाति व्यवस्था

   ग. सम्पदा घ. दास प्रथा

19.7 वस्तुनिष्ठ प्रश्नों के उत्तर

1. घ
2. क
3. क
4. ख

19.8 संदर्भ–ग्रन्थ

- मैरेट, मैकियम, 1959, इंटरएक्शनल एण्ड एट्रीव्यूशनल थ्योरीज ऑफ कास्ट रैकिंग।
- घुरिए, जी.एस. 1950, कास्ट एण्ड क्लास इन इण्डिया, बम्बई, पापुलर, प्रकाशन।

इकाई–20

जाति के अन्तः क्रियात्मक उपागम–I

इकाई की रूपरेखा

20.1 उद्देश्य

20.2 प्रस्तावना

20.3 जाति के अन्तःक्रियात्मक उपागम

20.4 सारांश

20.5 मिलान प्रश्न

20.6 मिलान प्रश्नों के उत्तर

20.7 संदर्भ ग्रन्थ

20.1 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के बाद छात्र

1. जाति के अध्ययन हेतु गुण–धर्मात्मक उपागमों व अंतःक्रियात्मक उपागमों में अंतर समझ सकेंगे।
2. जाति अध्ययन के अंतःक्रियात्मक उपागमों को समझ सकेंगे।
3. अंतःक्रियात्मक उपागम के अंतर्गत विविध विद्वानों के विचारों को समझ सकेंगे।

20.2 प्रस्तावना

भारतीय समाज को समझने के लिए, जाति व्यवस्था को समझना अनिवार्य है। जाति व्यवस्था भारतीय समाज की सर्वाधिक महत्वपूर्ण विशेषता हैं। अनेक विद्वानों का मत है कि जाति व्यवस्था एक अद्वितीय भारतीय व्यवस्था है। समकालीन भारतीय जीवन के सभी क्षेत्रों में जाति का प्रभाव दिखाई पड़ता है।

पूर्व की इकाईयों में हमने जाति की व्याख्या हेतु गुण–धर्मात्मक उपागमों की चर्चा की है। जाति के उद्भव से सम्बन्धित अनेक सिद्धान्तों के बारे में जानकारी दी। तत्पश्चात् आपको जाति पर अनेक पाश्चात्य विद्वानों के विचारों से अवगत कराया गया। अपने गुणों के माध्यम से जाति व्यवस्था के व्याख्या की पद्धति तथा इस प्रकार के एक गुण–धर्मात्मक उपागम की कमियों का अध्ययन किया।

उपरोक्त इकाई में हम जाति के अध्ययन हेतु कुछ अंतःक्रियात्मक उपागमों की विस्तृत चर्चा करेंगे। आरम्भ में हम गुण–धर्मात्मक एवं अंतःक्रियात्मक उपागमों

के विभिन्न मतों पर चर्चा करेंगे। आपको इस प्रक्रिया में अंतःक्रियात्मक उपागम की महत्वपूर्ण विशेषताओं की जानकारी उपलब्ध होगी। जाति की व्याख्या के लिए एफ. जी. बेली, एड्रियन मेयर एवं मैकिम मैरियट के योगदानों का वर्णन किया जाएगा। अंत मे इस उपागम की कुछ आलोचनाओं पर प्रकाश डाला जाएगा।

20.3 जाति के अन्तः क्रियात्मक उपागम

भारत में जाति व्यवस्था के अध्ययन हेतु दो अन्य दृष्टिकोण अथवा उपागम गुण–धर्मात्मक (Atributional) एवं अन्तः क्रियात्मक (Interactional) भी प्रचलित रहे हैं।

जाति व्यवस्था के अध्ययन का गुण–धर्मात्मक उपागम जाति–व्यवस्था के गुणों या लक्षणों को आधार बनाकर जाति व्यवस्था की प्रकृति एवं संरचना को समझाने का प्रयास करता है। ये गुण–धर्म जाति व्यवस्था में जातियों के व्यवहार तथा अंतःक्रिया में बाह्य रूप में अवलोकनीय होते हैं और नृजातियों के बीच के अन्तःक्रिया को निर्धारित करते हैं। सत्, रज एवं तम गुणों के आधार पर जातीय सोपानक्रम की व्याख्या या **जी. एस. घुर्ये** द्वारा 6 गुण धर्मों के आधार पर जाति–व्यवस्था के स्वरूपों की व्याख्या या फिर **ड्यूमॉ** द्वारा तीन गुण धर्मों–सोपानक्रम, दूरी तथा श्रम विभाजन के आधार पर जाति व्यवस्था की व्याख्या इस तरह के अध्ययन के प्रमुख उदाहरण हैं। इस दृष्टिकोण से जाति व्यवस्था का अध्ययन करने वाले प्रमुख विचारकों में **मैक्स वेबर, बुगले, घुर्ये, हट्टन, एम.एन. श्रीनिवास, लुई ड्यूमॉ** आदि प्रमुख हैं।

जाति व्यवस्था के अध्ययन के अंतःक्रियात्मक दृष्टिकोण की मान्यता है कि जाति का विश्लेषण केवल गुणों के आधार पर न करके इसके अंतःक्रियात्मक पक्षों को भी इसमें शामिल किया जाना चाहिए तभी भारतीय समाज के विभिन्न क्षेत्रों में विविधतायुक्त जाति व्यवस्था का अध्ययन सम्भव है। इस उपागम की मान्यता है कि विशिष्ट जातियों के मध्य होने वाली अन्तःक्रियाएँ उनके आपसी सम्बन्धों को निर्धारित करने में प्रमुख होती हैं और साथ ही कर्मकांडीय सोपानक्रम सदैव आर्थिक एवं राजनीतिक प्रस्थिति के साथ सुसंगत होती है। इस दृष्टिकोण से जाति व्यवस्था का अध्ययन करने वाले विचारकों में **एफ.जी. बेली, एड्रियन मेयर** और **मैकिम मैरियट** प्रमुख हैं जिन्होंने क्रमशः उड़ीसा के बिसीपारा गांव का, मध्य प्रदेश रामखेड़ी ग्राम का, एवं उत्तर प्रदेश के किशनगढ़ी एवं रामनगला का अध्ययन किया।

जाति व्यवस्था के अध्ययन में उपरोक्त दोनों उपागम पर्याप्त नहीं हैं, जैसे गुण–धर्मात्मक उपागम, जाति सोपानक्रम के निर्धारण को केवल गुण–धर्मों के आधार पर दर्शाता है और यह जाति–व्यवस्था के सोपानक्रम का विश्लेषण उनकी स्थितियों के संदर्भ में करने में असफल है। उदाहरण के लिये दक्षिण भारत के कोंकण क्षेत्र, कश्मीर के या बंगाल के ब्राह्मण मांसाहारी होते हुए भी शाकाहारी जातियों से सोपानक्रम में ऊपर क्यों हैं या फिर शुद्ध व्यवसाय करने वाली जातियाँ मांसाहारी एवं प्रदूषित व्यवसाय करने वाली जातियाँ शाकाहारी क्यों हैं। इस स्थिति की व्याख्या यह नहीं कर पाता है। जबकि दूसरी तरफ अंतःक्रियात्मक उपागम जाति–सोपान को विभिन्न जातियों के मध्य होने वाले अंतःक्रिया प्रतिमानों पर निर्भर मानता है जो कि तर्कसंगत नहीं हैं क्योंकि जातीय सोपान गुण–धर्म एवं अन्तःक्रिया दोनों पर आधारित होते हैं। इस उपागम की एक और कमी है कि यह जातीय सोपानक्रम को बहुत हद तक स्थानीकृत कर देता है क्योंकि अन्तःक्रिया को

आवश्यकता से अधिक महत्व देने कारण जाति व्यवस्था के विचारधारात्मक पक्षों की उपेक्षा हो जाती है।

बावजूद इसके दोनों ही उपागम जाति व्यवस्था के अध्ययन हेतु महत्वपूर्ण हैं चूंकि गुणधर्म अन्तःक्रिया दोनों एक–दूसरे को प्रभावित करते हैं। अतः दोनों का संयुक्त प्रयोग ही भारत में जाति व्यवस्था को समग्रता पाने में सक्षम हो सकता है।

यद्यपि जाति से सम्बन्धित **श्रीनिवास** के उपरोक्त दृष्टिकोण पर भारत विद्याशास्त्रीय स्रोतों की उपेक्षा करने का आरोप लगाया जाता है जो भारतीय समाज के निर्माण में आधारभूत रहे हैं बावजूद इसके भारतीय जाति व्यवस्था का, उसमें होने वाली गत्यात्मकता का और इस व्यवस्था में निहित अंतर्जातीय सम्बन्धों का आनुभविक अध्ययन प्रस्तुत करने में **श्रीनिवास** का यह प्रयास भारतीय समाजशास्त्र के क्षेत्र में एक महत्वपूर्ण योगदान है।

एफ.जी. बेली के विचार

एफ.जी. बेली के अनुसार, जाति समूह पृथकता एवं सोपानक्रम दो सिद्धान्तों द्वारा एक व्यवस्था में एकीकृत है। बेली के अनुसार जातियाँ 'अंतःक्रिया के नियमों में अभिव्यक्त कर्मकांडीय एवं लौकिक (राजनीतिक, आर्थिक) सोपानक्रम में व्यवस्थित होती है।' बेली, जाति व्यवस्था को गतिशील मानते हैं। इनके अनुसार कर्मकांडीय व्यवस्था सदैव राजनीतिक एवं आर्थिक प्रस्थिति के सम्पर्क में उस पर छाई रहती है। जातियों के मध्य सम्बन्ध स्थापित करना मात्र कर्मकांडीय व्यवहार की ही बात नहीं है। यह शक्ति का मामला है, क्योंकि जाति व्यवस्था में सदैव एक प्रभुत्वशील जाति उभरती है, जिसके अधीन अनेक अन्य जातियाँ होती हैं। वस्तुतः प्रभुत्वशील जाति के हाथों में शक्ति एवं बल के केंद्रीभूत होने के कारण जाति व्यवस्था एक सूत्र में बंधी रहती है। चूंकि कर्मकांडीय प्रस्थिति सदैव राजनीतिक एवं आर्थिक प्रस्थिति के साथ सुसंगत होती है, इसलिए जब भी कोई जाति धनाढ्य हो जाती है तो वह अन्य जातियों से अपना अंतःक्रिया विन्यास बदल लेती है, जिससे वह कर्मकांडीय प्रस्थिति में अधिक ऊँचे क्रम का दावा कर सके। दूसरे शब्दों में सोपानक्रम में जाति का क्रम, अन्य जातियों के साथ इसके अंतःक्रिया विन्यास द्वारा अभिव्यक्त होता है। इस स्थिति में अंतःक्रिया विन्यास सोपानक्रम में कर्मकांडीय प्रस्थिति का संकेतक बन जाता है। अंतःक्रिया विन्यास से हमारा अभिप्राय भोजन की स्वीकृति व उसके वितरण, सेवा की स्वीकृति व उनके विस्तार, जल की स्वीकृति एवं अस्वीकृति, साथ मिलकर धूम्रपान करने की इच्छा या अनिच्छा, साथ बैठने या अलग बैठने की प्रवृत्ति से है। उपहार का आदान–प्रदान भी इसी सूची में आता है।

एफ.जी. बेली ने एक क्षेत्र के विभिन्न गाँवों की समान जातियों के मध्य अंतःक्रिया की भी चर्चा की है। किसी विशिष्ट क्षेत्र में फैली कोई जाति परस्पर समीप आ सकती है तथा विवाह द्वारा अपने सम्बन्ध मजबूत कर सकती है। जब पूरे क्षेत्र में ये सम्बन्ध मजबूत होते हैं, तो जाति राजनीति क्षेत्र में शक्ति पाने के लिए प्रयास कर सकती है। अब हम उपरोक्त विशेषताओं को ध्यान में रखते हुए बेली के अध्ययन क्षेत्र बिसीपारा गाँव में अंतर्जातीय अंतःक्रिया पर दृष्टिपात् करके व्याख्या करें।

बिसीपारा गाँव का अध्ययन

बेली ने उड़ीसा के बिसीपारा गाँव में अपना क्षेत्रीय कार्य किया। बिसीपारा में 22 जाति समूह थे, जिनकी जनसंख्या एक व्यक्ति से लेकर 150 तक थी।

बिसीपारा में ब्राह्मण, योद्धा (क्षत्रिय), बेली, गडरिए, नाई, कुम्हार तथा ताड़ी बनाने वाली जैसी अनेक जातियाँ थीं।

सामान्यतया, सोपानक्रम के सर्वोच्च व निम्नतम स्थानों पर हमें कर्मकांडीय, राजनीतिक एवं आर्थिक प्रस्थिति में पूरी–पूरी सुसंगतता देखने को मिलती हैं। बिसीपारा में जातिगत कर्मकांडीय सोपानक्रम में क्षत्रियों का स्थान एक मात्र ब्राह्मण परिवार के बाद सर्वोच्च ही था परन्तु राजनीतिक एवं आर्थिक प्रस्थितियों के लौकिक सोपानक्रम में क्षत्रिय प्रधान थे। इनके पास गाँव की अधिकांश भूमि थी व गांव पंचायत में इनका दबदबा था।

परन्तु अंतःक्रियात्मक उपागम के दृष्टिकोण से हमारे लिए यह अधिक महत्वपूर्ण है कि बिसीपारा में स्वातंत्रयोत्तर परिवर्तनों के बाद क्या हुआ। परिवर्तन की आँधी के बाद क्षत्रिय की कर्मकांडीय सोपानक्रम प्रस्थिति अस्पष्ट हो गई, क्योंकि उनकी अधिकांश भूमि छिन गई। अब क्षत्रियों के पास गाँव की 30 प्रतिशत से भी कम भूमि थी, जबकि पन जाति के लोगों ने 20 प्रतिशत से अधिक भूमि प्राप्त कर ली थी। इसके अतिरिक्त वैश्य जाति व ताड़ी निकालने वाली जाती ने कर्मकांडीय सोपानक्रम में ब्राह्मणों के बाद की प्रस्थिति का दावा पेश किया। इनमें से कोई भी जाति अब एक दूसरे के यहाँ भोजन या पानी ग्रहण नहीं करती थी। अतः कर्मकांडीय सोपानक्रम में अपनी प्रस्थिति हेतु क्षत्रियों व ताड़ी बनाने वालों के मध्य संघर्ष विकसित हो गया।

ब्राह्मणों की भाँति, क्षत्रिय गडरिए जाति से तो जल ग्रहण कर लेते थे परन्तु ताड़ी बनाने वालों से जल ग्रहण नहीं करते थे। इस प्रकार, परोक्ष रूप से क्षत्रिय ताड़ी बनाने वालों को कर्मकांडीय सोपानक्रम में गडरिए से निम्न मानते थे। दूसरी ओर, गडरिए क्षत्रियों से तो भोजन व जल ग्रहण कर लेते थे, परन्तु ताड़ी बनाने वालों से जल ग्रहण नहीं करते थे। इसके प्रतिक्रिया स्वरूप, ताड़ी बनाने वालों ने ब्राह्मणों के अतिरिक्त किसी से भी भोजन व जल ग्रहण करना बंद कर दिया। इस प्रकार बिसीपारा के ताड़ी बनाने वालों ने धनसमृद्धि अर्जित करने के बाद क्षत्रियों की आर्थिक प्रस्थिति के कमजोर होने पर स्वयं के लिए ब्राह्मणों के बाद की प्रस्थिति का दावा पेश किए।

ताड़ी बनाने वालों के उदाहरण से यह पता चलता है कि जब भी किसी जाति की राजनीतिक व आर्थिक प्रस्थिति में उत्थान होता है, तो जातियाँ अपने अंतःक्रिया विन्यास बदल देती हैं, जिससे कर्मकांडीय सोपान में अधिक ऊँचा स्थान प्राप्त कर सके। आइए अब हम एड्रियन मेयर के विचारों पर प्रकाश डालेंगे।

एड्रियन मेयर के विचार

एड्रियन मेयर, गाँव को एक ठोस यथार्थ मानता है, क्योंकि वह मानवीय सम्बन्धों को प्रभावित करता है। किसी गाँव की विभिन्न जातियों के मध्य अंतःक्रिया से जातियों का सोपानक्रम उभरता है। मेयर अंतर्जातीय सम्बन्धों तथा उनका गाँव की एकता के साथ सम्बन्धों का विश्लेषण करता है। मेयर के अनुसार जातिगत सोपानक्रम के निर्धारक कारक आर्थिक व राजनीतिक अंतःक्रिया होती है तथा सर्वाधिक महत्वपूर्ण कारक खान–पान के सम्बन्ध होते है।

आर्थिक व राजनीतिक कारकों के साथ समस्या यह है कि यह हो सकता है कि सभी सदस्य एक साथ मिलकर आर्थिक व राजनैतिक क्षेत्रों में न आए। यह भी एक तथ्य है कि सभी जातियों में आर्थिक धन समृद्धि हो सकती है, अर्थात् यह समृद्धि जाति से बँधी हुई नहीं होती। दूसरे शब्दों में, 'उच्च' जाति के किसी व्यक्ति

की आर्थिक प्रस्थिति निर्धन हो सकती है। इन समस्याओं का निराकरण कर्मकांडीय प्रस्थिति में हो जाता है। सोपानगत् कर्मकांडीय प्रस्थिति किसी जाति में सभी सदस्यों की समान होती है। अंतःक्रिया प्रतिमान में भी 'खान–पान सम्बन्धी सोपानक्रम' ही जातियों के मध्य सम्बन्धों की एक जटिल–व्यवस्था प्रदान कर सकता है। मेयर के अनुसार "जातियों का क्रम–विन्यास कहीं पर भी इतना स्पष्ट दिखाई नहीं देता, जितना खान–पान व हुक्का–पानी के नियमों में दिखाई देता है।" संक्षेप में हम कह सकते हैं कि मेयर के अनुसार, राजनीतिक व आर्थिक कारक महत्वपूर्ण होते हुए भी जातिगत सोपानक्रम को निर्धारित नहीं करते। उसके अनुसार एकमात्र महत्वपूर्ण कारक, खान–पान सम्बन्धी नियम हैं, जो गाँव के सोपानक्रम को स्पष्ट रूप से दर्शाते हैं। इस तथ्य को हम रामखेड़ी गाँव के मेयर के क्षेत्रीय कार्य के अध्ययन द्वारा बेहतर तरीके से समझ सकेगें।

रामखेड़ी गाँव का अध्ययन

रामखेड़ी गाँव, मध्य प्रदेश के देवास नामक एक छोटे से कस्बे के पास है। रामखेड़ी में पच्चीस हिन्दू व दो मुस्लिम जातियाँ थीं। खान–पान सम्बन्धी नियमों का कठोरता से पालन होता था, यद्यपि यदाकदा इनमें ढील भी सम्भव थी। खान–पान के सम्बन्धों के सोपानक्रम को समझने के लिए, मेयर ने निम्न बातें देखीं :

(1) गतिविधि का प्रकार : भोजन, पेयजल ग्रहण, धूम्रपान।

(2) भोजन का प्रकार : 'पक्का' भोजन, 'कच्चा' भोजन।

(3) भोजन का स्थान व संदर्भ : विवाह या मृत्यु।

(4) भोजन करते समय कौन किसके समीप बैठता है?

(5) भोजन कौन देता है? किसने भोजन पकाया?

(6) किस बर्तन–पीतल या मिट्टी में पानी दिया गया?

खान–पान सम्बन्धी सोपान इस मान्यता पर आधारित हैं कि निम्न जाति से एक निश्चित प्रकार के खान–पान सम्बन्धी सम्पर्क से किसी जाति की कर्मकांडीय शुचिता कम हो सकती है या प्रदूषित हो सकती है। अतः उच्च जाति, निम्न जातियों के बर्तनों में पका भोजन नहीं खाती। किसी अन्य जाति द्वारा पकाए भोजन को खाने का अर्थ उस जाति से समानता का बोध है।

रामखेड़ी गाँव के ब्राह्मण अपनी ही जाति अथवा उनकी उपजाति के सदस्यों द्वारा पकाया 'कच्चा' भोजन खाते हैं। अन्य, सभी जातियाँ द्वारा पकाया भोजन करती हैं तथा उनके मिट्टी के घड़ों से पानी आसानी से पीती हैं। इसी क्रम में हम, मेयर द्वारा अवलोकित कुछ और खान–पान सम्बन्धी नियमों की चर्चा करें।

ब्राह्मणों के बाद सोपानक्रम में जातियों के दो समूह हैं, एक समूह शाकाहारी है व अन्य समूह मांसाहारी है। राजपूत मांसाहारी होते हैं परन्तु नाई व कुम्हार को निम्न समझा जाता है क्योंकि वे अपने से निम्न बढ़ई या किसान से भोजन ग्रहण कर लेते हैं और वह भी कच्चा भोजन ग्रहण कर लेते हैं। रामखेड़ी के दूधिए एवं धोबी जो दूध का व्यवसाय करते हैं सिर्फ ब्राह्मणों से कच्चा भोजन ग्रहण करते हैं। परन्तु उनसे कुछ अत्याधिक निम्न जातियों (जुलाहे, चमड़ा रंगने वाले, भंगी) को छोड़ कर कोई भोजन ग्रहण नहीं करता। ठीक उसी प्रकार, रामखेड़ी के

तेली, दूधियों से कुछ अधिक ऊँचे माने जाते हैं क्योंकि कुछ ऊँची जाति के लोग उनसे भोजन ग्रहण कर लेते हैं। बढ़ई, माली, किसान व दर्जी जातियाँ सिर्फ ब्राह्मणों से ही कच्चा भोजन ग्रहण करती हैं। बढ़ई को ऊँचा माना जाता है क्योंकि वह ब्राह्मणों से ही भोजन ग्रहण करता है, जबकि किसान को बढ़ई से निम्न स्थान प्राप्त है क्योंकि वह राजपूतों व कुम्हारों से भी भोजन ग्रहण कर लेता है। सोपान में इनसे भी निम्न स्थान पर मेयर ने भिलाना, मीणा, नाथ व ढोली जातियों को शामिल किया है। इनमें से कोई जाति एक दूसरे का 'कच्चा' भोजन स्वीकार नहीं करती।

सोपानक्रम के निम्नतम क्रम में जुलाहों, चमड़ा रंगने वालों व भंगी को वर्गीकृत किया गया है। रामखेड़ी गाँव में भंगी को सभी जातियों से निम्नतम माना जाता है क्योंकि वह ही एकमात्र है जो कि अन्य जातियों की थालियों से झूठन खाता है।

ऊपर हमने रामखेड़ी गाँव में खान–पान सम्बन्धी सोपानक्रम को अत्यधिक सारगर्भित रूप में प्रस्तुत करने का प्रयास किया है। अब आपको यह स्पष्ट हो गया होगा कि रामखेड़ी गाँव में, खान–पान के सम्बन्ध, सोपान में अनेक जाति समूहों की कर्मकांडीय प्रस्थिति को इंगित व अभिव्यक्त करते हैं। रामखेड़ी गाँव एक उदाहरण अथवा नमूना मात्र है इस प्रकार की अंतःक्रिया अनेक अन्य भारतीय गाँवों में पाई जा सकती है। अब हम मैरियट के विचारों पर चर्चा करेंगे।

मैकिम मैरियट के विचार

मैरियट जातिगत सोपानक्रम को स्थानीय संदर्भ में देखता है। इसका अर्थ यह है कि वह विशिष्ट संदर्भ में विशिष्ट व स्थानीय कारकों की भूमिका का अध्ययन करता है। यदि समूहों को सोपानक्रम में क्रमविन्यासित करना है तो ग्राम समुदाय में विभिन्न जातियों के मध्य अंतःक्रिया को स्तरीकृत करने की आवश्यकता है। इसके अतिरिक्त यदि जातियों को स्पष्ट रूप से क्रमविन्यासित करना हो तो समुदाय के लोगों में स्पष्ट मतैक्य होना चाहिए यदि सभी लोग समुदाय द्वारा प्रतिपादित अंतक्रिया प्रतिमान का कठोरता से पालन करें तो समुदाय में सोपानक्रम के बारे में मतैक्य उभरेगा।

किशनगढ़ी व राम नगला गाँवों में जातियाँ किस प्रकार सोपानीकृत हैं इस बारे में मैरियट ने अध्ययन किया। इन गाँवों में मुख्यतया कर्मकांडीय अंतःक्रिया के सोपानक्रम पर जातियों का सोपानक्रम आधारित होता था। बेली की ही भाँति, मैरियट ने अनुभव किया कि कर्मकांडीय सोपानक्रम अंतक्रिया की आर्थिक, राजनैतिक तथा ऐसे ही अन्य गैर–कर्मकांडीय सोपानक्रमों से उभरता है व इन सोपानक्रमों को अभिव्यक्त करता है। जातियों के आर्थिक व राजनैतिक सोपानक्रम प्रायः कर्मकांडीय सोपानक्रम से सुसंगत होते है। अर्थात् किसी भी विशिष्ट गाँव में जाति का सोपानक्रम अंतःक्रिया के दोनों कर्मकांडीय व गैर–कर्मकांडीय सोपानक्रमों से प्रभावित होता है, यद्यपि कर्मकांडीय सोपानक्रम अधिक महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है। जब विभिन्न जातियों के लोगों के मध्य सोपानक्रम के बारे में स्पष्ट मतैक्य उभरता है, तो विभिन्न जातियों के मध्य अंतःक्रिया के स्तरीकृत प्रमिमान को ग्राम समुदाय सामूहिक रूप से स्वीकृति दे देता है। अब हम मैरियट के क्षेत्रीय कार्य का अध्ययन करेगें।

एकल अध्ययन : किशनगढ़ी एवं राम नगला

किशनगढ़ी व राम नगला, उत्तर प्रदेश के अलीगढ़ जिले में दो गाँव हैं। जब मैरियट ने 1952 में आँकड़े एकत्रित किए थे, उस समय किशनगढ़ी में 24 जातियाँ व 857 व्यक्ति थे और राम नगला में 300 व्यक्ति 7 जातियों में विभक्त थे। मैरियट के आँकड़ों के अनुसार इन गाँवों में जातिगत् सोपानक्रम काफी स्पष्ट व मतैक्य पर आधारित था। इन दोनों गाँवों में कोई भी जाति अनूठे सोपानक्रम वाली नहीं थी। मैरियट के उत्तरदाताओं ने बताया कि वे लोग स्थानीय संदर्भ में उनकी कर्मकांडीय अंतःक्रिया के आधार पर जाति का स्पष्ट सोपानक्रम निर्धारित करने में सक्षम थे अर्थात्, सोपानक्रम तभी सम्भव है जब कोई जाति के बारे में भली–भाँति जानता हो। इस प्रकार जाति एक स्थानीय प्रघटना है।

पहले यह बताया जा चुका है कि सोपानीकरण स्थानीय संदर्भ में दिन–प्रतिदिन के कर्मकांडीय अंतःक्रिया पर आधारित होता है। किशनगढ़ी व राम नगला में सोपानीकरण हेतु दो अंतःक्रियाएँ महत्वपूर्ण हैं वे हैं :–

1. वे अन्तःक्रियायें, जो कुछ निश्चित प्रकार के भोजन के आदान–प्रदान को नियंत्रित करती हैं।

2. वे अंतःक्रियाएँ, जिसमें सम्मानजनक प्रथाओं, व व्यवहार, प्रतीकों का आदान–प्रदान निहित होता है।

राम नगला व किशनगढ़ी में उस जाति को उच्च स्थान प्राप्त होता है, जिसके सदस्य उच्च जाति से विशिष्ट प्रकार के भोजन (उच्च किस्म के भोजन) प्राप्त करते हैं। दूसरी ओर, यदि भोजन निम्न जाति से प्राप्त किया जाए अथवा निम्न प्रकार का भोजन, तो उस जाति का सोपानक्रम निम्न होगा। भोजन की ही भाँति, जिन जातियों को सम्मानजनक व्यवहार प्रतीक प्राप्त होते हैं अर्थात् जो उच्च कर्मकांडीय पूजापाठ में मुख्य भूमिका निभाते हैं, उन्हें उच्च सोपानक्रम प्राप्त होता है।

किशनगढ़ी में ब्राह्मणों को उच्च प्रस्थिति प्राप्त है, क्योंकि वे बहुत ही विशिष्ट कर्मकांड करते हैं तथा साथ ही साथ सभी सेवक जातियों से पूर्ण सेवाएँ प्राप्त करते हैं। ब्राह्मण केवल पक्का भोजन (उच्च किस्म का भोजन) ही स्वीकारते हैं वह भी उच्च जातियों के एक विशिष्ट समूह से। किसी भी जाति को उच्च माना जा सकता है यदि ब्राह्मण उनसे उच्च (पक्का) भोजन ग्रहण करें। इस प्रकार हमने यह अध्ययन किया कि किस प्रकार बहु–जातीय गाँव में अंतःक्रियात्मक उपागम में विभिन्न जातियों के मध्य सम्बन्धों पर ध्यान केन्द्रित किया जाता है। जो विद्वान अंतःक्रियात्मक उपागम का अनुसरण करता हैं वे प्रायः ये तर्क देते हैं कि सोपानक्रम में जातियों का क्रम–विन्यास, दिन–प्रतिदिन की अंतःक्रिया प्रतिमान पर निर्भर होता है।

इस प्रकार हमने जाति के अध्ययन हेतु एक वृहत अंतःक्रियात्मक उपागमों की विस्तार से चर्चा की। बिसीपारा, रामखेड़ी, किशनगढ़ी एवं राम नगला गाँवों के उदाहरणों के साथ–साथ बेली, मेयर व मैरियट के निष्कर्षों को प्रस्तुत किया गया। बेली ने जाति के राजनैतिक आयाम को महत्व दिया तथा यह दर्शाया कि किस प्रकार कर्मकांडीय सोपानक्रम में किसी भी प्रस्थिति किसी की आर्थिक व राजनैतिक प्रस्थिति से समर्पित होती है। मेयर ने रामखेड़ी गाँव के अपने अध्ययन में दर्शाया कि किस प्रकार सोपानक्रम में खान–पान सम्बन्धी विनिमय किसी भी कर्मकांडीय प्रस्थिति की व्याख्या करते हैं।

मैरियट ने भी किशनगढ़ी व राम नगला गाँवों के अपने अध्ययन में लगभग ऐसे ही निष्कर्ष निकाले। मैरियट ने भी बनाया कि कर्मकांडीय सोपानक्रम गैर–कर्मकांडीय सोपानक्रम के साथ सुसंगत हो जाता है और अंततः दोनों एक हो जाते हैं।

अंतःक्रियात्मक उपागम भी समस्याविहीन नहीं है। हमने बताया कि हर हाल में अंतःक्रियात्मक सिद्धान्त भी गुण धर्मों को प्रयोग में लेते हैं। यह भी बताया गया कि किस प्रकार स्थानीय विशेषताओं व संदर्भों के प्रयोग से अंतक्रियात्मक सिद्धान्त, जाति व्यवस्था में अंतर्निहित मूल्य व्यवस्था अथवा विचारधारा के प्रभावों की उपेक्षा कर जाते हैं।

20.4 सारांश

इस इकाई के अन्तर्गत हमने जाति के अन्तःक्रियात्मक उपागम की विशद् चर्चा की है। जिसमें कई समाजशास्त्रियों के विविध विचारों पर प्रकाश डाला गया है। इस अन्तःक्रियात्मक उपागम की आलोचना भी कई बिन्दुओं को लेकर की गयी है।

20.5 मिलान प्रश्न

1.	लुई ड्यूमॉ	(क)	किशनगढ़ी व रामनगला
2.	मैरियट	(ख)	शुचिता व प्रदूषण
3.	एफ.जी. बेली	(ग)	सहभोज आदान–प्रदान सम्बन्धी क्रमविन्यास
4.	ए. मायर	(घ)	जाति व्यवस्था के शक्ति सम्बन्धी पक्ष

20.6 मिलान प्रश्नों के उत्तर

1. (ख)
2. (क)
3. (घ)
4. (ग)

20.7 संदर्भ ग्रन्थ

- मेयर, ए.सी; 1986, कास्ट एण्ड किनशिप इन सेन्ट्रल इण्डिया, यू.बी.एस., नई दिल्ली।
- श्रीनिवास, एम.एन. 1986, इण्डिया सोशल स्ट्रक्चर, हिन्दुस्तान पब्लिशिंग कार्पोरेशन, नई दिल्ली।

इकाई–21

जाति के अन्तः क्रियात्मक उपागम–II

इकाई की रूपरेखा

21.1 उद्देश्य

21.2 प्रस्तावना

21.3 जाति के अन्तःक्रियात्मक उपागम सम्बन्धी ड्यूमाँ के विचार

21.4 ड्यूमाँ की सैद्धान्तिक प्रणाली

21.5 आर्थिक अन्तःक्रिया : जजमानी व्यवस्था

21.6 लुई ड्यूमाँ के उपागम की आलोचना

21.7 सारांश

21.8 मिलान कीजिये

21.9 मिलान प्रश्नों के उत्तर

21.10 संदर्भ–ग्रन्थ

21.1 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के बाद छात्र–

1. एफ.जी. बेली, मेयर एवं मैरियट द्वारा प्रयुक्त अन्तःक्रियात्मक उपागमों का ज्ञान प्राप्त कर सकेंगे।
2. लुई ड्यूमाँ की आधारभूत सैद्धान्तिक प्रणाली एवं भारतीय समाज में उसके प्रयोग को समझ सकेंगे।

21.2 प्रस्तावना

इस इकाई में फ्रांसीसी विचारक लुई ड्यूमाँ के विचारों का विवेचन किया जा रहा है। ड्यूमाँ ने मुख्यतया जाति व्यवस्था की विचारधारा से सम्बद्ध चिन्तन को महत्व दिया है। यह चिन्तन एक स्तर तक अन्तःक्रियात्मक सिद्धान्त की परिसीमाओं को कम करता है। यद्यपि ड्यूमाँ के सिद्धान्त में भी अनेक परिसीमायें अनुभव की जा सकती हैं जिनकी चर्चा हम करेंगे।

यह इकाई दो भागों में विभाजित की गई है। पहले भाग में उन महत्वपूर्ण तर्कों की संक्षेप में चर्चा की गई है जिनका अध्ययन आप बीसवीं इकाई में कर चुके हैं। ड्यूमाँ की सैद्धान्तिक प्रणाली अथवा जाति से सम्बद्ध उनके महत्वपूर्ण विचारों की भी इस भाग में चर्चा की गई है।

दूसरे भाग में हम अन्तःक्रिया के उन दो विशिष्ट प्रकारों की चर्चा करेंगे जिनका ड्यूमाँ ने अध्ययन किया है। ये दो प्रकार क्रमशः आर्थिक अन्तःक्रिया एवं सहभोजी विनिमय है। आर्थिक अन्तःक्रिया में "जजमानी व्यवस्था" को सम्मिलित किया गया है जबकि सहभोजी विनिमय में उन पद्धतियों अथवा माध्यमों का उल्लेख है जिनके द्वारा भोजन सम्बन्धी व्यवहार अथवा क्रिया का नियमन होता है। ड्यूमाँ के सिद्धान्त की मुख्य परिसीमाओं का भी इसमें उल्लेख किया गया है।

प्रारम्भ में हम अन्तःक्रिया उपागमों के विभिन्न प्रकार एवं उनके मुख्य तत्वों संक्षिप्त प्रकाश डालेगें।

21.3 जाति के अन्तःक्रियात्मक उपागम सम्बन्धी ड्यूमाँ के विचार

इकाई 20 में आपको एफ.जी. बेली, ए. मायर एवं मैकियम मैरियेट जैसे विचारकों से परिचित कराया गया था जिन्होंने जाति के अध्ययन हेतु अन्तःक्रियात्मक उपागम को विकसित किया है। इन तीन विचारकों ने भिन्न प्रकृति के विवेचन एवं मुख्य बिन्दु प्रस्तुत किए हैं परन्तु ये तीनों विचारक इस तर्क से सहमत है कि स्थानीय संदर्भ में प्रतिदिन की अन्तःक्रिया के प्रतिमानों के आधार पर जाति के क्रम विन्यास को प्रस्तुत किया जा सकता है। इस स्थानीय संदर्भ का अध्ययन इन विचारकों ने क्षेत्रीय अध्ययन के आधार पर किया है जो वस्तुतः अन्तःक्रियात्मक उपागम का महत्वपूर्ण गुण है। अन्तःक्रियात्मक उपागम से सम्बद्ध एक महत्वपूर्ण तर्क यह भी है कि संस्कारगत प्रस्थिति को सदैव गैर संस्कारगत प्रस्थितियों (जैसे आर्थिक एवं राजनीतिक प्रस्थिति) के साथ सम्बद्ध किया जाना चाहिए।

एफ.जी. बेली जाति को एक गत्यात्मक व्यवस्था के रूप में पाते हैं जिसका प्रत्यक्ष सम्बन्ध प्रभुत्व जाति की शक्ति से है। बेली के अनुसार सांस्कारिक प्रस्थिति एवं गैर–सांस्कारिक प्रस्थितियाँ घनिष्ठ रूप से सम्बद्ध हैं। उदाहरण के लिए बिसीपाड़ा गाँव में बेली ने सांस्कारिक, राजनीतिक एवं आर्थिक प्रस्थितियों के मध्य पारम्परिक अन्तःप्रभाव के तत्व पाए। योद्धा बिसीपाड़ा की प्रभुत्व जाति से थे। जब योद्धा जाति के पास समृद्धि कम हो गई तो शराब बेचने का व्यवसाय करने वाली जाति ने योद्धा जाति के समकक्ष प्रस्थिति का दावा किया। सांस्कारिक संस्तरण में ब्राह्मण जाति के पश्चात् योद्धा जाति को प्रतिष्ठा क्रम में, प्रस्थिति प्राप्त है। योद्धा एवं शराब का व्यवसाय करने वाली जातियों ने तत्काल भोजन सम्बन्धी आदान–प्रदान के अपने प्रतिमानों में परिवर्तन कर लिए ताकि अपनी "श्रेष्ठता" को तथा प्रतिद्वन्द्वी जाति की "हीनता" को सिद्ध किया जा सके। एड्रिन मायर ने एक गाँव में निवास कर रही विभिन्न जातियों के मध्य पाई जाने वाली अन्तःक्रियाओं की प्रकृति का अध्ययन किया। मायर का मत है कि संस्तरण को समझने का सबसे उपयुक्त माध्यम सांस्कारिक प्रस्थिति है। दैनिक अन्तःक्रियाओं, जैसे भोजन, जल, धूम्रपान (हुक्का) सम्बन्धी अन्तःक्रियाएँ, में सांस्कारिक प्रस्थिति अभिव्यक्त होती है जो कि जाति के प्रत्येक सदस्य पर समान रूप से लागू होती है। भोजन से सम्बद्ध अन्तःसम्बन्ध जाति की प्रस्थिति को, आर्थिक एवं राजनीतिक अन्तः सम्बन्धों की तुलना में, अधिक प्रभावशाली रूप में निर्धारित करते हैं।

मायर ने मध्य भारत के रामखेड़ी गाँव का अध्ययन किया। मायर ने भोजन सम्बन्धी सम्पर्कों से जुड़े अनेक नियम एव व्यवहार प्रतिमानों का प्रेक्षण किया। उदाहरण के लिए रामखेड़ी के राजपूत, जो कि माँसाहारी हैं, कुम्हार एवं नाइयों को निम्न मानते हैं क्योंकि ये दोनों जातियाँ अपने से निम्न जाति बढ़ई से

'भोजन–सम्पर्क' रखती हैं। इसका अभिप्राय यह है कि यदि कोई व्यक्ति अन्य जाति से भोजन स्वीकार कर लेता है तो उस व्यक्ति की प्रस्थिति भोजन स्वीकारने वाली जाती के समकक्ष हो जाती है। परिणामस्वरूप उस व्यक्ति को क्रम विन्यास में उच्च पद नहीं दिया जा सकता जिसने निम्न जाति के साथ भोजन सम्पर्क स्थापित किए हैं।

मैकियम मैरियट का मत है कि स्थानीय संदर्भ में पाए जाने वाले कारक जाति संस्तरण की गत्यात्मकता को प्रभावित करते हैं। सामाजिक अन्तःक्रिया के प्रतिमान एवं गाँव में निवासियों के मध्य विद्यमान एकमत की भावना संस्तरण में जाति की प्रस्थिति को निर्धारित करने वाले कारक हैं। किशनगढ़ी एवं राम नगला गाँवों के अध्ययन द्वारा मैरियट इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि अन्तःक्रिया मूलतः संस्तरण की निर्धारक है परन्तु इसे गैर–सांस्कारिक प्रस्थितियाँ जैसे आर्थिक एवं राजनीतिक प्रस्थितियाँ और सुदृढ़ आधार प्रदान करती हैं। मैरियट के मतानुसार सांस्कारिक संस्तरण अधिकांशतः गैर–सांस्कारिक संस्तरणों से घनिष्ठ रूप से सम्बद्ध है। अन्तःक्रियात्मक उपागमों की अपनी परिसीमाएँ भी हैं। क्रम विन्यास के विवेचन हेतु दैनिक जीवन के अन्तःक्रिया प्रतिमानों के अतिरिक्त ये उपागम अन्य तत्वों अथवा कारकों पर भी बल देते हैं। स्थानीय संदर्भ पर इन उपागमों का अत्याधिक बल है जिससे जाति की विचारधारा वाले पक्षों की उपेक्षा हो जाती है। इस दृष्टि से लुई ड्यूमाँ के योगदान की चर्चा महत्वपूर्ण हो जाती है। ड्यूमाँ ने अन्तःक्रियात्मक उपागम की कुछ कठिनाइयों के निराकरण का प्रयास किया है। जाति को समझने में निश्चय ही ड्यूमाँ का योगदान अत्यन्त महत्वपूर्ण है।

21.4 ड्यूमाँ की सैद्धान्तिक प्रणाली

एक जाति की विशेषताओं का विवेचन उस जाति के अन्य जातियों से सम्बन्ध के आधार पर किया जा सकता है। ड्यूमाँ मैरियट की भाँति विभिन्न जातियों के बीच सम्बन्धों को स्पष्ट करने का प्रयास करते हैं। लेकिन इसके साथ ही ड्यूमाँ आनुभविक वास्तविकताओं के आधार पर व्यापक अमूर्त सैद्धान्तिक व्यवस्था अथवा चिन्तन को भी प्रस्तुत करते हैं। स्थानीय अन्तःक्रियाएँ क्रम विन्यास के निर्धारण में महत्वपूर्ण भूमिका निभाती हैं। परन्तु यह क्रम विन्यास संस्तरण प्रणाली की भावना के लिए प्रतिक्रिया भी है जो सम्पूर्ण व्यवस्था के विस्तार से सम्बद्ध है। ड्यूमाँ की दृष्टि में जाति आर्थिक, राजनीतिक एवं नातेदारी व्यवस्थाओं से सम्बन्धित अन्तःक्रियाओं अथवा अन्तःसम्बन्धों की जटिलता है। अन्तःसम्बन्धों की यह जटिलता कुछ मूल्यों से, जो कि धार्मिक प्रकृति के हैं, प्रोत्साहन प्राप्त करती है।

ड्यूमाँ अपने काल के फ्रांसीसी परिवेश से अत्याधिक प्रभावित था। जाति व्यवस्था पर उनका अध्ययन 'होमो हाईरारकिकस' शीर्षक से सम्बद्ध के रूप में 1967 में फ्रांसीसी भाषा में प्रकाशित हुआ। इस पुस्तक का अंग्रेजी अनुवाद 1969 में प्रकाशित हुआ। ड्यूमाँ की दृष्टि में 'समानता' एवं 'असमानता' विपरीत प्रकृति की अवधारणाएँ हैं। उनके मतानुसार समतावादी तंत्र पश्चिमी मूल्य है जबकि संस्तरण पूर्वी मूल्य है। ड्यूमाँ का तर्क है कि जाति वर्ग की भाँति स्तरीकरण का स्वरूप नहीं है। उनके अनुसार जाति असमानता का एक विशेष स्वरूप है जिसके आवश्यक तत्वों का अर्थ समाजशास्त्रियों द्वारा निकाला जाना चाहिए। विभिन्न जातियों के मध्य सम्बन्ध कुछ आधारभूत मान्यताओं द्वारा निर्मित होते हैं। ये मान्यताएँ जाति के आवश्यक तत्वों के रूप में व्यक्त की जाती हैं। ड्यूमाँ की दृष्टि में 'संस्तरण' जाति का आवश्यक मूल्य है जिसे हिन्दू धर्म का समर्थन प्राप्त है।

संस्तरण न केवल व्यक्तियों को विभिन्न प्रकार के क्रम प्रदान करता है अपितु जटिल भारतीय समाज में सहयोग व निकटता को भी निरन्तरता प्रदान करता है। दूसरे शब्दों में 'संस्तरण' वह मूल्य व्यवस्था है जो हमारे समाज में एकता उत्पन्न करती है।

प्रारम्भ में हम ड्यूमाँ द्वारा दी गई जाति की परिभाषा का विवेचन करेंगे। ड्यूमाँ की परिभाषा बुग्ले के विचारों से अत्यधिक प्रभावित है। बुग्ले के अनुसार जाति की निम्नलिखित विशेषताएँ हैं–

1) बड़ी संख्या में स्थायी समूह,

2) ये समूह विशिष्टीकरण को व्यक्त करते हैं,

3) ये समूह एक दूसरे से पृथक हैं,

4) ये समूह संस्तरण सम्बन्धों द्वारा एक दूसरे से सम्बद्ध हैं।

ड्यूमाँ का मत है कि उपरोक्त समस्त विशेषताओं का आधारभूत तत्व शुचिता एवं प्रदूषण के मध्य विरोध है। 'शुचिता' 'प्रदूषण' से उच्च है तथा इसे सदैव प्रदूषण से पृथक करके प्रस्तुत किया जाता है। जाति व्यवस्था जाति से सम्बद्ध व्यक्तियों के लिए तार्किक है क्योंकि इसमें शुचिता एवं प्रदूषण के मध्य का विरोध विद्यमान है। उदाहरण के लिए एक गाँव में ब्राह्मण एवं अस्पृश्य दोनों ही जातियों के सदस्य निवास करते हैं। ब्राह्मण सर्वोच्च हैं क्योंकि उनमें शुचिता हैं। इस सर्वोच्चता एवं शुचिता के कारण ब्राह्मण गाँव के केन्द्रीय स्थान में निवास करते हैं जबकि अस्पृश्य अथवा प्रदूषित होने के कारण निम्न हैं अतः वे गाँव के बाहर निवास करते हैं।

ड्यूमाँ के मतानुसार भारत में संस्तरण क्रम विन्यास को अभिव्यक्त करता है। यहाँ संस्तरण शक्ति एवां सत्ता को अभिव्यक्त नहीं करता। संस्तरण वह सिद्धान्त है जिसके माध्यम से तत्वों को 'सम्पूर्ण' के सम्बन्ध के साथ सम्बद्ध करते हुए उच्चता–निम्नता के क्रम प्रदान किए जाते हैं। अनेक समाजों में धर्म 'सम्पूर्ण' को समझने का आधार है अतः वहाँ क्रम विन्यास की प्रकृति भी मूलतः धार्मिक है। 'वर्ण' व्यवस्था में चार श्रेणियाँ हैं। इसके अतिरिक्त अस्पृश्यों की एक श्रेणी है। ये चार श्रेणियाँ दो में विभाजित हैं जिन्हें (1) शूद्र एवं (2) अन्य के रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है। 'अन्य' श्रेणी दो विरोधी समूहों वैश्य एवं अन्य में वर्गीकृत की जा सकती हैं। अन्त में ब्राह्मण एवं क्षत्रियों के रूप में विरोधी श्रेणियों का उल्लेख किया जा सकता है। भारत में 'प्रस्थिति' (ब्राह्मण) सदैव 'शक्ति' (राजा) से पृथक रही है। साथ ही 'शक्ति' प्रस्थिति से निम्न रही है अथवा 'प्रस्थिति' का 'शक्ति' पर नियंत्रण रहा है। राजा सदैव पुरोहित के नियंत्रण में रहा है। इसका अभिप्राय यह भी है कि आध्यात्मिकता को भारत में कभी राजनीतिक अवसर प्रदान नहीं किया गया। जबकि अनेक पश्चिमी देशों में धार्मिक नेता को शक्ति प्राप्त होती है। कैथोलिक ईसाई धर्म में वेटिकन नगर के मुखिया धर्म गुरु पोप को राजनीतिक शक्ति प्राप्त होती है।

भारतीय समाज में राजा को धर्म गुरु की तुलना में निम्न प्रस्थिति प्राप्त है अर्थात् राजा पर धर्म गुरु का नियंत्रण रहा है। परन्तु दोनों ने साथ मिलकर सम्पूर्ण परिवेश पर अपना नियंत्रण स्थापित किया है। राजा एवं धर्म गुरु एक दूसरे पर निर्भर भी हैं। राजा बलि का आदेश कर सकता है परन्तु धर्म गुरु केवल इस बलि सम्बन्धी कृत्य को कर सकता है। अन्य समाजों की भाँति यहाँ प्रस्थिति शक्ति की

तुलना में निम्न न होकर उच्च है। साथ ही शुचिता अथवा शूद्र एवं प्रदूषण अथवा अशुद्ध के मध्य आधारभूत विरोध है। संस्तरण की प्रकृति सांस्कारिक है जिसे धर्म का समर्थन प्राप्त है। जब शक्ति प्रस्थिति से निम्न होती है तब इस प्रकार का शुचिता संस्तरण विकसित हो सकता है। ब्राह्मण, जो कि शुचिता का साकार रूप है, सर्वोच्च है तथा सम्पूर्ण व्यवस्था पर प्रभुत्व अथवा वर्चस्व स्थापित करता है। परन्तु ब्राह्मण राजा के साथ मिलकर 'वर्ण व्यवस्था की अन्य श्रेणियों का विरोध करता है।

यदि आपने ड्यूमाँ के तर्कों का सावधानीपूर्वक अध्ययन किया है तो आप ड्यूमाँ एवं अन्तःक्रियात्मक उपागम से सम्बद्ध अन्य विचारकों के चिन्तन का तुलनात्मक विवेचन कर सकते हैं। अन्य अन्तःक्रियात्मक विचारकों ने जहाँ सांस्कारिक संस्तरण एवं इहलौकिक संस्तरण की चर्चा की है वहीं ड्यूमाँ ने केवल सांस्कारिक संस्तरण अथवा कर्मकाण्डीय संस्तरण की चर्चा की है वस्तुतः ड्यूमाँ का यह मत है कि इहलौकिक संस्तरण का तो अस्तित्व ही नहीं है क्योंकि संस्तरण की प्रकृति ही कर्मकाण्डीय अथवा सांस्कारिक है। उदाहरण के लिए जजमानी व्यवस्था को अनेक विचारकों ने आर्थिक प्रणाली के रूप में समझने का प्रयास किया है जबकि जजमानी व्यवस्था एक धार्मिक प्रणाली अथवा सांस्कारिक अभिव्यक्ति है। इस इकाई में हमने यह जानने का प्रयास किया है कि किस प्रकार ड्यूमाँ ने जाति व्यवस्था को नवीन दृष्टिकोण से समझा है। 'विचारधारा' अथवा 'मूल्य व्यवस्था' को जाति व्यवस्था का मूलाधार बताते हुए ड्यूमाँ शुचिता एवं प्रदूषण के आधारभूत भेद अथवा विरोध को जाति से सम्बद्ध करते हैं। ड्यूमाँ की दृष्टि में संस्तरण का मूल स्वरूप सांस्कारिक है।

सर्वप्रथम हम ड्यूमाँ के जजमानी व्यवस्था सम्बन्धी विश्लेषण का विवेचन करेंगे तत्पश्चात् ड्यूमाँ के सहभोज सम्बन्धी व्यवहार से सम्बद्ध विचारों की समीक्षा की जाएगी।

21.5 आर्थिक अन्तःक्रिया : जजमानी व्यवस्था

ड्यूमाँ का मत है कि जजमानी व्यवस्था "वंशानुगत व्यक्तिगत सम्बन्धों के माध्यम से श्रम विभाजन को व्यक्त करती है"। प्रत्येक परिवार के पास एक ऐसा परिवार होता है जो विशिष्ट सेवाएँ प्रदान करता है। सेवाएँ प्रदान करने वाले इस परिवार पर सेवा पाने वाले परिवार का एक प्रकार से अधिकार होता है। एक धोबी का परिवार अन्य जाति (उच्च) के परिवार को पूरे वर्ष तक सेवाएँ प्रदान करता है। एक शूद्र परिवार उच्च जाति के परिवार को किसी बाध्यता के अन्तर्गत कृषि सम्बन्धी सेवाएँ प्रदान कर सकता है। ये सेवाएँ व्यक्तिगत हैं तथा पारिश्रमिक का एक बड़ा भाग वस्तु (कृषि उत्पाद जैसे अनाज) के रूप में दिया जाता है। विभिन्न उत्सवों एवं समारोहों के अवसर पर भी सेवा करने वाली जातियों को वस्त्र एवं अनाज उपहार में दिए जाते हैं।

मूलतः जजमानी व्यवस्था श्रम विभाजन का एक स्वरूप है। भारतीय गाँवों में सामान्यतः दो प्रकार की जातियाँ हैं प्रथम जिनके पास भूमि का स्वामित्व है एवं द्वितीय वे जो कि भूमिहीन हैं। जिनके पास भूमि के बड़े भाग का स्वामित्व है वे जातियाँ स्थानीय स्तर पर प्रभावशाली एवं शक्ति सम्पन्न हैं। इस प्रकार की प्रभावशील एवं शक्ति सम्पन्न भूस्वामित्व वाली जातियाँ गाँवों में विद्यमान हैं। अतीत में यह प्रभुत्व जाति स्थानीय स्तर पर राजाओं की भूमिका का निर्वाह करती थी परन्तु स्वयं उस क्षेत्र के राजा के नियंत्रण में कार्य करती थी। अब इस 'प्रभुत्व

जाति' के साथ अनेक आश्रित जातियाँ सम्बद्ध हैं जो अनेक प्रकार की क्रियाएँ करती हैं। ये 'आश्रित जातियाँ' उच्च अथवा प्रभुत्व जाति की सेवा के प्रत्युत्तर में अपनी आजीविका निर्वाह के साधन प्राप्त करती हैं। अस्पृश्य एवं विशिष्ट जातियाँ (जैसे धोबी, नाई) इन प्रभुत्व जातियों की सेवा करने के लिए बाध्य हैं। यह सेवा व्यक्तिगत प्रकृति की है तथा इसमें उपकार का तत्व अन्तर्निहित है।

ड्यूमाँ यह तर्क देते है कि जजमानी व्यवस्था आर्थिक प्रणाली के साथ–साथ सांस्कारिक अभिव्यक्ति है। उनका मत है कि जजमानी व्यवस्था कुछ विशिष्ट विचारों द्वारा संचालित होती है। ये विचार आर्थिक शक्ति की सीमा निर्धारित करने में सक्षम हैं। संस्तरण का सिद्धान्त जो निर्धारित करता है कि कौन प्रभुत्वशाली है और कौन अधीनस्थ, विभिन्न समूहों की स्थिति को उपयुक्तता प्रदान करता है। यह सिद्धान्त प्रत्यक्ष रूप से आर्थिक क्रियाओं का विरोधी है। किसी भी आर्थिक क्रिया में व्यक्ति को 'इकाई' की स्थिति प्राप्त है परन्तु जजमानी व्यवस्था में गाँव इकाई है। आश्रित जाति समुदाय को सेवाएँ प्रदान करती है न कि व्यक्ति हो। आश्रित जातियों के द्वारा ग्राम समुदाय की सेवा को समाज में संतुलन की निरन्तरता हेतु आवश्यक माना जाता है। यह दृष्टिकोण कि संतुलन हेतु जाति का उपयुक्त स्थान निर्धारित करना आवश्यक है सिद्ध करता है कि जाति संस्तरण की प्रकृति धार्मिक है। अतः जजमानी व्यवस्था श्रम विभाजन, आर्थिक अन्तःक्रिया एवं इहलौकिक अन्तःक्रिया मात्र नहीं है। यह अन्तःनिर्भरता की सांस्कारिक अभिव्यक्ति है। यह अन्तःनिर्भरता स्वयं धर्म से उत्पन्न होती है। अतः ड्यूमाँ जजमानी व्यवस्था को एक भिन्न संदर्भ में मूल्यांकित करने का प्रयास करते हैं तथा इस मूल्यांकन में 'मूल्य व्यवस्था' को पर्याप्त महत्व देते हैं।

सहभोज विनिमय

लुई ड्यूमाँ के मतानुसार सहभोज सम्बन्धी अन्तःक्रियाओं के नियम, जाति व्यवस्था के संगठन को प्रस्तुत करते हैं। सहभोज अन्तःक्रिया सम्बन्धी नियम जाति के क्रम विन्यास तथा श्रम विभाजन से घनिष्ठ एवं प्रभावशाली ढंग से सम्बन्धित हैं। इन नियमों का सम्बन्ध शुचिता के विचार से भी है। जातियों के मध्य क्रम विन्यास अथवा स्तरीकरण से निर्देशित अन्तःक्रियाएँ उन सम्पर्कों के प्रकारों को व्यक्त करती हैं जिन्हें प्रदूषित मानकर उपेक्षा का शिकार होना पड़ता है। भोजन का श्रेणीकरण व्यक्तियों के समूहों में वर्गीकरण एवं उनके बीच सम्बन्धों के साथ सम्बद्ध है। भोजन सामग्री का श्रेणीकरण इस दृष्टि से स्तरीकरण यथार्थ को प्रस्तुत करता है।

सहभोज अन्तःक्रिया में उपभोक्ता अथवा सहभोजी व्यक्ति की शुचिता, भोजन सम्बन्धी स्थान एवं अवसर के तत्व अत्यंत महत्वपूर्ण हैं। कुछ महत्वपूर्ण अवसरों, जैसे विवाह, पर ब्राह्मण भोजन बनाता है ताकि विभिन्न जातियों के सदस्य विवाह के अवसर पर बिना संकोच भोजन कर सकें। दैनिक जीवन का भोजन विवाह के अवसर पर निर्मित भोजन से भिन्न होता है। यह भी जानना आवश्यक है कि शुचिता का प्रश्न प्रत्येक अवसर पर उत्पन्न नहीं होता है। उदाहरण के लिए धोबी वस्त्र साफ करता है एवं घर में स्वतंत्रतापूर्वक प्रवेश कर सकता है। परन्तु विवाह के अवसर पर जब वह ऐसा करता है तो वह अवसर को प्रदूषित बना देता है। अतः हम कह सकते हैं कि ड्यूमाँ की दृष्टि में सहभोज सम्बन्धी नियम संस्तरण पर अधिक बल देते हैं तथा पृथक्करण की उपेक्षा कर देते हैं। ये नियम शुचिता के विचारों पर भी आधारित हैं परन्तु विशिष्ट अवसरों पर ये नियम अत्यन्त महत्वपूर्ण हो जाते हैं।

21.6 लुई ड्यूमाँ के उपागम की आलोचना

लुई ड्यूमाँ के योगदान की बार–बार आलोचना इस आधार पर होती है कि उनके द्वारा प्रस्तुत सैद्धान्तिक व्यवस्था इतिहास के प्रति संवेदनशील नहीं है। दूसरे शब्दों में ड्यूमाँ द्वारा प्रस्तुत जाति व्यवस्था की विशेषताएँ अपरिवर्तनीय प्रतीत होती हैं। जबकि वास्तविक यह है कि विभिन्न कालों में जाति व्यवस्था अनेक तरीकों में परिवर्तित हुई है। ड्यूमाँ इसके अतिरिक्त भारतीय समाज को जड़ व अपरिवर्तनीय मानते हैं। सम्भवतः इसी कारण वे जाति व्यवस्था के एकतामूलक प्रकार्यों की चर्चा करते हैं।

जैसा कि पहले देखा गया है कि ड्यूमाँ ने 'शक्ति' एवं 'प्रस्थिति' के मध्य स्पष्ट अंतर अथवा पृथक्करण प्रस्तुत किया है। यह पृथक्करण कहाँ तक उपयुक्त है, इस तरह का प्रश्न भी उपस्थित किया जा सकता है। बेरमेन का तर्क है कि 'शक्ति' एवं 'प्रस्थिति' एक अर्थ में तो एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। बेरमेन ने गोंड का उदाहरण प्रस्तुत किया है। गोंड समूह ने जहाँ पर भी भूमि के रूप में शक्ति प्राप्त की है उन्होंने अपनी प्रस्थिति को उपयुक्त बनाने हेतु व्यवहार के संस्तरणात्मक प्रतीकों को अपनाया है। शुचिता एवं प्रदूषण की बीच आधारभूत विरोध की जो चर्चा ड्यूमाँ ने की है, वह सार्वभौमिक नहीं है। कुछ जनजातीय समाजों में प्रस्थिति को शुचिता के साथ सम्बद्ध नहीं किया है अपितु पवित्रता एवं शुद्धता के मध्य अंतर स्थापित किया है। इसके साथ ड्यूमाँ के इस दृष्टिकोण पर भी प्रश्न चिह्न लगाया जा सकता है जिसके अंतर्गत वे जाति को मूल्यों (विचारधाराओं) की तार्किक सुसंगत व्यवस्था मानते हैं। ड्यूमाँ ने उन अनेक विरोधी आन्दोलनों की उपेक्षा की है जो जाति व्यवस्था की विचारधारा को चुनौती देते हुए भारतीय इतिहास के अनेक चरणों में उत्पन्न हुए हैं। ड्यूमाँ मूल्यों पर अत्यधिक बल देते हैं जिसके कारण जाति विभाजन के भौतिक आधार की उपेक्षा हो जाती है। ड्यूमाँ जाति एवं संघर्ष स्थितियों के मध्य सम्बन्ध का प्रेक्षण नहीं कर सके। उनकी दृष्टि में वर्णों के मध्य विशेषतः ब्राह्मण एवं क्षत्रियों के मध्य के सम्बन्ध पूरक प्रकृति के हैं।

21.7 सारांश

इस इकाई में हमने लुई ड्यूमाँ के जाति सम्बन्धी अध्ययन के विषय में जानने का प्रयास किया। जाति के इस अन्तःक्रिया सम्बन्धी उपागम में हमने ए. मायर, बेली एवं मैरियट के विचारों को जानने का प्रयास किया। इन विचारकों का मत था कि जातियों के मध्य दैनिक जीवन की अन्तःक्रिया के प्रतिमानों से क्रम विन्यास विकसित होता है। तत्पश्चात् हमने ड्यूमाँ के योगदान के बारे में जानने का प्रयास किया। हमने यह पाया कि ड्यूमाँ किस प्रकार 'संस्तरण' को जाति व्यवस्था के आवश्यक मूल्य के रूप में स्थापित करते हैं। इस संस्तरण की प्रकृति सांस्कारिकता (धर्म) पर आधारित है तथा इसमें प्रस्थिति एवं शक्ति का पृथक्करण का विशेषता के रूप में विद्यमान है। हमने यह भी पाया कि ड्यूमाँ किस प्रकार जाति को तर्कसंगत रूप में संगठित मूल्यों की व्यवस्था के रूप में व्यक्त करते हैं। ड्यूमाँ की दृष्टि में जजमानी व्यवस्था हिन्दू व्यवस्था से उत्पन्न अन्तःनिर्भरता की धार्मिक अभिव्यक्ति है। ड्यूमाँ का यह भी मत है कि सहभोज सम्बन्धी अन्तःक्रिया एवं सम्बद्ध नियम श्रेणीगत सम्बन्धों की वास्तविकता को व्यक्त करते हैं।

अन्त में हमने ड्यूमाँ के उपागम की आलोचनाओं की तरफ संकेत किया। हमने यह जाना कि किस प्रकार जाति को स्थिर एवं परिवर्तनीय व्यवस्था के रूप में स्वीकार कर ड्यूमाँ संघर्ष एवं विरोध की पूर्णरूपेण उपेक्षा करते हैं।

21.8 मिलान कीजिये

1.	होमो हैरारकिक्स	(क)	हट्टन
2.	कास्ट, क्लास एण्ड पावर	(ख)	घुरिए
3.	'कास्ट, क्लास एण्ड आकुपेशन	(ग)	आन्द्रे बेते
4.	कास्ट इन इण्डिया	(घ)	लुई ड्यूमाँ

21.9 मिलान प्रश्नों के उत्तर

1. (घ) लुई ड्यूमाँ
2. (ग) आन्द्रे बेते
3. (ख) घुरिए
4. (क) हट्टन

21.10 संदर्भ–ग्रन्थ

- बेली, एफ.जी. 1957, कास्ट एण्ड द इकोनामिक फ्रंटियर, द यूनिवर्सिटी प्रेस, मैनचेस्टर।
- घुरिये, जी.एस. 1950, कास्ट एण्ड रेस इन इण्डिया, पापुलर, बम्बई।
- श्रीनिवास, एम.एन (सम्पादित), 1960, इण्डियाज विलेजेज, एशिया पब्लिशिंग, नई दिल्ली।

इकाई–22

जाति एवं गतिशीलता

इकाई की रूपरेखा

22.1 उद्देश्य

22.2 प्रस्तावना

22.3 गतिशीलता की संकल्पना

22.4 जाति व्यवस्था में गतिशीलता सम्बन्धी विचार

22.5 जाति गतिशीलता का वैधानिकीकरण

22.6 सारांश

22.7 वस्तुनिष्ठ प्रश्न

22.8 वस्तुनिष्ठ प्रश्नों के उत्तर

22.9 संदर्भ–ग्रन्थ

22.1 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के बाद छात्र–

1. गतिशीलता की अवधारणा, विभिन्न समाज वैज्ञानिकों द्वारा प्रस्तुत सामाजिक गतिशीलता की परिभाषा तथा सामाजिक गतिशीलता के विभिन्न आयामों से परिचित हो पाएंगे।
2. जाति व्यवस्था में गतिशीलता एवं भारतीय समाज में उसके कारकों से परिचित हो पाएंगे।

22.2 प्रस्तावना

भारतीय समाज जाति पर आधारित है जो कि व्यक्ति की प्रस्थिति को निर्धारित करने में सहायक है। जाति भारतीय समाज में अत्यन्त संकीर्ण एवं अगतिशील रही है। व्यक्ति के लिए वर्तमान जीवन में अपनी जाति प्रस्थिति को परिवर्तित करना अत्यन्त कठिन है। इसके अतिरिक्त प्रत्येक जाति किसी न किसी व्यवसाय से सदैव सम्बद्ध होती है। अतः किसी व्यक्ति के लिए अपने व्यवसाय में परिवर्तन कर लेना भी समान रूप से कठिन है। आपने इस तर्क की तरफ भी ध्यान दिया होगा कि जाति एवं सम्बद्ध व्यवसायों को संस्तरण अथवा क्रम विन्यास में स्थान प्रदान किया जाता है जिसकी तुलना सीढ़ी के चरणों से की जा सकती है। इस क्रिया विन्यास में धार्मिक तत्व भी सम्मिलित हैं। इन तत्वों के सम्मिलित होने के परिणामस्वरूप व्यक्ति जाति प्रस्थिति को प्रदत्त प्रस्थिति के रूप में स्वीकार

कर लेता है चाहे उस व्यक्ति ने सम्पत्ति एवं ज्ञान इत्यादि के आधार पर कोई भी व्यक्तिगत उपलब्धि अर्जित की हो।

बाह्य रूप से ज्ञात कठोरता एवं भारतीय जाति व्यवस्था की अगतिशीलता प्रकृति के बावजूद व्यक्ति अथवा समूह के लिए ऐसे माध्यमों का प्रावधान है जो कि व्यक्ति की जाति प्रस्थिति में उर्ध्वगामी गतिशीलता को उत्पन्न करते हैं। इसमें से कुछ माध्यम हाल ही में उत्पन्न हुए हैं जबकि अनेक माध्यम जाति व्यवस्था जितने ही पुराने हैं और व्यवस्था में अन्तर्निहित हैं। इस इकाई में हम उन प्रक्रियाओं की चर्चा करेंगे जिनके माध्यम से व्यक्ति अथवा व्यक्तियों का समूह अपनी जाति प्रस्थिति को परिवर्तित करने का प्रयास करता है। हम इस परिवर्तन के प्रयास के लिए उत्तरदायी कारकों का भी उल्लेख करेंगे।

22.3 गतिशीलता की संकल्पना

'गतिशीलता' शब्द का प्रयोग हम दिन–प्रतिदिन के व्यवहार में प्रायः करते रहते हैं। गतिशीलता का व्यापक संदर्भ में अर्थ किसी प्रकार का बदलाव है। गतिशीलता की अवधारणा में हम दो पक्षों–भौगोलिक गतिशीलता एवं सामाजिक गतिशीलता को सम्मिलित करते हैं। भौगोलिक गतिशीलता में स्थान सम्बन्धी परिवर्तन अथवा बदलाव को सम्मिलित करते हैं जबकि सामाजिक गतिशीलता सामाजिक क्षेत्र में होने वाला बदलाव अथवा परिवर्तन है। दूसरे शब्दों में एक व्यक्ति अथवा व्यक्तियों के समूह का एक सामाजिक पद से दूसरे सामाजिक पद की तरफ बदलाव अथवा परिवर्तन सामाजिक गतिशीलता है। एक उदाहरण द्वारा हम इस अवधारणा को स्पष्ट कर सकते हैं। जब एक व्यक्ति उपलब्ध अवसरों का प्रयोग कर कार्यालय लिपिक के पद से अनुभाग अधिकारी बन जाता है तो पदों में आने वाला ऐसा कोई भी बदलाव जो उच्च दिशा की तरफ हो अथवा निम्न दिशा की तरफ (उर्ध्वगामी हो अथवा अधोगामी) सामाजिक गतिशीलता कहलाता है।

सामाजिक गतिशीलता की परिभाषायें

प्रमुख समाजशास्त्री पी. सोरोकिन ने सामाजिक गतिशीलता की समग्र परिभाषा दी है जिसमें उन्होंने एक सामाजिक पद से दूसरे सामाजिक पद की तरफ बदलाव अथवा संक्रमण पर बल दिया है। सोरोकिन का मत है कि 'सामाजिक गतिशीलता' का अभिप्राय व्यक्ति, सामाजिक वस्तु अथवा मूल्य में उत्पन्न उस संक्रमण से है जिसे मानव क्रिया द्वारा या तो उत्पन्न किया गया है अथवा संशोधित किया गया है। यह संक्रमण एक सामाजिक पद से दूसरे सामाजिक पद की तरफ है। लिपसेट एवं बैन्डिक्स ने सामाजिक गतिशीलता को परिभाषित करते हुए कहा है कि सामाजिक गतिशीलता का अभिप्राय उस शक्ति से है जिसके द्वारा व्यक्ति, समाज में एक सामाजिक पद से दूसरे सामाजिक पद की तरफ बदलाव करते हैं। यह पद सामान्य सहमति के आधार पर विशिष्ट संस्तरणात्मक मूल्य प्रदान करते हैं एवं संस्तरणात्मक मूल्य प्राप्त करते हैं। इन विचारकों का आगे मत यह है कि सामाजिक गतिशीलता के अध्ययन में हम क्रम–विन्यास में निश्चित व्यक्ति की प्रस्थिति में बदलाव का मूल्यांकन करते हैं जो उस व्यवस्था में उच्च अथवा निम्न पद प्रदान करता है। इन परिभाषाओं द्वारा उत्पन्न सहमति के आधार पर कहा जा सकता है कि एक व्यक्ति अथवा समूह द्वारा एक सामाजिक पद से किसी अन्य दूसरे सामाजिक पद की तरफ बदलाव किसी भी समाज में सामाजिक गतिशीलता का आधार है।

लिपसेट एवं बैन्डिक्स की परिभाषा से हमें एक अतिरिक्त परन्तु महत्वपूर्ण पक्ष के विषय में जानकारी प्राप्त होती है इन दोनों विचारकों का मत है कि पद सम्बन्धी किसी भी गतिशीलता अथवा बदलाव को समूह सम्बद्ध समाज की 'सामान्य स्वीकृति' द्वारा मान्यता प्राप्त होनी चाहिए। स्वाभाविक है कि यह समाज होगा जिसमें कि पद सम्बन्धी बदलाव हो रहा है। यदि इस तर्क को दूसरे रूप में प्रस्तुत किया जाए तो यह कहा जा सकता है कि सामाजिक क्षेत्र अथवा पद अथवा व्यावसायिक आवश्यकताओं में हो रहे परिवर्तन का संस्थागत स्वरूप सामाजिक गतिशीलता की प्रक्रिया की अत्यन्त महत्वपूर्ण पूर्व शर्तों में से एक है। इसका अभिप्राय है कि यदि सम्बद्ध समाज व्यक्ति, समूह अथवा व्यक्तियों की उपलब्धि को स्वीकार करते हैं एवं उसे महत्व प्रदान करते हैं तो ऐसी महत्वपूर्ण व उपयोगी प्रक्रिया को ही सामाजिक गतिशीलता की संज्ञा दी जानी चाहिए। चूंकि प्रत्येक समाज अपनी पद्धतियों द्वारा सामाजिक पदों का मूल्यांकन करता है सामाजिक गतिशीलता को एक स्तर तक समाज विशिष्ट कहा जा सकता है। उदाहरण के लिए अमेरिकन समाज में धन का संकेन्द्रण सामाजिक गतिशीलता का अत्यन्त महत्वपूर्ण तत्व है जबकि परम्परागत भारतीय समाज में इसे अधिक महत्व नहीं दिया गया क्योंकि प्रदत्त जाति प्रस्थिति भारतीय समाज के लिए अत्यन्त महत्वपूर्ण तत्व है।

सामाजिक गतिशीलता के आयाम

प्रमुख समाजशास्त्री मैक्स वेबर का मत है कि शक्ति, धन एवं प्रतिष्ठा सामाजिक स्तरीकरण के तीन महत्वपूर्ण तत्व हैं। ठीक इसी प्रकार संग्रहित धन की मात्रा शक्ति जीवन स्तर के प्रकार एवं विश्राम के प्रकार एक व्यक्ति अथवा एक समूह के लिए सामाजिक गतिशीलता के संकेत हैं। लेकिन सोरोकिन ने वेबर के विचारों में थोड़ा संशोधन करते हुए सामाजिक स्तरीकरण में व्यवसाय की भूमिका की चर्चा पर बल दिया है। अतः सोरोकिन के मतानुसार सामाजिक गतिशीलता की प्रक्रिया के निर्धारण में राजनीतिक एवं व्यावसायिक पक्ष अत्यन्त महत्वपूर्ण है। वस्तुतः विश्व के अनेक गतिशील समाजों में व्यक्ति की प्रस्थिति के निर्धारण में व्यावसायिक गतिशीलता की निर्णायक भूमिका है। जबकि संकीर्ण एवं परम्परागत समाजों में व्यावसायिक गतिशीलता की प्रस्थिति निर्धारण में भूमिका आंशिक है। सामाजिक गतिशीलता दो भिन्न दिशाओं क्रमशः 'क्षैतिज दिशा' एवं 'लम्बवत् दिशा' में क्रियाशील होती है। सोरोकिन के मतानुसार 'क्षैतिज सामाजिक गतिशीलता का अभिप्राय एक व्यक्ति अथवा सामाजिक इकाई का एक समूह से दूसरे समूह में बदलाव से है। इन समूहों का सामाजिक स्तर समान है'। 'लम्बवत् गतिशीलता' का अभिप्राय 'एक व्यक्ति अथवा सामाजिक इकाई का एक सामाजिक स्तर से दूसरे सामाजिक स्तर की तरफ बदलाव से है। स्वाभाविक है कि ये स्तर सामाजिक स्तर की दृष्टि से असमान हैं'।

सोरोकिन ने लम्बवत् गतिशीलता को दो भागों में विभाजित किया है। (1) आरोही अथवा अर्ध्वागामी अथवा उच्च स्तरीय सामाजिक गतिशीलता एवं (2) अवरोही अथवा अधोगामी अथवा निम्नस्तरीय सामाजिक गतिशीलता। हीलर ने भी सोरोकिन के क्षैतिज एवं लम्बवत् सामाजिक गतिशीलता सम्बन्धी विचारों का समर्थन किया है। हीलर का सुझाव है कि क्षैतिज गतिशीलता को उस बदलाव के रूप में परिभाषित किया जाना चाहिए जो एक व्यक्ति समान पदों वाले एक समूह से दूसरे समूह की तरफ करता है। जबकि लम्बवत् गतिशीलता एक व्यक्ति का एक सामाजिक पद से दूसरे सामाजिक पद की तरफ बदलाव है ये सामाजिक पद समान क्रम विन्यास को अभिव्यक्त करते हैं अर्थात् एक पद से दूसरे पद की जो

कि पहले पद की तुलना में उच्च अथवा निम्न है, प्राप्ति लम्बवत् सामाजिक गतिशीलता है।

समय के पक्ष के संदर्भ में भी सामाजिक गतिशीलता के दो प्रकार हैं जिन्हें (1) अन्तःपीढ़ी गतिशीलता एवं (2) अन्तरापीढ़ी गतिशीलता अथवा कैरियर गतिशीलता की संज्ञा दी जाती है। अन्तःपीढ़ी गतिशीलता दो अथवा अधिक पीढ़ियों के मध्य व्यक्तियों की सामाजिक प्रस्थिति में परिवर्तन को अभिव्यक्त करती है। जबकि अन्तरापीढ़ी गतिशीलता अथवा 'कैरियर' गतिशीलता का अभिप्राय एक ही पीढ़ी में व्यक्तियों के सामाजिक प्रस्थितियों में हुआ परिवर्तन है।

अब हम यह चर्चा करेंगे कि बन्द प्रकृति के पश्चात् भी भारतीय जाति व्यवस्था में विभिन्न प्रकारों की सामाजिक गतिशीलता पायी जाती रही है। सामाजिक गतिशीलता के इन विभिन्न पक्षों का हम अब विवेचन करेंगे।

22.4 जाति व्यवस्था में गतिशीलता सम्बन्धी विचार

जाति को भारतीय समाज में सामाजिक स्तरीकरण के अपरिवर्तनीय एवं बन्द स्वरूप की संज्ञा दी जाती है। इस तर्क के मूल आधार के रूप में हम जाति व्यवस्था के अन्तर्गत अनेक जातियों के संस्तरणात्मक क्रम को पाते हैं। यह भी यथार्थ है कि अपने सम्पूर्ण जीवनकाल में व्यक्ति जाति की प्रस्थिति अथवा अपनी जाति पहचान को परिवर्तित नहीं कर सकता। प्रत्येक जाति सामान्यतया एक व्यवसाय से सम्बद्ध है एवं यह अत्यन्त कठिन है कि एक व्यक्ति अपने जाति व्यवसाय को अस्वीकार कर नवीन व्यवसाय को ग्रहण कर ले। दूसरे शब्दों में यदि हम जाति व्यवस्था को कठोर प्रणाली के रूप में स्वीकार करें तो किसी भी व्यक्ति के पास इसके अतिरिक्त विकल्प नहीं है कि वह जन्म से प्राप्त जाति प्रस्थिति के द्वारा अपनी पहचान बनाये तथा जाति से सम्बद्ध व्यवसाय को ग्रहण करें। अन्य क्षेत्रों में वही उपलब्धियाँ व्यक्ति की अस्मिता को स्थापित करने का आधार नहीं बन सकती। भारतीय संविधि आयोग (इण्डियन स्टेट्यूटरी कमीशन 1930) के प्रतिवेदन में यह उल्लेख उपयुक्त ही है कि प्रत्येक हिन्दू आवश्यक रूप से अपने माता–पिता की जाति से सम्बद्ध है तथा उस जाति में यह अनिवार्य रूप से जीवन पर्यन्त बना रहता है। धन का संग्रह एवं योग्यता के उच्च स्तर के तत्व भी जाति प्रस्थिति को परिवर्तित नहीं कर सकते। अपनी जाति के बाहर विवाह सम्बन्ध या तो प्रतिबन्धित हैं या उन्हें पूर्णरूपेण हतोत्साहित किया जाता है। व्यवसाय का उल्लेख करते हुए इस प्रतिवेदन में कहा गया है कि व्यवसाय के स्वतंत्र चुनाव का अथवा जाति व्यवस्था का अथवा एक इकाई के रूप में जाति का अत्यन्त महत्वपूर्ण तत्व है। परम्परागत व्यवस्था में व्यवसाय परिवर्तन का कोई भी प्रयास एवं व्यक्ति अथवा समूह द्वारा उच्च जाति की प्रस्थिति का दावा जाति प्रतिमानों का स्पष्ट उल्लंघन था अतः ऐसे किसी भी प्रयास का दमन किया जाता है। यह स्थिति जाति की सांस्कृतिक पवित्रता के फलस्वरूप उत्पन्न हुई थी। इसके साथ ही जाति से सम्बद्ध व्यवसाय को भी धार्मिक स्वीकृति प्रदान की गयी थी। अतः जाति प्रतिमानों का उल्लंघन धर्म का उल्लंघन माना जाता था तथा अभियुक्त को जाति पंचायत द्वारा निर्धारित दण्ड दिया जाता था।

जाति स्तरीकरण की इस स्पष्ट कठोरता एवं व्यवसाय की अपरिवर्तनशील प्रकृति के बावजूद जाति व्यवस्था न तो कभी पूर्णरूपेण बन्द थी और न ही इसे वर्तमान में पूर्णरूपेण बन्द कहा जा सकता है। इसका स्पष्ट अर्थ है कि भारतीय जाति व्यवस्था के कठोर प्रारूप के उपरान्त भी जाति में सामाजिक एवं सांस्कृतिक

गतिशीलता की कुछ सम्भावनाएँ हमेशा से पायी जाती हैं। अनेक ऐतिहासिक घटना क्रमों एवं सामाजिक सांस्कृतिक प्रक्रियाओं ने जाति व्यवस्था के अन्तर्गत गतिशीलता को उत्पन्न किया है तथा इस गतिशीलता के प्रति समाज की सहनशीलता भी रही है।

संस्कृतिकरण

प्रतिस्पर्धा की प्रक्रिया द्वारा जाति गतिशीलता के प्रारूप को एम.एन. श्रीनिवास ने प्रस्तुत किया है जिसे संस्कृतिकरण के रूप में जाना जाता है। इस प्रक्रिया में आवश्यक रूप से निम्न जातियों द्वारा ब्राह्मण जीवन शैली की नकल करने अथवा अनुकरण करने सम्बन्धी प्रयासों को सम्मिलित किया जाता है। एम. एन. श्रीनिवास के अनुसार 'संस्कृतिकरण वह प्रक्रिया है जिसके द्वारा कोई निम्न जाति अथवा जनजाति अथवा अन्य समूह किसी उच्च और प्रायः द्विज जाति की दिशा में अपने रीति रिवाज, कर्मकाण्ड़, विचारधारा अथवा पद्धति को परिवर्तित करता है। सरल रूप में हम यह कह सकते हैं कि जातियाँ जिन्हें जाति संस्तरण में अपेक्षाकृत निम्न पद प्राप्त हैं प्रायः उच्च जातियों के सांस्कृतिक पक्षों का अनुकरण करती हैं। इस अनुकरण के फलस्वरूप ये निम्न जातियाँ जाति संस्तरण में वर्तमान पद से उच्च पद का अथवा उच्च जातीय प्रस्थिति का दावा करती हैं।

संस्कृतिकरण की प्रक्रिया में निम्न जाति के सदस्य स्थानीय उच्च जाति की सापेक्षिक रूप से उच्च जीवन शैली के साथ न केवल प्रतिस्पर्धा का प्रयास करते हैं अपितु उनके सांस्कृतिक क्रियाकलापों एवं धार्मिक सांस्कारिक कृत्यों को स्वीकार कर उन्हें अपने व्यवहार में प्रयुक्त करते हैं। इसके अतिरिक्त ये निम्न जातियाँ अधिकांश स्थितियों में प्रदूषित एवं निकृष्ट समझी जाने वाली क्रियाओं जैसे गोश्त खाना, चमड़े का कार्य, मृत जानवरों को एकत्रित करना, सुअर पालन, मदिरा सेवन इत्यादि का त्याग कर देती हैं। इन प्रयासों के द्वारा उर्ध्वगामी दिशा अथवा उच्च दिशा की तरफ गतिशीलता सम्भव हो जाती है। कुछ स्थितियों में ये निम्न जातियाँ शाकाहारी भोजन सम्बन्धी आदतों को सीखती हैं। ये आदतें सांस्कारिक शुचिता की प्रतीक हैं जिनके अपनाये जाने पर उच्च जाति के पद पर दावा करना सम्भव हो जाता है। उत्तर भारत में चमड़े का कार्य करने वाली चमार जाति, राजस्थान में भील तथा वाराणसी के निकट के खटीक इत्यादि जाति समूहों को यहाँ उदाहरण के रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है।

इस संदर्भ में संस्कृतिकरण प्रारूप के दो महत्वपूर्ण तत्वों को यहाँ स्पष्ट करना आवश्यक हो जाता है। प्रथम तो ये विसंस्कृतिकरण की प्रक्रिया से सम्बन्धित जाति की उर्ध्वाधर गतिशीलता में पद मूल परिवर्तन होता है यह संरचनात्मक परिवर्तन उत्पन्न नहीं करती। इसका स्पष्ट अर्थ है कि स्थानीय स्तर पर गतिशीलता केवल तभी प्रभावशील होती है जबकि एक विशिष्ट जाति संस्तरण पैमाने में वर्तमान पद की तुलना में उच्च पद प्राप्त करती हैं इस उर्ध्वगामी गतिशीलता का जाति व्यवस्था की क्षेत्रीय संस्तरण प्रणाली पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। अतः संस्तरण प्रणाली का सामान्य रूप इस गतिशीलता से अप्रभावी है। अतः संस्कृतिकरण की प्रक्रिया एक निश्चित क्षेत्र अथवा स्थान को ही सीमित रूप से प्रभावित करती है क्योंकि इस प्रक्रिया से केवल उस क्षेत्र अथवा स्थान की जाति का ही सम्बन्ध है। दूसरे यह उर्ध्वगामी गतिशीलता का प्रारूप केवल हिन्दू जातियों से सम्बन्धित नहीं है जैसा कि प्रारम्भ में श्रीनिवास का दृष्टिकोण था। यह उर्ध्वगामी गतिशीलता देश के विभिन्न भागों में निवास कर रहे जनजातीय समुदायों में भी स्पष्ट रूप से परिलक्षित होती है। विभिन्न क्षेत्रों की जनजातियों का अपने निकटवर्ती क्षेत्रों में निवास कर रही हिन्दू जातियों से दीर्घकालिक सम्पर्क रहा है।

वस्तुतः यह सम्पर्क अनेक पीढ़ियों पुराना है। परिसंस्कृतिग्रहण की प्रक्रिया के फलस्वरूप इन जनजातियों ने हिन्दू देवी देवताओं की पूजा करना प्रारम्भ कर दिया तथा हिन्दू जीवन पद्धति को अपना लिया। हिन्दू जाति का दावा करने वाली इन विभिन्न जनजातियों में हम राजस्थान के भील, मध्य भारत के गोंड एवं ओरॉव और पूर्वीभारत के संथाल, तथा भूइया की चर्चा कर सकते हैं जिन्होंने हिन्दू जाति का दावा संस्कृतिकरण की प्रक्रिया अपनाने के उपरान्त किया।

संस्कृतिकरण एक अत्यन्त मंद गति की प्रक्रिया है जिसके अन्तर्गत उर्ध्वागामी गतिशीलता के द्वारा कोई जाति वर्तमान जातीय पद से उच्च पद प्राप्त करती है। यद्यपि इस तथ्य का भी प्रेक्षण किया गया कि यदि जाति किसी भी माध्यम से आर्थिक अथवा राजनीतिक शक्ति प्राप्त कर लेती है तो उच्च जाति प्रस्थिति का दावा करने से सम्बद्ध संस्कृतिकरण की प्रक्रिया तीव्र गति प्राप्त कर लेती है। उत्तर प्रदेश के पूर्वी भाग में निवास करने वाली नौनिया जाति इसका ज्वलन्त उदाहरण है। नमक बनाने वाली इस जाति ने अपना आर्थिक शक्ति के आधार पर उच्च जाति प्रस्थिति का दावा किया एवं क्षत्रिय जाति का पद प्राप्त करने में सफलता प्राप्त की।

संस्कृतिकरण की अवधारणा को पुनः परिभाषित करने के पूर्व एम.एन. श्रीनिवास ने जाति गतिशीलता के ब्राह्मण प्रारूप को प्रस्तुत किया जिसके अन्तर्गत गैर–ब्राह्मण जातियों ने ब्राह्मणों की जीवन पद्धति का अनुकरण का प्रयास किया। इस प्रारूप से प्रभावित होकर विभिन्न विचारकों ने जाति गतिशीलता के विश्लेषण के क्षत्रिय, वैश्य एवं अन्य अनेक समान प्रारूपों को प्रस्तुत किया। इनमें से कुछ प्रारूपों का हम अब उल्लेख करेंगे।

पश्चिमीकरण

भारत में लगभग तीन सौ वर्ष के ब्रिटिश प्रशासन ने भारतीय समाज एवं संस्कृति में अनेक आमूलचूल एवं दीर्घकालीन प्रभाव वाले परिवर्तनों को उत्पन्न किया। प्रौद्योगिकी, शिक्षा, रोजगार, व्यापार एवं वाणिज्य, संचार, राजनीति इत्यादि, क्षेत्रों में हुए इन गुणात्मक परिवर्तनों ने भारत की पारम्परिक जीवन पद्धति को व्यापक रूप से प्रभावित एवं परिवर्तित किया। चूँकि ये सभी परिवर्तन पश्चिमी प्रभाव का परिणाम हैं अतः परिवर्तन की इस प्रक्रिया को 'पश्चिमीकरण' की संज्ञा दी गयी है। वस्तुतः यह अत्यन्त जटिल प्रक्रिया है। एम.एन. श्रीनिवास के मतानुसार पश्चिमीकरण एक पूर्ण जटिल एवं बहुस्तरीय अवधारणा है। यह एक तरफ पश्चिमी प्रौद्योगिकी को सम्मिलित करती है वहीं दूसरी तरफ आधुनिक विज्ञान की प्रयोगात्मक पद्धति एवं आधुनिक इतिहास विश्लेषण को सम्मिलित करती है। इसकी अस्थिर जटिलता इस तथ्य से ही प्रकट हो जाती है कि पश्चिमीकरण के विभिन्न पक्ष कभी तो सम्मिलित होकर किसी विशिष्ट प्रक्रिया को मजबूत बनाते हैं कभी उद्देश्यों के विपरीत हो जाते हैं और कभी–कभी एक दूसरे के विपरीत भी हो जाते हैं। इस जटिलता के बावजूद पश्चिमीकरण की प्रक्रिया ने सुविधाओं को अपने नियंत्रण में लेने के लिए कुछ जातीय समूहों को अनुकूल अवसर प्रदान किये। अधिकांश भागों में ब्राह्मण, व्यवसायी समूह जैसे पारसी एवं बनिया, खत्री एवं अरोड़ा, कोमती, चेतियार, कायस्थ एवं बेडियाज उन समूहों के उदाहरण हैं जिन्होंने अपने हितों के विस्तार हेतु पश्चिमीकरण की प्रक्रिया का उपयोग किया। पश्चिमीकरण ने ऐसे अनेक क्षेत्रों में जो कि मुख्यतः जाति–स्वतंत्र थे, नवीन अवसर प्रदान किये। ऐसे क्षेत्रों में हम शैक्षणिक, आर्थिक एवं राजनीतिक क्षेत्रों की चर्चा कर सकते हैं। इन अवसरों ने अनेक निम्न जातियों को प्रोत्साहित किया कि वे उर्ध्वगामी जाति गतिशीलता हेतु संघर्ष करें। निम्न जातियों को चूँकि यह अहसास

हो गया था कि संस्कृतिकरण अत्यन्त मन्द प्रक्रिया है तथा उन्हें उच्च जातियों के निकट लाने में अधिक सहायक नहीं है अतः इस उद्देश्य को शीघ्र प्राप्त करने के लिए उन्होंने पश्चिमी शिक्षा ग्रहण करने का निश्चय किया। इस प्रेरणा ने अनेक उपजातियों को एक दूसरे के अत्यन्त निकट किया, जाति संगठनों का निर्माण हुआ, जाति कल्याण से सम्बद्ध पत्रिकाओं का प्रकाशन हुआ, छात्रवृत्तियों हेतु धन एकत्रित हुआ, जाति के विद्यार्थियों के आवास हेतु छात्रावासों का निर्माण हुआ तथा जाति सम्बन्धी प्रथाओं में सुधार हुआ। इन समस्त प्रयासों का एक मात्र उद्देश्य उच्च जाति प्रस्थिति प्राप्त करना था। तमिलनाडु की बेलाला एवं पाडयाची, उत्तर प्रदेश एवं बिहार के अहीर, उड़ीसा के गौराज (दूध बेचने वाली जाति) जाति समूहों ने अपने परम्परागत व्यवसायों के साथ सम्बद्ध रहने से इन्कार कर दिया एवं उच्च जातियों का सम्बद्ध क्षेत्रों में विरोध किया। विभिन्न क्षेत्रों में जैसे मद्रास, बम्बई एवं अन्य केन्द्रों में ब्राह्मण की सर्वोच्चता के विरोध में गैर–ब्राह्मण आन्दोलन हुए। ऐसे आन्दोलनों का नेतृत्व आन्ध्र प्रदेश में रेड्डी एवं कामा, तमिलनाडू में बेलाला एवं केरल में नायर जाति समूहों ने किया। सत्य शोधक समाज के तत्वाधान में ज्योति राव फूले ने इस आन्दोलन का नेतृत्व किया। तत्पश्चात् ई.वी. रामास्वामी नायकर ने मानव व्यक्तित्व के गुणों पर बल दिया जाये वह व्यक्ति किसी भी जाति का हो।

इसी प्रकार देश के विभिन्न भागों में छोटे स्तर पर अनेक आन्दोलन हुए। परन्तु इन सब आन्दोलनों का मुख्य उद्देश्य उस गतिशीलता को अर्जित करना था जिससे वे जातीय समूह प्रस्थिति उच्च कर सकें जो सदियों से ब्राह्मणों से पिछड़े हुए थे। इस उद्देश्य की प्राप्ति हेतु इन समूहों में यह इच्छा व्यापक रूप से उत्पन्न हुई कि अंग्रेजी में उच्च शिक्षा, सरकारी क्षेत्रों में रोजगार तथा नवीन राजनीतिक प्रक्रियाओं में सहभागिता के तत्वों को प्राप्त किया जाए जो कि पश्चिमीकरण की प्रक्रिया के द्वारा सम्भव था।

क्षेत्रीयकरण

जाति गतिशीलता के ब्राह्मण प्रारूप अथवा सांस्कृतिक प्रारूप के समकक्ष डी.एफ. पोकाक ने क्षत्रिय प्रारूप का उल्लेख किया है। पोकाक के मतानुसार ऐसे भी उदाहरण हैं जहाँ लोगों ने 'ब्राह्मण प्रारूप' के स्थान पर 'राजा के प्रारूप' का अनुकरण किया। यह अनुकरण राजा के व्यक्तियों पर व्यापक प्रभाव के कारण सम्भव हो सका। पोकाक के अनुसार किसी समय अथवा स्थान पर राजा के प्रारूप का उस क्षेत्र की गैर–ब्राह्मण जातियों द्वारा अनुकरण उस क्षेत्र की प्रभुत्वशाली राजनीतिक शक्ति का प्रतिनिधित्व करता है। सुरजीत सिन्हा ने भी मध्य भारत के जनजातीय क्षेत्रों में समान प्रक्रिया का उल्लेख किया है। इस क्षेत्र में जनजातियों ने 'राजपूतों' की जीवन पद्धति का अनुकरण किया ताकि स्थानीय संस्तरण में वे अपनी जातीय प्रस्थिति को उच्च बना सकें। स्टीफन एवं बर्नाट ने भी पोकाक तथा सिन्हा के मतों से सहमति व्यक्त की है। बर्नाट का मत है कि दक्षिण भारत में ब्राह्मण प्रारूप के अतिरिक्त 'राजा का प्रारूप' भी अस्तित्व में है। ये दोनों प्रारूप उच्च जाति प्रस्थिति की आकांक्षा करने वाले जाति समूहों के लिए संदर्भ प्रारूप का कार्य करते हैं।

के.एम. पाणिकर जैसे इतिहासकारों एवं अन्य विद्वानों ने ऐतिहासिक साक्ष्यों की सहायता से 'क्षत्रीयकरण' की प्रक्रिया को स्पष्ट किया है। पाणिकर की स्पष्ट मान्यता है कि पिछले दो हजार वर्षों के भारतीय इतिहास में क्षत्रिय जैसी कोई 'विशुद्ध' जाति नहीं पायी गयी है। पाणिकर की दृष्टि में पांचवीं शताब्दी ई.पू. में नन्द वंश अन्तिम विशुद्ध क्षत्रिय वंश था परन्तु इसके पश्चात् अनेक निम्न जातियों ने स्वयं को क्षत्रिय जाति से सम्बद्ध किया अथवा क्षत्रिय होने का दावा किया

क्योंकि इन निम्न जातियों ने अपनी सैन्य क्षमता के आधार पर तथा राजनीतिक शक्ति के माध्यम से भूमि के एक खण्ड पर आधिपत्य स्थापित कर लिया। पाणिकर का कथन है कि हाल ही के वर्षों में शूद्र जातियों ने आश्चर्यजनक रूप से एक बड़ी संख्या में शासक परिवारों को उत्पन्न किया है। बंगाल के 'पाल' निर्विवाद रूप से इस जाति से सम्बद्ध थे। महान मराठा शासक परिवार के विषय में ऐसी कोई स्पष्ट वंशावली नहीं मिलती जिसके आधार पर उन्हें राजपूतों से सम्बद्ध किया जा सके यद्यपि इस परिवार की भूमिका राजपूतों की भूमिका के समकक्ष है। यहाँ तक कि जनजातीय समुदायों ने भारत के विभिन्न भागों में काल्पनिक वंशावली के द्वारा प्राचीन भारत के महान क्षत्रीय शासकवंशों से स्वयं को सम्बद्ध किया और अपने समुदायों को क्षत्रिय के रूप में स्थापित किया। उड़ीसा के राजगोंड एवं राजकली भूइयां स्वयं को क्षत्रियों से उत्पन्न हुआ मानते हैं एवं इस आधार पर स्थानीय संस्तरण में जाति प्रस्थिति प्राप्त करते हैं।

अधोगामी जाति–गतिशीलता

उपरोक्त विवेचन से आपको यह ज्ञात हुआ होगा कि जाति अत्यन्त कठोर नहीं है जैसा कि आरोप लगाया जाता है। इसके विपरीत ऐसे कुछ अवसर हैं जिनके माध्यम से संस्तरण प्रणाली एवं क्रम विन्यास के द्वारा निर्देशित जाति प्रणाली में ऊर्ध्वगामी प्रगतिशीलता सम्भव है। ठीक इसी प्रकार जाति व्यवस्था में अधोगामी सामाजिक गतिशीलता भी सम्भव है यद्यपि यह प्रक्रिया कभी–कभी उत्पन्न होती है एवं यह अत्यन्त मन्द भी है। हम अब यह चर्चा करेंगे कि किन परिस्थितियों में एवं किस प्रकार अधोगामी गतिशीलता जाति व्यवस्था में उत्पन्न होती है।

इस संदर्भ में एस.एल. कालिया की 'जनजातीयकरण' की अवधारणा की चर्चा आवश्यक हो जाती है। कालिया ने यह विवेचन किया है कि किस प्रकार जनजातीयकरण की प्रक्रिया उत्तर प्रदेश के जौनसार–बाबर एवं मध्य प्रदेश के बस्तर क्षेत्र में क्रियाशील है। कालिया के अनुसार जब उच्च जाति के हिन्दू जनजातीय जनसंख्या वाले क्षेत्रों में निवास करते हैं तो वे कुछ स्थितियों में जनजातियों के लोकाचार, संस्कार एवं विश्वासों को ग्रहण कर लेते हैं जो उनके स्वयं के लोकाचारों, संस्कारों एवं विश्वासों के विपरीत भी हो सकते हैं। कालिया ने उदाहरणों द्वारा इस तर्क को प्रस्तुत किया है। जौनसार–बाबर उत्तर प्रदेश के क्षेत्र में निवास करने वाले ब्राह्मण माँसाहारी भोजन करते हैं, मदिरापान करते हैं एवं इस क्षेत्र की पहाड़ी स्त्रियों से सम्पर्क रखते हैं, उनके धार्मिक संस्कारों अथवा समारोहों में सहभागिता करते हैं एवं धीरे–धीरे जनजातीय जीवन पद्धति को अपना लेते हैं। इस उदाहरण में सामाजिक गतिशीलता की प्रक्रिया संस्कृतिकरण के बिल्कुल विपरीत है। बरूआ ने जनजातीय उड़ीसा में तीन शिल्पी जातियों के संदर्भ में जनजातीयकरण की प्रक्रिया की चर्चा की है। इनका कथन है कि लोहार, कुम्हार एवं जुलाहा नामक कम से कम तीन जातियाँ, जो दक्षिण उड़ीसा के जनजातीय क्षेत्रों में निवास करती हैं, अनेक वर्षों से अपने जनजातीय स्वामियों की सेवा कर रही हैं। इन जातियों ने धीरे–धीरे जीवन में जनजातीय पद्धतियों को अपनी जीवन पद्धति का भाग बना लिया है। एन.के. बोस का इस संदर्भ में तर्क है कि संस्कृति का प्रवाह आर्थिक दृष्टि से प्रभुत्वशील समूह की तरह उस समय होता है जब दोनों किन्हीं ऐतिहासिक परिस्थितियों अथवा कारणों वश विस्तृत उत्पादन संगठन को निर्मित करते हैं। अधोगामी गतिशीलता का उल्लेख मजूमदार ने भी किया है जो कि 'विसंस्कृतिकरण' का उल्लेख करते हैं। विसंस्कृतिकरण का अर्थ भी पूर्व उल्लिखित समान प्रघटनाओं को अभिव्यक्त करता है। ड्यूमाँ ने भी अधोगामी

गतिशीलता की चर्चा तमिलनाडु के प्रमालाई कल्लर समूह के संदर्भ में की है जो कि प्रदूषण वंशावली के फलस्वरूप अन्य समूहों से भोजन सम्बन्धी सम्पर्क रखने के लिए प्रतिबन्धित हैं।

अतः यह स्पष्ट रूप से कहा जा सकता है कि भारत में कठोर दिखने वाली जाति व्यवस्था में दोनों ऊर्ध्वगामी एवं अधोगामी सामाजिक गतिशीलताएँ सम्भव हैं। इस इकाई में हमने निम्नलिखित पक्षों की चर्चा की है–

1) हमने सामाजिक गतिशीलता के अर्थ की चर्चा की है जिसे एक व्यक्ति, व्यक्तियों अथवा समूहों के मध्य प्रस्थितिमूलक बदलाव के रूप में सम्मिलित किया गया है अथवा परिभाषित किया गया है।

2) हमने क्षैतिज, लम्बवत्, ऊर्ध्वगामी अथवा उच्च, अधोगामी अथवा निम्न, अन्तःपीढ़ी एवं अन्तरपीढ़ी गतिशीलता के रूप में सामाजिक गतिशीलता के विभिन्न पक्षों की विवेचना की है।

3) हमने ऊर्ध्वगामी गतिशीलता के स्वरूपों के रूप में संस्कृतिकरण, क्षत्रीयकरण, अभिजन अनुकरण प्रारूप एवं पश्चिमीकरण की तथा अधोगामी गतिशीलता के स्वरूपों के रूप में जनजातीयकरण तथा विसंस्कृतिकरण की प्रक्रियाओं का उल्लेख किया है।

जाति गतिशीलता पर मिल्टन सिंगर के विचार

संस्कृतिकरण एवं क्षत्रीयकरण के प्रारूपों पर प्रतिक्रिया व्यक्त करते हुए सिंगर का मत है कि अनुकरण की ये प्रक्रियाएँ सम्बद्ध विशिष्ट संदर्भों पर आधारित हैं। मिल्टन सिंगर का दृष्टिकोण है कि ग्रामीण भारत के विभिन्न भागों में प्रभुत्व जातियाँ निम्न जातियों के लिए संदर्भ समूह की भूमिका निभाती हैं। निम्न जातियाँ 'उच्च जातियों की जीवन शैली का अनुकरण कर उच्च जाति प्रस्थिति' का दावा करती हैं। सिंगर का तर्क स्पष्ट करता है कि अन्य जातियों के लिए केवल ब्राह्मण अथवा क्षत्रिय ही संदर्भ जाति प्रारूप नहीं हैं अपितु व्यापारी, कृषक एवं अन्य जातियाँ भी संदर्भ जाति बन जाती हैं अर्थात् उनकी जीवन शैली का भी अनुकरण होता है। मिल्टन सिंगर के अनुसार स्थानीय दृष्टि से हम अवश्य ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य एवं शुद्र के रूप में चार वर्ण स्तरों की चर्चा करते हैं परन्तु इन वर्ण स्तरों की परिभाषा का अन्तवस्तु क्षेत्र एवं विशिष्ट क्षेत्र आनुभविक रूप से निर्धारित आवश्यकताओं से सुनिश्चित होता है।। यह भी पाया गया है कि इन विभिन्न वर्णों की सापेक्षिक प्रतिष्ठा एवं क्रम विन्यास में स्थिति विभिन्न क्षेत्रों में अलग–अलग है। साथ ही यह प्रतिष्ठा एवं क्रम विन्यास में स्थिति समय एवं समूह के द्वारा भी निर्धारित होती है। उदाहरण के लिए कुछ क्षेत्रों में राजा अथवा योद्धा से सम्बन्धित जीवन शैली ब्राह्मण की जीवन शैली के लगभग समान है अथवा ब्राह्मण जीवन शैली से उच्च है। सिन्हा के अनुसार इन क्षेत्रों में वे समूह जो वर्तमान जाति प्रस्थिति से उच्च प्रस्थिति के आकांक्षी हैं, राजपूतों की जीवन शैली का अनुकरण करते हैं। व्यापारी एवं कृषक जहाँ प्रभुत्व जातियाँ हैं उन क्षेत्रों में विभिन्न समूह व्यापारी एवं कृषकों की जीवन शैली का अनुकरण करते हैं।

22.5 जाति गतिशीलता का वैधानिकीकरण

यद्यपि निम्न जातियों की यह हार्दिक इच्छा होती है कि जाति व्यवस्था के अन्तर्गत वे अपनी जाति प्रस्थिति को उच्च बनाये परन्तु यह अत्यन्त दुरुह एवं कठिन प्रक्रिया है। परन्तु ऐसे कुछ सरल माध्यम हैं जिनके द्वारा निम्न जाति समूह

के आकाक्षी व्यक्ति उच्च जाति प्रस्थिति की प्राप्ति के प्रयास को वैधानिक अथवा संस्थागत आधार प्रदान कर सकें। आगे विश्लेषण में ऐसी ही कुछ प्रक्रियाओं की चर्चा करेंगे।

भूमि सीमाओं का अधिग्रहण एवं जाति गतिशीलता

पूर्व ब्रिटिश कालीन भारत में जाति संस्तरण की व्यवस्था में उच्च प्रस्थिति प्राप्त करने का एक माध्यम युद्ध द्वारा अथवा शान्ति पूर्ण तरीके से भौगोलिक सीमाओं पर अधिकार करना था। यदि उस भू–भाग पर जनसंख्या निवास नहीं करती थी अथवा बहुत सीमित जनसंख्या होती थी तब तो उस भू–भाग पर शान्तिपूर्ण अधिकार सम्भव होता था अन्यथा युद्ध में विजय प्राप्त कर भू–भाग का अधिग्रहण किया जाता था। एम.एन. श्रीनिवास इस प्रक्रिया को 'यौद्धिक माध्यम से गतिशीलता' को संज्ञा देते हैं। विजय के उपरान्त विजेता उस भूमि का शासक हो जाता था और क्षत्रिय वर्ण के सदस्य के रूप में स्वीकारा जाता था चाहे जन्म से उसकी कोई भी जाति हो। एक अन्य प्रक्रिया मध्य युगीन भारत में भी पायी जाती थी जिसमें जाति गतिशीलता के द्वारा क्षत्रिय जाति के पद की प्राप्ति सम्भव थी। मध्य युगीन भारत में हिन्दू शासकों को कृषक सम्मान के रूप में उत्पादित अन्न का एक भाग देते थे ताकि वह शासक अपनी सेना का भरण पोषण कर सके। कुछ ऐसे उदाहरण हैं जहाँ कृषक ने अधिक भू स्वामित्व होने के कारण अन्न उत्पादन के दिये जाने वाले भाग को सेना व सैन्य उपकरणों पर व्यय किया एवं अपना राज्य स्थापित करने के लिए और भूमि पर जबरदस्ती नियंत्रण अथवा अधिकार कर लिया। उस कृषक विजेता ने स्वयं को राजा घोषित कर दिया एवं उसे क्षत्रिय जाति पद प्राप्त हो गया। कालान्तर में उस राजा के नातेदार यहाँ तक कि दूर के नातेदार भी क्षत्रिय जाति के सदस्य के रूप में स्वीकार कर लिये गये। मराठा शासक शिवाजी इसके उदाहरण हैं। इनकी मराठा जाति शूद्र वर्ण से सम्बद्ध मानी जाती थी अतः शिवाजी को क्षत्रिय पद प्राप्त करने के लिए धार्मिक संस्कार सम्पन्न करने पड़े। उनकी विजय ने न केवल शिवाजी की व्यक्तिगत जाति प्रस्थिति को उच्च बनाया अपितु समस्त मराठा क्षत्रिय के रूप में स्वीकार कर लिये गये। समान उदाहरणों की चर्चा पूर्व ब्रिटिश कालीन एवं ब्रिटिश कालीन भारत में उत्पन्न छोटी रियासतों के संदर्भ में की जा सकती है। प्रारम्भ में इन रियासतों के शासक (गृहजाट) जमींदार अथवा भू–स्वामियों द्वारा शासित थे। इन अधिकांश गृहजाटों ने क्षत्रिय होने का दावा किया। इने इस दावे को मान्यता भी प्रदान कर दी गयी। इनमें से कुछ ने काल्पनिक कहानियाँ निर्मित कर लीं तथा स्वयं को स्थापित एवं प्रतिष्ठित क्षत्रिय शासकों से सम्बद्ध कर लिया।

संरक्षण एवं जाति गतिशीलता

उन व्यक्तियों अथवा समूहों को उच्च जाति का पद तत्काल प्रदान किया गया जिन्होंने समकालीन हिन्दू अथवा गैर–हिन्दू राजाओं की पूर्ण समर्पित भावना से तन्मयता पूर्वक सेवा की। इस तर्क की पुष्टि में अनेक प्रमाण प्रस्तुत किय जा सकते हैं। गुजरात के पट्टीदार जो कि परम्परागत रूप में शूद्र वर्ण से सम्बद्ध समूह था, ने शिवाजी के मराठा वंशजों गायकवाड़ का समर्थन किया जो कि मध्य गुजरात में शासन कर रहे थे। गायकवाड़ का संरक्षण मिलने के फलस्वरूप पट्टीदार ने धीरे–धीरे क्षत्रिय पद का दावा किया जिसे बिना किसी विशेष विरोध के स्वीकृति प्राप्त हो गयी। यह उदाहरण जाति गतिशीलता की मूर्त अभिव्यक्ति है।

राजकीय संरक्षण के आधार पर जाति प्रस्थिति उच्च करने का एक अन्य उदाहरण कायस्थों का है जो परम्परागत रूप में मुंशी या लिपिक थे। प्रारम्भ में

उन्होंने मुगलों की सेवा की, तत्पश्चात् ब्रिटिश शासकों की सेवा की। अपने स्वामियों के संरक्षण के कारण उत्तर भारत के विभिन्न भागों में वे 'द्विज' जाति की प्रस्थिति प्राप्त कर सके।

पूर्वी भारत विशेषतः उड़ीसा के जनजातीय क्षेत्र में ऐसे अनेक साक्ष्य हैं जिनसे ज्ञात होता है कि अनेक जनजातियाँ हिन्दू जातीय संरचना का भाग बन गयी। उदाहरण के लिए उत्तर–पश्चिम उड़ीसा की एक जनजाति 'भूइयां' जो कि जाति संरचना से बाह्य थी 'स्पृश्य' जाति के रूप में स्वीकार की गयी ताकि भूँइया समुदाय के सदस्यों से कोई भी व्यक्ति जलग्रहण कर सके। जनता ने बिना किसी आपत्ति के उच्च जाति प्रस्थिति को स्वीकार कर लिया क्योंकि यह स्थानीय शासक का आदेश था। पूर्व ब्रिटिश कालीन भारत में एक आदर्शवादी एवं रूढ़िवादी हिन्दू शासक का यह धार्मिक कर्तव्य था कि वह अपने राज्य में जाति व्यवस्था की मर्यादा बनाये रखे। पवित्र ग्रन्थों में चूंकि राजा को जाति सम्बन्धी प्रश्नों पर निर्णय का अधिकार दिया गया था अतः वह किसी भी जाति की प्रस्थिति को उच्च अथवा निम्न कर सकने में सक्षम होता था। यहाँ तक कि राजा का इस विषय में निरंकुश अथवा स्वेच्छाचारी निर्णय, जिसके द्वारा वह किसी विशिष्ट जाति की प्रस्थिति को उच्च अथवा निम्न करता था, जनता के द्वारा सम्मानित ढंग से स्वीकार किया जाता था।

राजकीय संरक्षण के अतिरिक्त 'मंदिर सेवा' जाति गतिशीलता का एक अन्य माध्यम था। ऐसे अनेक उदाहरण हैं जो स्पष्ट करते हैं कि पुरी में जगन्नाथ मंदिर तथा भुवनेश्वर में भगवान लिंगराज मंदिर में स्थापित देवताओं की आवश्यक सेवाओं को समर्पित निम्न जातियाँ किस प्रकार उच्च जाति प्रस्थिति प्राप्त कर सकें। पुरी में सेवा करने वाला समुदाय 'दैता' इसका उदाहरण है। दैता समुदाय की मन्दिर सेवाओं के कारण उन्हें 'स्पृश्य' जाति के रूप में स्वीकारा गया है। भगवान जगन्नाथ की सेवा करने के कारण पुरी के राजा ने 'दैता' को जागीर (उपहार में भूमि) प्रदान की। ऐसे भी उदाहरण हैं जहाँ ब्राह्मणों ने अपने विशेषाधिकार का प्रयोग करते हुए अपने संरक्षण अथवा 'जजमानों' की जाति प्रस्थिति को उच्च बनाया। अवलोकन के आधार पर मत है कि खत्रियों के साथ सम्बद्ध ब्राह्मण पुराहितों ने इन्हें क्षत्रिय जाति की प्रस्थिति प्रदान करने में निर्णायक भूमिका का निर्वाह किया। खत्रियों को इस क्षेत्र में शूद्र जाति से उत्पन्न हुआ माना जाता था। परन्तु धीरे–धीरे इन्हें क्षत्रिय जाति से सम्बद्ध मान लिया गया और सामान्य समुदाय ने भी इस परिवर्तन को स्वीकार कर लिया।

ब्रिटिश शासन में जाति गतिशीलता

जिस प्रकार हिन्दू राजाओं ने भारतीय जनसमुदाय की जाति प्रस्थिति को उच्च स्तरीय अथवा निम्न स्तरीय गतिशीलता प्रदान करने में सहायता की, ठीक उसी प्रकार ब्रिटिश प्रशासन ने भी ऐसी भूमिका का निर्वाह किया। ब्रिटिश शासन के अन्तर्गत भारत में जनगणना पद्धति को प्रारम्भ किया गया। इस प्रणाली में पायी जाने वाली विभिन्न जातियों के श्रेणी विन्यास में पद निर्धारित करने के प्रयास किये गये। 1891 से 1931 के मध्य के जनगणना प्रतिवेदनों से स्पष्ट है कि अनेक मध्यम एवं निम्न जाति समूहों ने स्वयं को इन प्रतिवेदनों में उच्च जातियों के रूप में पंजीकृत कराया ताकि स्थानीय जाति संस्तरण में वे इस 'जाति–प्रस्थिति' में परिवर्तन का दावा कर सकें। यदि अधिकतम संख्या में उस समय किये गये जब जनगणना आयुक्त हरबर्ट रिजले ने समस्त जातियों की क्रम विन्यास में प्रस्थिति प्रस्तुत करने का प्रयास किया। अनेक जातियों ने नये जातीय सम्बोधनों के साथ उच्च प्रस्थिति के दावे किये। उदाहरण के लिये बंगाल की कुर्मी जाति ने क्षत्रिय

प्रस्थिति का दावा किया जबकि तेली जाति (तेल निकालने वाली जाती) वैश्य बनना चाहती थी। इस प्रक्रिया ने अनेक भ्रम उत्पन्न किये जिनके परिणामस्वरूप अन्तर्जातीय तनाव अस्तित्व में आये। जिला समितियों की नियुक्ति की गयी एवं उनके द्वारा लिये निर्णयों को अन्तिम माना गया। इस प्रक्रिया में सरकारी आदेशों के कारण कुछ जातियों को परिवर्तित जाति प्रस्थिति प्राप्त हो गयी और इन परिवर्तित प्रस्थितियों को पंजीकृत कर दिया गया। परन्तु जाति प्रस्थितियों के पंजीकरण को 1931 के जनगणना कार्यक्रम से समाप्त कर दिया गया तथा उत्पन्न हुए विवाद सदैव के लिए समाप्त हो गये।

सम्पत्ति एवं जाति गतिशीलता

जाति के पद निर्धारण में सुविधा अथवा विलासिता की महत्वपूर्ण भूमिका है। एक विशिष्ट जाति जितनी अधिक विलासी एवं सुविधा सम्पन्न होगी, उसकी प्रस्थिति उतनी ही अधिक उच्च होगी। जाति जितनी कम विलासी अथवा कम सुविधा सम्पन्न होगी उसकी प्रस्थिति उतनी ही निम्न होगी। विलासिता अथवा सुविधासम्पन्न का सम्बन्ध धन से है। विशेषतः जाति द्वारा नियन्त्रित भू–सम्पत्ति का सम्बन्ध विलासिता से है। अतः धन की प्राप्ति, विशेषतः भूमि के रूप में धन, जाति को विलासी जीवन शैली के उपभोग हेतु सक्षम बनाती है। जाति के इस विलासपूर्ण जीवनयापन का मुख्य तत्व यह है कि अधिकांश निम्न स्तर के कार्य निम्न जाति के सेवकों द्वारा किये जाते हैं। इस प्रक्रिया ने धीरे–धीरे कृषि कार्यों से सम्बद्ध निम्न जातियों को उच्च जाति की पहचान का भाग बनने का अवसर प्रदान किया। उदाहरण के लिए महाराष्ट्र की कनबी जाति को अब मराठों की प्रस्थिति प्राप्त है।

इस इकाई में हमने ऊर्ध्वगामी जाति गतिशीलता की उन प्रक्रियाओं की विवेचना की है जो सापेक्षिक दृष्टि से सरल हैं एवं कुछ स्थितियों में तत्काल परिणाम उत्पन्न करती हैं परन्तु इन प्रक्रियाओं में निम्नलिखित में से किसी एक पक्ष की उपस्थिति अथवा उसका हस्तक्षेप आवश्यक है–

1) युद्ध के द्वारा भू–भाग पर अधिकार अथवा शान्तिपूर्वक पद्धति से भूमि का अधिग्रहण,

2) शक्तिशाली शासक अथवा राजा, मंदिर प्रशासन अथवा ब्राह्मण पुरोहित का संरक्षण,

3) जाति सम्बन्धी पक्षों के विषय में ब्रिटिश प्रशासन के निर्णय,

4) सम्पत्ति पर विशेषतः भूमि के रूप में सम्पत्ति पर नियंत्रण तथा विलासी अथवा सुविधासम्पन्न जीवन शैली का उपभोग जिसमें किसी निम्नस्तरीय कार्य को स्वयं नहीं किया जा सकता

22.6 सारांश

एक सामान्य प्रेक्षणकर्ता को जाति व्यवस्था अत्यन्त कठोर एवं बन्द प्रतीत होती है परन्तु वास्तविकता यह है कि एक सीमा तक यह लचीली भी है तथा ऊर्ध्वगामी अर्थात् क्रमशः उच्च एवं निम्न स्तरीय जाति गतिशीलता को स्वीकृति प्राप्त है। कुछ ऐसी संस्थागत एवं अनवरत् प्रक्रियाएँ जाति व्यवस्था की परिधि के अन्दर पायी जाती है जो ऊर्ध्वगामी जाति गतिशीलता को प्रोत्साहित करती हैं। इस संदर्भ में उच्च हिन्दू अथवा द्विज जातियों की जीवन शैली को स्वीकार करने अथवा उसका अनुकरण करने की प्रक्रिया की चर्चा की जा सकती है जिसे एम.एन.

श्रीनिवास ने 'संस्कृतिकरण' की संज्ञा दी है। अधिकांश निम्न जाति समूहों में उस क्षेत्र की प्रभुत्वशील जाति की जीवन शैली का अनुकरण करने की स्वाभाविक प्रवृत्ति होती है अतः ऊर्ध्वगामी जाति गतिशीलता के अनेक स्थानीय प्रारूपों का उल्लेख किया जा सकता है। पोकाक का क्षत्रीयकरण का प्रारूप एवं सिंगर द्वारा प्रस्तुत प्रारूप इसके उदाहरण हैं। हाल के वर्षों में विशेषतः ब्रिटिश शासन के दौरान एवं भारत की स्वाधीनता प्राप्ति के उपरान्त शिक्षा, रोजगार, आर्थिक एवं राजनीतिक शक्ति प्राप्त करना जाति गतिशीलता के महत्वपूर्ण तरीके बन गए हैं। इस प्रक्रिया को श्रीनिवास ने पश्चिमीकरण एवं लिंच ने अभिजन अनुकरण प्रारूप की संज्ञा दी है। इसके अतिरिक्त उच्च जातियों (विशेषतः ब्राह्मण) के वर्चस्व के विरूद्ध प्रतिक्रिया के रूप में पिछड़े वर्गों के आन्दोलन, आर्य समाज, ब्रह्म–समाज, सत्यशोधक समाज इत्यादि की चर्चा की जा सकती है। भारत में जाति व्यवस्था के अन्तर्गत केवल ऊर्ध्वगामी जाति गतिशीलता की स्थिति ही उत्पन्न नहीं हुई अपितु अधोगामी जाति गतिशीलता की प्रक्रिया भी उत्पन्न हुई है। इतना अवश्य है कि अधोगामी जाति गतिशीलता के उदाहरण अपेक्षाकृत कम है। 'मजूमदार' की 'विसंस्कृतिकरण' एवं 'कालिया' द्वारा व्यक्त 'जनजातीयकरण' की प्रक्रिया अधोगामी जाति गतिशीलता के उदाहरण हैं। ब्रिटिश शासन के दौरान एवं पूर्व ब्रिटिश कालीन भारत में ऊर्ध्वगामी जाति गतिशीलता के सरल माध्यमों का उल्लेख किया जा सकता है। भू–भाग पर नियंत्रण ब्राह्मण अथवा राजा अथवा शासक, मन्दिर प्रशासन का संरक्षण एवं भारत की जनगणना के समय जाति की श्रेणी के निर्धारण में ब्रिटिश शासन के निर्णय ऊर्ध्वगामी जाति गतिशीलता हेतु ऐसे तुलनात्मक दृष्टि से सरल माध्यम हैं।

अतः यह स्पष्ट रूप से कहा जा सकता है कि जाति व्यवस्था पूर्णरूपेण बन्द अथवा कठोर सामाजिक व्यवस्था नहीं है। परन्तु यह भी स्पष्ट है कि जाति व्यवस्था में होने वाली इस गतिशीलता के केवल स्थानीय प्रभाव हैं। इस गतिशीलता ने स्थापित भारतीय वर्ण–संस्तरण को परिवर्तन के संदर्भ में प्रभावित नहीं किया है। वर्ण संस्तरण चूँकि समान एवं स्थिति प्रकृति का होता है अतः जाति गतिशीलता केवल पद मूलक परिवर्तन को एक स्थान अथवा क्षेत्र के ढाँचे के अन्तर्गत उत्पन्न करती है।

22.7 वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1. संस्कृतिकरण की अवधारणा सम्बन्धित है–

   (क) एम.एन. श्रीनिवास (ख) आन्द्रे बेते

   (ग) कूले (घ) घुरिये

2. आरोही व अवरोही गतिशीलता के विषय में बताने वाले विचारक है–

   (क) सोरोकिन (ख) व्हीलर

   (ग) लिप्सेट व बेनडिक्स (घ) कूले

3. संदर्भ–समूह की अवधारणा दी–

   (क) मर्टन (ख) हाइमैन

   (ग) कूले (घ) सोरोकिन

4. 'कास्ट, क्लास एण्ड पावर' कृति किसकी है–

(क) आन्द्रे बेते (ख) घुरिए

(ग) कूले (घ) मजूमदार

22.8 वस्तुनिष्ठ प्रश्नों के उत्तर

1. क
2. क
3. ख
4. क

22.9 संदर्भ–ग्रन्थ

- श्रीनिवास, एम.एन., 1966, सोशल चेन्ज इन मार्डन इण्डिया, यूनिवर्सिटी आफ कैलीफोर्निया प्रेस, बर्कले।
- सिल्वर वर्ग, जेम्स, 1968, सोशल मोबिलिटी इन द कास्ट सिस्टम इन इण्डिया, माटनःदिहेगा।

इकाई–23

पृथक्करण एवं अस्पृश्यता

इकाई की रूपरेखा

23.1 उद्देश्य

23.2 प्रस्तावना

23.3 अस्पृश्यता : एक विश्लेषण

23.4 अस्पृश्यता एवं सांस्कृतिक पृथक्करण

23.5 अस्पृश्यता के विरूद्ध सामाजिक सुधार आन्दोलन

23.6 सारांश

23.7 वस्तुनिष्ठ प्रश्न

23.8 वस्तुनिष्ठ प्रश्नों के उत्तर

23.9 संदर्भ–ग्रन्थ

23.1 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के बाद छात्र–

1. पृथक्करण व अस्पृश्यता के अर्थ एवं जाति व्यवस्था के सन्दर्भ में अस्पृश्यता व पृथक्करण की भूमिका को समझेंगे।
2. अस्पृश्यता, समाज, व्यवसाय में संरचनात्मक व्यवस्था व मूल व्यवस्था को किस प्रकार प्रभावित करता है, को विस्तृत रूप में समझेंगे।

23.2 प्रस्तावना

इस इकाई में हम सभी भारतीय समाज में अस्पृश्यता के दुष्परिणामों व प्रभावों का विशद् अध्ययन करेंगे। हमारे समाज में अस्पृश्यता ने वर्तमान व अतीत में किस प्रकार पृथक्करण को जन्म दिया है, जान सकेंगे। परम्परागत हिन्दू वर्ण व्यवस्था को आधार मानते हुये अस्पृश्यता को विश्लेषित करने का प्रयास किया गया है। अस्पृश्यता की समस्या, किस प्रकार समाज के लोगों में संरचनात्मक स्तर पर पृथक्करण उत्पन्न किया है को सरलता से जान सकेगें। विविध राजनीतिक क्रियाओं द्वारा जनजागरण को जागरूक बनाने का प्रयास किया गया है जिससे समाज की संरचनात्मक व्यवस्था भी सुरक्षित रहें व कर्तव्यों तथा अधिकारों के बीच एक समन्वय को भी स्थापित करने का प्रयास किया गया है।

23.3 अस्पृश्यता : एक विश्लेषण

अस्पृश्यता एवं सतत् पृथक्करण हमारे समाज के हिन्दू सामाजिक संगठन द्वारा उत्पन्न हुए हैं। परम्परागत हिन्दू सामाजिक व्यवस्था चार वर्णों में विभाजित थी। प्रत्येक वर्ण अनेक जातियों एवं उप–जातियों में विभाजित था। हिन्दू जनसंख्या की ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य एवं शूद्र के रूप में संरचना मूल्यांकनात्मक एवं स्थापित असमानता पर आधारित है। अतः ब्राह्मण, शूद्रों से न केवल धार्मिक रूप से ही श्रेष्ठ थे वरन् मौजूदा स्थितियों, जैसे कि शक्ति का वितरण तथा सम्पत्ति से सम्बन्धित क्षेत्र में भी श्रेष्ठ थे। शूद्रों की तुलना में उन्हें अत्यधिक शक्ति तथा आर्थिक सुरक्षा प्राप्त थी।

इस अनुक्रम व्यवस्था में फिर भी अछूतों अथवा अनुसूचित जाति के लोगों को सबसे नीचा स्थान दिया गया था। उनको जाति से बहिष्कृत माना जाता था क्योंकि वे परम्परागत चतुर्वर्ण व्यवस्था में शामिल नहीं थे। ऐसा होते हुए भी सच तो यह है कि धार्मिक अनुष्ठानों (मूल्य आधारित) तथा व्यवस्था के मौजूदा कार्यों, दोनों ही अवस्थाओं में अछूत हमेशा से हमारे समाज के अभिन्न अंग रहे हैं। वास्तविकता तो यह है कि हिन्दू परिवारों के लगभग सभी धार्मिक कार्यों में अछूत जाति के लोगों की सेवाओं की आवश्यकता पड़ती है। बच्चों के जन्म के अवसर पर, विवाह में तथा मृत्यु सम्बन्धी अनुष्ठानों में अछूतों की सेवाएँ अनिवार्य मानी गई हैं। इसी प्रकार ग्रामीण भारत में अभी भी अछूत जाति के कामगार लोगों का बहुत बड़ा भाग कृषि उत्पादन संगठन से जुड़ा हुआ है। यही कारण है कि एम.एन. श्रीनिवास ने इनको परम्परागत हिन्दू सामाजिक संगठन की पाँचवी श्रेणी माना है। इस विचारधारा से जीवन के मूल्यों तथा जीवन की दशाओं, दोनों में ही निरन्तर अलगाव बना हुआ है परन्तु इस तरह के अलगाव की परिचर्चा करने से पहले आपको तथाकथित अछूतों के बारे में विस्तृत रूपरेखा देना आवश्यक है।

परम्परागत व्यवस्था के अन्तर्गत अस्पृश्य अपनी निम्न सामाजिक एवं सांस्कारिक प्रस्थिति के कारण अनेक निर्योग्यताओं के शिकार थे। प्राचीन साहित्य में अस्पृश्यों की श्रेणी के लिए 'अंतयज' 'पंचम' एवं 'चंडाल' इत्यादि शब्दों का उल्लेख किया गया है। इस श्रेणी के लिए महात्मा गाँधी ने 'हरिजन' (भगवान की संतान) शब्द को प्रचलित किया। 'शोषित वर्ग' एवं 'बाह्य जातियाँ' जैसी अवधारणाओं के रूप में शूद्रों को 1903 ई. के पूर्व अभिव्यक्त किया जाता था परन्तु 1935 ई. के भारत सरकार के अधिनियम के उपरान्त कथित अस्पृश्य जातियों को 'अनुसूचित जाति' के रूप में एक पृथक अनुसूची में सम्मिलित कर दिया गया। यह प्रक्रिया भारतीय संविधान, 1950 के अंतर्गत भी जारी रही। अनुसूचित जातियों की इस अनुसूची को भारत के राष्ट्रपति के द्वारा संशोधित किया जा सकता है।

'अस्पृश्य' अनेक जातियों का संकलन है जो विशेषताओं के संदर्भ में एक–दूसरे से भिन्न भी हो सकती हैं। इनमें से कुछ कथित अस्पृश्य जातियाँ जैसे–चमार जनसंख्या की दृष्टि से अन्य अस्पृश्य जातियों की तुलना में अधिक हैं। सारी अस्पृश्य जातियाँ भारत की कुल जनसंख्या का लगभग 15 प्रतिशत हैं। ये जातियाँ किसी निश्चित भू–भाग में केंद्रित नहीं हैं अपितु प्रत्येक प्रान्त यहाँ तक कि प्रत्येक जिले में पाई जाती हैं। इतना अवश्य है कि एक क्षेत्र में निवास करने वाली अस्पृश्य जातियों की विशेषताएँ अन्य क्षेत्र में निवास करने वाली अस्पृश्य जातियों की विशेषताओं से भिन्न हैं। अर्थात् एक क्षेत्र की हरिजन जातियाँ विशेषता की दृष्टि से दूसरे क्षेत्र की हरिजन जातियों से भिन्न हैं। विभिन्न हरिजन जातियों में हम पाल्ला, पाड़िया (तमिलनाडु), माला, माडिया (आन्ध्र प्रदेश), महार (महाराष्ट्र),

चमार, भंगी (उत्तर प्रदेश, पंजाब एवं बिहार), चेरूमान, पुलायन (केरल), होलिया (मैसूर) एवं बागड़ी (पश्चिम बंगाल) की चर्चा कर सकते हैं। अधिकांशतः अस्पृश्य जातियाँ ग्रामीण क्षेत्रों में केन्द्रित हैं। अस्पृश्य जातियों की जनसंख्या का केवल 10. 7 प्रतिशत नगरीय केंन्द्रों में निवास करता है।

23.4 अस्पृश्यता एवं सांस्कृतिक पृथक्करण

एक समय ऐसा भी था जब अस्पृश्य एवं शेष हिन्दू जनसंख्या के मध्य के विभेद को स्पष्टतया प्रजातीय आधार पर व्यक्त किया जाता था अर्थात् प्रजातीय विभेद अस्पृश्य एवं शेष हिन्दू जनसंख्या के विभेद के आधार के रूप में स्वीकार्य था। परन्तु मानवशास्त्रीय अध्ययन यह सिद्ध करते हैं कि प्रजाति के आधार पर जातीय विभेद युक्तिसंगत नहीं हैं। तथ्य तो यह है कि अस्पृश्य एवं शेष हिन्दू जनसंख्या के मध्य के ये जाति विभेद सांस्कृतिक, धार्मिक, मूल्य सम्बन्धी तत्व एवं भौतिक असमानताओं पर आधारित हैं।

जैसा कि पूर्व में ही बताया जा चुका है, जाति व्यवस्था ने परम्परागत हिन्दू समाज को संगठनात्मक आधार प्रदान किया। अनेक समकालीन परिवर्तनों के बावजूद वर्तमान भारत में जाति व्यवस्था अत्यन्त महत्वपूर्ण भूमिकाओं का निर्वाह करती है। प्रत्येक जाति अथवा उप–जाति एक अथवा अधिक परम्परागत व्यवसायों से सम्बद्ध है तथा अन्य जातियों अथवा उप–जातियों से विस्तृत श्रम विभाजन के आधार पर सम्बद्ध है। प्रत्येक जाति की एक विशिष्ट जीवन शैली है जिसके अन्तर्गत पोशाक, भोजन, संस्कार इत्यादि के विशिष्ट रूप पाए जाते हैं। परम्परागत हिन्दू समाज में ऐसे वैधानिक व संस्कारगत् प्रतिमान पाए जाते थे जिनके कारण निम्न जातियाँ उच्च जातियों की जीवन शैली का अनुकरण नहीं कर सकती थीं।

ब्राह्मण एवं अस्पृश्य जातियों के मध्य जीवन शैली स्पष्ट एवं चरम रूप में विभाजित थी। ठीक इसी प्रकार उच्च जातियों की जीवन शैली का अनुकरण करने के विरोध में बने प्रतिबन्ध मूलतः अस्पृश्यों के विरूद्ध ही थीं। तथा उन्हें दबावपूर्ण माध्यमों से अस्पृश्यों पर लागू किया जाता था। आन्द्रें बेतें के अनुसार दक्षिण भारत में हाल के वर्षों तक हरिजन का पक्के, ईटों व टाइल्स के बने मकानों में रहना प्रतिबन्धित था। वे ऊपरी शरीर में वस्त्र धारण नहीं कर सकते थे तथा रेशमी वस्त्र पहन नहीं सकते थे। इस प्रकार के नियमों की कठोर प्रकृति उत्तर भारत में उतनी स्वीकार्य नहीं है जितनी कि दक्षिण भारत में है। साथ ही दक्षिण भारत की भाँति इन्हें उत्तर भारत में कठोरतापूर्वक लागू नहीं किया जाता है।

अस्पृश्यों की सामाजिक पहचान इस तथ्य से भी स्थापित होती है कि उन्हें मुख्य ग्रामीण क्षेत्र से दूर रहने की स्वीकृति प्राप्त है। अस्पृश्यों के आवासीय क्षेत्र मुख्य गाँव से बहुत दूर होते हैं अथवा गाँव की सीमा के बाहर होते हैं। बेतें के अनुसार इस प्रकार का पृथक्करण दक्षिण भारत में उत्तर भारत की तुलना में, अधिक प्रचलित है। तमिलनाडु में हरिजनों के आवासीय स्थलों को 'चेरी' कहा जाता है। ये आवासीय स्थल मुख्य गाँव के आवासीय स्थलों से लगभग 'एक मील' अथवा 'आधा मील' की दूरी पर स्थित हैं। हरिजन जाति सामान्तया खेती कर रही जातियों से प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप से दूरी बनाए रखती है। हरिजन सामान्यतया धान के खेतों में निवास करते हैं जो मुख्य गाँव से दूर हैं। 'चेरी' को सांस्कारिक व धार्मिक दृष्टि से अपवित्र माना जाता है। अतः कोई भी परम्परानिष्ठ ब्राह्मण वहाँ प्रवेश नहीं करेगा। आवासीय आधार पर इस प्रकार का कठोर पृथक्करण नगरीय, केन्द्रों में नहीं पाया जाता यद्यपि आवासीय पृथक्करण नगरीय यथार्थ का भी भाग

है। नगरों में भी हरिजन एक ही स्थान पर सहयोग की भावना के साथ निवास करते हैं।

परम्परागत रूप में अस्पृश्य शारीरिक श्रम से सम्बद्ध क्रियाओं में संलग्न होते हैं। ग्रामीण क्षेत्रों में वे आज भी शारीरिक श्रम करने वाली कार्यशील जनसंख्या के बहुमत को निर्मित करते हैं। हरिजन श्रमिकों के विभिन्न भाग अनेक प्रकार के विशिष्ट परम्परागत कार्यों से सम्बद्ध हैं। सफाई करना, चमड़े का कार्य (चमड़ा उतारना, चमड़े को समतल बनाना), डोलची बनाना इत्यादि हरिजनों के परम्परागत कार्य हैं। लोकप्रिय रूप में ये शारीरिक श्रम सम्बन्धी कृत्य हरिजनों के वंशानुगत पेशे हैं। अधिकांश जनता की मानसिकता में अस्पृश्य एवं अस्पृश्यता के प्रति विषयपरक तथा पूर्वाग्रह सम्बन्धी विचार शारीरिक श्रम की प्रकृति का ही परिणाम हैं। ऐसे अनेक महत्वपूर्ण अनुसंधान भी हैं जिसमें अस्पृश्यों की धार्मिक–सांस्कारिक दृष्टि से अपवित्र प्रस्थिति हेतु परम्परागत रूप से शारीरिक श्रम को, जो अपवित्र है, उत्तरदायी माना है अर्थात् अपवित्र प्रस्थिति का अपवित्र शारीरिक श्रम से सम्बद्ध है। फ्रांसीसी समाजशास्त्री लुई ड्यूमाँ ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'होमो हायरारकिकस' में इन सम्बन्धों पर व्यापक रूप से प्रकाश डाला है।

व्यवसाय के अतिरिक्त अस्पृश्यों की जीवन शैली में कुछ ऐसे अन्य तत्व भी हैं जो कि हिन्दू सांस्कृतिक मूल्य व्यवस्था में अपवित्र माने जाते हैं। इसमें से एक महत्वपूर्ण तत्व भोजन है। संस्कारगत हिन्दूवाद में भोजन एवं पीने से सम्बद्ध अनेक वस्तुओं को पवित्र एवं अपवित्र (शुद्ध एवं अशुद्ध) की श्रेणी में विभाजित किया गया है। जाति की प्रस्थिति का घनिष्ठ सम्बन्ध उस जाति के सदस्यों की भोजन सम्बन्धी आदतों से हैं। सामान्यतया सामिष भोजन को निम्न क्रम प्रदान किया जाता है। अस्पृश्य न केवल सामिष भोजन करते हैं अपितु एक विशेष प्रकार का गोश्त (मांस) भी खाते हैं जिसे कि स्वच्छ नहीं माना जाता है। अस्पृश्य जातियों के वे समूह जो गोमांस का सेवन करते हैं, क्रम विन्यास में सबसे निम्न स्थानों पर हैं। इसका स्पष्ट कारण यह है कि गो–वध हिन्दू धर्म में निषिद्ध है। गो–मांस के सेवन का अभिप्राय घिनौनी वस्तु का सेवन है। यदि कोई हरिजन जाति गो–मांस का सेवन करना त्याग भी देती है तो वह परम्परागत कलंक से मुक्त हो जाएगी ऐसा नहीं कहा जा सकता। वस्तुतः परम्परागत कलंक से पूर्ण मुक्ति प्रायः सम्भव नहीं है। अस्पृश्य जातियों के धार्मिक व्यवहार उच्च जाति हिन्दुओं से महत्वपूर्ण रूप में भिन्न हैं। अस्पृश्यों की धार्मिक व्यवस्था में संस्कारगत पक्षों का कम समावेश है क्योंकि पारम्परिक रूप में अस्पृश्य जातियों को हिन्दू मंदिरों में प्रवेश का अधिकार नहीं था। साथ ही ब्राह्मण पुरोहितों की सेवाएँ अस्पृश्य जातियों को प्राप्त नहीं होती थीं। परिणामस्वरूप हरिजन जातियों के मंदिरों में स्थानीय देवताओं एवं नरक दूतों की मूर्तियाँ अधिक हैं जहाँ पशु बलि स्वीाकार्य है और गैर–सांस्कारिक कृत्य सम्पन्न किए जाते हैं। अस्पृश्यता के ये वे सांस्कृतिक पक्ष हैं जो उच्च जातियों के साथ सांस्कृतिक पृथक्करण उत्पन्न करते हैं। अब हम उन व्यवहारों की चर्चा करेंगे जिन्हें प्रयास के रूप में स्वीकार कर अस्पृश्यता की समाप्ति के संगठित प्रयत्न किए जा रहे हैं।

अस्पृश्यता की समाप्ति : मूल्यांकन

अस्पृश्य जातियों को समाज की मुख्य धारा में लाने के समस्त सरकारी प्रयासों एवं कार्यक्रमों के बावजूद हरिजन वर्तमान में भी आर्थिक एवं शैक्षणिक दृष्टि से पिछड़े हुए हैं। हरिजन जनसंख्या का एक बड़ा भाग (35 प्रतिशत) कृषि श्रमिक से सम्बद्ध है। यदि कुछ हरिजनों के पास भूमि स्वामित्व है तो वह उतनी कम है कि उनकी स्थिति किसी भी रूप में 'कृषि श्रमिकों' से अच्छी नहीं है। नीति निर्माता,

नियोजक एवं सामाजिक कार्यकर्ता इस तथ्य के प्रति चेतनशील हैं कि भारत में वैधानिक क्रियाओं एवं प्रशासनिक कृत्यों के द्वारा अनुसूचित जातियों की 'जीवन स्थितियों' में गुणात्मक सुधार उत्पन्न नहीं किए जा सके हैं। संवैधानिक अधिकार एवं अन्य अधिकार तब तक अर्थपूर्ण नहीं हैं जब तक कि अस्पृश्य जातियाँ निर्धन, अशिक्षित एवं असंगठित हैं तथा पृथक्करण के विभिन्न पक्षों की शिकार हैं। सरकार की आरक्षण की नीति के बावजूद हठधर्मी सामाजिक शक्तियों ने अस्पृश्य जातियों के विकास में अवरोध उत्पन्न किए हैं। ये हठधर्मी सामाजिक शक्तियाँ देश की आर्थिक एवं राजनीतिक व्यवस्थाओं पर प्रभावी नियंत्रण बनाए हुए हैं। इसके अतिरिक्त दमन एवं शोषण की एक लम्बी परम्परा के कारण यह अत्यन्त कठिन है कि अस्पृश्य अल्पकालिक अवधि में उतना विश्वास उत्पन्न कर लें जिसके आधार पर सरकारी कार्यक्रमों के प्रति उनकी प्रतिक्रिया सकारात्मक बन जाए।

23.5 अस्पृश्यता के विरूद्ध सामाजिक सुधार आन्दोलन

अस्पृश्यता के निवारण हेतु सामाजिक सुधार आन्दोलनों को दो भागों में विभाजित किया जा सकता है–

1) सुधारात्मक आन्दोलन

2) वैकल्पिक आन्दोलन

1. सुधारात्मक आन्दोलन

अस्पृश्यता की समस्या के समाधान हेतु जाति व्यवस्था सुधारो से सम्बद्ध हैं। वैकल्पिक आन्दोलन वैकल्पिक सामाजिक–सास्कृतिक संरचना को उत्पन्न करने के प्रयास हैं जो धर्मान्तरण अथवा शिक्षा प्राप्ति के द्वारा अस्तित्व में आते हैं। आर्थिक प्रस्थिति में ऊर्ध्वाधर गतिशीलता तथा राजनीतिक शक्ति की प्राप्ति के प्रयास भी वैकल्पिक आन्दोलनों के भाग हैं। दोनों ही प्रकार के आन्दोलन अपने उद्देश्यों की प्राप्ति हेतु राजनीतिक साधनों को प्रयुक्त करते हैं।

सुधारात्मक आन्दोलनों को निम्नलिखित प्रकारों में पुनः वर्गीकृत किया जा सकता है–

1) संस्कृतिकरण

2) भक्ति आन्दोलन

3) नव–वेदान्तिक आन्दोलन

1. **संस्कृतिकरण,** सुधारात्मक आन्दोलन का अनिवार्य अंग है। इन प्रक्रिया में संस्तरणात्मक जाति संरचना में उच्च प्रस्थितियाँ प्राप्त जातियों के प्रतिमान एवं मूल्यों का अनुकरण किया जाता है। इस अनुकरणात्मक आन्दोलन के मूल में यह तर्क विद्यमान है कि यदि अस्पृश्य उच्च जातियों के प्रतिमानों एवं मूल्यों का अनुकरण करते हैं तो उनकी प्रस्थिति में गुणात्मक सुधार सम्भव है अर्थात् उनकी प्रस्थिति वर्तमान प्रस्थिति की तुलना में उच्च हो सकती है। अतः परिवर्तन के प्रेरक तत्व के रूप में प्रस्थिति गतिशीलता की चर्चा हो सकती है। इन आन्दोलनों ने अनुसूचित जातियों एवं जनजातियों को प्रेरित किया कि वे मदिरा एवं सामिष भोजन का त्याग करें तथा मूर्ति

पूजा आदि को छोड़े। इनमें से कुछ आन्दोलनों का उद्देश्य उन नवीन मिथकों एवं प्रतीकों को जन्म देना था जिनसे अस्तित्व की श्रेष्ठता को स्थापित किया जा सके। सामाजिक गतिशीलता की इस प्रणाली में दो प्रमुख अवरोध थे। प्रथम तो यह कि उच्च संस्तरणों के लोग इन निम्न संस्तरणों के लोगों को अपने प्रतिमानों एवं मूल्यों का अनुकरण करने की आज्ञा प्रदान करें अथवा अनुकरण करने वाले इन संस्तरणों के प्रति सहनशील दृष्टिकोण अपनाए। द्वितीय, ये कि अस्पृश्य मनोवैज्ञानिक रूप से इस रूपान्तरण के लिए स्वयं को तैयार करें एवं व्यवहार परिवर्तन के लिए यदि उन्हें उच्च संस्तरणों को लोगों द्वारा दण्डित किया जाए तो उसे सहन करें। संक्षेप में यह कह सकते हैं कि संस्कृतिकरण की प्रक्रिया में उपयुक्त काल्पनिक कथाओं की खोज द्वारा निम्न जातियों के उच्च सामाजिक प्रस्थिति के दावे को तार्किकता एवं युक्ति संगतता प्रदान करने का प्रयास होता है ताकि जाति संस्तरण में वे उच्च पद प्राप्त कर सकें। इस प्रक्रिया के माध्यम से सभी अस्पृश्य जातियाँ उन नागरिक निर्योग्यताओं को समाप्त करने में सफल नहीं हो सकीं जो कि उन पर परम्पराओं के माध्यम से बलात रूप से लादी गई थीं। संस्तरणात्मक प्रकृति से सम्बद्ध जाति व्यवस्था का लाभ उठाकर उच्च जातियों ने ऐसे अनेक अवरोध उत्पन्न किए जिनके कारण ये अनुसूचित जातियाँ संस्कृतिकरण के प्रयासों में सफल नहीं हो सकीं। संस्कृतिकरण की प्रक्रिया ने समूह गतिशीलता को उत्पन्न किया एवं उन विखण्डनों एवं संयोजनों को जन्म दिया जो नवीन अस्मिताओं पर आधारित थे। अतः नवीन जातियाँ एवं पंथ अस्तित्व में आए। संस्कृतिकरण से उत्पन्न ये परिवर्तन सुधारवादी प्रकृति के थे अर्थात् इनकी प्रकृति संरचनात्मक नहीं थी। अन्य सुधारवादी आन्दोलन जैसे–भक्ति आन्दोलन एवं नव–वेदान्तिक आन्दोलन केवल अनुसूचित जातियों तक ही केन्द्रित नहीं थे। इन आन्दोलनों का नेतृत्व हिन्दू धार्मिक नेताओं एवं समाज–सुधारकों ने किया। इन आन्दोलनों के अन्तर्गत अस्पृश्यों को जाति व्यवस्था के अन्तर्गत सम्मिलित कर अस्पृश्यता की समाप्ति के प्रयास किए गए। इन आन्दोलनों के नेतृत्वकारियों का मत था कि अस्पृश्यता हिन्दू समाज–व्यवस्था का आवश्यक अंग नहीं है अतः अस्पृश्यता को जाति व्यवस्था का भी आवश्यक अंग नहीं माना जा सकता। एक महत्वपूर्ण उल्लेख इस संदर्भ में यह है कि सभी सुधारवादियों ने, जो इन आन्दोलनों से सम्बद्ध थे, जाति व्यवस्था को चुनौती नहीं दी। इन्होंने तो जाति व्यवस्था को अधिक मानवीय बनाने का प्रयास किया अस्पृश्यता को पाप के रूप में स्वीकार किया गया परन्तु जाति व्यवस्था की वैधता पर कोई प्रश्न उन्होंने नहीं उठाया।

2. वैकल्पिक आन्दोलन

वैकल्पिक आन्दोलनों को भी दो भागों में बाँटा जा सकता है जिन्हें धर्मान्तरण आन्दोलन तथा धर्मनिरपेक्ष आन्दोलन की संज्ञा दी जा सकती है।

1) धर्मान्तरण आन्दोलन का उद्देश्य प्रति संस्कृति को उत्पन्न करना तथा धर्म परिवर्तित करने वाली इकाइयों की सामाजिक तथा आर्थिक

स्थितियों में सुधार करना था। संस्कृतिकरण की भाँति धर्मान्तरण भी सामान्यतया समूह प्रघटना था तथा धर्म परिवर्तित करने वाली इकाइयाँ जाति की विशेषताओं को अपनाए रखीं। अनुसूचित जातियों द्वारा दूसरे धर्म को अपनाने की प्रक्रिया देश के कुछ भागों के अतिरिक्त अनुपात की दृष्टि से नगण्य रही। आरक्षण की नीति के अन्तर्गत अनुसूचित जाति की सांविधिक प्रस्थिति उनके सामाजिक–आर्थिक विकास एवं राजनीतिक प्रतिनिधित्व का महत्वपूर्ण कारण है। इस प्रक्रिया के अथवा स्थिति के फलस्वरूप गैर–हिन्दू विश्वास व्यवस्थाओं को अंगीकार करने की घटनाओं में कमी आई है। परन्तु इसका अभिप्राय धर्मान्तरण की प्रक्रिया को नकारना नहीं है। अस्पृश्यता की स्थिति से उत्पन्न शोषण के कारण अनेक अनुसूचित जाति अथवा अस्पृश्यों के परिवारों ने हिन्दू धर्म का परित्याग कर बौद्ध धर्म को अंगीकार किया। पचास के दशक के प्रारम्भ में बी.आर. अम्बेडकर का यह मत था कि अस्पृश्यों के लिए सर्वाधिक उपयुक्त वैकल्पिक धर्म बौद्ध धर्म है। अम्बेडकर के इस दृष्टिकोण से प्रभावित होकर महाराष्ट्र की अस्पृश्य जाति महार के हजारों सदस्यों ने सामूहिक धर्मांतरण कर हिन्दू धर्म के स्थान पर बौद्ध धर्म को स्वीकार कर लिया। डॉ. बी.आर. अम्बेडकर ने बौद्ध धर्म को इसलिए प्राथमिकता दी क्योंकि यह भारतीय धर्म है जो समानता पर बल देता है साथ ही यह धर्म जाति–विरोधी एवं ब्राह्मण विरोधी भी था। इसके पूर्व अम्बेडकर ने अनेक अस्पृश्यों को हिन्दू सामाजिक व्यवस्था के अन्तर्गत ही सुधारने के अथवा उनकी प्रस्थिति को उच्च करने के प्रयास किए। उनके इस प्रयास का अनेक लोगों ने विरोध किया। इस विरोध के परिणामस्वरूप डॉ. अम्बेडकर इतने अधिक उत्तेजित एवं परेशान हुए कि उन्होंने हिन्दू धर्म को अस्वीकृत कर दिया और एक मानवीय विकल्प को अंगीकार कर लिया।

2) धर्मनिरपेक्ष आन्दोलन का अभिप्राय अस्पृश्यों के उन प्रयासों से है जिनके अन्तर्गत शिक्षा प्राप्त कर जीवन को सुधारा जाता है तथा राजनीतिक संरचना में सहभागिता प्राप्त की जाती है। इन प्रयासों के द्वारा अस्पृश्य अपनी प्रस्थिति को उच्च बनाते हैं।

इस सन्दर्भ में हम एक बार पुनः डॉ. अम्बेडकर के योगदान की चर्चा कर सकते हैं। आप सम्भवतः जानते ही हैं कि अम्बेडकर उन प्रथम अस्पृश्यों में से एक थे जिन्होंने उच्च शिक्षा प्राप्त की थी। अम्बेडकर ने अमेरिका एवं इंग्लैण्ड से एम.ए. एवं पीएच.डी. की उपाधियाँ प्राप्त की तथा बैरिस्टर–एट–लॉ बने। उन्होंने अस्पृश्यों के सम्मुख यह एक उदाहरण प्रस्तुत किया कि वे शिक्षा प्राप्त कर सकते हैं तथा अपने जीवन स्तर को उच्च बना सकते हैं। अस्पृश्यों में डॉ. अम्बेडकर के अनेक अनुयायी बन गए। डॉ. अम्बेडकर ने अस्पृश्यों को सुझाव दिया कि वे गन्दी समझी जाने वाली अनेक आदतों जैसे–माँस खाना इत्यादि का परित्याग कर दें। कुछ समय के बाद अनेक अस्पृश्यों ने अपनी प्रस्थिति में गुणात्मक सुधार किया और जीवन के धर्मनिरपेक्ष पक्षों को स्वीकार किया। वे राजनीतिक दृष्टि से चेतनशील भी हुए तथा नागरिकों के रूप में उन्होंने अधिकारों की माँग करना प्रारम्भ किया।

राज्य से सम्बद्ध क्रिया

इसके अन्तर्गत उन वैधानिक एवं प्रशासनिक प्रावधानों को सम्मिलित किया जाता है जो अनुसूचित जातियों/अस्पृश्यों की प्रस्थिति के सुधार से सम्बद्ध हैं। भारत का संविधान ऐसे अनेक संरक्षण सम्बन्धी प्रावधानों को स्पष्ट करता है जो अनुसूचित जातियों के कल्याण से सम्बन्धित हैं। राज्य द्वारा प्रदत्त इन प्रावधानों में से निम्नलिखित महत्वपूर्ण हैं–

1) संसद एवं राज्य के विधान मण्डलों में प्रतिनिधित्व

2) केन्द्रीय एवं राजकीय (प्रान्तीय) सेवाओं में प्रतिनिधि

3) सामाजिक, शैक्षणिक एवं आर्थिक विकास के लिए विशेष प्रावधान

4) मनुष्य के मध्य अवैध आदान–प्रदान एवं बलात् श्रम पर प्रतिबन्ध

5) अस्पृश्यता के व्यवहार की समाप्ति

6) अनुसूचित जातियों एवं जनजातीय क्षेत्रों का विकास,

7) अनुसूचित जातियों के हितों एवं संरक्षण सम्बन्धी समस्त पक्षों की जाँच हेतु विशेष अधिकारी की नियुक्ति इत्यादि।

विधान मंडलों में आरक्षण

राज्य की कार्यवाही का एक महत्वपूर्ण पक्ष विधान मंडलों में आरक्षण से सम्बन्धित है। जनसंख्या की विभिन्न श्रेणियों के असमान विकास एवं राजनीति की प्रतियोगी प्रकृति के कारण यह आवश्यक हो जाता है कि पिछड़े एवं निर्बल भागों को अथवा श्रेणियों को आरक्षण के विशेष प्रावधान प्रदान किए जाएँ। जनसंख्या के इन निर्बल भागों को अथवा श्रेणियों को आरक्षण के विशेष प्रावधान प्रदान किए जाएँ। जनसंख्या के इस निर्बल भाग को संसद में स्थान के रूप में आरक्षण प्रदान किया गया है।

पंचायती राज (स्थानीय स्व–सरकार) संस्थाओं की स्थापना के उपरान्त स्थानीय स्तर के प्रत्येक निकाय में अनुसूचित जातियों एवं जनजातियों के लिए स्थान आरक्षित किए गए हैं। ग्राम पंचायत, पंचायत समिति इत्यादि स्थानीय स्तर के वे निकाय हैं जिनमें आरक्षण के प्रावधान हैं। यद्यपि यह कहना कठिन है कि ये संस्थाएँ कितनी प्रभावशाली सिद्ध हुई हैं और क्या इन संस्थाओं में अनुसूचित जातियों एवं जनजातियों को नीति–निर्धारण की प्रक्रिया में सहभागिता प्राप्त हुई है अथवा नहीं। एक ऐसी व्यवस्था में, जिसमें धन एवं प्रस्थिति में असमानता हो, संविधान में उल्लिखित प्रावधानों से शक्ति वितरण की प्रक्रिया में अपेक्षित प्रभाव पड़ना संदेहास्पद ही है। परन्तु निश्चय ही यह महत्वपूर्ण प्रारम्भ है।

राजनीतिक क्रिया

अनुसूचित जातियों में परिवर्तन का एक अन्य महत्वपूर्ण स्रोत राजनीतिक क्रियाएँ हैं। ये राजनीतिक क्रियाएँ गतिशीलता की प्रक्रिया के माध्यम से राजनीतिक दलों द्वारा प्रारम्भ की गई हैं। भारत में बहुदलीय व्यवस्था है और इस आधार पर यह अपेक्षा करना युक्तिसंगत है कि अनुसूचित जातियों के कुछ सदस्य राजनीतिज्ञों के रूप में विभिन्न राजनीतिक दलों में प्रवेश करें। ऐसे अनेक दल हैं जो केवल अनुसूचित जातियों इत्यादि से सम्बद्ध हैं। अम्बेडकर के स्वतंत्र श्रमिक दल (इंडिपेंडेंट लेबर पार्टी) एवं अनुसूचित जाति संघ (शिड्यूलकास्ट फैडरेशन) की

स्थापना की। क्षेत्रीय स्तर पर भी अनेक जनुसूचित जातियों के संघ अथवा संगठन विद्यमान हैं। अम्बेडकर द्वारा निर्मित ऑल इंडिया शिड्यूल कास्ट फैडरेशन (अखिल भारतीय अनुसूचित जाति संघ 1957) बाद में 'रिपब्लिकन पार्टी' के रूप में उभर कर आई। यह दल भारतीय संविधान के मूल तत्वों एवं आदर्शों को स्वीकार करता है तथा अपने उद्देश्यों को संसदीय लोकतंत्र के माध्यम से प्राप्त करने का इच्छुक है। रिपब्लिकन पार्टी ऑफ इंडिया (आर.पी.आई.) के अतिरिक्त एक अन्य दल 'दलित पेंथर' है। अनुसूचित जाति के रेडिकल (आमूल चूल परिवर्तन के समर्थक) सदस्यों तथा अनुसूचित जाति के लेखकों ने एक साक्षरता आन्दोलन भी चलाया जिसके माध्यम से महाराष्ट्र में इन समूहों की जीवन एवं स्थितियों में हो रहे परिवर्तन को प्रस्तुत किया गया। दलित पेंथर्स ने यह स्वीकार किया कि हिन्दू धर्म से अन्य धर्म में रूपान्तरण अथवा हिन्दूवाद से स्वैच्छिक विच्छेदन जाति बाहुल्य या जाति निर्देशित समाज में अस्पृश्यों की प्रस्थिति के सुधार में आवश्यक नहीं कि सहायक हो। उन्होंने लगातार अम्बेडकर के प्रयासों से प्रेरणा ली। यद्यपि इस दल की विचारधारा का एक भाग मार्क्सवाद पर आधारित था जिसने इनके चिंतन को व्यापक बनाया। दलितों द्वारा जिन समस्याओं का सामना किया जा रहा है उनमें मूल आर्थिक आवश्यकताएँ, सामाजिक भेदभाव, राजनीतिक शोषण एवं शारीरिक उत्पीड़न/अत्याचार सम्मिलित हैं। इन समस्याओं की ऐतिहासिकता भारतीय सामाजिक संरचना में अंतर्निहित है।

23.6 सारांश

इस इकाई के अन्तर्गत हमने अस्पृश्यता की अवधारणा, उससे उत्पन्न पृथक्करण, समाज में सामाजिक व्यवस्था को किस प्रकार प्रभावित करता है कि विशद् ज्ञान प्रस्तुत करने का प्रयास किया है। राजनीतिक हित किस प्रकार विविध प्रक्रियाओं की सहायता से पृथक्करण को बढ़ावा दे रहे है, का भी विश्लेषण किया गया है। अतः इस प्रकार हम सभी अस्पृश्यता के साथ–साथ पृथकता को भी आसानी से समझ सकेंगे।

23.7 वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1. डॉ. बी.आर. अम्बेडकर ने हजारों महान अनुयायियों के साथ जिस धर्म को अंगीकार किया–

   क. जैन　　ख. इसाई

   ग. बौद्ध　　घ. मुस्लिम

2. भारतीय संविधान में अस्पृश्यता को समाप्त करता है–

   क. अनुच्छेद–14　　ख. अनुच्छेद–15

   ग. अनुच्छेद–17　　घ. अनुच्छेद–21

3. 'द अनटचेबिल्स' पुस्तक के लेखक हैं–

   क. टी0 के0 ओमन　　ख. बी.आर. अम्बेडकर

   ग. गाँधी　　घ. नायकर

4. एम. एन. श्रीनिवास के अनुसार हिन्दू सामाजिक व्यवस्था में हरिजनों को कौन सी श्रेणी के रूप में स्वीकार किया गया है?

क. तीसरी　　ख. चौथी

ग. पाँचवीं　　घ. इनमें से कोई नहीं

23.8 वस्तुनिष्ठ प्रश्नों के उत्तर

1. ग
2. ग
3. ख
4. ग

23.9 संदर्भ–ग्रन्थ :

- कोठारी, रजनी, 1970, कास्ट इन इण्डियन पालिटिक्स, आरियन्ट लॉगमैन, नई दिल्ली।
- बेली, एफ.जी., 1957, कास्ट एण्ड वी इकॉनामिक फ्रंटियर, द यूनिवर्सिटी प्रेस, मैनचेस्टर।
- श्रीनिवास, एम.एन., चेंज इन माडर्न इण्डिया एण्ड अदर एशेज।

UGSY-04

सामाजिक स्तरीकरण

उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय,
प्रयागराज

खण्ड –6

भारतीय वर्ग संरचना

इकाई – 24 **339–346**

कृषक वर्ग संरचना–भूस्वामी, पट्टेदार और श्रमिक

इकाई – 25 **347–352**

कृषक वर्ग संरचना और परिवर्तन

इकाई – 26 **353–362**

नगरीय वर्ग संरचना-I श्रमिक वर्ग

इकाई – 27 **363–372**

नगरीय वर्ग संरचना-II मध्यम वर्ग

इकाई – 28 **373–378**

नगरीय वर्ग संरचना-II श्रमिक वर्ग

इकाई – 29 **379–386**

अभिजन और शक्ति की असमानता

उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय

उत्तर प्रदेश प्रयागराज

परामर्श समिति

प्रो0 के0 एन0 सिंह (अध्यक्ष) — कुलपति, उ0प्र0 राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज

डॉ० ए० के० गुप्ता — कुलसचिव, उ0प्र0 राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज

सम्पादक

प्रो0 संजय सिंह (अध्यक्ष) — समाजशास्त्रए डॉ० राम मनोहर लोहिया राष्ट्रीय विधि, विश्वविद्यालय, लखनऊ

पाठ्यक्रम निर्माण समिति (अध्ययन बोर्ड)

1. डॉ० एम० एन० सिंह – पूर्व निदेशक, समाज विज्ञान विद्याशाखा, उ0प्र0 राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज
2. डॉ० इति तिवारी – पूर्व एसो० प्रोफेसर समाज विज्ञान विद्याशाखा, उ0प्र0 राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज
3. श्री रमेश चन्द्र यादव – शैक्षणिक परामर्शदाता, समाजशास्त्र, समाज विज्ञान विद्यशाखा, उ0प्र0 राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज

UGSY-04– समाजिक स्तरीकरण

लेखक–

1. डॉ० इति तिवारी – पूर्व एसो० प्रोफेसर समाज विज्ञान विद्याशाखा, उ0प्र0 राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज
2. श्री रमेश चन्द्र यादव – शैक्षणिक परामर्शदाता, समाजशास्त्र, समाज विज्ञान विद्याशाखा, उ0प्र0 राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज
3. डॉ० शैलजा सिंह एसो० – प्रोफेसर, डॉ० शकुन्तला मिश्रा राष्ट्रीय पुनर्वास विश्वविद्यालय, लखनऊ
4. डॉ० विजय कुमार वर्मा – असि० प्रोफेसर, डॉ० शकुन्तला मिश्रा राष्ट्रीय पुनर्वास विश्वविद्यालय, लखनऊ
5. डॉ० विलोक सिंह – असि० प्रोफेसर, स्वामी सहजानन्द पी०जी० कालेज, गाजीपुर (उ०प्र०)
6. श्री अजय कुमार त्रिपाठी – जे० एन० पी०जी० कालेज, लखनऊ
7. डॉ० जया द्विवेदी तिवारी – अवध गर्ल्स डिग्री कालेज, लखनऊ
8. डॉ० श्वेता तिवारी ए०पी० – सेन गर्ल्स मेमोरियल पी०जी० कालेज, लखनऊ
9. डॉ० मपीन्द्र कुमार तिवारी – डी०ए०वी० कालेज, लखनऊ

2020 (मुद्रित)

© उ0प्र0 प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज 2020

ISBN- 978-93-83328-41-3

सर्वाधिक सुरक्षित। इस सामग्री के किसी भी अंश को इंदिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय की लिखित अनुमति के बिना किसी भी रूप में, मिमियोग्राफी (वक्रमुद्रण) द्वारा या अन्यथा पुनः प्रस्तुत करने की अनुमति नहीं है।

उ0प्र0 राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज सर्वाधिकार सुरक्षित। इस पाठयसामग्री का कोई भी अंश उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, की लिखित अनुमति लिए बिना मिमियोग्राफ अथवा किसी अन्य साधन से पुनः प्रस्तुत करने की अनुमति नहीं है।

नोट : पाठय सामग्री में मुद्रित सामग्री के विचारों एवं आमड़ों आदि के प्रति विश्वविद्यालय, उत्तरदायी नहीं है।

प्रकाशन – उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन विश्वविद्यालय, प्रयागराज

प्रकाशक – कुलसचिव, डॉ. अरूण कुमार गुप्ता उ0प्र0 राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज – 211021

मुद्रक – चंद्रकला यूनिवर्सल प्राइवेट लिमिटेड, 42/7 जवाहरलाल नेहरू रोड, प्रयागराज

इकाई–24

कृषक वर्ग संरचना–भूस्वामी, पट्टेदार और श्रमिक

इकाई की रूपरेखा

24.1 उद्देश्य

24.2 प्रस्तावना

24.3 कृषक की अवधारणा

24.4 भारत में कृषक समाज की अवधारणा

24.5 भारत में खेतिहर समाज की अवधारणा

24.6 वस्तुनिष्ठ प्रश्न

24.7 उत्तर

24.8 सन्दर्भ ग्रन्थ

24.1 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के बाद आप

1. कृषक समाज की अवधारणा से परिचित हो जायेंगे।
2. भारत में कृषक समाज की अवधारणा से आपका परिचय होगा।
3. कृषक वर्ग संरचना से आपका परिचय होगा।

24.2 प्रस्तावना

एरिक वोल्फ ने अपनी पुस्तक "Peasant" में परिभाषा दी है कि कृषक मानव समाज का वह बड़ा भाग है जो प्राचीन जनजाति तथा औद्योगिक समाज के बीच रहता है। कृषक को मुख्यतः किसान की श्रेणी में रखा जाता है जो अपनी उपज के अतिरिक्त भाग को बाजार में बेचते हैं। इनकी मुख्य विशेषतायें हैं :–

1. कृषक समाज एक ऐसा समाज है जहॉ कृषि होती है।
2. उत्पादन छोटे स्तर पर होता है। रेमण्ड फर्थ के अनुसार कई कृषक जलवायु चक्र के अनुसार तथा अपनी आवश्यकतानुसार दस्तकारी का व्यवसाय करते है। रेडफील्ड कृषक शब्द को कृषि कार्य करने वाले लोगों तक सीमित रखने के पक्ष में हैं।
3. आर्थिक तथा सामाजिक सम्बन्धों के मामले में कृषक समाज पूरी तरह से अलग नहीं है अपितु वृहद समाज से जुड़े रहते हैं। अपनी आवश्यकतानसुार भोजन का उत्पादन करते हैं अपनी ज्यादातर जरूरतों

को पूरा करते हैं परन्तु वह स्वतंत्र नहीं है। ये लोग अतिरिक्त उत्पादन को बाजार में बेच देते हैं। यह स्वयं अर्ध पर्याप्त (Semi self sufficient) समूह है।

4. कृषक समाज में स्त्रियों का स्तर अच्छा नहीं है। इसका मुख्य कारण यह है कि औरतें मुख्यतः घरेलू काय करती हैं। पैसा न कमाने के कारण समाज में उनके काम में महत्व का समझा जाता है।

24.3 कृषक की अवधारणा

कृषक समाज के अध्ययन का शुरू से ही मुख्य उद्देश्य उनकी जीवनशैली, आर्थिक आधार तथा उनकी सामाजिक–सांस्कृतिक व्यवस्थाओं का अध्ययन करना था। रेडफील्ड के टेपोप्जलान, मैक्सिको के अध्ययन के बाद यह प्रत्यय कई बार बदला तथा इसने नई सैद्धान्तिक बहस को जन्म दिया। रेडफील्ड ने अपने अध्ययनों में अपने प्रयोज्यों को कृषक नहीं अपितु जनजाति (Tribal) माना। रेडफील्ड ने अपने जनजाति–सभ्य (Primitive-Civilzed) सातत्य में उनको स्थान दिया तथा इस तथ्य को कोई महत्व नहीं दिया कि इनका राज्य से तथा पूँजीवादी आर्थिक व्यवस्था से क्या सम्बन्ध है।

रेडफील्ड के छात्र, साल्टैक्स (Sol Tax) ने रेडफील्ड की इस समझ को बदलने की कोशिश की तथा बताया कि ये लोग जनजाति (tribal) नहीं हैं अपितु किसान हैं तथा राज्य के सदस्य हैं। साल्टैक्स ने इस तथ्य पर जोर दिया कि उत्पादन का स्तर व्यक्तिगत न होकर सामूहिक है। इस विचार ने कई अन्य विद्वानों का ध्यान कृषक समाज की ओर आकर्षित किया।

कृषक समाज द्वितीय विश्व युद्ध के बाद समाज वैज्ञानिकों के अध्ययन केन्द्र में आया। जब समाज विज्ञानियों ने यह समझना शुरू किया कि सभी लोग राज्य के अंग हैं तथा एक विश्वव्यापी आर्थिक व्यवस्था से जुड़े हैं। शुरूआती दौर में कृषक के ऊपर जो भी शोध हुआ वह मार्क्सवादी सैद्धान्तिक परिप्रेक्ष्य से प्रभावित रहा, जैसे लेनिन तथा सायानोव का अध्ययन। इनके समर्थकों के लिए कृषक हमेशा से ही मुश्किल वाला विषय रहा है। कृषक समाज की रूढ़िवादी प्रवृत्ति तथा जीवनशैली ने यह काम मुश्किल कर दिया ि कवे किस समूह या वर्ग का प्रतिनिधित्व करते हैं। मार्क्स का यह विश्वास था कि पूँजीवाद इस जीवनशैली को नष्ट कर देगा क्योंकि यह जीवनशैली औद्योगिकरण से मेली नहीं खाती है।

ऐरिक वौल्फ ने कृषक समाज को दो भागों में विभाजित किया है–

1. खुला कृषक समाज (Open Peasant Society)
2. बन्द कृषक समाज (Closed Peasant Society)

खुला कृषक समाज (Open Peasant Society)

1. खुला कृषक समाज विश्व स्तर पर पूँजीवाद के उभार के उत्तर के तौर पर आया जहॉ पर इस समाज से यह आशा की गई कि यह अपनी उपज को बाजार में बेचेगा क्योंकि इस समाज में ही सबसे पहले बाजार का पूर्णरूप से विकास हुआ तथा अतिरिक्त उत्पादन को बाजार में विक्रय करने हेतु लाया गया।

2. खुला कृषक समाज में कृषक बाजार में उपज को खरीद बेच सकते हैं। क्योंकि अतिरिक्त उत्पादन को बाजार व्यवस्था में ही ।

3. खुला कृषक समाज में लोग जमीन के मालिक है तथा समय–समय पर पैसा उधार ले लेते है, अर्थात अर्थव्यवस्था में ऋण व्यवस्था का महत्वपूर्ण स्थान है।

4. खुला कृषक समाज बाहरी समाज से जुड़ा होता है तथा किसी भी सार्थक बदलाव को स्वीकार तथा स्वागत करता है।

बन्द कृषक समाज (Closed Peasant Society)

1. बन्द कृषक समाज में बाहरी लोगो ंका स्वागत नहीं है तथा समुदाय की सदस्यता पूर्णतः परिभाषित है।

2. बन्द कृषक समाज में लोग गरीबी में रहते हैं तथा अशिक्षित होते हैं इस कारण से वे अपनी परम्परागत जीवन शैली को बदलने में अक्षम होते हैं तथा बदलावों का स्वगत नहीं करते हैं।

3. बन्द कृषक समाज की संस्कृति इनको संचय करने तथा दिखावा करने की प्रवृत्ति से रोकती है अर्थात् जीवन शैली साधारण होती है।

एरिक वूल्फ (Eric Woolf) ने अपनी पुस्तक Peasant Wars of Twentieth Century में बीसवीं शताब्दी के क्रांतियों की चर्चा की है, जिसमें उन्होंने कृषक समाज के बारे में बताया है तथा इस बात की चर्चा की है कि किसी भी अर्थपूर्ण बदलाव के लिए कृषक क्रांति में कितनी मुश्किलें हैं।

24.4 भारत में कृषक समाज की अवधारणा

कृषक समाज के बारे में जानने के बाद अब हम भारत में कृषक समाज के बारे में चर्चा करेंगे। भारत में ग्रामीण समाज को कृषक समाज के सन्दर्भ में अगर हम समझे ंतो हमें एक समग्र कृषक समाज नहीं दिखाई पड़ता है। इसमें अनेक जटिलतायें तथा स्तरीकरण के अनेक स्वरूप देखने को मिलते हैं। आन्द्र बेते का विचार है कि परम्परागत भारतीय ग्रामीण समाज में एक ओर वृहत्त जातीय संस्तरण तथा दूसरी ओर जटिल कृषि सम्बन्धी स्तरीकरण पाया जाता है। अतः इस समाज को कृषक समाज के रूप में चित्रित करना भ्रामक है।

आन्द्रे बेते ने इसको स्पष्ट करते हुये कहा कि अधिकांश विद्वान भारतीय समाज को तीन भागों (नगरीय समाज, कृषक समाज, एवं जनजातीय समाज) में विभक्त करते हैं। कृषक तथा जनजातीय समाज ग्रामीण समाज की रचना करते है। इस प्रकार गैर जनजातीय गॉवों के समाज के लिये कृषक समाज से भिन्न कोई और संज्ञा का प्रयोग किया जाना चाहिये। इनका मानना है कि यदि कोई व्यक्ति कृषक समाज और जनजातीय समाज जैसे शब्दों से ही ग्रामीण भारत की कृषि संरचना को समझना चाहता है तो यह संभव नहीं है। आन्द्रे बेते का मत है कि भारत में बहुत से जनजातीय समाज भी कृषक समाज की विशेषताओं से युक्त हैं। यदि छोटी, शिकार तथा फलफूल एकत्रित करने वाली जनजातियॉ जो एक स्थान पर बस कर खेती भी करती हैं तथा समुदायों में संगठित हैं तो वे कृषक के समान ही होती है। आन्द्रे बेते तो यहॉ तक कहते है कि यदि भारत में कृषक

समुदायों को देखना है तो उसे प्रारम्भ करने के लिये सर्वोत्तम स्थान सन्थाल, ओरॉव, तथा मुंडा लोगों का समाज है।

आन्द्रे बेते ने अपनी कृति (एसेज इन कम्परेटिव सेशियोलॉजी) में एक कृषक की तीन विशेषताओं का उल्लेख किया है।

1. कृषक भूमि से जुड़ा होता है। वह न केवल भूमि से जुड़ा होता है अपितु उसे श्रम से फलदायक बनाता है। कानूनी रूप से वह भूमि का स्वामी, उसे किराये पर जोतने वाला या बिना भूस्वामी अधिकार का एक श्रमिक होता है। लेकिन इन सभी स्थितियों में वह अपनी अजीविका श्रम द्वारा कमाता है। कुछ लोग 'कृषक' शब्द का प्रयोग भू–स्वामी किसानों के लिये करते हैं तो कुछ अन्य इसमें किराये पर भूमि जोतेने वालों तथा भूमिहीन श्रमिकों को भी सम्मिलित करते हैं।

2. सामान्यतः ऐसा माना जाता है कि अधिकांश समाजों में कृषकों की भिन्न होती है। वे लोग जो कृषक के परिश्रमी, सरल तथा मितव्ययी होने की प्रशंसा करते हैं, यह स्वीकार करते हैं कि समाज में उनकी वास्तविक प्रतिष्ठता ऊँची नहीं होती है। साधारणतः कृषक वर्ग के लिये यह मान लिया जाता है कि यह कुलीन वर्ग का प्रयोग ऐसे समूह के लिऐ किया गया है जो भूमि से अपनी अजीविका कमाता है, लेकिन वह यह अजीविका स्वयं को श्रम सम्बन्धी कार्यों में लगाये बिना ही कमाता है। स्तरीकरण के क्रम में कृषक वर्ग की स्थिति पर न केवल आर्थिक वर्ग की दृष्टि से बल्कि सांस्कृतिक दृष्टि से भी विचार किया जाता है। यदि इस वर्ग के लोग उस भूमि के स्वामी भी होते हैं, जिसको वे जोतते हैं तो भी उसका आकार छोटा होने के कारण, आय इतनी कम होती है कि उनका परिवार अपना भरण–पोषण एवं आवश्यकताओं की पूर्ति भी कठिनता से ही कर सकता है।

3. कृषकों को मजदूरों के समकक्ष या उनका पूरक माना जाता है। दूसरे शब्दों में कह सकते हैं कि कृषकों एवं श्रमिकों को एक ही श्रेणी में रखा जाता है। ऐसा मानने से यह स्पष्ट होता है कि कृषकों का विभिन्न वर्गों द्वारा शोषण होता है। एक ओर शोषित कृषक वर्ग होता है तथा दूसरी तरफ उनके शोषक।

आन्द्रे बेते ने कृषि करने वाली जनसंख्या (Agricultural Population) तीन भागों में बाँटा है।

1. भूस्वामी जो कृषि कार्य से अलग है तथा पट्टे का मालिक है।

2. भू–स्वामी जो कृषि कार्य में संलग्न है तथा किराये पर जोतने वाला जिसको जोतने के अधिकार के सन्दर्भ में मान्यता मिली है।

3. बटाई पर जोतने वाले तथा कृषि कार्य करने वाले मजदूर

आन्द्रे बेते का मत है कि अगर कृषक के पूर्ण अर्थ को ग्रहण करें तो केवल द्वितीय भाग ही कृषक समाज है। अगर कृषक प्रत्यय को थोड़ा लचीलेपन से प्रयोग करें तो द्वितीय तथा तृतीय भाग कृषक समाज का प्रतिनिधित्व नहीं कर सकता। अतः भारत के सन्दर्भ मे सम्पूर्ण गैर–जनजाति ग्रामीण समाज को कृषक समाज नहीं कह सकते तथा इसकी संरचनात्मक गति को समझाने के लिये नये प्रत्यय को महत्व देना होगा।

24.5 भारत में खेतिहर समाज की अवधारणा

ग्रामीण भारत के सन्दर्भ में कृषक समाज की संज्ञा पूर्णरूप से सामाजिक संरचना, विभेदीकरण तथा मान्य कई विशेषताओं को स्पष्ट करने में असफल रही है। ग्रामीण भारत के सन्दर्भ में कृषक समाज की व्याख्याओं से ये प्रतीत होता है कि कृषक समाज ग्रामीण भारत की सामाजिक संरचना तथा विभेदीकरण को समझाने में पूर्ण नहीं है। इसके अतिरिक्त कृषक समाज की कई महत्वपूर्ण विशेषतायें ग्रामीण भारतीय समाज के सन्दर्भ में बेमेल हैं। अतः ग्रामीण भारतीय सामाजिक संरचना को समझने के लिये खेतिहर समाज की संज्ञा को उचित माना गया।

आन्द्रे बेते का मानना है कि खेतिहर समाज का अर्थ बहुत स्पष्ट नहीं है परन्तु यह कृषक समाज तथा संस्कृति से अधिक विशिष्ट है। खेतिहर प्रणाली के अध्ययन के केन्द्र में भूमि तथा उसका उत्पादन महत्वपूर्ण है।

भारत में भूमि से जुड़ी समस्या या खेतीहर सामाजिक सरंचना दो, मुख्य बिन्दुओं से जुडी हैं।

1. प्रौद्योगिकी व्यवस्था (Technological arrangement)
2. सामाजिक व्यवस्था (Social arrangement)

प्रौद्योगिकी व्यवस्था के अन्तर्गत भूमि व्यवस्था, या भूमि के उपयोग की बात होती है। इसके अन्तर्गत परिस्थितियॉ तथा कृषि के सन्दर्भ में नई तकनीक जैसे कि पानी का पम्प, थ्रेसर, रासायनिक खाद, उन्नत बीज इत्यादि शामिल है। सामाजिक व्यवस्था के अन्तर्गत भूस्वामित्व तथा भूमि पर अधिकार की बात होती है। भारतीय ग्रामीण समाज आज भी बहुत अधिक विभेदीकृत है। भूस्वामी, कृषि मजदूर, बटाईदार सभी प्रदेशों में दिखाई देते है।

डेनियर थार्नर ने भारतीय ग्रामीण सामाजिक व्यवस्था की विविधताओं से एक सामाजिक वर्गीकरण खेतिहर समाज के सन्दर्भ में किया है। इन्होंने तीन तथ्यों के आधार पर यह वर्गीकरण किया है।

1. **भूमि से प्राप्त आय का प्रकार**
   - क. भूमिकर,
   - ख. अपनी जोत का फल,
   - ग. मजदूरी

   अधिकार के प्रकार के आधार पर
   - क. स्वामित्व या मालिकाना अधिकार
   - ख. काश्तकारी (एक सीमा तक सुरक्षित काश्त)
   - ग. बटाईदारी के अधिकार
   - घ. पूर्ण अधिकार हीनता
2. **वास्तविकता में किया गया कृषि कार्यः**

क. अनुपस्थित रहने वाले अर्थात जो कोई भी कार्य नहीं करते,

ख. जो थोड़ा आंशिक कार्य करते हैं,

ग. वास्तविक जोतने वाले तथा उसके पारिवारिक श्रमिक द्वारा पूरा कार्य,

घ. मजदूरी अर्जित करने के लिए पूर्ण कार्य दूसरो के हेतु पूर्ण कार्य किया जाये।

उपयुर्क्त वर्गीकरण के आधार पर डेनियल थार्नर ने निम्नलिखित मॉडल (प्रारूप) खेतिहर वर्ग संरचना के संदर्भ में दिया।

1. मालिक बड़े जमींदार, अमीर भू–स्वामी
2. किसान छोटे भू–स्वामी, वास्तविक काश्तकार
3. मजदूर गरीब काश्तकार, बटाईदार, बिना भूमि के मजदूर

1. मालिक

इनकी आय का स्रोत भूमि संपत्ति का अधिकार है। इनका मुख्य उद्देश्य भूमिकर को बढ़ाये रखना तथा मजदूरी कम रखना है। यह वर्ग काश्तकार से भूमिकर इक्ट्ठा करता हे। थार्नर ने मालिक वर्ग को दो भागों में बाँटा है।

a. बड़े जमींदार

इनका भूस्वामित्व अधिकार काफी बड़े क्षेत्र में फैला होता है (कई गाँवों में भू–स्वामित्व)। ये अपनी उपस्थितिहीनता के बावजूद मालिक होते हैं। इनकी भूमि व्यवस्था तथा विकास में कोई रूचि नहीं होती।

b. अमीर भू–स्वामी

इनके पास पर्याप्त भू–स्वामित्व होता है। इनकी भूमि केवल इनके ही गॉव में होती है। ये कोई खेती से जुड़ा कार्य नहीं करते परन्तु जमीन का प्रबन्ध तथा निरीक्षण करते हैं। भूमि के विकास तथा सुधार में रूचि लेते हैं।

2. किसान

कृषि कार्य करने वाले कृषक है। भू–सम्पति में इनका अधिकार है। परन्तु यह अधिकार कानूनी तथा प्रथानुसार मालिक से निम्न होता है। थार्नर ने इसे भी दो भाग में विभाजित किया है।

a. छोटे भू–स्वामी

भूमि इतनी ही होती है कि परिवार के साथ मिलकर बिना बाहरी मजदूर की सहायता के अपने परिवार को पाल सकें।

b. वास्तविक काश्तकार

इस वर्ग द्वारा किराये पर ली गई भूमि इतनी होती है कि उस पर खेती करके गुजारे लायक उपज ली जा सके। इनके काश्तकारी अधिकार अपेक्षाकृत सुरक्षित होते हैं। क्योंकि यह एक संविदा पर आधारित होते हैं।

3. मजदूर

ऐसे लोग जो दूसरों के खेतों पर काम करके अपनी जीविका चलाते हैं।

1. गरीब काश्तकार

गरीब काश्तकारों के काश्तकारी अधिकार सुरक्षित नहीं है। भूमि का क्षेत्रफल इतना छोटा है कि उपज पाना कठिन हो जाता है। इनकी आय कृषि कार्य की अपेक्षा मजदूरी से अपेक्षाकृत कम ही होती है।

2. बटाईदार

कृषि उपज की बटाई के आधार पर बटाईदार भू–स्वामियों से भूमि को लेता है। इनके पास कृषि से जुड़े यंत्र होते हैं तथा कृषि कार्य हेतु यह अपने यन्त्रों का प्रयोग करते हैं।

3. बिना भूमि के मजदूर

मजदूरी के लिए जो दूसरों के खेत पर काम करते हैं। उन्हें कोई भी अधिकार नहीं मिले होते हैं। डेनियल थार्नर का मानना है कि यह वर्गीकरण अपने आप में पूर्ण नहीं है। कभी–कभी व्यक्ति कई श्रेणियों में अपने आपको पाता है। उदाहरण के तौर पर एक व्यक्ति भूमि के एक भाग पर खुद खेती करता है, दूसरे भाग को जो दूसरे गाँव में है बटाई पर देता है तथा अपने गाँव में वह दूसरे की कुछ भूमि बटाई पर ले सकता है।

इस तरह से हम देखते हैं कि भारत मे एक अजीब सी खेतिहर संरचना दिखाई पड़ती है। यह संरचना अंग्रेजों को पूर्व की आर्थिक व्यवस्था तथा आज की आधुनिक निजी सम्पत्ति के आधार के बीच हैं। इसके फलस्वरूप स्तरीकरण की जो संरचना दिखाई पड़ती है उसमें राज्य सर्वोपरि है तथा इसके बाद बड़े भूस्वामी, छोटे भूस्वामी तथा मजदूर वर्ग दिखाई पड़ता है। इस स्तरीकरण का परिणाम यह हुआ कि किसान जो कि भूमि पर अपने श्रम से उपज को पैदा करता है उसके पास अपने जीवनयापन के अलावा कुछ भी अतिरिक्त पूँजी शेष नहीं बचती।

इसके परिणामस्वरूप ने तो किसान और न ही मजदूर अपनी क्षमता के अनुसार उत्पादन कर पाता है। जो किसान औसत भूमि के स्वामी होते हैं वह भी प्रगति उन्मुख नहीं होते अपितु उनका हित केवल कृषि से कुछ आय हो जोन की होती है जिससे कि उनका जीवन यापन तथा जीवन की अन्य जरूरतें पूरी हो सकें। इस प्रकार से एक समाज ऐसा विकसित होता है जो बदलाव तथा नयेपन को नकारता है तथा रूढ़िवादी विचारों को पोषित करता है। खेतिहर सामाजिक सरंचना में सभी वर्गों का मुख्य उद्देश्य यह नहीं होता है कि किस तरह आय बढ़ाई जाय बल्कि किस तरह से कृषि कार्य से दूर रहा जाय। व्यक्ति सामाजिक प्रतिश्ठा को बढ़ाने के लिये खेती के कार्यों से दूरी बना लेता है। इसका एक अच्छा उदाहरण महिलाओं की कृषि कार्य में भागीदारी है। मध्यवर्ग के किसान जब अच्छी आय कर लेते हैं तो सामाजिक प्रतिष्ठा की श्रेणी में आगे बढ़ने के लिये वे अपनी महिलाओं को बाहरी कृषि कार्य से मुक्त कर घेरलू कार्यों मे संलग्न कर लेते हैं। महिलाओं को बाहरी कृषि कार्य से मुक्त कर घरेलू कार्यों में संलग्न कर लेते हैं। महिलाओं का इस तरह से कृषि कार्य से अलगाव उनकी गतिशीलता तथा आर्थिक हितों को बाधित करता है परन्तु पुरूष समाज के लिए यह एक प्रतिष्ठा से जुड़ा प्रश्न है। वैश्वीकरण के इस युग में नई आर्थिक व्यवस्था के सन्दर्भ में ग्रामीण खेतिहर सामाजिक संरचना में बदलाव आ रहे हैं।

24.6 वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1. कृषक समाज को मालिक, किसान तथा मजदूर वर्ग में डेनियल थार्नर ने विभाजित किया। (सत्य/असत्य)
2. एरिक वोल्फ ने कृषक समाज को दो वर्गों, खुला कृषक समाज तथा बन्द कृषक समाज में विभाजित किया ।(सत्य/असत्य)
3. निम्न में से कौन एक कृषक समाज है।

   क. फ्रांसिसी समाज ख. विकसित समाज

   ग. भारतीय समाज घ. प्रगतिशील समाज

4. निम्नलिखित में से किसने कृषक समाज को खुला कृषक समाज तथा बन्द कृषक समाज में विभाजित किया।

   क. डेनियल थार्नर ख. ऑद्रे बेते

   ग. ऐरिक वोल्फ घ. उपर्युक्त कोई नहीं

24.7 उत्तर

1. सत्य
2. सत्य
3. ग
4. ग

24.8 सन्दर्भ ग्रन्थ

1. Beleille, Andre; 2002, Sociology: Essays on approach and Methoud, Oxford university Press, New Delhi.
2. Das, Veena (ed.); 2004 . Hand Book of Indian Sociology, Oxford University Press, New Delhi.
3. Johnson, Kirk 2005, Globalization at the row roads of tradition and modernity in rural India, Sociological Bulletin, Volume 54 number 1, January- April 2005.
4. Madan Vandana (ed.); 2004 The Village in India, Oxford University Press, New Delhi.
5. Singh, Yogendra; 1993, Social Change in India: Crisis and Resilience, Har-Anand Publication, Delhi.
6. Singh, Yougendra; 2003, Idiology and theory in Indian Sociology, Rawat publication, Jaipur.
7. Srinivas, M.N.; 1995, Social change in modern India, Orient Longman

इकाई–25

कृषक वर्ग संरचना और परिवर्तन

इकाई की रूपरेखा

25.1 उद्देश्य

25.2 प्रस्तावना

25.3 आर्थिक क्षेत्र में परिवर्तन–

25.4 शक्ति की संरचना में परिवर्तन

25.5 स्वतंत्रता तथा सामाजिक परिवर्तन

25.6 भूमण्डलीकरण (वैश्वीकरण) तथा भारतीय ग्रामीण समाज व्यवस्था

25.7 वैश्वीकरण तथा संस्कृति

25.8 वस्तुनिष्ठ प्रश्न

25.9 उत्तर

25.10 सन्दर्भ ग्रन्थ

25.1 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के बाद आप

1. कृषक समाज में आ रहे परिवर्तनों के बारे में जानेंगे।
2. कृषक वर्ग संरचना में आ रहे परिवर्तन भविष्य में क्या समस्याएं पैदा करेंगे इस पर चर्चा होगी।

25.2 प्रस्तावना

सामाजिक परिवर्तन एक सार्वभौमिक एवं अनिवार्य प्रक्रिया है। सामाजिक परिवर्तन की गति असमान तथा सापेक्षित होती है। सामाजिक संरचना के सभी तत्व समान रूप से गतिशील नहीं होते हैं। परिवर्तन के एक ही कारक का प्रभाव अलग–अलग समूहों में भिन्न होता है। परिवर्तन के प्रत्येक कारक हर समाज में समान रूप से प्रभावकारी नहीं होते हैं। इस सन्दर्भ में जब हम भारतीय ग्रामीण समाज की बात करते है तो यह पाते हैं कि वर्तमान सामाजिक– आर्थिक परिवर्तनों ने ग्रामीण समाज में भी गुणात्मक परिवर्तन किये हैं।

अगर हम ग्रामीण अध्ययनों के विकास का देखे तो पता चलता है कि उन्नीसवीं सदी के अन्तिम वर्षों तथा बीसवीं सदी के शुरूआती दौर में अध्ययन केवल सूचनायें इक्ट्ठा करने या कुछ नृशास्त्रीय (Ethnographic) अध्ययन तक सीमित था। भारतीय गांव एक बड़े सामाजिक प्रणाली का एक अंग है इस तरह

का चिंतन 1950 के बाद से ही शुरू हो सका। आजादी के बाद से ग्रामीण भारत के समाज में महत्वपूर्ण परिवर्तन हुये हैं। ए.आर. देसाई ने इस ग्रामीण रूपान्तरण के लिये चार प्रवृत्तियों को चिन्हित किया है।

1. कृषक समाज का एक पारम्परिक, जीवन निर्वाह आधारित समाज से बाजार आधारित लाभोन्मुख समाज में रूपान्तरण।
2. बिखरी हुई, शिथिल, अर्ध–विकसित कृषि व्यवस्था का आधुनिक नगरीय प्रौद्यौगिकी के प्रयोग से राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था में सकल रूप से जोड़ने का प्रयास।
3. कृषक समाज में कुछ विशेष वर्गों को जैसे जमींदार आदि के महत्व को कम करना तथा उनके उन्मूलन का प्रयास।
4. नगरी प्रभावों से प्रभावित व उनसे नजदीकी रिश्ते रखने वाली विभिन्न समितियों व संस्थाओं का कृषक समाज में उदय

भारत के सभी क्षेत्रों में गॉव बदल रहे हैं। ये बदलाव आर्थिक संस्थाओ, शक्ति संरचना तथा अन्तर्जाति सम्बन्धों के सन्दर्भ में देखे जा सकते हैं।

25.3 आर्थिक क्षेत्र में परिवर्तन

भूमि सुधार आर्थिक क्षेत्र में बदलाव का एक मुख्य स्रोत है। गॉवों में भूमि सुधार कई तरह से लागू किये गये जिसका विवरण निम्नलिखित हैः–

(i) बिचौलियों की भूमिका का अंत।

(ii) भूमि हदबन्दी तथा भूमि का पुनर्वितरण

(iii) भूमि चकबंदी जिससे कि भूमि का टिकाऊपन तथा उपजाऊपन बना रहें।

(iv) समूहिक खेती पर जोर तथा प्रोत्साहन।

(v) भूदान आन्दोलन के द्वारा भूमि अमीरों से लेकर गरीबों में वितरण।

उपर्युक्त सुधार प्रत्येक राज्य ने अपने तरीके से किये परन्तु उसके समाजशास्त्रीय परिणाम एक समान निकले।

25.4 शक्ति की संरचना में परिवर्तन

जो भी विशेष अधिकार तथा आर्थिक अधिकार एक बिचौलिये के रूप में जमींदार आदि को मिले थे वह जमीदारी एक्ट से खत्म हो गये। यह हालांकि गॉव में एक बराबरी के समाज का निर्माण करने में विफल रहा परन्तु इसने एक सामाजिक मनोवैज्ञानिक फायदा छोटे किसानों तथा संसाधनविहिन लोगों को दिया। ये लोग गॉव की राजनीतिक तथा सामाजिक संरचना में पारम्परिक प्रभुत्व वर्ग की चुनौती देने लगे।

योगेन्द्र सिंह, एनल बील्स, ऑस्कर लेविस इत्यादि ने ग्रामीण शक्ति संरचना का अध्ययन किया तथा यह बताया कि अन्तर्जातीय सम्बन्धें के सन्दर्भ में एक बदलाव दिखाई पड़ा है। ग्राम पंचायत सैद्धान्तिक रूप में तो ग्रामीण शक्ति संरचना में सर्वोच्च स्थान रखती थीं परन्तु वास्तविक व्यवहार में प्रभुत्व उन लोगों

का होता था जो भूमि के स्वामी थे। शक्ति सरंचना के संदर्भ में बात करें तो आजादी के शुरूआती वर्षों में उच्च जातियों का वर्चस्व था परन्तु यह विशेषता भी दिखाई देने लगी कि युवा लोग भी नेतृत्तव के रूप में सामने आने लगे।

73वें संविधान संशोधन ने महिलाओं को भी गाँव की शक्ति संरचना में भागीदारी करने को प्रोत्साहि किया है। अध्ययन यह बताते हैं कि महिलाओं के लिए पंचायतों में आरक्षण उनको अनिवार्य रूप से शक्ति संरचना में भाग लेने के लिये बाध्य कर रहा है। महिलाओं की यह भागीदारी शुरूआत में एक सांकेतिक महत्व की थी परन्तु धीरे–धीरे यह बदलाव एक सार्थक भागीदारी के रूप में सामने आ रहा है।

नेतृत्व परोक्ष रूप में स्तरीकरण का एक रूप है। पारम्परिक संरचना में बहुत बदलाव नहीं हुआ है। प्रजातान्त्रिक अधिकार तथा कानूनी सहयोग उनको सत्ता में भागीदारी के लिये प्रोत्साहित करते हैं परन्तु आर्थिक पिछड़ापन उनको रोकता है। योगेन्द्र सिंह के अनुसार जहॉ पर निम्न जातियों या वर्गों के लिये आर्थिक रूप से आगे बढ़ने की संभावना है वहॉ पर आर्थिक सुधार, शक्ति संरचना में परिवर्तन या संतुलन बनाने के लिये एक संशक्त भुमिका निभाता है। उदाहरण के तौर पर एफ0जी0 बेली द्वारा बोड तथा गंजम जातियॉ का अध्ययन विसीपेड़ा, उड़ीसा में इस तथ्य को पूरी तरह दर्शाता है।

आज ग्रामीण समाज में वर्गों तथा जातियों के बीच सम्बन्ध में बदलाव हो रहे हैं। भूमि का स्वामित्व बहुत ही कम मात्रा में निम्न वर्ग तथा जाति की तरफ गया है परन्तु राजनितिक शक्ति निर्णायक रूप से नये नेतृत्व के हाथों में गई है। आज सामाजिक संरचना में शक्ति तथा वर्चस्व भूमि से जुड़ा नहीं है अपितु, जाति, वर्ग से भी अलग समूह विशेष की जनसंख्या पर निर्भर करता है। एम0एन0 श्रीनिवास ने प्रभुत्व जाति के सन्दर्भ में भी जनसंख्या को महत्वपूर्ण माना है। विकास तथा प्रगति का फायदा गॉवों में मुख्यतः ऊॅची जाति तथा वर्ग को मिला है। लेकिन यह भी सत्य है कि तुलनात्म रूप से जीवन शैली के स्तर, स्वास्थ्य तथा स्वच्छता, घर इत्यादि के संदर्भ में निम्न वर्ग तथा जातियों को भी लाभ मिला है। योगेन्द्र सिंह के अनुसार परम्परागत ताकतवर समूह अभी भी ग्रामीण शक्ति संरचना को प्रभावित करते हैं तथा महत्वपूर्ण हैं। इनके अनुसार शक्ति अीाी भी परम्परागत ताकतवर लोगों के हाथ में है परन्तु यह अब परम्परा के द्वारा संस्थापित नहीं है।

25.5 स्वतंत्रता तथा सामाजिक परिवर्तन

स्वतंत्रता के बाद राज्य का मुख्य उद्देश्य नियोजन के माध्यम से विकास को बढ़ावा देना था। ये मुख्य उद्देश्य जनतांत्रिक राजनीतिक भागीदारी, सामाजिक न्या, सांस्कृतिक तथा धार्मिक बहुलवाद के मूल्यों के सन्दर्भ में परिभाषित थे। जाति, जन्म, धर्म तथा लिंग के आधार पर जो भेद थे वह खत्म हुये तथा भारतीय संविधान के माध्यम से एक ऐसे राज्य तथा समाज के निर्माण का प्रयास किया गया जहॉ पर सभी को बराबरी का अधिकार मिले।

1950 तथा 60 के दशक में सामाजिक परिवर्तन का प्रभाव भारतीय गॉवों में एक समान नहीं था। परम्परागत जाति तथा वर्ग का प्रभुत्व बना रहा तथा जो भी चुनौती निम्न वर्ग तथा जाति द्वारा दी गई, वह बहुत कारगर नहीं थी। जो भी महत्वपूर्ण बदलाव देखने को मिला वह दक्षिण भारत के गॉवों में देखने को मिला। परन्तु 1970 तथा 80 के दशक में जो भी निवेश 1950 तथा 60 के दशक में हुआ था उसका परिणाम दिखाई देने लगा। कई ग्रामीण क्षेत्रों में 'हरित क्रान्ति' के

माध्यम से एक खेतिहर मध्य वर्ग का जन्म हुआ। हरित क्रान्ति एवं विज्ञान तथा प्रौद्योगिकी के क्षेत्र में जो विकास हुआ उसने कृषि उत्पादन में नये सामाजिक सम्बन्धों को जन्म दिया एक नयी अन्तर्क्रिया तकनीकी, सामाजिक सम्बन्ध तथा संस्कृति में होने लगी। सामाजिक रूप से हरित क्रान्ति का माध्यम मध्य वर्ग बने जो भूमि तथा कृषि से सीधे जुड़े थे। जाट, कुर्मी, यादव उत्तर भारत में, पटेल तथा पट्टीदार गुजरात में, मराठा महाराष्ट्र में, कामा रेड्डी आंध्रप्रदेश में वानियर तथा नाडर तमिलनाडु में मुख्य जातियां है जिन्होंने इसका भरपूर लाभ लिया। योगेन्द्र सिंह के अनुसार इसके निम्नलिखित प्रभाव हुयेः–

1. उत्पादन की इकाई परिवार ही रही परन्तु नेतृत्व बूढ़े लोगों के हाथ से निकलकर युवा लोगों को मिल गया।
2. चूँकि तकनीक तथा नये परीक्षणों के लिये युवा ही तैयार थे तथा ये लोग ही पढ़े–लिखे भी थे, इसलिये इनकी भूमिका पंचायतों तथा ग्रामीण राजनीति में भी देखने को मिली।

हरित क्रान्ति ने मध्य कृषक वग़ को इक्ट्ठा किया तथा एक प्रभुत्व वर्ग में बदल दिया। ऐसा नहीं है कि ग्रामीण गरीब लोग इस एकीकरण से दूर हों वह सभी अपने आप में संगठित हुये। परन्तु मध्य कृषक वर्ग तथा निम्न वर्ग के संगठित होने की प्रक्रिया में एक संघर्षपूर्ण स्थिति बनी रही। जिसकी वजह से ग्रामीण समाज में एक संघर्ष तथा असामंजस्य की स्थिति बनी रही।

आजादी के शुरूआती दशक में औद्योगिक विकास को बढ़ावा दिया गया। इसक फलस्वरूप नगरों तथा टाउनशिप का विकास हुआ। ग्रामीण समाज पर भी इसका प्रभाव पड़ा। रोजगार तथा बेहतर जीवन की तलाश में ग्रामीण क्षेत्र से शहरों की तरफ पलायन हुआ। शुरूआती दौर में समाज विज्ञानियों की जो चिंता थी कि धार्मिक मूल्य विज्ञान तथा प्रौद्योगिकी के विकास को बाधित करेंगे या विज्ञान मनुष्य के जीवन से धर्म को बेदखल कर देगा, निर्मूल साबित हुई।

25.6 भूमण्डलीकरण (वैश्वीकरण) तथा भारतीय ग्रामीण समाज व्यवस्था

योगेन्द्र सिंह के अनुसार वैश्वीकरण एक समेकित प्रक्रिया है। यह समाज में हो रहे नये विकास के आयामों में एक बिन्दु पर आकर मिलने से उत्पन्न होता है। विकास के ये तत्व हैंः

1. विज्ञान, प्रौद्योगिकी तथा संचार में समकालीन क्रान्ति
2. उच्च वेग से बाजार का विकास
3. पूँजी तथा बाजार का विकास
4. सामाजिक गतिशीलता में तेजी
5. कार्य करने वालों का प्रजनन

इसके अतिरिक्त इसकी सहयोगी प्रक्रियायें हैं–

1. मीडिया के द्वारा सांस्कृतिक अन्तक्रिया की प्रक्रिया जिसमें विभिन्न समूहों की भागीदारी है।

2. खाली समय की क्रियाओं में बढ़ोत्तरी

3. पर्यटन में विकास

वैश्वीकरण के इन तत्वों का सामाजिक संरचनात्मक तथा राजनीतिक महत्व है। वैश्वीकरण के खंडित अध्ययन पूरी तस्वीर को नहीं दिखाते अतः एक पूर्ण अध्ययन की जरूरत है जिसमें सभी तत्वों को एक साथ रखकर इसके प्रभाव की चर्चा की जा सके।

सामाजिक संरचना के सन्दर्भ में भारत की जब बात करतें हैं तो यह दिखाई पड़ता है कि 70 प्रतिशत जनसंख्या ग्रामीण है तथा कृषि पर निर्भर है। इसलिये वैश्वीकरण जो मुख्य परेशानी पैदा कर सकता है वह है समाज में गैर–बराबरी तथा भिन्नता। यह भिन्नता कई स्तरों पर हो सकती है जैसे गॉव तथा शहर के बीच, मध्य वर्ग तथा मजदूर वर्ग, पुरूष समाज तथा महिला समाज के बीच, साक्षर तथा निरक्षर लोगों के बीच।

संरचनात्मक बदलाव वैश्वीकरण के माध्यम से आर्थिक क्षेत्र में ही प्राथमिक रूप से होता है। भारत ने शुरू से ही एक ऐसी आर्थिक व्यवस्था को अपनाया जो समकालीन विश्व आर्थिक व्यवस्था के सन्दर्भ में बेमेल है। 1990 की शुरूआत में भारत ने उदारीकरण, गैर–सरकारीकरण के माध्यम से वैश्वीकरण के तहत पूँजीवाद विश्व व्यवस्था के संदर्भ में आर्थिक नीतियों में कुछ बदलाव किये। यहीं से एक नये युग की शुरूआत हुई।

उपरोक्त परिवर्तनों के संदर्भ में मुख्य चुनौती कृषि क्षेत्र के लिये है। लगभग 60 से 70 प्रतिशत जनसंख्या कृषि पर निर्भर करती है। लगभग 90 प्रतिशत रोजगार गैर संगठित क्षेत्र में है जिसमें कृषि एक प्राथमिक तत्व है। अध्ययन सह बताते है कि 1990–98 की समयावधि में लगभग 40 लाख लोग गॉवो में तथा 30 लाख लोग शहरों में रोजगार से वंचित हुये हैं। 1993–94 एन.एस.एस. की गणनानुसार लगभग 44 प्रतिशत ग्रामीण पुरूष तथा 80 प्रतिशत महिलायें अशिक्षित हैं। कृषि के क्षेत्र में, ग्रामीण मानव संसाधन के सन्दर्भ में तथा तकनीकी ज्ञान के संदर्भ में सुधार आवश्यक है।

25.7 वैश्वीकरण तथा संस्कृति

भारतीय संस्कृति के सन्दर्भ में हमेशा से यह तर्क दिया जाता रहा कि वैश्वीकरण के कारण संस्कृति के सन्दर्भ में वैश्वीकरण एक तरह से पश्चिमीकरण का नया अवतार है। भारतीय सभ्यता बहुत पुरानी है तथा समय–समय पर उसने अपना लचीलापन दिखाते हुये विभिन्न सांस्कृतिक समूहों को अपने आप में आत्मसात्किया है। परन्तु इस प्रक्रिया में हर बार उसने अपनी पहचान नहीं खोई है। किर्क जानसन (2003) ने भी इस बात का समर्थन किया है कि वैश्वीकरण की प्रक्रिया ने ग्रामीण सामाजिक सांस्कृतिक संरचना को विलोपित तथा अपमानित नहीं किया है। यह तर्क कि वैश्वीकरण की प्रक्रिया द्वारा संस्कृति का विलोप हो जायेगा, गलत है। अपितु वैश्वीकरण की प्रक्रिया स्थानीय संस्कृति को विलोपित कर रहा है। आज के सन्दर्भ में यह जरूरी है कि ग्रामीण सामाजिक संरचना को सुद्ढ़ करने तथा संघर्ष से बचाने के लिए मानव संसाधनों को उचित प्रयोग जरूरी है। कृषि क्षेत्र में भी नये शोधों तथा विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी को अपनाने की जरूरत है।

25.8 वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1. भूमण्डलीकरण आज के संदर्भ में एक सार्वभौमिक प्रक्रिया है। (सत्य/असत्य)
2. लघु समुदाय की कुछ विशेषतायें जो वृहद समाज में स्थान पा जाती उसे राबर्टसन ने ग्लोकलाइजेशन कहा। (सत्य/असत्य)
3. निम्न में से कौन सी विशेषता वैश्वीकरण को नहीं दर्शाती है–
   क. उच्च वेग से बाजार का विकास
   ख. सामाजिक गतिशीलता में कमी
   ग. कार्य करने वालों का प्रव्रजन
   घ. पूँजी का विकास
4. वैश्वीकरण का प्रभाव सर्वप्रथम दिखाई पड़ता है।
   क. आर्थिक क्षेत्र में ख. सामाजिक क्षेत्र में
   ग. राजनीतिक क्षेत्र में घ. उपर्युक्त में से कोई नहीं

25.9 उत्तर

1. सत्य
2. सत्य
3. ख
4. क

25.10 सन्दर्भ ग्रन्थ

1. Beleille, Andre; 2002, Sociology: Essays on approach and Methoud, Oxford university Press, New Delhi.
2. Das, Veena (ed.); 2004 . Hand Book of Indian Sociology, Oxford University Press, New Delhi.
3. Johnson, Kirk 2005, Globalization at the row roads of tradition and modernity in rural India, Sociological Bulletin, Volume 54 number 1, January- April 2005.
4. Madan Vandana (ed.); 2004 The Village in India, Oxford University Press, New Delhi.
5. Singh, Yogendra; 1993, Social Change in India: Crisis and Resilience, Har-Anand Publication, Delhi.
6. Singh, Yougendra; 2003, Idiology and theory in Indian Sociology, Rawat publication, Jaipur.
7. Srinivas, M.N.; 1995, Social change in modern India, Orient Longman.

इकाई–26

नगरीय वर्ग संरचना–I श्रमिक वर्ग

इकाई की रूपरेखा

26.1 उद्देश्य

26.2 प्रस्तावना

26.3 भारतीय नगरीय समाज में वर्ग–व्यवस्था

26.4 नगरीय समाज में वर्ग

26.5 नगरीय श्रमिक वर्ग की विशेषताएँ

26.6 क्षेत्र के अनुसार श्रमिक वर्ग का विभाजन

26.7 वस्तुनिष्ठ प्रश्न

26.8 उत्तर

26.9 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

26.1 उद्देश्य

इस इकाई को अध्ययन के बाद आप–

1. वर्ग व्यवस्था के अंतर्गत वर्ग के विभाजन को जान पाएंगे।
2. आजादी से पहले और आजादी के बाद भारत के नगरीय समाज में वर्ग विभाजन को समझ पाएंगे।
3. नगरीय श्रमिक वर्ग की विशेषताओं को जान पाएंगे।

26.2 प्रस्तावना

नगरीय समाजों और विशेषकर आधुनिक औद्योगिक समाजों में सामाजिक स्तर के आधारों में वर्ग उल्लेखनीय है। कार्ल मार्क्स वर्ग को व्यक्ति की सामाजिक स्थिति का निर्धारक ही नहीं मानते बल्कि मार्क्स का मानना है कि वर्गों के ध्रुवीकरण के परिणामस्वरूप ही समाजों में परिवर्तन एवं विकास भी हो जाता है। मार्क्स की दृष्टि में वर्ग विरोधी समूह हैं और मूलतः इस विरोधी तत्व के कारण समाज में दो मुख्य वर्ग होते हैं। प्रथम जिनका उत्पादन के साधनों पर नियंत्रण अथवा स्वामित्व है तथा दूसरा जो नियंत्रण या स्वामित्व से वंचित है।

एन्थॉनी गिडिंग्स का मत है कि विकसित समाजों में मार्क्स का द्विवर्गीय प्रारूप अब उपयोगी नहीं है। अब अनेक वर्ग अस्तित्व में आ गये हैं। गिडिंग्स ने तीन वर्गों के उभर कर आने की बात कही है जिनमें स्पष्ट विभाजन संभव नहीं है।[cc]

एन्थॉनी गिडेन्स का त्रिवर्गीय प्रारूप निम्न प्रकार का है–

1. उच्च वर्ग– पूँजीपति वर्ग
2. मध्यम वर्ग– शिक्षित एवं तकनीकी योग्यता वालों का वर्ग
3. निम्न वर्ग– कम दक्ष व्यक्ति, मजदूर वर्ग

26.3 भारतीय नगरीय समाज में वर्ग–व्यवस्था

भारत में वर्ग–व्यवस्था के उदय व विकास के यात्रा को भारत में अंग्रेजों के आगमन के साथ रखकर ही भलीभाँति समझा जा सकता है। मूलतः भारत में स्पष्ट रूप से वर्ग–व्यवस्था का उदय अंग्रेजी काल में ही आरंभ हुआ।

ब्रिटिश काल और वर्ग–व्यवस्था

मूलतः अंग्रेज भारत में व्यापार करने के लिए आये थे और धीरे–धीरे यहाँ पर शासन करने लगे। यही कारण रहा कि अंग्रेजों की राजनीतिक तथा धार्मिक नीति अन्तर्ग्रथित रही। यूरोप में अठाहरवीं शताब्दी में औद्योगिक क्रान्ति हुई। उस समय भारत में अंग्रजों का शासन था और उस समय अंग्रेजों की रूचि भारत में व्यापार करने में ज्यादा और राजनीति में कम थी। इसके बावजूद भी अग्रेजों ने अपने अन्तर्निहित स्वार्थों के कारण भारत में भी न केवल औद्योगिक क्रान्ति की नींव डाली वरन् उसे तेज करने में भी महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। इस औद्योगिक क्रान्ति का, जो मूलतः यूरोप में हुई, का भारतीय समाज पर व्यापक प्रभाव पड़ा, जिनमें से यहां पर तीन महत्वपूर्ण प्रभावों को चिन्हित करना अधिक प्रासंगिक होगा।

1. औद्योगीकरण की प्रक्रिया का आरम्भ
2. नये श्रमिक वर्ग का निर्माण और
3. नई शिक्षा पद्धति की शुरूआत

धीरे–धीरे अंग्रेजों की रूचि व्यपार के अतिरिक्त शासन की ओर होने लगी और अपनी प्रशासनिक व्यवस्था को चलाने एवं सुदृढ बनाने के लिए लॉर्ड मैकाले ने भारत में नई शिक्षा पद्वति की शुरूआत की जिसे हम आज भी अपनाये हुये हैं तथा मैकाले–शिक्षा पद्वति के नाम से जानते हैं। इस पद्वति से स्वदेशी बावुओं का निर्माण हुआ। जिसके बारे में स्वयं मैकाले का विचार था कि यह एक ऐसा वर्ग होगा जो रक्त और रंग में भारतीय होगा परन्तु रूचि, विचार, आचरण तथा बुद्वि में अंग्रेज। भारत में मध्यम वर्ग की बीज रूप में शुरूआत इसी काल से मानी जाती है जो वर्तमान में विश्व के सबसे बडे मध्यम वर्ग के रूप में पहचाना जाने लगा है। इसके अलावा कुछ अनन्य प्रक्रियायें भी आरम्भ हुईं जिनमें नये व्यवसायों का जन्म, धन कमाने के नये–नये तरीके आदि हैं। इन्होनें मध्यम वर्ग के विकास में महत्वपूर्ण योगदान दिया है।[cci] सूत्र रूप में इसे निम्न रूप में प्रदर्शित कर सकते हैंः–

19वीं शताब्दी के उत्तरार्ध से भारतीय समाज में जो मुख्य प्रक्रियायें देखने को मिलती हैं उन्हें बिन्दु रूप में निम्नानुसार रखा जा सकता हैः

(1) औद्योगीकरण को अपनाया और गति प्रदान करना

(2) आत्मनिर्भर ग्रामीण समुदाय का पतन

ए. आर. देसाई ने अपनी पुस्तक 'सोश्यल बैकग्राउन्ड ऑफ इण्डियन नेशनैलिज्म' में भारत में नये वर्गों के उदयों के कारणों में भारतीय कृषि का रूपान्तरण, नई भूमि–व्यवस्था, नागरिक हस्तशिल्प का अपकर्षण, ग्रामीण शिल्प–उद्योगों का पतन, आधुनिक अद्योगों का उद्भवतथा आधुनिक शिक्षा की महत्वपूर्ण भूमिका मानी है। ये सभी प्रक्रियायें अंग्रेजों के भारत आने के बाद हुई।

उपरोक्त सभी प्रक्रियाओं ने नगरीय सामाजिक व्यवस्था में स्तरीकरण की वर्ग–व्यवस्था को जन्म दिया और अनेक सामाजिक संवर्गों के साथ तीन वृहत् सामाजिक वर्गों का विकास हुआ। इनमें दो प्रमुख तत्व नये थे। प्रथम, औद्योगिक श्रमिक वर्ग का उदय एवं द्वितीय भारतीय समाज में मध्यम वर्ग कस उदय जो न केवल आज नगरों तक सीमित है अपितु ग्रामीण समाज तक पहुंच गया है। यह विश्व का सबसे बडा मध्यम वर्ग माना जा रहा है और विश्व के विकसित देशों के लिए सबसे बडा उपभोक्ता बाजार भी बन गया है।

26.4 नगरीय समाज में वर्ग

मार्क्स के प्रारूप के अनुसार नगरों में दो वर्ग हैं। प्रथम पूंजीपति वर्ग एवं द्वितीय श्रमिक वर्ग, परन्तु यह वर्गीकरण बदलती हुई परिस्थितियों और भारतीय समाज में प्रासंगिक नही रह गया है।

ए.आर. देसाई ने ब्रिटिशकालीन नगरीय भारत में चार प्रमुख वर्गों का अस्तित्व माना है, ये हैं–

1. वाणिज्यिक और वित्तीय पूंजीपतियों और उद्योगपतियों का वर्ग।
2. पेशेवर वर्ग–टैक्निशियन, डॉक्टर, वकील, प्रोफेसर, पत्रकार, मैनेजर, बुद्विजीवियों एवं शिक्षित लोगों का मध्यम वर्ग।
3. छोटे व्यापारी और दुकानदारों का वर्ग।
4. सूती कारखानों, चाय बागानों, कोयला–खानों और यातायात के क्षेत्र में लगे श्रमिकों का मजदूर वर्ग।

भारतीय नगरीय समाज में वर्ग व्यवस्था को समझने में एन्थोनी गिडेन्स का त्रि–वर्गीय प्रारूप अधिक उपयुक्त माना गया है। भारतीय नगरीय समाज में हम अस्पष्ट रूप से विभाजित तीन वर्गों का अस्तित्व देख सकते हैं जिसमें कई उपवर्ग भी हो सकते हैं।[ccii]

इस प्रारूप के आधार पर आधुनिक औद्योगिक नगरीय भारत में वर्गों को निम्नानुसार दर्शाया जा सकता है–

1. **उच्च वर्ग–** (अ) धनिक वर्ग– (1) खानदानी धनाढ्य (2) नव धनाढ्य

(ब) अभिजात – (1) परम्परागत अभिजात (2) नव–अभिजात

नव अभिजात के स्वरूपः –

(1) राजनीतिक अभिजन

(2) नौकरशाह

(3) व्यावसायिक अभिजन

(4) बुद्धिजीवी अभिजन

(5) वाणिज्यिक अभिजन।

2. **मध्यम वर्ग–** (अ) पुराना मध्यम वर्ग

(ब) नया मध्यम वर्ग

3. **निम्न वर्ग –** (अ) संगठित क्षेत्र के श्रमिक वर्ग

(ब) असंगठित क्षेत्र के श्रमिक वर्ग

(स) अन्य क्षेत्र के श्रमिक वर्ग

सामाजिक आर्थिक संस्तरण के उच्च वर्ग पूंजीपतियों को रखा जा सकता है। यह वह वर्ग है जिसका उत्पादन साधनों पर पर्याप्त नियंत्रण है और वे औद्योगिक श्रमिकों को नियुक्त करते हैं।

परम्परागत भारत में वर्ग उपागम से विश्लेषण करने पर उच्च वर्ग में जमींदारों, साहूकारों, सूदखोरों, सामन्तों को रखा जा सकता है, परन्तु आधुनिक अर्थों में नगरीय समाज में जिसके उच्च वर्ग का वर्णन हम कर रहे हैं वास्तव में उसकी उत्पत्ति अंग्रेजी शासनकाल में 19वीं शताब्दी के मध्य से मानी जा सकती है, जब भारत में सूत व जूट की मिले स्थापित हुईं। प्रारम्भिक काल में अंग्रेज प्रमुख उद्यमी थे परन्तु 1911 में टाटा आयरन एण्ड स्टील वर्क्स की स्थापना के साथ ही ब्रिटिश उद्यम वर्ग का पतन आरम्भ हो गया था तथा भारतीय उद्यमी वर्ग का तेजी से विकास होने लगा। प्रारम्भिक दौर में उद्यमवर्ग पर व्यापारियों, जातियों का वर्चस्व रहा, खासतौर पर उनका जो पहले से ही वाणिज्यिक गतिविधियों मे संलग्न थीं। इस प्रकार भारत में उच्च वर्ग, पूंजीपति वग या उद्यमी वर्ग की एक–दूसरे के साथ संगतता मूल रूप में रही है।[cciii]

भारत में नगरीकरण की प्रक्रिया में नगर तरह–तरह की आर्थिक गतिविधियों के केंद्र रहे है। वे ग्रामीण इलाकों के लोगों को अपनी ओर खींचते हैं। यह आकर्षण जो ग्रामीण जनसंख्या का एक खासा भाग नगरीय क्षेत्रों की ओर खींच लाता है, प्रोत्साहन कारक (Pull Factor) कहलाता है। अगर देहाती इलाकों की गरीबी, कृषि अर्थव्यवस्था का पिछड़ापन और घरेलु या कुटीर उद्योगों का नाश भी ग्रामीणों को नगर की ओर धकेलता है। इसे दबाव कारक (Push Factor) कहते हैं।

इस तरह नगरीकरण की प्रक्रिया में महत्वपूर्ण भूमिका निभाने वाले प्रोत्साहन और दबाव पलायन कारक भारत में नगरीय श्रमिक वर्ग के उद्‌भव में भी एक बड़ी भूमिका अदा करते हैं। मगर भारत में प्रोत्साहन और दबाव करक अलग–अलग काम नहीं करते। बल्कि औपनिवेशिक काल से राजसत्ता की राजनीतिक अर्थव्यवस्था ने इन पर जबरदस्त प्रभाव डाला है।

निम्न वर्ग

निम्न वर्ग का अस्तित्व आदिकाल से ही चला आ रहा है लेकिन आधुनिक नगरीय समाजों में निम्न वर्ग का जो स्वरूप हमें आज देखने को मिलता है, इसका विकास विशेषकर भारत में ब्रिटिश औपनिवेशिक शासन–नीति एवं आर्थिक नीति के प्रभाव के रूप में हुआ। इन नीतियों ने ग्रामीण अथव्यवस्था को समाप्त कर दिया और वैकल्पिक रोजगार की तलाश में लोगों को नगरीय क्षेत्रों की ओर पलायन

करना पड़ा। इसमें पुश और पुल संबंधी कारक भी महत्वपूर्ण रहे। औद्योगीकरण एवं नगरीकरण की प्रक्रिया के कारण व्यावसायिक ढांचे में तेजी से बदलाव आया। परिणामतः नगरी क्षेत्रों में नये प्रकार के निम्न वर्ग का विकास हुआ जिसे हम श्रमिक वर्ग कहते हैं।[cciv]

26.5 नगरीय श्रमिक वर्ग की विशेषताएँ

भारत में नगरीय श्रमिक वर्ग की कुछ खास विशेषताएं हैं[ccv] :

1. सबसे मुख्य विशेषता तो यह है कि उनमें से ज्यादातर ग्रामीण इलाकों से नगरो में आए है। ये प्रवासी मजदूर अब भी गांवों में रह रहे अपने नातेदारों से रिश्ता बनाए रखते हैं।

2. हालांकि ज्यादातर प्रवासी मजदूरों ने अपना पुश्तैनी धंधा छोड़ दिया गया है, फिर भी उनमें से एक काफी बड़ा हिस्सा अपने पुश्तैनी या परंपरागत धंधे को बनाए हुए है। नगरीय श्रमिकों का यह वर्ग निम्न जातियों से आता है। मगर यहां पर यह कहना जरूरी होगा कि नगरीय श्रमिक वर्ग जातिगत मूल्यों का कड़ाई से पालन नहीं करता। आमतौर पर श्रमिक वर्ग अपने दृष्टिकोण में ज्यादा धर्मनिरपेक्ष नजर आता है।

3. नगरीय श्रकि वर्ग का एक बड़ा तबका अनपढ़ है। उनमें से ज्यादातर श्रमिक अपने कानूनी अधिकार तक नहीं जानते।

4. वे जाति, धर्म, क्षेत्र, भाषा इत्यादि के आधार पर बंटे होते है। यह विविधता छोटे नगरीय केंद्रों की तुलना में बड़े नगरों में अधिक पाई जाती हैं।

5. नगरीय श्रमिक वर्ग का एक बड़ा तबका अंसगठित क्षेत्र में काम करता है। उनकी आर्थिक समस्याएं संगगठित क्षेत्र में काम कर रहे श्रमिकों की समस्याओं के समान नहीं होती। संगठित क्षेत्र में श्रमिकों को मजदूरी का भुगतान 1936 के वेतन भुगतान अधिनियम और 1948 के न्यूनतम वेतन अधिनियम के अनुसार होता है। एक तरह का काम करने वाले पुरुष और महिला श्रमिकों को बराबर वेतन एवं सुविधाएं देने के लिए भी कानूनी प्रावधान है। संगठित क्षेत्र में श्रमिकों को लाभ या उत्पादता के आधार पर बोनस भी दिया जाता है। जब भी श्रमिकों को वेतन और अन्य सुविधाएं देने की बात आती है तो असंगठित क्षेत्र के मालिक इन प्रावधानों को ताक में रख देते है।

6. नगरीय श्रमिक वर्ग को ग्रामीण श्रमिकों की तुलना में संचार के आधुनिक साधन ज्यादा उपलब्ध है। अतः वे रोजगार के वैकल्पिक रास्तों के बारे में जानते हैं और प्रबंधक से अपनी बात मनव0ाने में अधिक समर्थ होते है। संचार साधनों की यह जानकीर उन्हें अपने समान द्देश्यों के लए संगठन बनाने में सहाकयता करती है। हाल के वर्षों में नगरीय क्षेत्रों में श्रमिक संघ भारती संख्या में उभरे है। केवल नगरीय औद्योगिक वर्ग ही संगठित नहीं हुआ है, बल्कि असंठित क्षेत्र के श्रमिकों ने भी देश के कई भागों में अपने संगठन बना लिए हैं।

7. ज्यादातर नगरीय श्रमिक असुरक्षित हालातों में काम करते है। उन्हें रहने की भी पर्याप्त सुविधा नहीं मिलती। ज्यादातर श्रमिक झोपड़–पट्टियों या गंदी बस्तियों में रहते है। इसलिए उन्हें ऐसी बस्तियों की रोजमर्रा की

समस्याओं से जुझना पड़ता है। गंदगी, कच्चे घ्ज्ञर, नाली और बिजली का अभाव, शराबखोरी अपराध, जुआखोरी, इत्यादि इन बस्तियों की आम समस्याएं है।

8. नगरीय श्रमिक वर्ग में रोजगार के क्षेत्र, भाषा, प्रदेश, जाति और जातीयता के माले में काफी निभन्नता या विविधता होते हुए भी उनमें एकता के सामान्य तत्व मौजूद होते है। उनकी एकता काएक बड़ा सामान्य तत्व उनका निम्न आर्थिक स्तर है। उनमें से ज्यादातर आर्थिक असुरक्षा और अनिश्चितता से बराबर घिरे रहते है। साथ में उनके मालिक उनका कई तरह से शोषण करते है। ये सामान्य तत्व उन्हें अपने मालिकों के खिलाफ संगठित और एकताबद्ध करते है। वे अब पर्याप्त कानूनी संरक्षण के लिए भी एकताबद्ध होने लगे हैं।

नगरीय श्रमिक वर्ग का एक बडा वर्ग औद्योगिक श्रमिकों का है। औद्योगिक श्रमिकों और मालिकों के बीच बराबर झगड़े होते रहते है। अधिक वेतन, काम के अच्छे हालातों, बोनस इत्यादि मुद्दों को लेकर औद्योगिक संघर्ष होते है। इन संघर्षो या झगड़ों ने अब संगठित विरोध या आंदोलन का रूप ले लिया है। श्रमिक अपना विरोध हड़ताल, धीमी गति से काम करने का अभियान चलाकर, घेराव, प्रदर्शन इत्यादि से किया करते है। ये संगठित विरोध नगरीय श्रमिक वर्ग के ट्रेड यूनियन और श्रमिक आंदोलनों के अभिन्न अंग रहे है। इस इकाई के अगले भाग में हम आपको इन पहलुओं पर विस्तार से जानकारी देंगे।

संक्षेप में भारतीय नगरीय श्रमिक वर्ग की निम्न विशेषताएं हैं जो अन्य देशों के श्रमिकों से उन्हें अलग करती हैं।[ccvi] मोटे रूप से भारतीय नगरीय श्रमिक की निम्न विशेषताएं हैंः–

1. गाँधी तथा रहन–सहन का निम्न स्तर
2. प्रवासी प्रवृत्ति–ग्रामीण क्षेत्रों से प्रवासित
3. जाति–संरचना में निम्न जातियों का अधिक प्रतिनिधित्व
4. एकता का अभाव
5. असंगठित क्षेत्रों में अधिक संख्या में कार्यरत
6. कार्यदशाएं बहुत ही खरब और असुरक्षित
7. अशिक्षित
8. तकनीकी शिक्षा का अभाव
9. भाग्यवादिता में अधिक विश्वास
10. न्यून गतिशीलता
11. कार्यस्थल से अनुपस्थिति की अधिक प्रवृत्ति
12. आवास की समस्याः गन्दी बस्तियों में आवास
13. दुर्व्यसन से ग्रसित जैसे मद्यपान, जुआ, वेश्यावृत्ति तथा
14. ऋण ग्रस्तता

इस प्रकार हम देखते हैं कि भारतीय नगरीय समाज स्तरीकरण की दृष्टि से प्र्याप्त जटिलता लिये हुए हैं। सामाजिक एवं आार्थिक क्षेत्र में विभेद के परिणामस्वरूप इस जटिलता में और भी अधिक वृद्धि हुई है।

कार्ल मार्क्स ने इसे सर्वहारा वर्ग कहा है। इस श्रमिक वर्ग को हम तीन उप श्रेणियों में विभाजित कर सकते है[ccvii] :–

26.6 क्षेत्र के अनुसार श्रमिक वर्ग का विभाजन

(क) संगठित क्षेत्र के श्रमिक वर्ग

संगठित क्षेत्र में सबसे अधिक श्रमिक कारखानों में काम करते हैं तथा कारखाना अधिनियम 1948 के अन्तर्गत आते हैं। ये प्रमुखतः सूती मिलों, जूट मिलों, कोयला खानों, चाय बागानों, कागल उद्योग और रसायनिक कारखानों में कार्यरत हैं।

(ख) असंगठित श्रमिक वर्ग

हाल के कुछ वर्षों में नगरीय असंगठित क्षेत्र देश के विभिन्न भागों में बड़ी तेजी से उभरकर सामने आया है।

भारतीय नगरीय अर्थव्यवस्था के असंगठित क्षेत्र में देश की सकल नगरीय श्रम शक्ति का एक बहुत बड़ा भाग बसा हुआ है। ऐसा अनुमान है कि 45 प्रतिशत औद्योगिक श्रम शक्ति असंगठित क्षेत्र में लगी है। असंगठित औद्योगिक श्रतिकों के अलावा निर्माण श्रमिक, छोटे दुकानदार, सब्जी खाने का सामान व अखबार बेचने वाले, फेरी वाले, धोबी, सफाई करने वाले, घरेलू नाकर इत्यादि भी असंगठित क्षेत्र में गिने जाते है।

वे उद्योग जो कारखाना अधिनियम 1948 से परे हैं। जहां 20 से कम मजदूर कार्यरत होते हैं, जहां सेवा–सुरक्षा नहीं है। ये बीड़ी उद्योग, अभ्रक, स्लेट उद्योग, कांच की चूडित्रयां, चपडत्री उद्योग आदि में लगे होते हैं। एक अनुमान के अनुसार लगभग 45 प्रशिक्षण श्रमिक इस क्षेत्र में लगे हुए हैं।

(ग) अन्य क्षेत्र के श्रमिक वर्ग

वे श्रमिक जो निर्माण कार्यों, घरेलू नौकरों आदि के रूप में कार्य करते हैं। सब्जी वाले, अखबार बेंचने वाले, फेरी वाले, रिक्शा वाले आदि को भी इसी श्रेणी में रखा जाता है। इन्हें अनियमित मजदूरी मिलती है एवं इनकी आर्थक सिति बहुत निम्न होती है। ये मुश्किल से ही अपनी आजीविका चला पाते हैं।

26.7 वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1. एन्थोनी गिडेन्स के त्रिवर्गीय प्रारूप में शामिल नहीं है–

   क. उच्च वर्ग ख. मध्यम वर्ग

   ग. निम्न वर्ग घ. श्रमिक वर्ग

2. औद्योगिक क्रान्ति के परिणामस्वरुप भारतीय समाज पर पड़े प्रभावों में शामिल नहीं है–

   क. औद्योगीकरण की प्रक्रिया का आरम्भ

   ख. नये श्रमिक वर्ग का निर्माण और

   ग. नई शिक्षा पद्धति की शुरूआत

   घ. जाति व्यवस्था में परिवर्तन

3. आधुनिक औद्योगिक नगरीय भारत में नव अभिजात के स्वरूपों की संख्या है–

   क. दो ख. चार

   ग. पांच घ. छह

4. क्षेत्र के अनुसार श्रमिक वर्ग के विभाजन में शामिल नहीं है–

   क. संगठित क्षेत्र के श्रमिक वर्ग

   ख. असंगठित श्रमिक वर्ग

   ग. नगरीय क्षेत्र के श्रमिक वर्ग

   घ. अन्य क्षेत्र के श्रमिक वर्ग

26.8 उत्तर

1. घ
2. घ
3. ग
4. ग

26.9 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. देसाई ए.आर. सोशियल बैकग्राउण्ड ऑफ इण्डियन नेशनेलिज्म, पापुलर प्रकाशन, मुम्बई, 1987
2. डेविस, के. एण्ड मूर, डब्ल्यू, सम प्रिंसिपल्स ऑफ स्ट्रेटिफिकेशन्स, अमेरिकन सोशियोलॉजीकल रिव्यू, वोल्यूम, 1945
3. घुरये, जी.एस. कास्ट, क्लास एण्ड आक्यूपेशन, पापुलर बुक डिपो, मुम्बई, 1961
4. गौरे, एम.एस. इसीग्रेनट्स एण्ड नेबरहुडःदि ऑस्पक्ट्स ऑफ लाइफ इन मैट्रोपोलीटन सीटी, टाटा इन्स्टीट्यूट ऑफ सोशियल साइन्स मुम्बई, 1970
5. मिश्रा, बीवी. दि इण्डियन मिडिलक्लासेस, देयर ग्रोथ इन मॉर्डन टाइम्स, ऑक्सफोर्ड, यूनिवर्सिटी प्रेस, दिल्ली, 1978

6. गोल्डन्स, ए. डब्ल्यू. द फ्यूचर ऑफ इंटलैक्चुअल्स एण्ड दि राइज ऑफ दि न्यू क्लास, मैकमिलन, लंदन, 0979

7. बाटोमोर, टी.बी. इलीट एण्ड सोसायटी, पैग्विन बुक्स, हारमोन्डसवर्थ, 1956

8. रामास्वामी, ई.ए. एण्ड रामास्वामी, यूः इण्डस्ट्री एण्ड लेबरः एन इण्ट्रोडक्शन, ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेसनई दिल्ली, 1981

9. राव, एम. एस. (संपादक)ः अरबन सोशियोलोजी इन इण्डिया, ओरियन्ट लोंगमन, नई दिल्ली, 1974

10. शर्मा के. एल.ः सोशियल स्टे्टीफिकेशन इन इण्डिया, मनोहर प्रकाशन, नई दिल्ली, 1986

11. ट्यूमिन एम. एम. सोशियल स्ट्रेीफिकेशन, दि फोर्म्स एण्ड फंकशन्स ऑफ इनइक्वेलिटी, प्रिंट्स हॉल, न्यूजर्सी, 1967

12. योगेन्द्र सिंह, सोशियल स्ट्रेटिफिकेशन एण्ड चेन्ज इन इण्डिया, मनोहर प्रकाशन, नई दिल्ली, 1974

13. राबर्ट लिण्ड एण्ड हेलन, मिडिल टाउन, हारकोर्ट ब्रेस, न्यूयार्क, 1929

14. वाइन्स, डब्ल्यू, लॉयडः यांकीसिटी, न्यूहैवन, कॉन, 1942

15. गीडिंग्स, एन्थोनी, सोशियोलोजी, पोलिटी प्रेस, कैम्ब्रिज, 1989

16. हरलम्बोस, एम. सोशियोलोजी, थीम्स एण्ड परस्पैक्टिव, आक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, न्यू दिल्ली, 1989

17. केतकर, एस. वी., हिस्ट्री ऑफ कास्ट इन इण्डिया, इथाका , न्यूयार्क, 1909

18. योगेश अटल, द वेन्जिंग फ्रंटीयर्स ऑफ कास्ट, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, 1968

i डॉ० हरिश्चन्द्र उप्रेती, डॉ रामेश्वर लाल सैनी, ष्नगरीय समाजशास्त्रष्, राजस्थान हिंदी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर, 2003

ii वही

iii वही

vi वही

v वही

vi समाजिक स्तरीकरण, ईएसओ–04, इग्नू

vii डॉ० हरिश्चन्द्र उप्रेती, डॉ रामेश्वर लाल सैनी, ष्नगरीय समाजशास्त्रष्, राजस्थान हिंदी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर, 2003

viii वही

इकाई–27

नगरीय वर्ग संरचना–II : मध्यम वर्ग

इकाई की रूपरेखा

27.1 उद्देश्य

27.2 प्रस्तावना

27.3 मध्यम वर्ग

27.4 मध्यम वर्ग के संबंध में मार्क्स, बॉटोमोर और कोल के विचार

27.5 मध्यम वर्ग के प्रकार

27.6 नवीन भारतीय सम्भ्रान्त वर्ग एवं मध्यम वर्ग का उदय

27.7 वस्तुनिष्ठ प्रश्न

27.8 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

27.1 उद्देश्य

इस इकाई को अध्ययन के बाद आप–

1. नगरीय समाजों में माध्यम वर्ग की अवधारणा को भलीभांति समझ पाएंगे।
2. मध्यम वर्ग के सम्बन्ध में विभिन्न विद्वानों के विचारों से अवगत हो पाएंगे।
3. मध्यम वर्ग के प्राचीन एवं नवीन प्रकारों से अवगत हो पाएंगे।

27.2 प्रस्तावना

उच्च वर्ग व निम्न वर्ग के मध्य पाया जाने वाला वर्ग मध्य वर्ग कहलाता है। यह वर्ग सदैव उच्च वर्ग में शामिल होने को प्रयासरत रहता है। इसकी आर्थिक स्थिति ऐसी होती है की यह सामान्य जीवन की लगभग हर जरूरतों को आसानी से पूरा कर लेता है। भारत जैसे विकासशील देशों में इसकी आबादी सर्वाधिक होती है।

27.3 मध्यम वर्ग

आधुनिक औद्योगिक नगरीय समाजों में कार्ल मार्क्स के द्वि–वर्गीय प्रारूप की प्रासंगिकता पर प्रश्नचिनह लगाते हुए गिडेन्स ने त्रि–वर्गीय प्रारूप दिया। वारनर ने यांकीसिटी' 'के अध्ययन में छः विभिन्न वर्गों की पहचान करते हुए उनहें तीन समूहों में वर्गीकृत किया। इन सभी समाजशास्त्रियों ने विशेषकर नगरीय समाजों में मध्यम वर्गों के अस्तित्व व विस्तार की बात को स्वीकारा है और मध्यम वर्ग को आधुनिक औद्योगिक नगरीय समाजों का एक महत्वपूर्ण लक्षण माना है।

इसका पिछले चार दशकों में लगातार विस्तार हो रहा है। इस वर्ग का सथान वास्तव में उत्पादन के साधनों पर स्वामित्व के आधार पर उच्च वर्ग और श्रम–शक्ति के आधार पर निम्न वर्ग के बीच में है। इसमें सफदपोश कर्मचारी, व्यवसायी, तकनीशियन, प्रबंधक, शिक्षाविद, वैज्ञानिक, डॉक्टर, वकील, दुकानदार आदि शामिल हैं।

आधुनिक समाज में सामाजिक जीवन का वर्गीकरण व्यापार, वाणिज्य, परिवहन, संचार, प्रबंध, विज्ञान और प्रौद्योगिकी के पर्याप्त विकसित पद्वति के आधार पर किया गया है। व्यापार, वाणिज्य, उत्पादन, वितरण, परिवहन, शिक्षा, राज्य प्रबंध और अन्य क्षेत्रों में लगे उद्यमों का प्रशासन और प्रबंध विभिन्न प्रकार के कार्मिकों के द्वारा किया जाता है। शहरी क्षेत्रों की आबादी में प्रमुखतया, सफेदपोश कर्मचारी, तकनीशियन, पर्यवेक्षक, शिक्षाविद् इंजीनियर, अधिकारी वर्ग, प्रबंधक, वैज्ञानिक, डॉक्टर, वकील, अन्य व्यवसायों में लगे व्यक्ति, विक्रेता,व्यापारी, दुकानदार आदि शामिल है। इन व्यवसायों और पेशों में लगे व्यक्तियों को मध्यम वर्ग माना जाता हैं।[ccviii]

मध्यम वर्ग का प्रदुर्भाव उन्नत औद्योगिक समाजों के सामाजिक जीवन का विशिष्ट लक्षण है। भारत जैसे विकासशील समाजों का वर्ग संरचना पर भी मध्यम वर्ग का बढ़हा हुआ बर्चस्व देखा गया है उन्नत और आधुनिक विकाशील समाजों में प्रौद्योगिकीय और आर्थिक विकास के साथ–साथ मध्यम वर्ग की प्रचुरता और प्रधानता देखी गई है।

27.4 मध्यम वर्ग के संबंध में मार्क्स, बॉटोमोर और कोल के विचार

मार्क्स ने इस बात पर बल दिया है कि आधुनिक वर्ग संघर्ष में मुख्य पक्ष–पोषक सर्वहारा और पूंजीपति वर्ग है। वह समाज के दोहरे विभाजन की व्यवसाी करते है। परंतु मध्यम वर्ग का उद्भव विश्लेषणात्मक और अनुभव जन्य वास्तविकता के रूप में हुआ है।

टी.बी. बॉटोमोर ने समाज को चौमुखी विभाजन का उल्लेख किया है। उनके अनुसार

1. उच्च वर्ग (उत्पादन साधनों के मालिक),
2. मध्यम वर्ग (सफेदपोश कर्मचारी और व्यावसायिक)
3. श्रमिक वर्ग (औद्योगिक श्रमिक) और
4. कृषक वर्ग (जो मुख्य रूप से अपनी आजीविका के लिए कृषि पर निर्भर रहते है) मुख्य हैं।

जी.डी. कोल ने मार्क्स के सिद्धांत का आलोचनात्मक विश्लेषण करने के बाद बताया है कि मार्क्सवादी सिद्धांत में वर्गों और व्यवसायिकों के बीच अंतर नहीं किया गया है। बल्कि उन्हें एक साथ गिनाया गया है। उनके अनुसार मार्क्स के विश्लेषण में मध्यम वर्ग अवशिष्ट श्रेणी है और इस प्रकार मार्क्स ने इस तथ्य की अवहेलना की है कि औद्योगिक पद्वति मध्यम वर्ग के उदय को प्रोत्साहित कर रही है, जिसमें प्रशासक, प्रबंधक, व्यावसायिक आदि शामिल है। कोल के अनुसार, आज की वर्ग संरचना में मध्यम वर्ग एक वास्तविकता है।

मध्यम वर्ग के संबंध में गोल्डनर और जेटलिन के विचार

उन्नतम औद्योगिक समाज में मध्यम वर्ग एक नया वर्ग है। इस वर्ग के अधिकांश सदस्य तकनीकी बुद्धिजीवी वर्ग के रूप में कार्य करते है और उत्पादन प्रणाली में क्रान्ति लाते है।

गोल्डनर का मानना है कि इस नये वर्ग ने उन्त अर्थव्यवस्थ में अपनी अधिनस्थ स्थिति को स्वीकार कर लिया है। यह नया वर्ग अपने ज्ञान एवं विशेषज्ञता के कारण हमेशा धनिक वर्ग पर हावी रहा हैं।[ccix]

गोल्डनेर के अनुसार, इस नए वर्ग के उन्नतम अर्थव्यवस्था में अपनी अधीनस्थ स्थिति स्वीकार की है, क्योंकि यह उसके वस्तुगत और आदर्श हित के अनुरूप है। इस नए वर्ग को उत्पादन शक्तियों और प्रशासन माध्यमों का तकनीकी ज्ञान होने के कारण उत्पादन प्रणाली पर इसका पहले से ही पर्याप्त नियंत्रण है और इस प्रकार इस शक्ति के आधार पर वह अपने हितों की रक्षा करता है। नया वर्गअपने ज्ञान और विशेषता के कारण हमेशा धनी वर्ग पर हावी रहा है जो उद्योगों के स्वामी है। इस संदर्भ में मोरिस जेटलिन ने उल्लेख किया है कि स्वामित्ववास्तव में निष्क्रिय हो गया है और नियंत्रण व्यावसायिक प्रबंध के हाल चला गया है। उन्होंने यह भी कहा है कि गैर–स्वामित्व प्रबंधक अब धनी पूंजीपतयों का स्थान ले रहे है।[ccx]

मोरिस जेटलिन ने कहा है कि आज स्वामी वास्तव में निश्कय हो गया है और नियंत्रण व्यावसायिक प्रबंधकों के हाथों में चला गया है तथा गैर–स्वामित्व प्रबंधक अब धनी पूंजीपतियों का स्थान ले रहे हैं।[ccxi]

वारनर ने मध्यम वर्ग के दो उपभाग किये हैं–

1. उच्च–मध्यम वर्ग, जिसमें डॉक्टर, वकील, व्यापारी, व्यवसायी, आदि को रखा है।
2. निम्न–मध्यम वर्ग में सफेदपोश कर्मचारियों जैसे लिपिक आदि को रखा है।[ccxii]

उन्होंने यांकीसिटी के अध्ययन में छह भिन्न–भिन्न वर्गों की पहचान की है, वे निम्नलिखित हैं

1. **उच्च वर्ग :** इस वर्ग के सदस्य धनी है परंतु वे अपनी पारिवारिक पृष्ठभूमि के कारण ही इस वर्ग के सदस्य हैं
2. **निम्न उच्च वर्ग :** वेधनी हे, परंतु वे अभिजात पृष्ठभूमि से नहीं है बल्कि तब धनाड्य है।
3. **उच्च मध्यम वर्ग :** उच्च मध्यम स्तर के व्यक्ति उच्च आय वाले शिक्षित व्यावसायिक है, जैसे डॉक्टर, वकील, व्यापारी आदि।
4. **निम्न मध्यम वर्ग :** वे मुख्य रूप से सफेदपोश कर्मचारी है, जैसे लिपिक स्तर का कर्मचारी, सचिव, बैंक कर्मचारी आदि।
5. **उच्च निम्न वर्ग :** वे शारीरिक कार्य करने वाले कर्मचारी है, जैसे कारखानों के श्रमिक आदि।

6. **निम्न निम्न वर्ग :** वे गरीब है और समुदाय के सदस्यों से अलग–अलग है।

इस प्रकार वर्ग 1 और 2 उच्च स्तर के है, वर्ग 3 और 4 मध्य, तथा वर्ग 5 और 6 सामाजिक संरचना के लिम्न स्तर के वर्ग है। यही बहुत महत्वपूर्ण बात यह है कि मध्यम वर्ग सामुदायिक जीवन में सामाजिक वास्तविकता के रूप में उभरा है।

भारत में मध्यम वर्ग का विकास अंग्रेजी शासनकाल की देन है और इस कथन से ए.आर. देसाई भी सहमत हैं, जिन्होंने अपनी पुस्तक में इसका वर्णन किया है।

बी.वी. मिश्रा ने अपनी पुस्तक 'दि इण्डियन मिडिल क्लासेज : देयर ग्रोथ इन मॉर्डन टाइम्स' में स्पष्ट किया है कि अंग्रेजों के भारत में आगमन से पहले ही पूंजीवाद एवं मध्यम वर्ग के विकास की प्र्यापत संभावनाएं भारतीय समाज में मौजूद थी लेकिन जाति व्यवस्था की कठोरता और अधिकारी–तंत्र की निरंकुशता से इनका विकास नहीं हो पाया।

औपनिवेशिक भारत में अंग्रेजों की आर्थिक और शैक्षिक नीतियों के फलस्वरूप मध्यम वर्ग का विकास हुआ तथा नगरीकरण एवं औद्योगीकरण ने इसमें उत्प्रेरक का काम किया।

बी. वी. मिश्रा ने भारतीय मध्यम वर्ग में मुख्य रूप से निम्न समूहों को रखा है[ccxiii]–

1. व्यापारीः– आधुनिक व्यापारी फर्मों के सक्रिय मालक और एजेंट।
2. वेतनभोगी कर्मचारीः– प्रबंधक, निरीक्षक, प्र्यवेक्षक, तकनीकी स्टाफ आदि।
3. व्यापारी संघों, राजनीतिक, समाजसेवी, सांस्कृतिक, शैक्षिक आदि निकायों के उच्च वेतनभोगी अधिकारी आदि।
4. अवैतनिक कर्मचारी
5. व्यावसायिक अर्थात् वकील, डॉक्टर, प्रोफेसर, पत्रकार, धर्माचार्य आदि।
6. सम्पन्न किसान
7. स्थापित दुकानदार, लेखाकार, प्रबंधक आदि
8. ग्रामीण उद्यमी, भू–संपदा के वेतनभोगी प्रबंधक
9. विश्वविद्यालय अथवा समाज स्तर पर पढ़ने वाले पूर्णकालिक विद्यार्थी
10. क्लर्क, सहायक और लिपिकीय कार्य करने वाले कर्मचारी
11. उच्च माध्यमिक स्कूलों के अध्यापक, राजनीतिक कार्यकर्ता

27.5 मध्यम वर्ग के प्रकार

मध्यम वर्ग के सदस्यों को व्यवसाय, आय, प्रतिष्ठा और सुविधाओं के आधार पर वर्गीकृत किया जा सकता है। वारनर ने मध्यम वर्ग के दो उपवर्ग बतलाए हैं। प्रथम, उच्च मध्यम वर्ग जिसमें डॉक्टर, वकील, प्राध्यापक को रखा जा

सकता है। द्वितीय, निम्न–मध्यम वर्ग इसमें सफेदपोश कर्मचारी, लिपिक आदि को रखा जा सकता है।

ऐतिहासिक दृष्टिकोण से मध्यम वर्ग को दो भागों में वर्गीकृत किया गया है:–

1. पुराना मध्यम वर्ग

पुराने मध्यम वर्ग में छोटे व्यापारी, दुकानदारों, ठेकेदारों, स्वतंत्र व्यवसायों, जैसे–डॉक्टर, वकील, चार्टड एकांउन्टेन्ट आदि को रखा जा सकता है। यह इस दृष्टि से पुराना है कि पूंजीवाद के जनमसे ही अस्तित्व में रहा तथा अब भी यह बढ़ रहा है और विकसित हो रहा है।[ccxiv]

2. नया मध्यम वर्ग

यह आधुनिक समय के पूंजीवादी और समाजवादी समाजों में प्रौद्योगिकी के विकास के साथ अस्तित्व में आया। इसमें प्रौद्योगिकीविदों, वैज्ञानिकों, प्रबंधकों, कम्प्यूटर इंजीनियरों को रखा जा सकता है। नये मध्यम वर्ग का विस्तार पिछले दो दशकों में बहुत तेजी से हुआ।[ccxv]

एक अन्य वर्गीकरण के आधार पर मध्यम वर्ग के तीन उपवर्ग हो सकते हैं[ccxvi]:–

1. **उच्च–मध्यम वर्ग**
2. **मध्यम–मध्यम वर्ग**
3. **निम्न–मध्यम वर्ग**

ऐसा माना जात है कि भारत में आर्थिक, राजनीतिक और सामाजिक परिवर्तन में इस वृहत् मध्यम वर्ग की बड़ी निर्णायक भूमिका रही है।

27.6 नवीन भारतीय सम्भ्रान्त वर्ग एवं मध्यम वर्ग का उदय

भारतीय समाज के समाजशास्त्रीय अध्ययन में सम्भ्रान्त (अभिजात्य) वर्ग एवं मध्यम वर्ग की भूमिका का अध्ययनक्षेत्र अत्यधिक महत्वपूर्ण माना जाता है। सम्भ्रान्त को परिभाषित करते हुए कहा जा सकता है कि उच्च अथवा सम्भ्रानत वर्ग किसी समाज–व्यवस्था में ऐसे लोगों का समूह अथवा वर्ग है जिन्हें अनेक सुविधाएँ प्राप्त होती हैं तथा समाज में जिन्हें प्रभुत्व का स्तर प्राप्त होता है। सम्भ्रान्त वर्ग का अस्तित्व भिन्न–भिन्न सामाजिक सन्दर्भों एवं विश्लेषण के विभिन्न स्तरों पर पाया जाता है: हम सत्ता पर अधिकार प्राप्त वर्ग को समग्र रूप से सम्भ्रान्त वर्ग का दर्जा दे सकते है, वहीं हम अत्यधिक शक्तिशाली समूहों को भी सम्भ्रान्त वर्ग के रूप में मान सकते हैं।

राजनैतिक दर्शन एवं समाजशास्त्र के अन्तर्गत सम्भ्रान्त वर्ग की अवधारणा का केन्द्रीय मानते हुए राजनैतिक एवं सामाजिक संगठन के सिद्धान्त निर्मित करने के अनेक प्रयास किए गए है। किसी समाज के सामाजिक एवं राजनैतिक क्षेत्र (Space) में सम्भ्रान्त वर्ग क्रियाशील होता है सम्भ्रान्त वर्ग पर किए जाने वाले किसी भी अध्ययन में इस सन्दर्भ में शोध किया जाता है कि इस वग्र में नये सदस्यों की भर्ती कैसे होती है, समान उद्देश्यों हेतु सम्भ्रान्त वर्ग किस हद तक एकता के सूत्र में बँध सकता है तथा भिन्न–भिन्न सम्भ्रान्त लोग किस प्रकार अपने प्रयासों को एकरूप देकर समान हितों का संवर्धन कर ससकते हैं। प्रतिनिधि लोकतंत्रों

(representative democracies) की राजनैतिक व्यवस्थाओं में अनके प्रकार के सम्भ्रान्त वर्गों में शक्ति का बंटवारा कर दिया जाता है, जो विशेष मुद्दों के सन्दर्भ में एक दूसरे से प्रतिस्पर्धा भी करते हैं, यद्यपि मौलिक मुद्दों के संदर्भ में, जैसे– यह प्रश्न कि असम्भ्रान्त वर्गों को प्रतिस्पर्धा में प्रवेश करने दिया जाय अथवा नहीं, आदि, वे एकजुट हो जाते हैं। समाजशास्त्री सी.राईट मिल्स कहते हैं कि सैनिक, आर्थिक एवं राजनैतिक संस्थाओं के शिखर पर शक्तिशाली सम्भ्रान्त वर्ग का प्रभुत्व होता है जो शक्ति के एक पद से दूसरे पद पर स्वतंत्रतापूर्वक चले जाते हैं तथा अन्य सामान्य संस्थाओं एवं पाश्रिक विशेषताओं यथा–शिक्षा, पारिवारिक संपर्क आदि का उपभोग करते हैं।

'मध्यम वर्ग' का अध्ययन करने पर हम पाते है कि यह सिद्धांत रूप में अर्थव्यवस्था, समाज एवं राजनीति के संगम पर पाया जाता है। किन्तु मार्क्सवाद के अनुसार 'वर्ग' एक अवधारणात्मक सिद्धांत है जिसके द्वारा समाज को विशिष्ट समूहों में बांटा जा सकता है। उनकी द्विवर्गीय व्यवस्था–बुर्जुआ अथवा पूँजीवादी वर्ग एवं सर्वहारा श्रमिक वर्ग आर्थिक एवं सामाजिक सिद्धांत में आदर्श स्थापित करने का एक महत्वपूर्ण साधन हो सकता है। किन्तु 'मध्यस्त' अथवा मध्यम वर्ग सबसे अधिक महत्वपूर्ण अध्रुवीकृत (non-polar) वर्ग रहा है। अतः मार्क्सवादी विचारधारा के अनुसार मध्यमवर्ग की मध्यमता का अर्थ मुख्यतः दोनों वर्गों की मार्क्सवादी द्विध्रुवीय योजना के संदर्भ में लिया जाता है।

एन्टोनियों ग्राम्सी ने मध्यम वर्ग एवं आधुनिक पूँजीवादी समाज में उसकी भूमिका के संदर्भ में लिया जाता है। एन्टोनियों ग्राम्सी ने मध्यम वर्ग एवं आधुनिक पूँजीवादी समाज में उसकी भूमिका के संदर्भ में रचनात्मक मार्क्सवादी विश्लेषण प्रस्तुत किया है।

मध्यम वर्ग पर डी.पी. मुखर्जी, (1948) तथा उसके बाद बी. बी. मिश्र (1961) व पवन वर्मा के अग्रणी अध्ययनों को भारत में मध्यम वर्ग पर किए गए अध्ययनों में सर्वोत्कृष्ट माना जा सकता है। किन्तु सत्य यह है कि भारत में दिन–प्रतिदिन प्रयोग किये जाने वाले शब्द 'मध्यम वर्ग' का अर्थ प्रतीकात्मक अधिक है तथा वास्तविक स्तर पर कम। जब हम भारत में सम्भ्रान्त वर्ग के निर्माण की प्रक्रिया एवं उनके क्रमिक विकास पर दृष्टि डालते है, तो नवीन मध्यम वर्ग (New Middle Class) हमारे समक्ष उभर कर सामने आता है।

किसी समाज की सम्भ्रांत संरचना (Elite Structure) केवल उसके आधारभूत मूल्यों को ही प्रस्तुत नहीं करती बल्कि यह भी स्पष्ट करती है कि ये मूल्य किसी समाज की शक्ति–संरचना एवं निर्णय करने की प्रक्रिया में किस सीमा तक ठोस भूमिका निभाते हैं। ''सम्भ्रान्त वर्ग जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में अपनी भूमिका द्वारा, जो या तो उन्हें प्रदत्त प्रदान की जाती है, जैसे कि एक पारम्परिक समाज में, अथवा अपने उत्कृष्ट कार्यों द्वारा उसे प्राप्त करते हैं। जो कि सापेक्ष रूप से आधुनिक समाज का एक सिद्धांत है, अपने विशिष्ट मूल्यों के स्तर का प्रतिनिधित्व करते है। जिस प्रकार से मूल्यात्मक परिणाम (valued outcomes) एवं संस्थाएँ अनेक प्रकार की हो सकती हैं, उसी प्रकार सम्भ्रान्त वर्ग भी भिन्न–भिन्न प्रकार के हो सकते है'' (योगेन्द्र सिंह, 1996)। पारम्परिक भारत में सम्भ्रांत वर्ग का सामाजिक ढाँचा परम्परा के केन्द्रीय मूल्यों– पदानुक्रम (hierarchy), समग्रतावाद (holism) एवं निरंतरता के सिद्धान्तों पर आधारित था। इस प्रकार की परम्परा में राजा एवं पुजारी की भूमिका सबसे महत्वपूर्ण थी। ये दोनों ही भूमिकाएँ जाति–व्यवस्था से जन्मी थीं जिसने सम्भ्रान्त वर्ग के ढाँचे को सांस्कृतिक एवं

नैतिक संदर्भ प्रदान किया। ये दोनों ही भूमिकाएँ ब्राह्मणों एवं क्षत्रियों द्वारा अंगीकार की गईं।

'मुस्लिम शासन' के प्रादुर्भाव के साथ ही ''सम्भ्रान्त वर्गीय ढाँचे का सामन्ती रूप और भी मजबूती हो गया।'' अपने हिन्दू सहभागियों के साथ–साथ मुस्लिम सामन्त शक्ति–प्रदर्शन करते रहे तथा काजी एवं मुफती के धार्मिक क्षेत्र का अस्तित्व हिन्दू धार्मिक क्षेत्र के साथ–साथ विद्यमान रहा। अतः मुस्लिम शासन ने सम्पूर्ण व्यवसाी परिवर्तित करने के बजाय मात्र सम्भ्रान्त वर्गीय व्यक्तियों अथवा विभागों को ही स्थानान्तरित किया। यह मात्र एक ही व्यवस्था के अन्तर्गत सम्भ्रान्त लोगों के एक वर्ग द्वारा दूसरे सम्भ्रान्त वर्ग का स्थान ले लेना है न कि सम्भ्रान्त वर्ग की संरचना अथवा प्राकार्यों में किसी प्रकार का अन्तर।

अंग्रेजी शासन के प्रादुर्भाव के साथ ही एक नवीन प्रकार का सम्भ्रान्त वर्ग उभर कर सामने आया। शिक्षा के धर्मनिरपेक्षीकरण (Secularization) की आवश्यकता महसूस की गई। साथ ही शिक्षा की एक नवीन व्यवस्था आरम्भ की गई जिसने भारतीय समाज के सभी वर्गो, चाहे वे किसी भी जाति, धर्म अथवा लिंग के क्यों न हों, को शिक्षा प्राप्त करने का अवसर दिया गया। ''इस नवीन शिक्षा व्यवस्था की विषय–सामग्री एवं संगठन प्रक्रिया उन्नीसवीं सदी के प्रारम्भिक वर्षों की पुरानी एवं पारम्परिक शिक्षा व्यवस्था से भिन्न थी। अन्य कारकों के साथ–साथइस नवीन शिक्षा–व्यवस्था ने भी एक नवीन बुद्धिजीवी वर्ग (intellectual class) को जन्म दिया। ज्ञान के संदर्भ में यह नवीन बुद्धिजीवी वर्ग प्राचीन बौद्धिक वर्ग से भिन्न था''(आई0पी0देसाई, 1965)। इस नवीन ज्ञान के दो पक्ष थे– औपचारिक (formal) एवं वास्तविक (substantive)। आई0पी0 देसाई का कहना है कि संसार को देखने का नजरिया अथवा वैज्ञानिक प्रवृत्ति ही औपचारिक पक्ष है। वास्तविक पक्ष के अन्तर्गत प्रौद्योगिकी, अर्थव्यवस्था, शासन व्यवस्था एवं समाज के संगठन से सम्बन्धित मान्यताएँ, मूल्य, दृष्टिकोण एवं विचार समाहित होते हैं। नवीन सम्भ्रान्त वर्ग ने, जो गाँवों से सम्बन्धित न होकर शहरी पृष्ठभूमि से सम्बन्धित है, पत्रकारिता, वकालत, अध्यापन, समाज–सेवा आदि कार्यों को व्यवसाय रूप में अपनाया । इस नवीन सम्भ्रान्त वर्ग ने, भारत में एक नवीन मध्यम वर्ग की रचना की एवं प्रशासना, न्यायपालिका एवं अध्यापन–व्यवसाय के विस्तार के फलस्वरूप विकसित अवस्था में आ गया। पश्चिमीकृत मध्यम वर्ग के विकास के साथ–साथ भारत में सम्भ्रान्त राजनेताओं के वर्ग का भी उदय हुआ। इसका जन्म उच्च जातियों के बीच उच्च शिक्षा के विस्तार के फलस्वरूप हुआ।

योगेन्द्र सिंह कहते हैं कि आरभिक बीसवीं शताब्दी का सम्भ्रान्त वर्ग एक सम्मिश्र समूह (composite group) के रूप में था। नवीन सम्भ्रान्त वर्ग ने अर्थव्यवस्था के आधुनिकीकरण, सामाजिक सुधार, समानतावाद की नीति, सामाजिक न्याय, सार्वभौमिक नागरिक अधिकार, जाति–निर्बलता के उन्मूलन तथा स्त्रियों एवं पिछड़ी वर्गों के कल्याण एवं समान अधिकारों की माँग उठाई। इस आह्वान ने एक ऐसी मूल्य व्यवस्था का निर्माण किया जो तार्किक रूप से पदानुक्रम, समग्रतावाद एवं निरन्तरवाद का अपने में समाहित करने वाले भारतीय मूल्यों से बहुत अधिक भिन्न थी। यह मूल्य व्यवस्था आधुनिक पश्चिमीकृत विश्वदृष्टि के बहुत समीप थी। किन्तु तब भी ऐसा देखने में आया कि ये सम्भ्रान्त वर्ग भारतीय परम्परा की ओर भी आकर्षित था तथा इसके अनिवार्य तत्वों का संरक्षण करना चाहता था सरंचनात्मक रूप से यह नवीन सम्भ्रान्त वर्ग मुख्यतः मध्यम वर्गीय था, इसने भिन्न–भिन्न प्रकार के व्यवसाय अपनाए थे तथा मुख्यतः नगरीय पृष्ठभूमि से सम्बन्धित था।

स्वतंत्रता के बाद भारत में एक नवीन सम्भ्रान्त वर्गीय ढाँचा उदित हुआ। सम्भ्रान्त वर्गीय ढाँचे में परिवर्तन के मुख्य बिन्दुओं की ओर संकेत करते हुए सिंह एक सुनियोजित कार्य–योजना प्रस्तुत करते हैं–

1. ग्रामीण क्षेत्रों के राजनैतिक शक्ति सम्पन्न सम्भ्रान्त वर्ग का बढ़ता प्रीााव तथा भिन्न–भिन्न व्यवसायों से सम्बन्धित सम्भ्रान्तों के प्रभाव में होने वाली कमी।

2. सम्भ्रान्त वर्गीय ढाँचे में आने वाला विशाल अन्तर तथा मध्यम वर्गीय लोगों की संख्या में दिन–प्रतिदिन होती वृद्धि

3. राजनैतिक–सांस्कृतिक विचारधाराओं से सम्बन्धित क्षेत्रीय तथा हितसमूह उन्मुख (regional and interest group oriented) उद्देश्यों पर अत्यधिक बल दिया जाना, एवं

4. सम्भ्रान्त वर्ग पर केवल उच्च जातियों के एकाधिकार की समाप्ति एवं उसका लोकतंत्रीकरण।

निर्णय करने की प्रक्रिया के उच्चतम स्तरों पर निर्णायकों के सामाजिक गठन (social composition) में भी महत्वपूर्ण परिवर्तन हुए। पिछड़े वर्गों, विशेष रूप से अनुसूचित जातियों एवं अन्य पिछड़े वर्गों, ने नौकरशाही एवं राजनीति के नेतृत्व में महत्वपूर्ण भूमिका निभानी प्रारम्भ कर दी। सतीश देशपाण्डे (2003) का कहना है कि स्वतंत्रता के पश्चात्उदित होने वाला मध्यम वर्ग मुख्यतः विकास शासन (development regime) का उत्पाद था। वैश्वीकरण की प्रक्रिया से लाभ उठाने वाला भी यही है।

मध्यम वर्ग, अर्थात् नवीन सम्भ्रान्त वर्ग, आज किसी भी तरह समरूपीय (homogenous) नहीं माना जा सकता। इसके अन्तर्गत विभिन्न जातियों, धार्मिक समुदायों एवं व्यवसायों के लोग आते हैं। इसका विस्तार नगरों से लेकर ग्रामीण क्षेत्रों तक है। यह उपभोक्तावाद के मकड़जाल में फँसा हुआ है। दिन–प्रतिदिन इसकी 'आवश्यकताएँ बढ़ती जा रही हैं तथा बाजार की शक्तियों इसका फायदा उठा रही हैं। यह वर्ग जल्दी से जल्दी अत्यधिक समृद्ध बनकर 'उच्च वर्गों' की कोटि में प्रवेश करना चाहता है। इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए वह कभ–कभी आसान लेकिन गतल तरीकों को भी अपनाने से नहीं चूकता। अपनी आकांक्षओं की पूर्ति के लिए यह इतना उतावला होता है कि इसके लिए वह अपराध व भ्रष्टाचारका सहारा लेने से भी नहीं हिचकिचाता। इस गतिशीलता के लिए नवीन आर्थिक नीति, वैश्वीकरण, एवं नवीन सूचना–प्रौद्योगिकी ने नए रास्ते खोल दिए हैं। उद्देश्य प्राप्ति के लिए यह वर्ग किसी भी प्रकार के समझौते करने से नहीं हिचकता। तीन–चार दशकों पूर्व तक भारतीय मध्यम वर्ग अपने कर्तव्यों के प्रति ईमानदार था तथा अपने सीमित साधन–युक्त जीवन में प्रसन्न रहने का प्रयास करते हुए सामाजिक परिवर्तन की धुरी के रूप में जाना जाता था। किन्तु आज ऐसी स्थिति नहीं है। आज का यथास्थितिवादी विरोधाभासी चरित्र रखने वाला, पश्चिमी रंग में रंगा मध्यम वर्ग अब सामाजिक परिवर्तन का वाहक नहीं माना जाता। यहाँ तक कि इसकी 'आधुनिकता' एवं 'पश्चिमीकरण' भी एक छलावा सा लगता है। आज का अवसरवादी, आत्म–केन्द्रित, भ्रष्ट एव उपभोक्तावादी मध्यम वर्ग सन् 1950 एवं 1960 के दशकों के माध्यमवर्ग से के दशकों के मध्यमवर्ग से बिल्कुल भिन्न है। न जाने इसके नैतिक मूल्य कहाँ गायब हो गए हैं। जाति एवं धर्म को घसीटकर राजनीति में लाने वाले राजनेता एवं राजनीतिक दल भी लोगों का ध्यान राष्ट्रनिर्माण के मुख्य मुद्दे से भटकाने के जिम्मेदार हैं। मध्यमवर्ग को

'अश्लील चरित्रहीन' बनाने के जिम्मेदार भी वही हैं। सम्भवतः यही कारण है कि भारतीय जनसंख्या का सबसे अधिक साम्प्रदायिक वर्ग नगरीय पृष्ठभूमि का शिक्षित मध्यम वर्ग ही है।

27.7 वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1. टी.बी. बॉटोमोर ने मध्यम वर्ग के अंतर्गत रखा है–

   क. उत्पादन साधनों के मालिक

   ख. सफेदपोश कर्मचारी और व्यावसायिक

   ग. औद्योगिक श्रमिक

   घ. कृषक वर्ग

2. वारनर ने मध्यम वर्ग के कितने उपभाग किये हैं–

   क. दो ख. चार

   ग. पांच घ. छह

3. पुस्तक 'दि इण्डियन मिडिल क्लासेजः देयर ग्रोथ इन मॉर्डन टाइम्स' के लेखक हैं–

   क. योगेन्द्र सिंह ख. बी0 बी0 मिश्र

   ग. श्यामाचरण दुबे घ. डी0 एन0 धनाग्रे

4. ऐतिहासिक दृष्टिकोण से मध्यम वर्ग को कितने भागों में वर्गीकृत किया गया है–

   क. दो ख. चार

   ग. पांच घ. छह

27.8 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. देसाई ए.आर. सोशियल बैकग्राउण्ड ऑफ इण्डियन नेशनेलिज्म, पापुलर प्रकाशन, मुम्बई, 1987
2. डेविस, के. एण्ड मूर, डब्ल्यू, सम प्रिंसिपल्स ऑफ स्ट्रेटिफिकेशन्स, अमेरिकन सोशियोलॉजीकल रिव्यू, वोल्यूम, 1945
3. घुरये, जी.एस. कास्ट, क्लास एण्ड आक्यूपेशन, पापुलर बुक डिपो, मुम्बई, 1961
4. गौरे, एम.एस. इसीग्रेनट्स एण्ड नेबरहुडःदि ऑस्पक्ट्स ऑफ लाइफ इन मैट्रोपोलीटन सीटी, टाटा इन्स्टीट्यूट ऑफ सोशियल साइन्स मुम्बई, 1970
5. मिश्रा, बीवी. दि इण्डियन मिडिलक्लासेस, देयर ग्रोथ इन मॉर्डन टाइम्स, ऑक्सफोर्ड, यूनिवर्सिटी प्रेस, दिल्ली, 1978
6. गोल्डन्स, ए. डब्ल्यू. द फ्यूचर ऑफ इंटलैक्चुअल्स एण्ड दि राइज ऑफ दि न्यू क्लास, मैकमिलन, लंदन, 0979

7. बाटोमोर, टी.बी. इलीट एण्ड सोसायटी, पैग्विन बुक्स, हारमोन्डसवर्थ, 1956

8. रामास्वामी, ई.ए. एण्ड रामास्वामी, यू: इण्डस्ट्री एण्ड लेबरः एन इण्ट्रोडक्शन, ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेसनई दिल्ली, 1981

9. राव, एम. एस. (संपादक): अरबन सोशियोलोजी इन इण्डिया, ओरियन्ट लोंगमन, नई दिल्ली, 1974

10. शर्मा के. एल.: सोशियल स्ट्रेटीफिकेशन इन इण्डिया, मनोहर प्रकाशन, नई दिल्ली, 1986

11. ट्यूमिन एम. एम. सोशियल स्ट्रेीिफिकेशन, दि फोर्म्स एण्ड फंकशन्स ऑफ इनइक्वेलिटी, प्रिंट्स हॉल, न्यूजर्सी, 1967

12. योगेन्द्र सिंह, सोशियल स्ट्रेटिफिकेशन एण्ड चेन्ज इन इण्डिया, मनोहर प्रकाशन, नई दिल्ली, 1974

13. राबर्ट लिण्ड एण्ड हेलन, मिडिल टाउन, हारकोर्ट ब्रेस, न्यूयार्क, 1929

14. वाइन्स, डब्ल्यू, लॉयडः यांकीसिटी, न्यूहैवन, कॉन, 1942

15. गीडिंग्स, एन्थोनी, सोशियोलोजी, पोलिटी प्रेस, कैम्ब्रिज, 1989

16. हरलम्बोस, एम. सोशियोलोजी, थीम्स एण्ड परस्पैक्टिव, आक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, न्यू दिल्ली, 1989

17. केतकर, एस. वी., हिस्ट्री ऑफ कास्ट इन इण्डिया, इथाका , न्यूयार्क, 1909

18. योगेश अटल, द वेन्जिंग फ्रंटीयर्स ऑफ कास्ट, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, 1968

19. डॉ0 हरिश्चन्द्र उप्रेती, डॉ रामेश्वर लाल सैनी, 'नगरीय समाजशास्त्र', राजस्थान हिंदी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर, 2003

[i] समाजिक स्तरीकरण, ईएसओ–04, इग्नू

[ii] डॉ0 हरिश्चन्द्र उप्रेती, डॉ रामेश्वर लाल सैनी, 'नगरीय समाजशास्त्र', राजस्थान हिंदी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर, 2003

[iii] समाजिक स्तरीकरण, ईएसओ–04, इग्नू

[iv] डॉ0 हरिश्चन्द्र उप्रेती, डॉ रामेश्वर लाल सैनी, 'नगरीय समाजशास्त्र', राजस्थान हिंदी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर, 2003

[v] वही

[vi] वही

[vii] वही

[viii] वही

[xi] वही

इकाई–28

नगरीय वर्ग संरचना–II : उद्यमी वर्ग

इकाई की रूपरेखा

28.1 उद्देश्य

28.2 प्रस्तावना

28.3 उद्यमी वर्ग

28.4 उद्यमी की महत्वपूर्ण विशेषताएँ

28.5 भारत में उद्यमी वर्ग

28.6 भारत के प्रमुख उद्यमी समुदाय

28.7 भारत में उद्यम विकास

28.8 वस्तुनिष्ठ प्रश्न

28.9 उत्तर

28.10 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

28.1 उद्देश्य

इस इकाई को अध्ययन के बाद आप–

1. उद्यमी वर्ग की अवधारणा के सम्बन्ध में जान पायेंगे।
2. उद्यमी वर्ग की विशेषताओं से परिचित होंगे।
3. भारत के उद्यमी वर्ग के बारे में जान पायेंगे।

28.2 प्रस्तावना

उद्यमी नगरीय औद्योगिक उत्पादन पद्वति के केन्द्रबिन्दु हैं जो औद्योगिक इकाई के मालिक ही नहीं प्रबंधक भी हैं। किसी भी समाज के आर्थिक विकास में उद्यमी वर्ग की महत्वपूर्ण भूमिका होती है। समाज के युवा वर्ग में उद्यमशीलता और आर्थिक विकास भी उतनी ही तेजी से होगा। अर्थात् उद्यमशीलता और आर्थिक विकास में सकरात्मक सम्बन्ध है। अर्थशास्त्रियों के शास्त्रीय सिद्वान्तों में विकास में उद्यमी को कोई विशेष महत्व नहीं दिया गया है परन्तु अमेरिकी अर्थशास्त्रियों का मानना है कि वहां बडे निगमों के विकास के लिए उद्यमशील प्रतिभा ही जिम्मेदार है।

28.3 उद्यमी वर्ग

पूंजीपति एवं उद्यमी में यहां इस आधार पर अन्तर किया जा सकता है कि पूंजीपति के पास केवल धन हेाता है, जबकि उद्यमी उत्पादन का प्रमुख अभिकर्ता है। इस प्रकार उद्यमी वह व्यक्ति है जो व्यापार स्थापित करता है, उसका प्रबन्धन करता है और उसके जोखिमों को अपनाता है। जैसा कि पूर्व में ही स्पष्ट किया जा चुका है, भारत में उद्यमी वर्ग का उदय ब्रिटिश काल में हुआ। अध्ययन की सुविधा के लिए इस उद्यमी वर्ग को भी दो भागों में विभाजित किया जा सकता है[ccxvii]–

(1) शास्त्रीय या खानदानी उद्यमी वर्ग

(2) नव उद्यमी वर्ग

(1) शास्त्रीय या खानदानी उद्यमी वर्ग (धनाढ्य वर्ग)

19वीं शताब्दी के उत्तरार्ध में सूती वस्त्र एवं लौह उद्योग की स्थापना के साथ इस वर्ग का उद्भव हुआ। इसमें पारसी समुदाय अग्रणी रहा। इसके बाद गुजरातियों और मारवाड़ियों की पहल से भारत के प्रथम उद्यमी वर्ग का जन्म हुआ। प्रारम्भिक काल में मारवाड़ी लोग साहूकार थे जो कालान्तर में उद्यमी बने। इस वर्ग में बिरला, डालमिया, बजाज, साराभाई, टाटा आदि व्यवसायिक घरानों को रखा जाता है। यह वह वर्ग है जिनका संरचनात्मक आधार औपनिवेशिक भारत में है तथा जो परम्पराओं से जुड़े हैं तथा जिनकी जीवन पद्धति का अपेक्षाकृत कम पश्चिमीकरण हुआ है।[ccxviii]

(2) नव उद्यमी वर्ग

नव उद्यमी वर्ग के समान नव धनाढ्य वर्ग की अवधारणा का प्रयोग सी. राइट मिल्स में अपनी पुस्तक ''द पावर इलीट'' में करते हुए कहा है कि बदलते हुए आर्थिक परिवेश में जिन्होंने धन अर्जन किया है उन्हें इस वर्ग में रखा जा सकता है। नव धनाढ्यों और शास्त्रिय धनाढ्यों के बीच स्पष्ट अन्तर किया जाता तो संभव नहीं है परन्तु पिछले चार दशकों में भारत में आए राजनीतिक, आर्थिक परिवर्तनों से जो पर्याप्त व्यावसायिक गतिशीलता आई है, व्यापार के क्षेत्रों में गर व्यापारिक जातियों का प्रवेश बढ़ा है और आधुनिक उद्यमवर्ती के सम्मिलित स्वरूप से व्यापारिक संभ्रान्त वर्ग या नव धनाढ्य वर्ग में जो आमूल–चूल परिवर्तन आए हैं, इन परिवर्तनों के परिणामस्वरूप भारत में नव उद्यमी वर्ग का उदय हुआ है इस वर्ग में अंबानी, कोठारी, के. नारायण आदि को रखा जा सकता है।

28.4 उद्यमी की महत्वपूर्ण विशेषताएँ

सृजनात्मक कार्य के लिए उद्यमी की अभिप्रेरणा आत्म–उपलब्धि के लिए उसकी उत्कट इच्छा–शक्ति पर निर्भर करती है। उद्यमी की कुछ महत्वपूर्ण विशेषताएँ निम्नलिखित हैं[ccxix]–

1. उपलब्धि के लिए अत्यधिक आवश्यकता
2. अर्जनशीलता
3. आत्मविश्वास और स्वतंत्र व्यक्तित्व

4. नम्र और परंपरा–विरोधी व्यक्तित्व
5. उत्साही और जोखिम उठाने की क्षमता (सुविचारित संयत जोखिम लेना)
6. प्रासंगिकता और व्यावहारिकता
7. सृजनशील और तकनीकी बुद्धि
8. अनुकूलनशीलता
9. प्रबंधकीय कुशलता और नेतृत्व के गुण
10. प्रशासनिक योग्यता
11. सही निर्णय करने की योग्यता
12. उच्च कोटि की उपलब्धि के लिए अभिप्रेरणा
13. प्रभावित करने की व्यक्तिगत क्षमता
14. कार्य के लिए दृढ़ प्रतिबद्धता

28.5 भारत में उद्यमी वर्ग

आधुनिक उद्योग की शुरूआत उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य से मानी जा सकती है। उस समय देश में जूट और सूती कपड़े की पहली मिलें स्थापित हुई थीं। बीसवीं शताब्दी के पहले पच्चीस वर्षों तक सूती कपड़ा, जूट और कोयले के उद्योग औद्योगिक क्षेत्रक के मुख्य अंग थे। अंग्रेज इनके प्रमुख उद्यमी थे। टाटा आयरन एंड स्टील वर्क्स 1911 में स्थापित किया गया। यह ब्रिटिश उद्यमवृत्ति के अंत की शुरूआत थी। इससे ब्रिटिश उद्यमवृत्ति ने हटना शुरू किया, जिससे देशी उद्यमवृत्ति को उभरने के लिए रास्ता खुला।[ccxx]

उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध के बाद के वर्षों में भारतीय उद्यमियों द्वारा शुरू किए गए उद्योग केवल सूती वस्त्र उद्योग तक सीमित थे। पहला सूती वस्त्र उद्योग पारसी समुदाय के एक सदस्य द्वारा 1854 में स्थापित किया गया था। वह उस समय का एक सफल सूती वस्त्र व्यापारी था।

द्वितीय विश्व युद्ध के दौरान भारत में औद्योगिक विकास तीव्र गति से हुआ। इसका कारण यह था कि समुद्री परिवहन में कमी होने से आयात में भी भारी कमी की गई। मांग की पूर्ति के लिए घरेलू उत्पादन बढ़ाना बहुत जरूरी हो गया। इस पर भी, उद्यमियों का प्रादुर्भाव अपेक्षाकृत कम ही रहा। विद्वानों ने इसका कारण ब्रिटिश नीति या भारतीय सामाजिक संरचना बताया है, जो उद्यमवृत्ति की प्रेरणा उत्पन्न करने में सहायक नहीं हुई। इसके अलावा, कुछ अन्य यथार्थ कारक भी निरोधात्मक भूमिका अदा कर रहे थे। जैसे लोगों की कम क्रय शक्ति के कारण मांग में कमी (क्योंकि उत्पादन के मुकाबले जनसंख्या तेजी से बढ़ रही थी), अकुशल श्रमिक, तकनीकी जानकारी का अभाव, और देशी मशीनरी की कमी आदि।

भारत में मुख्य रूप से तीन समुदायों अर्थात पारसियों, गुजरातियों और मारवाड़ियों की पहल से भारतीय उद्यमी वर्ग का आविर्भाव हुआ। व्यापार के क्षेत्र में प्रवेश करने वाला पहला समुदाय पारसी समुदाय था। पारसी ऐसा समुदाय है, जो हिन्दू जाति व्यवस्था के अंतर्गत नहीं आता है। हमने आपको पहले ही बताया है

कि भारत की जाति पर आधरित सामाजिक संरचना केवल सीमित व्यावसायिक गतिशिीलता की अनुमति देता है।

28.6 भारत के प्रमुख उद्यमी समुदाय

देश में प्रारंभिक उद्यम विकास का मुख्य लक्षण यह रहा है कि इसने वाणिज्यिक क्षेत्र में एवं विनिर्माण क्षेत्र में प्रवेश किया। पारसी, गुजराती और मारवाड़ी मूलतः व्यापारी थे। गुजराती पहला हिन्दू समुदाय था, जिसने पारसियों के बाद व्यापार के क्षेत्र में प्रवेश किया। वे परम्परागत व्यापारी जातियों के थे। 1911 से 1931 तक औद्योगिक क्षेत्र में पारसियों और गुजरातियों का वर्चस्व बना रहा। इस अवधि के बाद मारवाड़ी समुदाय की उद्यमवृत्ति में असाधारण वृद्धि हुई। मारवाड़ी औद्योगिक उद्यमियों के साहूकार थे। मारवाड़ी औद्योगिक घरानों में बिरला, गुग्गीलाल कमलापति, रूईया, अम्बालाल साराभाई, कस्तूरभाई और कुछ अन्य बहुत महत्वपूर्ण घराने थे।

भारतीय समाज की विशेषता यह है कि यह भिन्न–भिन्न जातियों और समुदायों का मिला–जुला रूप है, उनके अपने–अपने विशिष्ट सामाजिक और व्यावसायिक मानदंड है। इन्होंने देश में विकास की दिशा को प्रभावित किया। यह संभवतः इसलिए हुआ क्योंकि भारतीय उद्यमी वर्ग की संख्या सदस ही परंपरागत व्यापारी वर्ग से कमरही। देश में पर्याप्त व्यावसायिक गतिशीलता आई है। हाल ही के वर्षों में, व्रूापार के क्षेत्र में गैर व्यापार जाति का प्रवेश काफी बढ़ा है। फिर भी, पिछले तीन दशकों में सम्भ्रान्त व्यापारी वर्ग की परंपरागत सामाजिक संरचना में, विशेष रूप से आधुनिक उद्यमवृत्ति में सम्मिलित सामाजिक समूह के संबंध में और देश में उद्यमियों के व्यापार संबंधी कार्यकलाप के स्वरूप में आमलचूल विचलन हुआ है।

हाल ही के वर्षों में, भारत के उद्यमी वर्ग के सामाजिक–आर्थिक संघटन में उल्लेखनीय परिवर्तन हुआ है। पहले देश के औद्योगिक क्षेत्र में केवल बड़े मध्यम वर्ग का एकाधिकार था। स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद भारत सरकार ने योजनाबद्ध आर्थिक विकास का मार्ग अपनाया।

28.7 भारत में उद्यम विकास

योजनाबद्ध विकास के चार दशकों के बाद भी भारत अभी भी ऐसा देश है जहाँ ग्रामीण और लघु उद्योग की संख्या अधिक है। सरकार ने लघु उद्योग और व्यापार के विकास के प्रति अपनी बचनबद्धता दिखाई है। छोटे उद्योगों को प्रोत्साति करने तथा नया उद्यम वर्ग बनाने के लए औद्योगिक क्षेत्र स्थापित कए गए है। यह नया उद्यमी वर्ग अब उन्नत औजार और प्रौद्योगिकी का उपयोग कर रहा है। वे अपने आर्थिक लेन–देन के महत्वपूर्ण क्षेत्रों में अपने संघां के माध्यम से सरकारी सहायता प्राप्त करने के लिए असंगठित भी है। यह उल्लेखनीय है कि भारत भी अधिकांश औद्योगिक श्रमिक लघु उद्योग क्षेत्र में लगे हुए हैं और इन क्षेत्रों में कामगार–सहभागिता की प्रवृत्ति बढ़ रही है। फिर भी, उद्यमी वर्ग के आर्थिक हितों को बड़े मध्यम वर्ग के आर्थिक हितों के विरूद्व देखा जाना जरूरी नहीं है। भारतीय अर्थव्यवस्था के विकास की महत्वपूर्ण प्रक्रिया के रूप मे इसका विश्लेषण किया जाना चाहिए, जहां राज्य द्वारा वर्ग हितों को संरक्षण खुले रूप में दिया गया है। सबसे उल्लेखनीय बात यह है कि नया उद्यमी वर्ग पूरी तरह से परंपरागत व्यापारी जातियों से नहीं है। कई प्रौद्योगिकीविद्, शिक्षित युवक, उद्यमी महिलाएँ, चाहे वे

किसी भी जातीय पृष्ठभूमि की हों, इस उद्यमी वर्ग के अंग हैं। इसलिए हम श्रमिक वर्ग के आर्थिक हितों की तुलना में उनके आर्थिक हितों का विश्लेषण कर सकते हैं।

28.8 वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1. एक उद्यमी की विशेषता है –

   (क) उसके पास केवल पूंजी होती है

   (ख) वह केवल उत्पादन का अभिकर्ता होता है

   (ग) वह पूंजीपति तथा उत्पादन का अभिकर्ता होता है

   (घ) उसकी केवल राजनैतिक पहुंच होती है

2. आधुनिक उद्योगों की शुरूआत कब से मानी जाती है –

   (क) 18वीं शदी (ख) 19वीं शदी

   (ग) 20वीं शदी (घ) 21वीं शदी

3. 'टाटा–आयरन एण्ड स्टील वर्क्स' की स्थापना हुई थी –

   (क) 1908 मे (ख) 1911 में

   (ग) 1914 में (घ) 1920 में

4. भारत में पहला सूती वस्त्र उद्योग स्थापित करने वाला समूदाय था –

   (क) बंगाली (ख) सिख

   (ग) पासी (घ) ऑग्ल–भारतीय

28.9 उत्तर

1. ग
2. ख
3. ख
4. ग

28.10 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. देसाई ए.आर. सोशियल बैकग्राउण्ड ऑफ इण्डियन नेशनेलिज्म, पापुलर प्रकाशन, मुम्बई, 1987
2. डेविस, के. एण्ड मूर, डब्ल्यू, सम प्रिंसिपल्स ऑफ स्ट्रेटिफिकेशन्स, अमेरिकन सोशियोलॉजीकल रिव्यू, वोल्यूम, 1945

3. घुरये, जी.एस. कास्ट, क्लास एण्ड आक्यूपेशन, पापुलर बुक डिपो, मुम्बई, 1961

4. गौरे, एम.एस. इसीग्रेनट्स एण्ड नेबरहुडःदि ऑस्पक्ट्स ऑफ लाइफ इन मैट्रोपोलीटन सीटी, टाटा इन्स्टीट्यूट ऑफ सोशियल साइन्स मुम्बई, 1970

5. मिश्रा, बीवी. दि इण्डियन मिडिलक्लासेस, देयर ग्रोथ इन मॉर्डन टाइम्स, ऑक्सफोर्ड, यूनिवर्सिटी प्रेस, दिल्ली, 1978

6. गोल्डन्स, ए. डब्ल्यू. द फ्यूचर ऑफ इंटलैक्चुअल्स एण्ड दि राइज ऑफ दि न्यू क्लास, मैकमिलन, लंदन, 0979

7. बाटोमोर, टी.बी. इलीट एण्ड सोसायटी, पैग्विन बुक्स, हारमोन्डसवर्थ, 1956

8. रामास्वामी, ई.ए. एण्ड रामास्वामी, यूः इण्डस्ट्री एण्ड लेबरः एन इण्ट्रोडक्शन, ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेसनई दिल्ली, 1981

9. राव, एम. एस. (संपादक)ः अरबन सोशियोलोजी इन इण्डिया, ओरियन्ट लोंगमन, नई दिल्ली, 1974

10. शर्मा के. एल.ः सोशियल स्ट्रेटीफिकेशन इन इण्डिया, मनोहर प्रकाशन, नई दिल्ली, 1986

11. ट्यूमिन एम. एम. सोशियल स्ट्रेटीफिकेशन, दि फोर्म्स एण्ड फंकशन्स ऑफ इनइक्वेलिटी, प्रिंटिस हॉल, न्यूजर्सी, 1967

12. योगेन्द्र सिंह, सोशियल स्ट्रेटिफिकेशन एण्ड चेन्ज इन इण्डिया, मनोहर प्रकाशन, नई दिल्ली, 1974

13. राबर्ट लिण्ड एण्ड हेलन, मिडिल टाउन, हारकोर्ट ब्रेस, न्यूयार्क, 1929

14. वाइन्स, डब्ल्यू, लॉयडः यांकीसिटी, न्यूहैवन, कॉन, 1942

15. गीडिंग्स, एन्थोनी, सोशियोलोजी, पोलिटी प्रेस, कैम्ब्रिज, 1989

16. हरलम्बोस, एम. सोशियोलोजी, थीम्स एण्ड परस्पैक्टिव, आक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, न्यू दिल्ली, 1989

17. केतकर, एस. वी., हिस्ट्री ऑफ कास्ट इन इण्डिया, इथाका , न्यूयार्क, 1909

18. योगेश अटल, द वेन्जिंग फ्रंटीयर्स ऑफ कास्ट, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, 1968

19. डॉ0 हरिश्चन्द्र उप्रेती, डॉ रामेश्वर लाल सैनी, 'नगरीय समाजशास्त्र', राजस्थान हिंदी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर, 2003

[I] डॉ० हरिश्चन्द्र उप्रेती, डॉ रामेश्वर लाल सैनी, 'नगरीय समाजशास्त्र', राजस्थान हिंदी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर, 2003

[ii] वही

[iii] वही

[vi] भारतीय वर्ग संरचना, ईएसओ–04, इग्नू

इकाई–29

अभिजन और शक्ति की असमानता

इकाई की रूपरेखा

29.1 उद्देश्य

29.2 प्रस्तावना

29.3 अभिजन या अभिजात

29.4 अभिजातों के प्रकार

29.5 भारत में अभिजातों के प्रकार

29.6 वस्तुनिष्ठ प्रश्न

29.7 उत्तर

29.8 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

29.1 उद्देश्य

इस इकाई को अध्ययन के बाद आप–

1. अभिजन की अवधारणा से अवगत होंगे।
2. भारत में अभिजनों के प्रकार से परिचित होंगे।

29.2 प्रस्तावना

दुनिया के लगभग सभी राष्ट्रों में एक ऐसा वर्ग पाया जाता है जो अपने–अपने क्षेत्रों में सर्वोच्च स्थान रखता है, उस वर्ग को अभिजन या अभिजात कहा जाता है। वर्तमान सन्दर्भों में बिल गेट्स,मार्क जुकरबर्ग, वारेन बफेट, लक्ष्मी निवास मित्तल, मुकेश एवं अनिल अम्बानी, अजीम प्रेमजी आदि हैं। कई बार ये अभिजन घरानों के रूप में भी जाने जाते हैं। ऐसा नहीं है कि ये केवल उद्योग के ही क्षेत्र में पाए जातें हैं, बल्कि ये राजनीति, प्रशासन आदि क्षेत्रों में भी पाए जाते हैं। इनकी अपनी एक अलग जीवन शैली होती है तथा ये कई ऐसे काम करते हैं जिससे ये मीडिया की सुर्खियों में बने रहते हैं। समाज वैज्ञानिकों का मानना है कि नगरीय समाज में अभिजातों का एक अलग वर्ग है जिनकी अपनी विशिष्ट जीवन शैली है। नगरीय समाजों में अभिजनों के विभिन्न स्वरूप भी मौजूद हैं।

29.3 अभिजन या अभिजात

17वीं शताब्दी में अभिजात शब्द का प्रयोग श्रेष्ठ वस्तुओं के लिए किया जाता था। 19वीं शताब्दी के अन्त तक इस शब्द का प्रयोग सामाजिक, राजनीतिक

लोगों में व्यापक रूप में होने लगा। साधारण शब्दों में उस व्यक्ति को अभिजन कहा जाता है जो अपने क्षेत्र में श्रेष्ठ होता है, सर्वोत्तम होता है।

पैरीगेरियन्ट के अनुसार अभिजन वह अल्पसंख्यक समूह जो समाज के एक विशिष्ट क्षेत्र में प्रभावी भूमिका निभाता है। परेटों ने अभिजन की सरल परिभाषा करते हुए लिखा है कि अगर हम व्यक्तियों को उनकी गतिविधियों (धन्धे) के क्षेत्र में सूचकों के अंक दें तो जो व्यक्ति सर्वोत्तम अंक प्राप्त करते हैं उन्हें अभिजन कहा जाता है।[ccxxi]

नेडल ने इन्हें अपनी श्रेष्ठता से समाज के भाग्य निर्धारित करने वालों के रूप में देखा है, तो सी. राइट मिल्स अभिजनों में उन्हें सम्मिलित करते हैं जिन्हें वह सभी प्राप्त होता है जिसको एक व्यक्ति प्राप्त करना चाहता है। इन सभी परिभाषाओं के आधार पर अभिजनों में निम्नलिखित तत्वों को अलग किया जा सकता है:

(i) विशिष्टता :– शेष व्यक्तियों से अलग पहचान

(ii) लघुसमूह :– बहुत कम संख्या

(iii) निर्णायक क्षमता :– अपने क्षेत्र में निर्णय लेने वाले

(iv) सापेक्षता :– एक क्षेत्र में अभिजात तो दूसरे क्षेत्र में सामान्य

29.4 अभिजातों के प्रकार

सी. राइट मिल्स ने अपनी पुस्तक 'द पावर इलीट' में अमेरिका में तीन प्रकार के अभिजनों का स्पष्ट वर्णन किया है और कहा कि अमेरिकन समाज में सभी निर्णय कर्ता ये ही लोग होते हैं। ये तीन प्राकर के अभिजन है[ccxxii] :

(क) वृहद् आर्थिक संगठनों के अध्यक्ष

(ख) राजनीतिक नेता

(ग) उच्च सैनिक अधिकारी

इन तीनों के कार्य क्षेत्र अलग–अलग होते हुए भी ये आपस में सम्बन्धित हैं तथा एक दूसरे के हितों की पूर्ति में सहायता करते हैं।

टॉम बोटोमोर ने अपनी पुस्तक 'इलीट एवं सोसायटी' में अभिजनों के पाँच प्रकार बतलाए हैं। ये हैं :

(क) वंशानुगत अभिजात

(ख) मध्यम वर्गीय अभिजात

(ग) क्रान्तिकारी, बुद्धिजीवी अभिजात

(घ) औपनिवेशिक प्रशासक

(ड) विकासशील समाजों के राष्ट्रीय नेता

29.5 भारत में अभिजातों के प्रकार

भारतीय संदर्भ में योगेन्द्र सिंह ने अपनी पुस्तक 'सोशियालोजी ऑफ सोशियल स्ट्रेटीफिकेशन' (1977) में छः प्रकार के अभिजनों का वर्णन किया है[ccxxiii]–

1. परम्परागत अभिजात

वे जिनका उद्‌भव 18वीं एवं 19वीं शताब्दी में हुआ। इनका प्रभाव पूर्व ब्रिटिश भारत में रहा था और इनके व्यक्तित्व में परम्परा एवं करिश्मा का तत्व भी रहा है। इन अभिजनों को वर्ण व्यवस्था के साथ देखा गया है और ब्राह्मणों की करिश्माई भूमिका को महत्व दिया गया है। इन अभिजातों ने ब्रिटिश भारत तथा भारत के राजनीतिक एवं सांस्कृतिक आन्दोलनों में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। ब्राह्मणों के साथ ही भू–स्वामी, कुलीन एवं शिक्षित मध्यम वर्ग के लोग भी जो पाश्चात्य शिक्षा के कारण उभरे थे, भी इनके भाग बने। मैक्सवेबर एवं जे. एस. मिल भी ब्राह्मण अभिजातों की श्रेष्ठता को स्वीकारते हैं।

ब्राह्मणों के बाद दूसरा स्थान था– कुलीनों का। कुलीन तंत्र के इस मत का समर्थन चार्ल्स माइकॉफ, जॉन मेलकाम तथा हैनरी लॉरेन्स भी करते हैं। 1857 की क्रान्ति के बाद ब्रिटिश प्रशासकों ने इन्हें और ताकतवर बनाया।

19वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में शिक्षित मध्यम वर्गीय अभिजात अस्तित्व में आए जो सांस्कृतिक एवं वैचारिक रूप से पाश्चात्य थे, जिन्हें बाबुओं के नाम से ही जाना गया। मूलतः इस वर्ग की नींव चार्ल्स मैकाले ने भारतीय शिक्षा नीति के माध्यम से डाली।

वस्तुतः इस दृष्टिकोण में 16वीं शताब्दी विशेषकर, मुस्लिम शासन के मध्यकाल के उन कारकों की पूर्णतया उपेक्षा की गयी है, जिन्होंने 18वीं एवं 19वीं शताब्दी में अभिजनों के उद्‌भव के लिए संरचनात्मक पृष्ठभूमि तैयार की। इस काल में मुगल शसकों ने न्यायालयों में ब्राह्मणों के अलावा क्षत्रिय एवं कायस्थों को भी नियुक्ति किया था। अकबर ने मनसबदारी व्यवस्था की शुरूवात करते हुए राजपूतों, ब्राह्मणों, क्षत्रियों को मनसबदार नियुक्त किया। औरंगजेब ने मराठों को नियुक्ति किया। ये कम या अधिक मात्रा में अभिजात वर्ग का निर्माण करते थे।

2. नया अभिजात वर्ग

19वीं शताब्दी के नये अभिजात वर्ग के उदय को हम कोलकाता में देख सकते हैं। ब्रिटिश प्रशासकों की नयी भूमि–व्यवस्था नीति को लागू करने के लिए नये मध्यम वर्ग का विकास हुआ। नई नीति से परम्परागत भू–स्वामियों के हाथों से भूमि निकल कर नये धनिक वर्ग के हाथों में आ गयी। नये मध्यम वर्ग में छोटे व्यापारी, दलाल, कनिष्ठ प्रशासक, पैकर, गुमास्ता, मुंशी, बनिये एवं दीवान आदि लोग आये।

इस समय के नये लोगों को मुखर्जी ने दो भागों में विभाजित किया है– कुलीन या भद्रलोक एवं द्वितीय मध्य बिट्‌टों या ग्रहस्थ भद्रलोक। इनमें संचरण देखने को मिलता था। अभिजात भद्रलोक संभ्रात या कुलीन वर्ग में देवास, टैगोर, डे, घोष, मलिक आदि थे जो वासर से बाडी नामक

आवासीय व्यवस्था में रहने लगे थे। जबकि द्वितीय समूह बडे दुकानदार, छोटे व्यापारी, छोटे भू–स्वामी, सफेदपोश व्यवसाय, सरकार में कार्यरत कर्मचारी, प्राध्यापक, स्थानीय डॉक्टर, लेखक एवं पत्रकारों से मिलकर बना था।

इसी प्रकार की प्रवृत्ति मद्रास एवं मुम्बई में भी देखने को मिलती है, जहां नये अभिजात वर्ग का उदय हुआ जो अंग्रेज व्यापारियों के मध्यस्थों, वाणिज्यिक सट्टेबाजों, कनिष्ठ अधिकारियों आदि से मिलकर बना था।

नये अभिजात वर्ग के उदय के साथ ही उनमें विभेदीकरण की प्रक्रिया भी आरम्भ हो गयी और 20वीं शताब्दी के मध्य तक ये पूर्णतया विभेदीकृत हो गये । इन अभिजातों का स्रोत स्तरीकरण की व्यवस्था में पूर्णतया ऊंचे तबके से था।

इस स्तरीकरण का आधार चाहे वर्ग रहा हो या फिर जाति, नये अभिजात निश्चित रूप से उच्च वर्ग एवं उच्च जाती से थे। राजनीति, व्यापार, नौकरशाही, व्यावसायिक क्षेत्र, बौद्धिक क्षेत्र में अलग–अलग अभिजातों का विकास हुआ।

3. राजनीतिक अभिजात

भारत में नये राजनीतिक अभिजात वर्ग के उदय की प्रक्रिया भारतीय राष्ट्रवाद की भावना के विकास एवं राजनीतिक स्वतंत्रता आंदोलन के साथ जूड़ती है। 19वीं एवं 20वीं शताब्दी के पूर्वाद्ध में अभिजात चाहे किसी भी पृष्ठभूमि के हों, उनके कार्यक्षेत्र आपस में मिले हुए थे। इन्होंने राजनीतिक क्षेत्र में भी महत्वपूर्ण भूमिका निभायी। ऐसा माना जाता है कि भारत में विशुद्ध रूप से राजनीतिक अभिजातों का उदय स्वतंत्रता के बाद ही हुआ है।

संरचनात्मक रूप से यदि देखा जाए तो स्वतंत्रता पूर्व के अभिजात सामाजिक संस्तकरण के उच्चस्तर से थे चाहे उनकी विचारधारा अलग–अलग ही क्यों न रही हो। या वे अलग–अलग धर्म एवं सजातीय समूह के क्यों न हो। वे इस बात में भी समान थे ि कवे आधुनिकीकरण को अपना रहे थे।

भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस ने राजनीतिक अभिजातों के उदय में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। इस पार्टी में जो नये अभिजात थे वे मुख्यतः मध्यम वर्ग के शिक्षित नगरीय लोग थे।

कांग्रेस में ही नहीं अन्य दल जो कि उग्रवादी विचारधारा के थे, के अभिजात भी उच्च वर्ग एवं उच्च जातीय पृष्ठभूमि के थे। कम्युनिष्ट पार्टी के अधिकांश नेता अंग्रेजी शिक्षा प्राप्त कैम्ब्रिज, ऑक्सफोर्ड या लन्दन स्कूल ऑफ इकोनोमिक्स के स्त्रातक रहे। इस प्रकार की प्रवृत्ति, पं. पंगाल, केरल, आंध्रप्रदेश में ही नहीं बल्कि कम या अधिक मात्रा में सभी राज्यों में देखने को मिलती है।

इकबाल नारायण (1964) का भी यही निष्कर्ष है कि राजस्थान में राजनीतिक अभिजात वर्ग में पूर्व जागीरदारों, व्यापारियों और बड़े भू–स्वामियों का प्रभुत्व है।

4. व्यापारिक अभिजात

राजनीतिक अभिजातों की भांति ही व्यापारिक अभिजातों की संरचनात्मक निरन्तरता भी उच्चवर्ग से ही रही है। प्रथमतः ये परम्परागत व्यापारिक जातियों से थे जो लम्बा व्यावसायिक इतिहास रखते हैं तथा अपने आप को परम्परागत सामाजिक संरचना एवं ग्रामीण संरचना से जुड़ा हुआ मानते हैं। इनकी जीवन पद्धति का पश्चिमीकरण भी बहुत कम हुआ जबकि अन्य प्रकार के अभिजात न केवल विचारधारा या कौशल में ही परिष्कृत रहे बल्कि जीवनशैली भी आधुनिक रही छोटे व्यापारिक समूहों से औद्योगिक समूहों में गतिशीलता सामान्य घटना रही है।

भारत के स्वतंत्रता आंदोलन में व्यापारिक अभिजतों की भूमिका भूस्वामी वर्ग से अधिक राष्ट्रवादी रही। पं. आर. देसाई, पे.के. बागवी जैसे विचारकों का मानना है कि छोटे हितों को छोड़कर विस्तृत स्तर पर व्यापारिक अभिजातों एवं अंग्रेजों के आर्थिक हित टकराते थे और यही कारण था कि व्यापारिक अभिजात राष्ट्रीय आंदोलन से जुड़ गये।

इस ऐतिहासिक घटना के दो परिणाम रहे। प्रथम, व्यापारिक अभिजात एवं राजनीतिक अभिजात संबंधित हो गये एवं द्वितीय, औद्योगिक नीतियों के निर्धारण में इन अभिजातों की भूमिका बढ़ गयी। आर्थिक शक्ति कुछ ही व्यापारिक घरानों के पास केन्द्रित हो गयी जैसे टाटा, बिड़ला, डालमिया, बजाज आदि। इस प्रकार भारत में व्यापारिक अभिजात न केवल संरचनात्मक निरंतरता बनाये हुए हैं बल्कि आर्थिक शक्ति एवं सामाजिक क्षेत्र मे भी प्रभावी होते जा रहे हैं।

5. नौकरशाही एवं व्यावसायिक अभिजात

मैक्स वेबर अभिजातों के इस वर्ग को आधुनिक समाजों के शक्तिशाली वर्ग के रूप में मानते हैं। इनका विकास नौकरशाही के विकास से साथ जुड़ा है। योगेन्द्र सिंह ने नौकरशाहों और व्यावसायिक अभिजातों को एक ही श्रेणी में रखा है। योगेन्द्र सिंह ने इनकी कुछ विशेषता भी बताई है, जिनमें–

1. व्यावसायिक भूमिका निर्वहन के लिए कौशल प्राप्त करने हेतु निश्चित प्रशिक्षण प्राप्त करना होता है।
2. औपचारिक संगठनों में जटिल प्रकृति के दायित्वों का निर्वहन करते हैं।
3. सार्वभौमिक प्रकृति के मूल्यों के प्रति प्रतिबद्धता विशेषकर तार्किकता, वस्तुपरकता, प्रगतिवाद आदि है।
4. विशिष्ट भूमिका।
5. वैधानिक प्रक्रियाओं द्वारा कार्य–निर्वहन।

नौकरशाह उच्च जातियों, पुरूषों, तथा शहरी क्षेत्रों से आता रहा है। अध्ययनों में पाया गया कि यह 85 प्रतिशत उच्च जातियों से ही नहीं उच्च मध्यम वर्ग या मध्यम वर्ग से था।

प्रकार्यात्मक रूप से नौकरशाह सामाजिक व्यवस्था का एक नया अंग है जिसका विकास ईस्ट इण्डिया कंपनीऔर बाद में ब्रिटिश सरकार की औपनिवेशिक दुनिया को आवश्यकताओं की पूर्ति के कारण हुआ। 18वीं शताब्दी तक यू.के. में नौकरशाही का वर्तमान स्वरूप नहीं था। भारत में भी कम्पनी के पदाधिकारियों की नियुक्ति राजनीतिक एवं स्वामिभक्ति के आधार पर की जाती थी। 1861 में इण्डियन सिविल सर्विस एक्ट बना तथा नौकरशाही का ताकीकरण हुआ और उस समय सरकारी पदाधिकारी, अभिजन मुख्यतः समाज के उच्च वर्ग एवं विशेष अधिकार प्राप्त वर्ग से ही आते थे।

6. बुद्धिजीवी अभिजात

बुद्धिजीवी अभिजात की स्पष्ट परिभाषा किया जाना मुश्किल है। इस वर्ग में वे सभी व्यक्ति आ जाते हैं जो अपनी आजीविका स1जनात्मक मानसिक कार्यों से चलाते हैं। यहां सृजनात्मकता की भी कोई स्पष्ट परिभाषा नहीं है। यह सामानयतः वह छोटा समूह है जो प्रत्यक्ष रूप से विचारों के निर्माण, प्रसारण एवं आलोंचना में योगदान देते हैं। इनमें कलाकार, लेखक, वैानिक, दर्शनशास्त्री, धार्मिक विचारक, सामाजिक सिद्धान्त कारी अध्यापक, पत्रकार आदि सम्मिलित हैं। इनके अंलावा योगेन्द्र सिंह ने इनमें उच्च शिक्षित प्रशासकों, न्यायाधीशों और सांसदों, कलाकारों, जो पेन्गि व मूर्तिकला के क्षेत्र में हों, को भी रखा है।

भारत में बुद्धिजीवी अभिजातों के बारे में व्यवस्थित अध्ययन बहुत कम हुए हैं। एडवर्डशील, आई.पी. देसाई, डी.पी. मुकर्जी, बाटोमोर आदि ने इस क्षेत्र में उल्लेखनीय अध्ययन किये हैं। ए.आर. देसाई ने बुद्धिजीवी अभिजातों की प्रथम पंक्ति में उदारवादी चरण के राष्ट्रीय आन्दोलन की अगुवाई करने वालों, गोपाल कृष्ण गोखले, दादा भाई नौरोजी, एस. बनर्जी, एम.जी.रानाडे, फिरोजशाह मेहता को रखा है। आन्दोलन के दूसरे चरण में बालगंगाधर तिलक, बी.सी. पॉल, अरविंद घोष, लाला लाजपत राय जैसे अंग्रेजी के जानकार प्रबुद्ध वर्ग को रखा है। आंदोलन के अंतिम चरण में जिन बुद्धिजीवी अभिजातों ने नेतृत्व किया उनमें गांधी, सी.आर. दास, मोतीलाल नेहरू, विट्ठलभाई पटेल, सी. राजगोपालाचारी, राजेन्द्र प्रसाद, जवाहरलाल नेहरू, सुभाषचन्द्र बोस जैसे लोगों को रखा है।

29.6 वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1. अभिजनों में जिन तत्वों को अलग किया जा सकता है उनमें शामिल लक्षण नहीं है–

   क. विशिष्टता ख. लघुसमूह

   ग. निर्णायक क्षमता घ. निरपेक्षता

2. पुस्तक 'सोशियालोजी ऑफ सोशियल स्ट्रेटीफिकेशन' (1977) के लेखक हैं–

   क. श्यामाचरण दुबे ख. नेडल

   ग. योगेन्द्र सिंह घ. सी. राइट मिल्स

3. पुस्तक 'द पावर इलीट' के लेखक हैं–

   क. श्यामाचरण दुबे ख. नेडल

   ग. योगेन्द्र सिंह घ. सी. राइट मिल्स

4. टॉम बोटोमोर ने अपनी पुस्तक 'इलीट एवं सोसायटी' में अभिजनों के प्रकार बतलाए हैं–

   क. दो ख. चार

   ग. पांच घ. छह

29.7 उत्तर

1. घ
2. ग
3. घ
4. ग

29.8 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. देसाई ए.आर. सोशियल बैकग्राउण्ड ऑफ इण्डियन नेशनेलिज्म, पापुलर प्रकाशन, मुम्बई, 1987
2. डेविस, के. एण्ड मूर, डब्ल्यू, सम प्रिंसिपल्स ऑफ स्ट्रेटिफिकेशन्स, अमेरिकन सोशियोलॉजीकल रिव्यू, वोल्यूम, 1945
3. घुरये, जी.एस. कास्ट, क्लास एण्ड आक्यूपेशन, पापुलर बुक डिपो, मुम्बई, 1961
4. गौरे, एम.एस. इसीग्रेनट्स एण्ड नेबरहुडःदि ऑस्पक्ट्स ऑफ लाइफ इन मैट्रोपोलीटन सीटी, टाटा इन्स्टीट्यूट ऑफ सोशियल साइन्स मुम्बई, 1970
5. मिश्रा, बीवी. दि इण्डियन मिडिलक्लासेस, देयर ग्रोथ इन मॉर्डन टाइम्स, ऑक्सफोर्ड, यूनिवर्सिटी प्रेस, दिल्ली, 1978
6. गोल्डन्स, ए. डब्ल्यू. द फ्यूचर ऑफ इंटलैक्चुअल्स एण्ड दि राइज ऑफ दि न्यू क्लास, मैकमिलन, लंदन, 0979
7. बाटोमोर, टी.बी. इलीट एण्ड सोसायटी, पैग्विन बुक्स, हारमोन्डसवर्थ, 1956
8. रामास्वामी, ई.ए. एण्ड रामास्वामी, यूः इण्डस्ट्री एण्ड लेबरः एन इण्ट्रोडक्शन, ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेसनई दिल्ली, 1981
9. राव, एम. एस. (संपादक)ः अरबन सोशियोलोजी इन इण्डिया, ओरियन्ट लोंगमन, नई दिल्ली, 1974
10. शर्मा के. एल.ः सोशियल स्ट्रेटीफिकेशन इन इण्डिया, मनोहर प्रकाशन, नई दिल्ली, 1986

11. ट्यूमिन एम. एम. सोशियल स्ट्रेटिफिकेशन, दि फोर्म्स एण्ड फंकशन्स ऑफ इनइक्वेलिटी, प्रिंटि्स हॉल, न्यूजर्सी, 1967

12. योगेन्द्र सिंह, सोशियल स्ट्रेटिफिकेशन एण्ड चेन्ज इन इण्डिया, मनोहर प्रकाशन, नई दिल्ली, 1974

13. राबर्ट लिण्ड एण्ड हेलन, मिडिल टाउन, हारकोर्ट ब्रेस, न्यूयार्क, 1929

14. वाइन्स, डब्ल्यू, लॉयडः यांकीसिटी, न्यूहैवन, कॉन, 1942

15. गीउिंग्स, एन्थोनी, सोशियोलोजी, पोलिटी प्रेस, कैम्ब्रिज, 1989

16. हरलम्बोस, एम. सोशियोलोजी, थीम्स एण्ड परस्पैक्टिव, आक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, न्यू दिल्ली, 1989

17. केतकर, एस. वी., हिस्ट्री ऑफ कास्ट इन इण्डिया, इथाका , न्यूयार्क, 1909

18. योगेश अटल, द वेन्जिंग फ्रंटीयर्स ऑफ कास्ट, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, 1968

19. डॉ0 हरिश्चन्द्र उप्रेती, डॉ रामेश्वर लाल सैनी, 'नगरीय समाजशास्त्र', राजस्थान हिंदी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर, 2003

[i] डॉ० हरिश्चन्द्र उप्रेती, डॉ रामेश्वर लाल सैनी, 'नगरीय समाजशास्त्र', राजस्थान हिंदी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर, 2003

[ii] वही

[iii] वही

UGSY-04

सामाजिक स्तरीकरण

उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय,
प्रयागराज

खण्ड –7

शिक्षा, सामाजिक गतिशीलता और सामाजिक परिवर्तन

इकाई – 30 **389–402**

सामाजिक स्तरीकरण और शिक्षा

इकाई – 31 **403–422**

वर्गीय स्तरीकरण और सामाजिक गतिशीलता

इकाई – 32 **423–436**

सामाजिक स्तरीकरण और सामाजिक परिवर्तन

उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय

उत्तर प्रदेश प्रयागराज

परामर्श समिति

प्रो0 के0 एन0 सिंह (अध्यक्ष) — कुलपति, उ0प्र0 राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज

डॉ० ए० के० गुप्ता — कुलसचिव, उ0प्र0 राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज

सम्पादक

प्रो0 संजय सिंह (अध्यक्ष) — समाजशास्त्रए डॉ० राम मनोहर लोहिया राष्ट्रीय विधि, विश्वविद्यालय, लखनऊ

पाठ्यक्रम निर्माण समिति (अध्ययन बोर्ड)

1. डॉ० एम० एन० सिंह – पूर्व निदेशक, समाज विज्ञान विद्याशाखा, उ0प्र0 राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज
2. डॉ० इति तिवारी – पूर्व एसो० प्रोफेसर समाज विज्ञान विद्याशाखा, उ0प्र0 राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज
3. श्री रमेश चन्द्र यादव – शैक्षणिक परामर्शदाता, समाजशास्त्र, समाज विज्ञान विद्यशाखा, उ0प्र0 राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज

UGSY-04– समाजिक स्तरीकरण

लेखक–

1. डॉ० इति तिवारी – पूर्व एसो० प्रोफेसर समाज विज्ञान विद्याशाखा, उ0प्र0 राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज
2. श्री रमेश चन्द्र यादव – शैक्षणिक परामर्शदाता, समाजशास्त्र, समाज विज्ञान विद्याशाखा, उ0प्र0 राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज
3. डॉ० शैलजा सिंह एसो० – प्रोफेसर, डॉ० शकुन्तला मिश्रा राष्ट्रीय पुनर्वास विश्वविद्यालय, लखनऊ
4. डॉ० विजय कुमार वर्मा – असि० प्रोफेसर, डॉ० शकुन्तला मिश्रा राष्ट्रीय पुनर्वास विश्वविद्यालय, लखनऊ
5. डॉ० विलोक सिंह – असि० प्रोफेसर, स्वामी सहजानन्द पी०जी० कालेज, गाजीपुर (उ०प्र०)
6. श्री अजय कुमार त्रिपाठी – जे० एन० पी०जी० कालेज, लखनऊ
7. डॉ० जया द्विवेदी तिवारी – अवध गर्ल्स डिग्री कालेज, लखनऊ
8. डॉ० श्वेता तिवारी ए०पी० – सेन गर्ल्स मेमोरियल पी०जी० कालेज, लखनऊ
9. डॉ० मपीन्द्र कुमार तिवारी – डी०ए०वी० कालेज, लखनऊ

2020 (मुद्रित)

© उ0प्र0 प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज 2020

ISBN- 978-93-83328-41-3

सर्वाधिक सुरक्षित। इस सामग्री के किसी भी अंश को इंदिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय की लिखित अनुमति के बिना किसी भी रूप में, मिमियोग्राफी (वक्रमुद्रण) द्वारा या अन्यथा पुनः प्रस्तुत करने की अनुमति नहीं है।

उ0प्र0 राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज सर्वाधिकार सुरक्षित। इस पाठयसामग्री का कोई भी अंश उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, की लिखित अनुमति लिए बिना मिमियोग्राफ अथवा किसी अन्य साधन से पुनः प्रस्तुत करने की अनुमति नहीं है।

नोट : पाठय सामग्री में मुद्रित सामग्री के विचारों एवं आमड़ों आदि के प्रति विश्वविद्यालय, उत्तरदायी नहीं है।

प्रकाशन – उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन विश्वविद्यालय, प्रयागराज

प्रकाशक – कुलसचिव, डॉ. अरूण कुमार गुप्ता उ0प्र0 राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज – 211021

मुद्रक – चंद्रकला यूनिवर्सल प्राइवेट लिमिटेड, 42/7 जवाहरलाल नेहरू रोड, प्रयागराज

इकाई–30

सामाजिक स्तरीकरण और शिक्षा

इकाई की रूपरेखा

30.1 उद्देश्य

30.2 प्रस्तावना

30.3 ऐतिहासिक संदर्भ

30.4 जाति और शिक्षा का वर्णन

30.5 व्यवसाय और शिक्षा का वर्णन

30.6 आय और शिक्षा : विविध काल में

30.7 गतिशीलता, शिक्षा एवं सामाजिक बदलाव

30.8 सारांश

30.9 वस्तुनिष्ठ प्रश्न

30.10 वस्तुनिष्ठ प्रश्नों के उत्तर

30.1 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के बाद छात्र–

1. सामाजिक स्तरीकरण और शिक्षा के संबंध को समझ सकेंगे,
2. हम स्तरीकरण के ऐतिहासिक आयाम को समझ सकेंगे,
3. सामाजिक स्तरीकरण के विभिन्न तथ्यों, जैसे जाति, व्यवसाय और आय के अन्तर्गत आधुनिक भारत में शिक्षा के सम्बन्ध में चर्चा कर ज्ञान प्राप्त कर सकेंगे।

30.2 प्रस्तावना

सामाजिक स्तरीकरण सभी समाजों में पाया जाता है। इसका अर्थ होता है प्रासंगिक तौर पर स्थिर सामाजिक स्तरों में समाज का विभाजन। सामाजिक स्तरों को सामाजिक अस्तित्व, समाज के मूल्यों और नियमों के आधार पर ऊंची–नीची श्रेणी में रखा जाता है। कोई विशेष स्तर समाज के दूसरे स्तरों की तुलना में ऊंचा या नीचा, विशेष सुविधा प्राप्त या ऐसी सुविधाओं से वंचित, शासक या शासित हो सकता है। इस तरह, सामाजिक स्तरीकरण समाज के विभिन्न स्तरों के बीच संगठित असमानता के क्रमबद्ध रूप में नियमित होने की स्थिति है।

सामाजिक स्तरीकरण की व्यवस्था का नजदीकी संबंध समाज की शिक्षा व्यवस्था से होता हैं समाज के विभिन्न स्तरों के व्यक्तियों की क्षमता बहुत हद तक इस बात पर निर्भर करती है कि सामाजिक स्तरीकरण की व्यवस्था में उनकी स्थिति क्या है, अर्थात् सामाजिक स्तरीकरण की श्रेणीबद्ध व्यवस्था में वर्ग, स्थिति, व्यवसाय और आय के संदर्भ में उनकी क्या स्थिति है। इसके अलावा, सामाजिक स्थिति का मूल्यांकन आंशिक तौर पर व्यक्ति की शैक्षिक उपलब्धियों के आधार पर होता है। शिक्षा का प्रभाव व्यवसाय के चुनाव, आय की मात्रा और जीवन–शैली या रहन–सहन के ढंग पर पड़ता है। इसलिए, सामाजिक स्तरीकरण और शिक्षा के बीच अंतरक्रिया होती है।

भारत में, सामाजिक स्तरीकरण और शिक्षा के अध्ययन के तहत् विभिन्न स्तरों के व्यक्तियों के शिक्षित होने की क्षमता के सामाजिक निर्धारक तत्वों के मसले पर गौर किया जाता है। इन अध्ययनों से पता चलता है कि विभिन्न सामाजिक स्तरों की शैक्षिक स्थिति पर जाति, व्यवसाय और आय के क्षेत्रों में विद्यमान असमानता और अंतरों का बहुत अधिक प्रभाव पड़ता है। शुरूआती अध्ययनों में शिक्षा को सामाजिक बदलाव का एक बहुत महत्वपूर्ण साधन माना गया था, लेकिन बाद के अध्ययनों से यह संकेत मिलता है कि समाज को आकार देने या बनाने में शिक्षा की भूमिका बहुत सीमित है। वास्तव में, यह कहा जा सकताहै कि शिक्षा विद्यमान असमानताओं को व्यक्त और उनकी पुष्टि करने का काम अधिक करती है और उन्हें बदलने का काम कम।

इस इकाई में सामाजिक स्तरीकरण और शिक्षा पर चर्चा करने के लिए हम ऐतिहासिक पृष्ठभूमि से शुरूआत करेंगे जिसमें प्राचीन, मध्य और आधुनिक कालों को लिया जायेगा। फिर, हम भारत में सामाजिक स्तरीकरण के सबसे विशिष्ट लक्षण, अर्थात् जाति और शिक्षा पर चर्चा करेंगे। उसके बाद विभिन्न सामाजिक स्तरों के व्यवसाय और उनकी शैक्षिक स्थिति के संबंध पर विचार करेंगे। इसके बाद आय और शिक्षा के संबंध की चर्चा की जाएगी। इस पूरी चर्चा को दो कालों, अर्थात् उपनिवेश काल और स्वातंत्र्योत्तर (आजादी के बाद का) काल में बांटा गया है। अंत में, हम शिक्षा, गतिशीलता और सामाजिक बदलाव के बारे में अध्ययन करेंगे।

30.3 ऐतिहासिक संदर्भ

पारंपरिक समाजों में शिक्षा एक अलग और विशिष्ट ज्ञान वाली सामाजिक संस्था के रूप में विद्यमान नहीं थी। युवा लोग अपनी जिन्दगी के सबक सामाजिक समूह की प्रतिदिन की गतिविधियों में सीखते थे। ज्ञान और हुनर आमतौरपर अपने बड़ों की नकल करके अनौपचारिक तौर पर हासिल किये जाते थे, लेकिन, तुलनात्मक तौर पर अधिक जटिल पूर्व–औद्यौगिक और औद्योगिक समाजों में विशिष्ट शैक्षिक (विशेषीकृत) संस्थाओं का विकास हुआ। इसके अलावा, शिक्षा व्यवस्था में समाज के अंतरों और असमानताओं वाले संगठन की झलक मिलती थी।

प्राचीन और मध्य काल में वर्णन

भारत में, ऋग्वेद के काल (1500–1000 ई.पू.) का समाज आदिम, अर्ध–खानाबदोश और व्यापक तौर पर समानतावाला था और उसमें कोई स्तरीकरण नहीं था। इस काल की शैक्षिक उपलब्धि ऋग्वेद में संकलित है। जहां तक इस महान ग्रंथ की ऋचाओं का सवाल है, समाज के किसी भी वर्ग पर किसी तरह का

बंधन नहीं था। स्त्रियां भी धार्मिक और बौद्धिक कार्यों में हिस्सा लेती थी, लेकिन, धीरे–धीरे, भारतीय समाज और भी अधिक भिन्नताओं वाला और जटिल होता गया। व्यवसाय में भिन्नताएं और विशेषज्ञता आने के साथ–साथ, समाज वर्ण या जाति के आधार पर संगठित हो गया। अनेक सामाजिक समूह एक विशेष व्यवसाय का विशेषज्ञ हो गया। व्यवसाय विरासती हो गये और इस तरह विभिन्न स्थिर सामाजिक स्तर बन गये और उन्हें मजबूती मिली। सामाजिक श्रेणीबद्धता से ब्राह्मणों को सबसे ऊँची श्रेणी में रखा गया। उनके बाद क्रमशः क्षत्रियों, वैश्यों और शूद्रों का स्थान रहा, सबसे नीचे अछूतों को रखा गया। सामाजिक स्तरीकरण की इस चतुर्थवर्ण योजना में प्रत्येक जाति–समूह– अर्थात् वर्ण में विभिन्न उप–जातियों को मान्यता मिली।

समाज की वर्ण जाति योजना या व्यवस्था में, ब्राह्मण शिक्षा और पुरोहिती के विशेषज्ञ थे। शिक्षा टौलों और पाठशालाओं में दी जाती थी। सभी द्विज (दो बार जन्म लेने वाली) जातियों को शिक्षा पाने का अधिकार था। लेकिन शूद्र, अछूत और स्त्रियों पर यह पाबंदी थी कि वे बौद्धिक ज्ञान की शिक्षा नहीं ले सकते। विभिन्न कलाओं और दस्तकारियों की शिक्षा व्यक्ति को पीढ़ी–दर–पीढ़ी अपने परिवार और जाति में मिलती थी। इसके अलावा, ऊँची जातियों ने अपनी शिक्षा का माध्यम संस्कृत को बनाया। नीची जातियों को पाली और प्राकृतिक जैसी अन्य भाषाओं में संवाद करना होता था। इस तरह, व्यापक तौर पर प्राचीन भारतीयों की दो शिक्षा धाराएं थी, एक तो विशेष अधिकार प्राप्त जातियों और वर्गों के लिए और दूसरी विशेष अधिकारों से वंचित जनसाधारण के लिए।

मध्य काल में भी हमें भारत में एक समांतरशिक्षा व्यवस्था देखने को मिलती है। हिंदुओं की शिक्षा धाराएं (इस काल में) पहले जैसी ही रहीं। मुसलमानों ने इस्लाम का ज्ञान देने के लिए मकतबा और मदरसा जैसी अपनी अलग–अलग शिक्षा संस्थाएं स्थापित कर लीं। फारसी को शासक वर्ग के लिए शिक्षा के माध्यम के तौर पर अपनायागया। यह दरबारी भाषा थी, इसलिए शसकों की तरफ से इसे कहीं अधिक बढ़ावा मिला। इसके अलावा, कई और भाषाएं भी विकसतिहुई जो विशेष अधिकारों से वंचित जातियों और वर्गों के लिए पारंपरिक कलाओं और दस्ताकारियों का हुनर देने और संवाद करने का माध्यम बनीं।

आधुनिक काल में वर्णन

अंग्रेजों ने भारत में एक नयी शिक्षा व्यवथा की शुरूआत की। औपचारिक शिक्षा की पारंपरिक व्यवस्था व्यापक तौर पर धार्मिक और सामाजिक पाबंदियों वाली थी। लेकिन औपनिवेशिक शिक्षा व्यवस्था आधुनिक और धर्मनिरपेक्ष और सभी जाति, प्रजाति, संप्रदाय और लिंग के लिए थी। औपनिवेशिक शासकों को भारत में रोजमर्रा के प्रशासन, आर्थिक शोषण और राजनीतिक प्रभुत्व के लिए लोगों के एक नये वर्ग की आवश्यकता थी। यह उनके लिए फायदे की बात थी कि वे प्रशासन के निचले स्तरों में भर्ती के लिए भारत के मूल निवासियों को प्रशिक्षित करें। इसलिए उन्होंने नये स्कूल, कालेज और विशविद्यालयों की स्थापना की जिनका नाम अंग्रेजीराज के लिए वफादार पढ़े–लिखे भारतीय तैयार करना था। कुछ व्यक्तियों, धार्मिक मिशनरियों, जाति और धार्मिक संस्थाओं ने भी आधुनिक पद्धति की शिक्षा को बढ़ावा दिया। अंग्रेजी शासकों ने व्यवसाय के जो नये अवसर बनाये उनका इन आधुनिक शिक्षा संस्थाओं से निकले लोगों ने हैसियत, पैसा और ताकत पानेके लिए खूब दोहन किया।

बहरहाल, भारत में औपनिवेशिक राज के दौरान औपचारिक शिक्षा की एक समांतर व्यवस्था भी उभरी। भारतीय राजकुमारों, सरदारों और जागीरदारों के बेटों के लिए शिक्षा की श्रेणी सुविधाओं वाले अंग्रेजी माध्यम के अलग स्कूल और कालेज खाले गये ताकि वे अंग्रेजी राज के वफादार समर्थक बनें। मसलन, राजकुमार कालेज (1968), मेयो कालेज (1873), डाली कालेज (1898), जागीरदाास कालेज (1923), लारेंस स्कूल (1847), लवडेल (1858), सदूल स्कूल (1893) और सिंधिया स्कूल (1857)। विशेष अधिकार प्राप्त वर्ग के लिए जो अन्य प्रतिष्ठित तथाकथित पब्लिक स्कूल खोले गये उनके नाम हैं– दून स्कूल (1935), मार्डन स्कूल (1925), बिड़ला पब्लिक स्कूल (1944) और यावेंद्र पब्लिक स्कूल (1948)। ये तथाकथित पब्लिक स्कूल केवल औपचारिक तौर पर सबके लिए खुले थे। आजादी के बाद, भारत सरकार ने औद्योगिकरण और कृषि क्षेत्र को बढ़ावे के जरिये देश के तेज विकास का लक्ष्य बनाया। समाज के सबसे पिछड़े वर्ग अर्थात् अनुसूचित जातियों और अनुसूचित जन जातियों, की भलाई के लिए विशेष कदम उठाये गये। शिक्षा संस्थाओं में उनके लिए आरक्षण लागू किया और फीस माफी और वजीफों की व्यवस्था की गयी।

आजादी के बाद से शिक्षा के क्षेत्र में काफी प्रगति हुई है। साक्षरता की दर 1957 में 17 प्रतिशत से बढ़कर 1981 में 36 प्रतिशत हो गयी। शिक्षा के सभी स्तरों की शिक्षा संस्थाओं की गिनती में बढ़ोत्तरी हुई है। लेकिन कुल मिलाकर स्थिति इतनी सुखद नहीं है। निरक्षरों की कुल संख्या इन वर्षों में बढ़ी है। विश्व के निरक्षरों की आधी संख्या भारत में पायी जाती है। लड़कियां शिक्षा के क्षेत्र में अब भी लड़कों से पिछड़ी हैं। ग्रामीण लोग शिक्षा के सभी स्तरों पर शहरियों से बहुत पीछे हैं।

इसके अलावा, समांतर और असमान शिक्षा व्यवस्था आजादी के बाद भी बरकरार है। विशेष अधिकार प्राप्त, अमीर और शक्तिशाली वर्ग के बच्चे बढ़िया साज–समान वाले सशुल्क, अंग्रेजी माध्यम स्कूलों में पढ़ते हैं, जिससे वे ऊँची सामाजिक प्रस्थिति, शक्ति और बेहतर आय वाली बेहतर नौकरियां हासिल कर लेने में समर्थ होते हैं। वास्तव में, अंग्रेजी माध्यम के स्कूलों की संख्या में काफी बढ़ोत्तरी हुई है। इधर कुछ वर्षों से ऐसे स्कूल ग्रामीण क्षेत्रों में भी खोले जा रहे हैं जहां वे इस समाज के उन धनी वर्गों की आवश्यकताओं को पूरा करते हैं, जो आकर्षक नौकरी के अवसरों के फायदों को समझ गये हैं। इसके अलावा, सरकार ने पब्लिक स्कूलों की प्रणाली पर स्कूल खोलकर समांतर शिक्षा व्यवस्था को मजबूत कर दिया है, ऐसे कुछ स्कूल हैं– सैनिक स्कूल, केन्द्रीय विद्यालयऔर हाल में खुले नवोदय विद्यालय।

इन तथाकथित पब्लिक स्कूलों और सरकारी कुलीन स्कूलों से निकले विद्यार्थी कुलीन महाविद्यालयों, विश्वविद्यालयों और इंडियन इन्स्टीट्यूट ऑफ टेक्नोलाजी, इंडियन इंस्टीट्यूट आफ मैनेजमेंट और मेडिकल कालेजों जैसी चोटी की संस्थाओं में भर्ती का सबसे बड़ा हिस्सा हथिया लेते हैं। इसके अलावा, विशेष अधिकार प्राप्त वर्ग के अयोग्य बच्चों को हजारों और लाखों की कैपिटेशन शुल्क को देकर इंजीनियरिंग, मेडीसन और प्रबंधन की निजी संस्थानों में दाखिला मिल जाता है, लेकिन गरीब और पिछड़े वर्गों के बच्चे घटिया साज–सामान वाले सरकारी प्रबंध के स्कूलों में क्षेत्रीय भाषाओं के माध्यम से पढ़ते हैं। इन स्कूलों से निकले अधिकतर विद्यार्थी ऊँची कक्षाओं में जाते–जाते पढ़ना छोड़ देते हैं उन्हें कम आय और नीची हैसियत की नौकरियां मिलती हैं। शिक्षा आयोग (1964–66) से सही टिप्पणी दी है : फिर स्वयं शिक्षा में पृथक्करणहोता है–अल्पसंख्यक निजी

सशुल्क, बेहतर स्कूल तो ऊँचे वर्गों की आवश्कताओं को पूरा करते हैं और अधिकांश संस्था में मुफ्त, सरकारी प्रबंध वाले लेकिन घटिया स्कूलों का उपयोग बाकी करते हैं। इससे भी खराब बात यह है कि पृथक्करण बढ़ रहा है और जनसाधारण के बीच की खाई को और चौड़ा कर रहा है।

30.4 जाति और शिक्षा का वर्णन

भारत में जाति व्यवस्था की सामाजिक संस्था पुरानी है। सामाजिक जीवन के एक बड़े क्षेत्र पर अब भी इसका प्रभाव है, हालांकि आधुनिक काल में इसकी कुल पकड़ ढीली हुई है। जाति व्यवस्था के श्रेणीबद्ध, असमानतावादी और रूढ़ ढांचे के प्रतिबिम्ब को शिक्षा के क्षेत्र में देखा जा सकता है। पारंपरिक अवस्था में ब्राह्मण ग्रंथों ने शूद्र और अछूत जैसे निचले वर्गों के संस्कृत के अध्ययन पर पाबंदी लगायी हुई थी। इस तरह, उनके लिए शिक्षा देने वाले, टोलों, पाठशालाओं और मंदिरों के दरवाजे बंद थे। निचली जातियों को अपनी आजीविका कमाने के लिए अपने पारंपरिक व्यवसायों को ही अपनाना पड़ता था और ऊँची, धनी और विशेष अधिकार प्राप्त जातियों की सेवा करनी पड़ती थी। अंतर्जातीय विवाह और अंतर्जातीय खान–पान पर अब भी काफी हद तक पाबंदी है। पारंपरिक अवस्था में जातियों के बंटवारे और नीची जातियों की निम्न सामाजिक और कर्मकांडी स्थिति ने उनके लिए नकारात्मक मनोवैज्ञानिक परिणाम बनाये।

उपनिवेश काल में वर्णन

भारत में अंग्रेजी राज्य के दौरान शिक्षा को सभी के लिए मुफ्त रखा गया था, चाहे उनकी जाति, पंथ, धर्म, प्रजाति या लिंग कोई भी हो। लेकिन यह मुक्तता मुख्य तौर पर सैद्धांतिक थी। ऊँची जातियों के पास बेहतर आर्थिक स्थिति और ज्ञान की परंपरा थी। इसलिए नौकरी के नये अवसरों को वे हथिया लेते थे। नीची जाति के लोग शिक्षा के सभी स्तरों पर काफी पीछे थे। इसलिए, उन्हें व्यवसाय के नये अवसरों के उचित लाभ नहीं मिल पाते थे। जाति परआधारित स्तरीकरण का प्रभाव भारत में औपनिवेशिक राज के दौरान की शिक्षा पर स्पष्ट दिखायी देता है। समाज में विभिन्न जातियों के बीच शिक्षा का अत्यधिक असमान वितरण था।

हमें यह देखने को मिलता है कि जाति की श्रेणीबद्धता में सबसे ऊँची श्रेणी पर रखे जाने के कारण ब्राह्मणों का सभी स्तरों पर शिक्षा के दाखिलों में सामान्य से अधिक प्रतिनिधित्व है। हालांकि 1881 में बम्बई प्रेसीडेंसी की कुल आबादी में उनका प्रतिशत छह था, फिर भी छात्रों के दाखिले में उनका अनुपात प्रारम्भिक या प्राइमरी स्तरपर लगभग 37 प्रतिशत, हाई और मिडिल स्कूल स्तर पर 51 प्रतिशत और कालेज स्तर पर 66 प्रतिशत था। दूसरी ओर, ''अन्य सभी'' की श्रेणी में रखे गये खेतिहर, दस्तकार और निचली जातियों के छात्रों का अनुपात प्राइमरी, सेकेंडरी और कालेज स्तरों पर क्रमशः 35, 16 और 6 प्रतिशत था। यह देखते हुए कि प्रेसीडंसी की कुल आबादी में उनका प्रतिशत 75 था, शिक्षा के सभी स्तरों पर उनका प्रतिनिधित्व बहुत ही कम है। इसे अलावा, नीचे से ऊँचे स्तर की शिक्षा की ओर बढ़ते हुए भी उनके अनुपात में भारी गिरावट मिलती है। क्षत्रिय, मुंशी और व्यावसायिक जातियों के छात्रों का अनुपात इन दो चरम समूहों के बीच रहता है। अनिल सील ने दूसरी प्रेसीडंसियों में भी ऐसी ही शैक्षिक स्थिति देखी है। बंगाल प्रेसीडेंसी में, कुल हिन्दू आबादी के केवल लगभग 10 प्रतिशत वाले ब्राह्मण और कायस्थों ने (1881 की जनगणना के अनुसार) 1883–84 में कालेज, हाईस्कूल और निम्न प्राइमरी स्कूल के स्तरों पर 84.7, 73.4 और 34.5 प्रतिशत सीटें हथिया रखे

थे। मद्रास प्रेसीडेंसी में, ब्राह्मण छात्रों का प्रतिशत कालेजों में 74.6, सेकेंडरी स्कूलों में 45.5 और प्राइमरी स्कूल स्तर पर 14.4 था। लेकिन शूद्र जाति के छात्रों का प्रतिशत कालेज स्तर पर 21.7 सेकेंडरी स्कूल के स्तर पर 45.8 और प्राइमरी स्कूल के स्तर पर 68.4 था। वैश्य जाति के छात्रों के कालेज, सेकेंडरी स्कूल और प्राइमरी स्कूल के स्तरों पर क्रमशः अनुपात 3.2, 5.6 और 10 प्रतिशत था।

स्वातंत्र्योत्तर काल में उल्लेख

भारत में आजादी के बाद विकास का जो मार्ग अपनाया गया उसने जाति व्यवस्था और शिक्षा के संबंध को कमजोर किया है। पिछड़े वर्ग के उत्थान के लिए जो विशेष उपाय किये गये हैं उन्होंने इन्हें योग्य बना दिया है कि वे शिक्षा के बढ़ते अवसरों का कुछ लाभ उठा सकें। फिर भी, व्यक्ति की शैक्षिक उपलब्धियों पर जाति का अब भी काफी प्रभाव पड़ता है। शिक्षा आयोग (1964–68) के आकलन के अनुसार :

भारतीय समाज श्रेणीबद्ध, स्तरीकृत और उर्ध्वाधर गतिशीलता में अक्षम है। विभिन्न वर्गों विशेष तौर पर धनी और निर्धन के बीच सामाजिक दूरी काफी अधिक है, जो और भी अधिक होती जा रही है और यह तस्वीरऔर भी पेचीदा हो जाती है जाति के कारण, जो एक अलोकतांत्रिक संस्था है जो अब भी शक्तिशाली है और जिसमें लगता है, उसने अपना प्रभाव क्षेत्र संविधान की ही लोकतांत्रिक प्रक्रिया के तहत बढ़ा लिया है।

शिक्षा के सभी स्तरों तक विभिन्न जाति स्तरों की पहुंच असमान है। ऊँची जातियां कुल आबादी में अनुपात में कम होते हुए भी सामान्य शिक्षा में दाखिलों का एक बड़ा हिस्सा हथिया लेती है और तकनीकी और व्यावसायिक शिक्षा में तो ऐसा और भी ज्यादा होता है। अध्यापन के व्यवसाय में ऊँची जातियों का वर्चस्व है। चुनिंदा राज्यों के अपने अध्ययन में, देखा कि सभी स्तरों पर शिक्षा तक पहुंच के मामले में विभिन्न जाति स्तरों के बीच भारी असमानता व्याप्त है। मिडिल स्कूल के स्तर पर हरिजनों (अनुसूचित जातियों), मध्यम जातियों और ऊँची जातियों का अनुपात 5, 8 और 18 प्रतिशत है।

बड़ौदा के कालेजों और विश्वविद्यालयों के अपने अध्ययन में, बी.वी. शाह को ऊँची जातियों के छात्रों की बहुलता देखने को मिली। उन्होंने पाया कि ब्राह्मण, बनिया और पाटीदारों समेत ऊँची जातियों ने इंजीनियरिंग और डाक्टरी जैसी उच्च शिक्षा के क्षेत्रों में कुल स्थानों में से 88 प्रतिशत हथिया रखे थे। मध्यम और नीची जातियों का अनुपात क्रमशः 5 और 6 प्रतिशत था। अनुसूचित जातियों की हालत और भी बदतर थी इसके अतिरिक्त इलाहाबाद के छात्रों के अपने अध्ययन में जे. डी. बोना ने पाया कि ब्राह्मणों ने 42 प्रतिशत स्थान हथिया रखे थे और उनके बाद कायस्थों और क्षत्रियों की संख्या थी। कुल मिलाकर उनके पास कुल 81 प्रतिशत स्थान थे। पुणे और अलीगढ़ के कालेज स्तर के छात्रों के अध्ययन में ऊँची जातियों के छात्रों का ही बोलबाला देखने को मिलता है।

सरकार द्वारा कई कल्याणकारी उपाय किए जाने के बाद भी पिछड़ी जातियां शिक्षा के क्षेत्र में ऊँची जातियों से पीछे ही बनी हुई है। तकनीकी और व्यावसायिक शिक्षा जैसी उच्च शिक्षा के क्षेत्र में भी यही हालत है। भारत के 13 राज्यों के अनुसूचित जाति के छात्रों के अध्ययन में, सुमा चिटनिस ने देखा कि जहां तक पंजीकरण या दाखिले का सवाह है, अनुसूचित जातियों के छात्र हर स्तर पर सामान्य छात्रों से पिछड़े हुए थे। वे प्राइमरी स्तर पर 7 राज्यों में, मध्यम स्तर पर 9 राज्यों में, हाईस्कूल स्तर पर 10 राज्यों में और विश्वविद्यालय स्तर पर 12

राज्यों में पीछे थे। इसके अलावा, यह भी देखा गया कि जैसे–जैसे शिक्षा का स्तर बढ़ता गया, वैसे–वैसे उनके दाखिले का अनुपात कम होता गया। चिटनिस ने यह भी पाया कि मुम्बई में अनुसूचित जातियों के छात्रों के दाखिले अधिकतर कम प्रतिष्ठित, गैर कुलीन और गुणात्मक तौर पर घटिया संस्थाओं में हुए।

इसके अलावा यह भी देखा गया है कि अध्यापन के व्यवसाय में नीची जातियों का प्रतिनिधित्व बहुत कम है। 8 राज्यों से इकट्ठा किए गए आंकड़ों पर आधारित अखिल भारतीय रपट के अनुसार ऊँची जातियां पुरुष और महिला प्राइमरी अध्यापकों में सबसे बड़े जाति समूह के रूप में सामने आती है। यह रपट 1966–67 में एम.एस. गोरे, आई.पी. देसाई और चिटनिस ने तैयार की थी। ऊँची जातियों में पुरुष अध्यापकों का प्रतिशत 55 और 85 के बीच था। ऊँची जातियों की महिला अध्यापकों का प्रतिशत 70 और 95 के बीच था। माध्यमिक स्तर पर, प्राइमरी स्तर की तुलना में पुरुष और महिला अध्यापकों के प्रतिशत में बढ़ोत्तरी पायी गयी। दूसरी ओर, माध्यमिक स्तरपर अनुसूचित जातियों और अन्य पिछड़ी जातियों के अध्यापकों के प्रतिशत में गिरावट पायी गयी। राजस्थान विश्वविद्यालय के अध्यापकों के अपने अध्ययन में योगेन्द्र सिंह ने पाया कि इस व्यवसाय में ऊँची जातियों का बोलबाला था। ऊँची जातियों के अध्यापकों का प्रतिशत 80 से भी ऊपर था। केवल 0.4 प्रतिशत अध्यापक नीची जातियों के थे।

30.5 व्यवसाय और शिक्षा का वर्णन

भारत में अंग्रेजी राज के दौरान व्यवसाय के ढांचे में एक बड़ा बदलाव हुआ है। जाति के आधार पर निर्धारित पारंपरिक व्यवसाय औपनिवेशिक प्रशासन के लिए उपयुक्त नहीं थे। अंग्रेज शासकों को प्रशासन के निचले स्तरों पर काम करने के लिए कम लागत वाले स्वदेशी (भारतीय) चाहिए थे।

उपनिवेश काल

प्रशासन की नई आवश्यकताओं ने एक नयी शिक्षा व्यवस्था को जन्म दिया जिसे अंग्रेजों के लिए वफादार नौकर पैदा करने के अनुकूल बनाया गया। ज्ञान की परंपरा रखने वाले ऊँची जाति और वर्ग के लोगों ने नयी शिक्षा हासिल की और उन्हें नयी नौकरियां मिल गयी। नये व्यावसायिक स्तरों का विकास हुआ, विशेष तौरपर, निजी व्यवसाय और वाणिज्य, व्यापार और उद्यम और सरकार के अधिशासी स्तर के काम और मुख्य तौर पर इन्हीं व्यावसायिक स्तरों और बड़े जागीरदारों के बच्चे (छात्रों) ने नयी शिक्षा के अवसरों को हथियाया। आबादी के बहुसंख्यक मजदूर और किसान अपने सामाजिक–आर्थिक पिछड़ेपन के कारण पीछे छूट गये।

विभिन्न औपनिवेशिक प्रेसीडेंसियों से उपलब्ध आंकड़ों से पता चलता है कि शिक्षा तक पहुंच के मामले में नये व्यावसायिक स्तरों के व्यक्तियों और समाज के पिछड़े वर्ग के बीच बड़ी खाई थी। बम्बई प्रेसीडेंसी में कुल स्थानों में से 30 प्रतिशत स्थान, 1877–78 में, सरकारी नौकरी वाली पृष्ठभूमि के छात्रों ने घेरे। जिन छात्रों के माता–पिता निजी क्लर्क, व्यवसाय, पुरोहित और वाणिज्य की पृष्ठभूमि वाले थे उनका 44 प्रतिशत स्थानों पर कब्जा था। खेतिहर और पारंपरिक कलाओं और दस्तकारियों वाली पृष्ठभूमि के व्यक्तियों को केवल 27 प्रतिशत के आस–पास स्थान मिले जबक कुछ आबादी में उनका प्रतिशत लगभग 80 था। किसानों और मजदूरों का प्रतिनिधित्व इतना कम था कि वे एक अलग वर्ग के रूप में उल्लेख किये जाने के काबिल भी नहीं थे।

इसके अलावा, मद्रास प्रेसीडेंसी में काश्तकारों के हिस्से में स्कूलों और कालेजों के सबसे अधिक स्थान थे। 1883–84 में, माध्यमिक स्कूलों और कालेजों में कुल दाखिलों में उनका प्रतिशत क्रमशः 30 और 38 था। माध्यमिक स्कूलों और कालेजों में अधिकारी स्तर के माता–पिता वाले छात्र क्रमशः 18 और 29 प्रतिशत थे। छोटे स्तर के कर्मचारियों और व्यापारियों के बच्चे माध्यमिक स्कूलों में 31 प्रतिशत और कालेज स्तर पर 19 प्रतिशत थे। इस मामले में भी आबादी में बहुत संख्या वाले किसानों और मजदूरों का उल्लेख एक अलग वर्ग के रूप में नहीं हुआ है। यह भी देखा गया है कि काश्तकारों और अधिकारियों जैसे विशेष अधिकार प्राप्त व्यावसायिक वर्गों के आने वाले छात्रों का अनुपात स्कूल से कालेज स्तर तक बढ़ता गया, लेकिन तुलनात्मक तौर पर निम्न व्यावसायिक वर्गों के छात्रों के अनुपात में गिरावट आयी।

स्वातंत्र्योत्तर काल में वर्णन

आजादी के बाद शिक्षा के प्रसार के फायदे अधिकतर सेवाओं, व्यवसायों, व्यापार और जमींदार वर्ग के लोगों ने लिये। तकनीकी और व्यावसायिक शिक्षा के क्षेत्र में स्थिति और भी अन्यायपूर्ण और असमानतावादी है। सेवाओं, व्यवसायों और व्यापारिक स्तरों के लोगों का इस क्षेत्र पर एकाधिकार है।

सेवा (नौकरी) और व्यावसायिक स्तरों के व्यक्तियों ने भारतीय प्रौद्योगिक संस्थान (इंडियन इंस्टीट्यूट ऑफ टेक्नोलॉजी), रीजनल इंजीनियरिंग कालेज, दूसरे इंजीनियरिंग कालेजों और मेडिकल कालेजों में, 1965 में कुल स्थानों में से क्रमशः 68, 48, 43 और 50 स्थान हथियाये। व्यापारिक पृष्ठभूमि के छात्रों का प्रतिशत कुल 19 था। आबादी की बड़ी संख्या वाले खेतिहर और अन्य वर्गों के छात्रों के हिस्से में केवल 28 प्रतिशत स्थान हीं आये। किसानों और मजदूरों का तो एक अलग वर्ग के रूप में उल्लेख भी नहीं मिलता।

कुछ चुनिन्दा जातियों ने अपने अध्ययन में, गोरे, देसाई और चिटनिस ने पाया कि ग्रामीण व्यवसायों, शहरी अधिशासी वर्ग के व्यवसायों, छोटे व्यापार धंधों और मजदूर वर्ग से आने वाले पुरुष छात्रों का प्रतिशत व्यावसायिक कालेजों में क्रमशः 25, 49, 15 और 5 था। इसके अलावा, डी. बोना के इलाहाबाद विश्वविद्यालय के अध्ययन में यह देखने को मिलता है कि सेवाओं और व्यवसायों, व्यापार–धंधों, खेती और अन्य व्यावसायिक स्तरों के छात्रों का प्रतिशत क्रमशः 42, 13 और 33 था।

इसके अलावा, यह देखा गया कि उच्च स्तरवाले सशुल्क पब्लिक स्कूल केवल व्यापार, सेवाओं, व्यवसायों और बड़े काश्तकारों के विशेष अधिकार प्राप्त वर्ग के लिए है। 1951–52 में यह पाया गया कि दून स्कूल में सेवाओं, वाणिज्य और उद्योग, और जमींदारों के स्तरों के छात्रों का अनुपात क्रमशः 46.8, 35.0 और 18.2 था। दूसरे स्तरों का एक भी छात्र नहीं था। इसके अलावा, एल्फ्रेड डिसूजा ने पांच प्रतिशत स्कूलों– ब्लू वैली, लेक व्यू, रिक्साइड, पाइनग्रोव और ग्रीन हील– का अध्ययन किया। उनके निष्कर्षों से पता चलता है कि इन स्कूलों पर ऊँचे व्यवसायों, सेवाओं और व्यापारिक स्तर से आये हुए व्यक्तियों का एकाधिकार है। इन पांच पब्लिक स्कूलों में ऊँचे व्यवसायों और सेवाओं की पृष्ठभूमि वाले छात्रो ने 70.56 प्रतिशत स्थान घेरे हैं जबकि व्यापार (जिसमें बागान भी शामिल है) की पृष्ठभूमि वाले छात्रों का अनुपात 16.67 प्रतिशत है। धनी किसानों के बच्चों के पास केवल 5.41 स्थान है। लेकिन आबादी की बहुल संख्या वाले किसानों और मजदूरों की कुलीन पब्लिक तक कोई पहुंच नहीं है।

30.6 आय और शिक्षा : विविध काल में

विभिन्न सामाजिक स्तरों की आय के स्तर का उनकी शैक्षिक उपलब्धियों पर प्रभाव पड़ता है। शिक्षा तक पहुँच ऊँची आय वाले स्तरों के लिए अधिक और नीची आय वाले स्तरों के लिए कम है। मध्यम वर्ग के स्तर इनके बीच स्थित होते हैं। प्रारंभिक से उच्च शिक्षा की ओर बढ़ते हुए, उच्च आय स्तरों के छात्रों के अनुपात में बढ़ोत्तरी होती जाती है। इसके विपरीत, निम्न स्तरों के छात्रों का अनुपात प्रारम्भिक से उच्च शिक्षा की ओर जाते हुए, घटता जाता है। इसका करण मुख्य तौर पर गरीबी के कारण इस स्तर के छात्रों का पढ़ाई छोड़ देना है। इसके अलावा, शिक्षा के उपलब्ध अवसरों की सबसे बड़ी संख्या मध्यम वर्गों के हाथ लगते हैं। इसका कारण यह है कि आबादी में उनका अनुपात काफी अधिक होता है और वे बच्चों के लिए शिक्षा का प्रबंध करने की स्थिति में होते हैं।

समाज के धनी वर्ग के छात्र बेहतर स्कूलों और कालेजों में शिक्षा पाते हैं। इसके फलस्वरूप, उन्हें बेहतर वेतन वाली नौकरियां और व्यवसाय मिल जाते हैं।, जिसके बूते पर वे अपनेबच्चों को बेहतर स्कूल–कालेजों में पढ़ा लेते हैं। इसके विपरीत, गरीब लोग अपने बच्चों को केवल घटिया शिक्षा संस्थाओं में ही दाखिला करा पाते हैं। कम पढ़े– लिखे लोग कम वेतनवाली नौकरियों और व्यवसायों में जाते हैं। इसलिए वे अपने बच्चों को भी घटिया स्कूलों में पढ़ा पाते हैं। यह आय और शिक्षा का कुचक्र है जिसमें गरीब तो गरीब ही रहताहै और अमीर लोग अमीर ही बने रहते हैं। यह आम प्रवृत्ति है। फिर भी, अपवाद इस क्षेत्र में भी मिलते हैं। गरीब सामाजिक स्तरों के कुछ व्यक्तियों अपनी बेहतर शैक्षिक उपलब्धियों के बल पर अमीर स्तरों में प्रवेश पा लेते हैं, जिससे वे बेहतर आय कमा लेते हैं और अपने बच्चों को बेहतर शिक्षा दिलाने की स्थिति में आ पाते हैं।

उपनिवेश काल में वर्णन

उपनिवेश काल के दौरान विभिन्न आय स्तरों के लोगों की शिक्षा तक पहुंच असमान थी। 1883–84 के दौरान बंगाल में विभिन्न आय स्तरों के लोगों की शिक्षा तक पहुंच अत्यधिक असमान थी। उच्च आय स्तरों (5000 रु. तक की वार्षिक आय वालों) का शिक्षा में प्रतिनिधित्व सामान्य से अधिक था, जबकि निम्न आय स्तरों (200 रु. तककी वार्षिक आय वालों) का प्रतिनिधित्व कुल आबादी में उनके अनुपात को देखते हुए बहुत ही कम था। आबादी का एक बहुत छोटा हिस्सा घेरने वाले उच्च आय के लोगों के हिस्से में, कालेज स्तर पर, 13 प्रतिशत स्थान थे। उनका अनुपात निम्न प्राइमरी स्तर में 0.3 प्रतिशत से हाईस्कूल स्तर पर 7 प्रतिशत और कालेज स्तर पर 13 प्रतिशत तक क्रमशः बढ़ता गया था। लेकिन निम्न आय वर्ग के छात्रों की संख्या में भारी गिरावट आयी थी, जबकि आबादी में उनकी संख्या सबसे अधिक थी। उनका अनुपात निम्न प्राइमरी स्तर में 88 प्रतिशत से हाईस्कूल स्तर पर 26 प्रतिशत और कालेज स्तर पर 9 प्रतिशत तक घटता गया। मध्यम आय वर्ग के (200 रु. से 5000 रु. तक की वार्षिक आय वालों) के छात्रों के मामलों में निम्न प्राइमरी स्तर में 12 प्रतिशत, हाईस्कूल स्तरपर 67 प्रतिशत और कालेज स्तरपर 78 प्रतिशत के क्रम से बढ़ोत्तरी हुई।

इस तरह हम देखते हैं कि निम्न प्राइमरी से कालेज स्तर तक उच्च आय स्तरों के छात्रों के अनुपात में 43 गुना बढ़ोत्तरी हुई। लेकिन निम्न आय स्तरों के मामले में 10 गुना गिरावट आयी। इसके अलावा, यह भी ध्यान देने योग्य तथ्य है

कि सेंकेडरी स्तर और उससे ऊपर की शिक्षा सुविधाओं का मुख्य रूप से उपभोग मध्यम आय स्तरों ने किया।

स्वातंत्र्योत्तर काल में वर्णन

आजादी के बाद भी, यह देखा गया है कि शिक्षा की प्रगति के लाभों का वितरण समाज के विभिन्न आय स्तरों के बीच समान नहीं हुआ है। उच्च आय स्तरों को सबसे अधिक लाभ मिला है। आबादी में उनका अनुपात कम होते हुए भी उन्होंने शिक्षा के उपलब्ध अवसरों का एक काफी बड़े हिस्से का उपयोग किया है। आबादी में एक बड़े अनुपात में उपस्थित मध्यम आय स्तरों ने विशेष तौर पर उच्चतरशिक्षा में, सबसे अधिक स्थान हथियाये हैं। निम्न आय स्तरों की आबादी उच्च और मध्यम आय स्तरों की अपेक्षा अधिक है। शिक्षा के प्रारंभिक स्तर पर उनका अनुपात दूसरे स्तरों की तुलना में कही अधिक है। लेकिन शिक्षा का स्तर बढ़ने के साथ–साथ उनका अनुपात घटता जाता है और उच्च शिक्षा के क्षेत्र में घटकर सबसे कम हो जाता है। उनका प्रतिनिधित्व तकनीकी और व्यावसायिक शिक्षा में उच्च आय स्तरों की तुलना में बहुत ही कम है। इसके अलावा, गरीबी की रेखा के नीचे रहने वाले हमारे समाज के निम्नतम वर्ग की, आजादी के चालीस वर्ष बाद भी औपचारिक शिक्षा तक कोई पहुंच नहीं है, जबकि आबादी में उनका प्रतिशत लगभग 40 है। यह इस तथ्य से पता चलता है कि 1981 की जनगणना में कुल आबादी के 64 प्रतिशत लोग निरक्षर पाये गये।

गुजरात के बड़ौदा जिले के हाईस्कूल के छात्रों के अध्ययन में बी.जी. देसाई ने पाया कि माध्यमिक शिक्षा तक विभिन्नआय स्तरों की पहुंच असमान थी। इस अध्ययन के अनुसार 18 प्रतिशत छात्र बहुत अच्छी और अच्छी आय पृष्ठभूमि से थे, 19 प्रतिशत औसत आय स्तर से और 63 प्रतिशत छात्र साधारण और गरीब आय समूहों के थे।

लेकिन उच्चतर शिक्षा पर जाकर स्थिति बदल जाती है। शिक्षा आयोग की रपट (1964–66) में यह देखने को मिलताहै कि भारतीय प्रौद्योगिक संस्थान (आई. आई.टी.) में जो कि सबसे महत्वाकांक्षी सस्थाओं में से एक है, उच्च आय स्तरों (500 रु. प्रतिमाह से ऊपर) के छात्रों की संख्या सबसे अधिक थी। इन संस्थानों में उन्होंने 59 प्रतिशत स्थान घेरे हुए थे। लेकिन निम्न आय स्तरों (रु. 150 से कम प्रतिमास) के छात्रों को केवल 7 प्रतिशत स्थान मिले। मध्यम आय स्तरों को, जिनमें उच्च मध्यम और निम्न मध्यम दोनों स्तर आ जाते हैं (रु. 151 से 500 प्रतिमास आय वाले), इन संस्थानों में कुल 35 प्रतिशत स्थान मिले। जहां तक मेडिकल कालेजों का संबंध है उच्च, मध्यम और निम्न आय स्तरों के हिस्से में क्रमशः 26, 43 और 31 प्रतिशत स्थान आते हैं। क्षेत्रीय इंजीनियरिंग कालेजों औरअन्य इंजीनियरिंग कालेजों में उनके हिस्से औसतन क्रमशः 15, 25 और 36 प्रतिशत स्थान आते हैं।

इसके अलावा, व्यावसायिक प्रतिमान की तरह, पब्लिक स्कूल के छात्रों के अभिभावकों की मासिक आय से भी यह बात सामने आती है कि स्कूल सामाजिक तौर पर एक विशिष्ट समूह के लिए है। उन तक केवल उन सामाजिक समूहों की पहुंच है जो स्तरीकरण व्यवस्था में शीर्ष स्थानों पर हैं। पब्लिक स्कूलों के अपने अध्ययन में डिसूजा ने पाया कि केवल 3 प्रतिशत छात्रों के अभिभावकों की मासिक आय एक हजार रुपये और उससे कम थी। 39 प्रतितशत छात्रों के अभिभावकों की मासिक आय रु. 1001 से 2000 तक, 50 प्रतिशत छात्रों के अभिभावकों की 2001 और 4000 के बीच और 5 प्रतिशत की रु. 4001 से 5000 तक थी। पब्लिक स्कलों

में पढ़ाई के लिए सरकार आर्थिक रूपसे पिछड़े वर्ग के छात्रों को योग्यता के आधार पर कुछ वजीफे भी देती है। फिर भी 1980 के दशक में भी, पब्लिक स्कूलों में छात्रों का अनुपात लगभग वही देखा गया।

30.7 गतिशीलता, शिक्षा एवं सामाजिक बदलाव

उपर्युक्त विवरण से सामाजिक स्तरीकरण और शिक्षा के संबंध के केवल एक पहलू पर रोशनी पड़ती है। इससे यह धारणा बन सकती है किआधुनिक शिक्षा का लाभ केवल उन लोगों को मिलता है जो सामाजिक, आर्थिक रूप से अच्छी स्थिति में हैं और जो विभिन्न आधुनिक व्यवसायों के क्षेत्र में हैं। विवरण का दूसरा पहलू कहता है कि औपचारिक शिक्षा के लाभ कमोवेश हरेक को मिलते हैं, चाहे उनकी जाति, व्यवसाय और आर्थिक पृष्ठभूमि कुछ भी हो।

पारंपरिक भारतीय समाज में शिक्षा संस्थाओं पर निश्चित रूपसे ऊँची जातियों/वर्गों के लोगों का एकाधिकार था। इसमें कोई शक नहीं कि शिक्षा के अवसरों का बड़ा हिस्सा प्रभुत्वशाली तबकों के लोग हथिया लेते थे, लेकिन बहुधा पिछड़े समुदाय के लोगों ने भी शिक्षा संस्थाओं का लाभ उठाया है। इसके प्रमाण में एकलव्य और कर्ण के पौराणिक चरित्रों का उदाहरण दिया जा सकता है।

भारत में औपनिवेशिक राज के पदार्पण के साथ पारंपरिक शिक्षा व्यवस्था की जगह अंग्रेजी ढंग की औपचारिक शिक्षा ने ले ली। नयी शिक्षा व्यवस्था धर्मनिरपेक्ष और कहीं अधिक मुक्तथी। अब, स्कूलों और कालेजों में दाखिला लेने में किसी भी समुदाय पर कोई पाबंदी नहीं थी। यह एक बिल्कुल अलग मामला है कि आपौनिवेशिक शिक्षा व्यवस्था भी हमारे समाज के विशेष अधिकार प्राप्त वर्ग के लिए कहीं अधिक लाभकारी साबित हुई है। लेकिन तथ्य अब भी यही है कि अनुसूचित जातियों, अनुसूचित जनजातियों और दूसरे पिछड़े वर्गों के लोगों के पास औपचरिक शिक्षा की विभिन्न संस्थाओं में दाखिला लेने का विकल्प था। अनुसूचित जातियों और अनुसूचित जनजातियों जैसे कमजोर वर्गों के उत्थानके लिए अनेक सुविधाएं हैं। उनके लिए फीस माफी और वजीफे की व्यवस्था है। उनके लिए विभिन्न शैक्षिक संस्थाओं में दाखिले लेने के लिए आयु सीमा और अंक प्रतिशत में भी छूट की व्यवस्था है। उचित आवास के लिए उनके लिए कई स्थानों पर अलग छात्रावास बनाये गये हैं।

शिक्षा व्यवस्था में बदलावों का ऊपर जो संक्षेप में विवरण दिया गया है उनके परिणामस्वरूप व्यापक तौर पर सामाजिक बदलाव और गतिशीलता की स्थिति बनी है। आजाद भारत में हमारे समाज के परंपरा से पिछड़े वर्गों ने अपनी जीवन दशाओं में काफी सुधार किया है। वे अपेक्षित स्तर तक तो नहीं उठ पाये हैं, फिर भी जीवन के हर क्षेत्र में उनकी प्रभावशाली उपस्थिति है। विशेष तौरपर राजनीति के क्षेत्र में अन्य पिछड़ी जातियां एक जबरदस्त शक्ति के रूपमें उभरी है। इस प्रक्रिया में उनके पढ़े–लिखे नेताओं ने सबसे बड़े प्रेरक के रूप में काम किया है।

30.8 सारांश

सामाजिक स्तरीकरण सभी समाजों में समान है। यह शिक्षा व्यवस्था को बहुत हद तक प्रभावित करता है। विभिन्न सामाजिक स्तरों का शिक्षित होने की

क्षमता पर सामाजिक स्तरीकरण के सामाजिक प्रस्थिति और वर्ग स्थिति जैसे अनेक आयामों का प्रभाव पड़ता है।

व्यावसायिक भेद और विशेषज्ञता के विकास के साथ, सामाजिक स्तरीकरण की वर्ग–जाति व्यवस्था में वैदिक काल के उत्तरार्द्ध से और उसके बाद स्थिरता आयी। ब्राह्मणों ने वैदिक अध्ययन और पुरोहिती में विशेषज्ञता हासिल की। दूसरी द्विज जातियों को भी टोलों और पाठशालाओं में पढ़ने की अनुमति थी। लेकिन, शूद्रों, स्त्रियों और अछूतों के धार्मिक ग्रन्थों को पढ़ने पर पाबंदी थी। निम्न जातियों को अपनी जाति के पारंपरिक व्यवसायों को ही अपनाना पड़ता था। विशेष अधिकारों से वंचित लोगों के लिए संवाद का माध्यम प्राकृत या पाली भाषा थी। इस तरह की दोहरी और समांतर शिक्षा व्यवस्था भारत में हिन्दुओं के बीच मध्यकाल के दौरान बनी रहीं। इसके अलावा, मुसलमानों ने भी इस्लाम की शिक्षा के लिए अपनेमकतबे और मदरसो बना लिये। फारसी को दरबारी भाषा और शिक्षा माध्यम के रूप में भी अपनाया गया। लेकिन आबादी के बहुसंख्यक विशेष अधिकारों से वंचित गर्व, जिसमें किसान, दस्तकार और मजदूर आते थे– विभिन्न क्षेत्रीय भाषाओं में ही पारंपरिक हुनर सीखते थे।

भारत में औपनिवेशिक राज के दौरान एक आधुनिक शिक्षा व्यवस्था के विकास के बारे में भी हमने चर्चा की। प्राइमरी से विश्वविद्यालय स्तर की शिक्षा देने वाली संस्थाओं को सभी के लिए मुक्त रखा गया है, चाहे उनकी जाति, धर्म, प्रजाति या लिंग कुछ भी हो। लेकिन, फिर भी, नई शिक्षा व्यवस्था के लाभ मुख्य तौर पर उंची जातियों और वर्गों ने ही हथियाये। इसके अलावा, अंग्रेजी काल के दौरान एक समांतर शिक्षा व्यवस्था व्याप्त रही। अच्छे साज–समान वाले, अंग्रेजी माध्यम के तथाकथित पब्लिक स्कूल विशेष अधिकार प्राप्त जातियों और वर्गों की आवश्यकताओं को पूरा करते थे। लेकिन विशेष अधिकारो से वंचित लोगों के बच्चों को घटिया स्कूलों और कालजों में जाना होता था। इसके अलावा, इस समांतर शिक्षा व्यवस्था को, आजादी के बाद, सरकार ने, सैनिक स्कूल, केन्द्रीय विद्यालय और हाल में नवोदय विद्यालय खोल कर और भी मजबूत कर दिया है। ये स्कूल निजी प्रबंध वाले पब्लिक स्कूलों की तर्ज पर बनाये गये हैं।

अनेक अध्ययनों की मदद से हमने देखा कि शिक्षा तक पहुंच के मामले में, विशेष तौर पर तकनीकी और व्यावसायिक शिक्षा जैसी उच्च स्तर की शिक्षा में, विभिन्न सामाजिक स्तरों के बीच काफी असमानता है। उंची जाति, व्यवसाय और आय स्तरों के लोगों को शिक्षा के सबसे अधिक लाभ मिले हैं। लेकिन निम्न स्तरों को बहुत कम लाभ मिले हैं, जबकि अनुसूचित जातियों और अनुसूचित जनजातियों के लिए मुफ्त सुविधाएं दी गयी हैं। इस तरह हम देखते हैं कि शिक्षा के क्षेत्र में विभिन्न सामाजिक स्तरों के बीच बहुत असमानता है। जाति, व्यवसाय और आय के संदर्भों में संरचित सामाजिक असमानता का प्रतिबिम्ब शिक्षा के क्षेत्र में देखने को मिलता है।

30.9 वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1. भारत में औपचारिक शिक्षा की समान्तर व्यवस्था का विकास हुआ?

   (क) प्राचीन काल (ख) मध्य काल

   (ग) उपनिवेश काल (घ) उपरोक्त सभी

2. किस विचारक ने इलाहाबाद के छात्रों का अध्ययन किया ?

(क) एस.सी. दूबे (ख) एम.एस. गोरे

(ग) ए.आर. देसाई (घ) जे.डी. बोना

3. किस वर्ग को प्राचीन भारत में बौद्धिक ग्रन्थ पढ़ने की पाबंदी थी?

(क) ब्राह्मण व क्षत्रिय (ख) वैश्य व शूद्र

(ग) शूद्र अछूत व स्त्रियाँ (घ) उपरोक्त सभी

4. पाँच पब्लिक स्कूलों ब्लू वैली, लेक व्यू, रिक्साइड,पाइनग्रोव व ग्रीन हिल का अध्ययन किया है।

(क) एम एस गोर (ख) एल्फ्रेड डिसूजा

(ग) आई पी देसाई (घ) के सुरेश सिंह

30.10 वस्तुनिष्ठ प्रश्नों के उत्तर

1. ग
2. घ
3. ग
4. ख

इकाई–31

वर्गीय स्तरीकरण और सामाजिक गतिशीलता

इकाई की रूपरेखा

31.1 उद्देश्य

31.2 प्रस्तावना

31.3 ऐतिहासिक संदर्भ में

31.4 पारंपरिक भारत में उल्लेख

31.5 उपनिवेश काल में उल्लेख

31.6 खेतिहर वर्ग और सामाजिक गतिशीलता

31.7 शहर वर्ग और सामाजिक गतिशीलता

31.8 सारांश

31.9 वस्तुनिष्ठ प्रश्न

31.10 वस्तुनिष्ठ प्रश्नों के उत्तर

31.1 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के बाद छात्र–

1. वर्गीय स्तरीकरण व सामाजिक गतिशीलता के विविध पहलुओं से परिचित हो सकेंगे।
2. ऐतिहासिक पृष्ठभूमि के अन्तर्गत पारंपरिक भारत व उपनिवेश काल में सामाजिक गतिशीलता की स्थिति को समझ सकेंगे।
3. शहरी वर्ग के साथ सामाजिक वर्ग के संदर्भ में विविध विचारकों के मतों से परिचित हो पाएंगे।

31.2 प्रस्तावना

समाज में वर्गीय स्तरीकरण सम्बन्धी मार्क्स, बेवर इत्यादि विचारकों के मतों का उल्लेख किया गया है। वर्ग के अध्ययन के लिए दो दृष्टिकोण, गुणात्मक व अंतर्क्रियात्मक पर प्रकाश डाला गया है। गतिशीलता के स्वरूप की चर्चा भी की गयी है, जिससे सामाजिक गतिशीलता के प्रभाव इत्यादि को हम बेहतर तरीके से समझ सकेंगे। उर्ध्वगामी व अधोगामी गतिशीलता का उल्लेख किया गया है।

31.3 ऐतिहासिक संदर्भ में

भारतीय समाज का इतिहास युगों पुराना है। ग्रामीण, शहरी और आदिवासी बस्तियाँ इस देश में युगों से रही है, हालांकि उनके बीच अंतक्रिया विभिन्न अंशों में रही है। विभिन्न सामाजिक वर्गों का इस देश में उदय, विकास और पतन हुआ है।

31.4 पारंपरिक भारत में उल्लेख

अंग्रेजी राज से पूर्व की पारंपरिक भारतीय समाज कृषि प्रधान था। सामान्य से अधिक कृषि उत्पादन के फलस्वरूप कस्बों और शहरों, व्यापार और वाणिज्य का विकास हुआ और राज्य शक्ति का उदय हुआ और उसकी स्थिति मजबूत हुई। इन विकासों के साथ एक वर्गीय स्तरीकरण वाले समाज का भी विकास हुआ। पारंपरिक वर्गीय श्रेणियों में राजा, सामंती सरदार, पुरोहित, सौदागर, किसान, दस्तकार, मजदूर और गुलाम आते हैं।

इन वर्गीय श्रेणियों को दो बड़े वर्गों में रखा जा सकता है, अर्थात् विशेष अधिकार प्राप्त शोषक वर्ग और विशेष अधिकारों से वंचित शोषित वर्ग। विशेष अधिकार प्राप्त वर्ग में आने वालों राजा, सामंती, सरदार, पुरोहित और अमीर सौदागर ऐश की जिंदगी जीते थे लेकिन उत्पादक श्रम में हिस्सा नहीं लेते थे। दूसरी ओर, आम वर्ग के किसान, मजदूर, दस्तकार, कारीगर और गुलाम कड़ी मेहनत करके भी दयनीय जिंदगी बिताते थे। वास्तव में, आबादी की बड़ी संख्या वाले आम अवाम को अल्पसंख्यक शासक वर्ग की आवश्कताओं और आनंद के साधन जुटाने होते थे।

इसके अलावा, जोतने लायक भूमि आसानी से उपलब्ध होने के कारण भी सामाजिक गतिशीलता सुलभ हुई। भारतीय शासकों ने सरदारों और पुरोहितों को जुताई के विस्तार के लिए भूमि दान की। इससे इन सरदारों और पुराहितों की सामाजिक प्रस्थिति बढ़ी। इससे किसानों, मजदूरों, कारीगरों और दस्तकारों को भी ये अवसर मिले कि वे एक स्थान से दूसरे स्थान को जा सके। स्थानिक गतिशीलता (अर्थात् एक स्थान से दूसरे स्थान को जाने) की इस गुंजाइश ने आम आदमी पर शासकों की ज्यादतियों पर रोक लगाने का काम किया। स्थानिक गतिशीलता से परिवारों को भी ये अवसर मिले कि वे नये क्षेत्रों में खेती का काम अपनाकर किसान वर्ग में प्रवेश करें। इस तरह, सामाजिक गतिशीलता पारंपरिक वर्गीय स्तरीकरण वाले समाज में संभव थी। लेकिन यह बहुत सीमित थी।

31.5 उपनिवेश काल में उल्लेख

उपनिवेश काल के दौरान भारत के समाज, राज्यतंत्र और उसकी अर्थव्यवस्था में दूरगामी बदलाव हुए। देश में एक अंग्रेजी राज के तहत पूंजीवादी अर्थव्यवस्था और नयी प्रौद्योगिकी लागू हुई और आधुनिक प्रशासनिक–सैनिक संगठन और एक अकेली सर्वोच्च राजनीतिक शक्ति का उदय देखने को मिला। सामाजिक गतिशीलता के नये मार्ग व्यापार, वाणिज्य, उद्योग, शिक्षा और सेवाओं के क्षेत्र में खुले। इसके फलस्वरूप समाज के ढांचे में एक बुनियादी बदलाव आया। भारतीय समाज, धीरे–धीरे और रूक कर ही सही, पूंजीवादी विकास की राह पर चल पड़ा। यह बदलाव की स्थायी प्रक्रिया हो गयी।

औपनिवेशिक शासकों की नयी नीति के कारण खेतिहर वर्ग के ढांचे में एक महत्वपूर्ण बदलाव आया। अंग्रेजों ने देश के विभिन्न भागों में तीन तरह की मालगुजारी का बंदोबस्त किया– जमींदारी व्यवस्था, रैयतवाड़ी व्यवस्था और महलवाड़ी व्यवस्था। इन तीनों व्यवस्थाओं के फलस्वरूप गांवों में कमोवेश एक ही तरह का वर्गीय ढांचा बना। मुख्य खेतिहर वर्गों में जमींदार, काश्तकार और खेतिहर मजदूर आते थे। जमींदार कर वसूलने वाले और भूमि के न जोतने वाले स्वामी थे जो भूमि के किराये का एक अंश औपनिवेशिक शासकों को देते थे। काश्तकार भूमि के असली जोतदार होते होते थे, जिनके पास भूमि की काश्तकारी की अवधि के बारे में भी कोई निश्चितता नहीं थी। अंतिम बात, देश के अधिकांश भागों में खेतिहर मजदूरों की प्रस्थिति बंधुआ और वंशानुगत मजदूरों की थी।

कृषि के क्षेत्र में पूंजीवाद के धीरे–धीरे घुस जाने की प्रक्रिया ने किसानों की और भी दुर्दशा कर दी। मालगुजारी के भुगतान, जमीन और आवश्यक वस्तुओं के उत्पादन के खरीदने–बेचने में धन के और अधिक इस्तेमाल होने से जजमानी की पारंपरिक व्यवस्था का टूटना शुरू हो गया।

उपनिवेश काल के दौरान स्वदेशी ग्रामीण उद्योग और शहरी दस्तकारी के नष्ट हो जाने से इन लोगों को अपनी रोजी–रोटी कमाने के लिए खेती के क्षेत्र में जाना पड़ा जिससे वहां भीड़–भाड़ बढ़ गयी। यह अधोगामी सामाजिक गतिशीलता की एक और मिसाल है।

नयी मालगुजारी की नीति का एक और अहम परिणाम पुराने जमींदारों की अधोगामी (नीचे की ओर) सामाजिक गतिशीलता और नयी जमींदारी के उदय के रूप में सामने आया। इस तरह की जमींदारी आमतौर पर कस्बों में रहने वाले सौदागरों और दूसरे पैसे वाले वर्गों को बेची जाती थी। इसके अलावा, किसानों और राज्य के बीच किराया वसूलने वाले गैर–जोतदार बिचौलियों की एक लम्बी कड़ी बन गयी क्योंकि जमींदारों का भूस्वामियों ने मालगुजारी वसूलने का पट्टा दूसरों के नाम कर दिया।

इसके अलावा, आधुनिक मशीन–आधारित उद्योग के उदय और विकास ने अखिल भारतीय चरित्र के दो नये सामाजिक वर्गों को जन्म दिया– शहरी, औद्योगिक क्षेत्रों में औद्योगिक मजदूर वर्ग या सर्वहारा पूंजीवादी या बुर्जुआ (मध्यम वर्ग)।

यहां इस बात पर ध्यान देना होगा कि भारतीय बुर्जुआ की जड़े व्यापार और वाणिज्य में थीं और औद्योगिक सर्वहारा किसानों, खेतिहर मजदूरों, कारीगरों और दस्तकारों की पृष्ठभूमि से आये। वे शहरी और देहाती दोनों पृष्ठभूमियों से थे। इसलिए, हमें इस संदर्भ में व्यवसाय और स्थान के सम्बन्ध में सामाजिक गतिशीलता देखने को मिलती है।

उपनिवेश काल के दौरान दो और सामाजिक वर्गों का उदय हुआ। व्यापारियों और दुकानदारों का लघु–मध्यम (पेटी बुर्जुआ) वर्ग आधुनिक पूंजीवादी अर्थव्यवस्था से बंधा था। इसके अलावा, एक नयी (ऊंची बौद्धिक किस्म के) शिक्षा व्यवस्था और नौकरी के नये अवसर बनने के कारण नौकरशाही व्यवसायों और दूसरे अधिशासी स्तरके व्यवस्थाओं में लगे एक आधुनिक मध्यम वर्ग का उदय हुआ, ये दो व्यापक वर्गो–उच्च और निम्न स्तर में बंटे।

यह देखा गया है कि पारंपरिक वर्गों और नये वर्गों के बीच परस्पर व्यापन प्रवृत्ति काफी रही है। पारंपरिक वर्गीय श्रेणीबद्धता में बदलाव के साथ वर्गीय

श्रेणीबद्धता की प्रकृति में भी बदलाव आया। अर्थव्यवस्था, प्रशासन और ऊंचे बौद्धिक किस्म के व्यवसायों में बने नये अवसरों के कारण समस्तर धरातल पर पुरानी से नयी वर्गीय श्रेणीबद्धता की ओर सामाजिक गतिशीलता सुलभ हो गयी। पारंपरिक विशेष अधिकार प्राप्त वर्ग आधुनिक विशेष अधिकार प्राप्त वर्ग बन गया और पारंपरिक विशेष अधिकार वंचित वर्ग नये लेकिन नीची प्रस्थिति के कम पैसों वाले व्यवसायों में लग गया। एम.एन. श्रीनिवास के अनुसार ''नये अवसरों का लाभ, कम से कम उच्च स्तर पर, आमतौर पर ऊंची जातियों ने लिया, जिसके फलस्वरूप पारंपरिक और नये कुलीनों के बीच कोई फरक नहीं रहा।'' योगेन्द्र सिंह के अनुसार, अंग्रेजों को सफलता मिली तो केवल ''भारत में वर्ग संचरण की प्रकृति बदलने में, इसका सामाजिक आधार बदलने में नहीं। जो मध्यम वर्ग उभर कर सामने आया उसने भर्ती या नियुक्ति और सामाजिक पृष्ठभूमि के संदर्भ में पहले के वर्गीय ढांचे के साथ संरचनात्मक निरंरता को बनाये रखा।'' फिर भी, समाज के पारंपरिक रूप से वंचित वर्ग के कुछ व्यक्तियों और व्यक्ति समूहों में उर्ध्वगामी गतिशीलता बहुत कम स्तर पर बनी।

31.6 खेतिहर वर्ग और सामाजिक गतिशीलता

अंग्रेजी औपनिवेशिक राज से भारत को आजादी दिलाने के संग्राम में विभिन्न सामाजिक वर्गों ने योगदान दिया। किसानों ने अपने वर्ग शत्रु को पहचाना। उन्होंने अपने दो शोषकों–विदेशी शासकों और स्थानीय जमींदार और महाजनों के खिलाफ संघर्ष किया। किसानों और खेतिहर मजदूरों का संघर्ष देहातों के अर्धसामंती और पूंजीवादी शोषण और दमन का खात्मा करने के लिए आजादी के बाद भी चलता रहा।

भूमि सुधार और वर्गीय ढांचे में बदलाव

किसानों के संघर्ष से प्रेरणा लेकर, भारत में आजादी के बाद भूमि सुधार के कई उपाय किये गये। भूमि सुधार लोगों का जीवन स्तर सुधारने की दृष्टि से सामंती कृषि ढांचे को तोड़ने, कृषि उत्पादनों में बढ़ोत्तरी करने और कृषि को गतिशील बनाने के लिए आवश्यक थे।

भूमि सुधार का पहला उपाय था–जमींदारी व्यवस्था का उन्मूलन, जिसका लक्ष्य असली जोतदार न होकर केवल मालगुजारी की वसूली में लगे होने वाले जमींदारों और अन्यों के बिचौलियों हितों को खत्म करके किसानों को राज्य के साथ सीधे संबंध में लाना था। दूसरे, काश्तकारी सुधार के उपायों का उद्देश्य मालगुजारी की दर को कम करना, काश्तकारी की सुरक्षा किसानों के हित में करना और काश्तकारों के लिए मालिकाना अधिकार हासिल करने को सुगम बनाना। तीसरे, खेती योग्य अतिरिक्त भूमि को बड़े भूस्वामियों या जमींदारों से लेकर उन्हें भूमिहीन खेतीहर मजदूरों और सीमान्त (मार्जिनल) किसानों में बांटने के उद्देश्य से पारिवारिक काश्तकारी पर सीमा बांध दी गयी। लेकिन व्यक्तिगत खेती के लिए भूमि को अपने पास ही रखने के प्रावधान का इस्तेमाल कर देहाती जमींदारों और दूसरे बिचौलियों ने किसानों की जमीन हथिया ली। इसके परिणामस्वरूप काश्तकारों, विशेष तौर पर छोटे काश्तकारों, की बेदखली हो गयी। लेकिन फिर भी, शहरी भूस्वामियों की अनुपस्थित जमींदारी बहुत हद तक कम हो गयी है और किसानों के एकवर्ग ने भूमि का स्वामित्व ले लिया है।

जमीन का बंटवारा करके और उन्हें पारिवारिक सदस्यों रिश्तेदारों और मित्रों के नाम स्थानान्तरित करके या अतिरिक्त भूमि को बेच कर जमींदार,

काश्तकारी पर लगी सीमा संबंधी नियमों से बच निकले हैं। इसका नतीजा हुआ कि जमींदारों और धनी किसानों के हाथों में जमीन के संकेन्द्रित होने पर अधिक असर नहीं पड़ा है। आजादी के 25 वर्षों के बाद भारतीय गांवों में जो वर्गीय ढांचा उभरकर सामने आया, उसका व्यापक अखिल भारतीय स्थिति का चित्र ए.आर. देसाई ने पेश किया है, यह इस प्रकार है :–

1. पंद्रह एकड़ या उससे अधिक भूमि और कुछ भूमि के 50 प्रतिशत का स्वामित्व रखने वाले धनी किसानों और जमींदारों के वर्ग कुल आबादी में 7 प्रतिशत है।

2. 5 और 15 एकड़ के बीच भूमि और कुल आबादी में भूमि के 30 प्रतिशत के मालिक मध्यम किसानों का प्रतिशत कुल आबादी का 19 है।

3. घाटे की खेती करने वाले, एक से पांच एकड़ के बीच और कुल भूमि के 17 प्रतिशत के मालिक गरीब किसानों का ग्रामीण आबादी में प्रतिशत 30 है।

4. बिना भूमि वाले या एक एकड़ से कम के और कुल भूमि के दो प्रतिशत के मालिक, खेतिहर मजदूरों का कुल आबादी में प्रतिशत 44 है।

डेनियल थॉर्नर ने तीन प्रमुख खेतिहर वर्गों की शिनाख्त की है। वह उन्हें क्रमशः मालिक, किसान और मजदूर कहते हैं। मालिक से उसका आशय उस परिवार से है जिनकी खेतिहर आय का स्रोत प्रमुख रूप से (आवश्यक नहीं कि यह एक मात्र स्रोत हो) जमीन में श्रेष्ठ स्वामित्व अधिकारो में होता है, जो किराये के रूप में होते हैं। इस वर्ग के लोग मजदूरों को किराये पर लेकर उनसे अपनी निगरानी में खेती करवाते हैं और खुद अपने हाथों से खेतों में काम नहीं करते। किसान या काम करने वाले किसान छोटे भूस्वामी या काश्तकार कहलाते है जिनकी निश्चित सुरक्षा विभिन्न अंशों मे होती है और मालिक की अपेक्षा उनके जमीन के अधिकार निम्न श्रेणी के होते हैं। वे अधिकतर अपने ही श्रम पर निर्भर करते हैं और अपनी जमीनों से ही गुजारा चलाते हैं। मजदूर वे होते हैं जो दिहाड़ी या मेहनताने के रूप में अपनी रोजी–रोटी कमाते हैं, यह मेहनताना रुपयों पैसों की याऔर किसी सूरत में भी हो सकती है। इस श्रेणी में लावनी करने (फसल काटने वाले) और स्वेच्छा से काश्तकार बने निचली श्रेणी के लोग आते हैं।

योगेन्द्र सिंह के अनुसार स्वतंत्रता संग्राम के दौरान या आजादी के बाद की भूमि सुधार की विचारधारा और भूमि सुधारों के लिए किये गये वास्तविक उपायों में काफी अंतर है। धनी मध्यम स्तर के किसानों काएक नया वर्ग बन गया है। धनी और निर्धन किसानों के बीच आर्थिक असमानताओं में बढ़ोत्तरी हुई है। खेतिहर वर्गीय संरचना में इन अंतर्विरोधों के परिणामस्वरूप भारत के गांवों में तनाव बढ़े हैं। अंतिम बात, ग्रामीण समुदाय में बदलाव की प्रक्रिया में बुर्जुआकरण (embourgeoisement) और सर्वहाराकरण (proletarianisation) की स्थिति साथ–साथ शामिल है।

सर्वहाराकरण और बुर्जुआकरण की अवधारणा का उपयोग खेतिहर वर्गीय स्तरीकरण में सामाजिक गतिशीलता की प्रक्रिया को बताने के लिए किया गया है। सर्वहाराकरण से आशय उच्च वर्गों से निम्न वर्गों की ओर अधोगामी सामाजिक गतिशीलता से है। इसकी मिसाल छोटे और मार्जिनल किसानों में बार–बार देखी गयी है जो गरीबी के कारण अपनी जमीन बेच देते हैं और भूमिहीन खेतिहरसर्वहारा की कोटि में आ जाते हैं। इसके अलावा, पूर्व जमींदारों के कुछ परिवारों के हाथ से

भी उनकी जमीन जाती रही है और वे शारीरिक श्रम करने लग गये। इस तथ्य को के.एल. शर्माने राजस्थान के छह गावों के अपने अध्ययन में रेखांकित किया है।

बुर्जुआकरण से आशय सामाजिक गतिशीलता की उर्ध्वागामी प्रक्रिया से है जिसमें निम्न वर्ग के लोग अपनी वर्ग प्रस्थिति को बेहतर करके उच्च वर्ग में आ जाते हैं। इस प्रक्रिया को सर्वहाराकरण की प्रक्रिया का विलोम या उल्टा माना जा सकता है। इस प्रक्रिया में, निम्नवर्ग के व्यक्ति या परिवार आर्थिक प्रस्थिति, सामाजिक प्रतिष्ठा और शक्ति के स्तर में ऊंचे उठ जाते हैं, और उच्च वर्ग में प्रवेश कर जाते हैं।

हरित क्रान्ति का प्रभाव

खेतिहर सामाजिक आर्थिक विकास की एक बहुत महत्वपूर्ण प्रक्रिया इस शताब्दी की छठवाँ दशक के मध्य में शुरू हुई, जिसे ''हरित क्रान्ति'' के नाम से जाना जाता है। यह आधुनिक काल में लागू की गयी प्रौद्योगिक बदलाव की प्रक्रिया की प्रतीक है। इस प्रक्रिया में, खेती में उच्च उत्पादकता वाले (एच.वाई.वी) बीजों, रासायनिक खादों, काफी पानी और ट्रैक्टरों, थ्रैसरों, हार्वेस्टरों, ट्यूबेलों जैसे खेती के आधुनिक यांत्रिक उपकरणों के इस्तेमाल पर जोर दिया जाता है। भारत में कृषि के विकास की इस नीति के साथ–साथ सरकार की ओर से ग्रामीण विकास के और कार्यक्रमों को शामिल किया गया है और किसानों को वित्तीय सहायता देने के उद्देश्य से सहकारी समितियों और ग्रामीण बैंको की स्थापना की गयी है। इस सबके परिणामस्वरूप फसल का घनत्व और उत्पादकता में काफी बढ़ोत्तरी हुई है।

हरित क्रान्ति की नीति का लक्ष्य प्रौद्योगिक बदलावों के जरिये कृषि उत्पादन को बढ़ावा था, जबकि भूमि सुधार के उपायों का उद्देश्य उन्हीं लक्ष्यों को कृषि क्षेत्र में समानतावादी आधारपर संरचनात्मक बदलाव लाकर प्राप्त करना था। इसलिए, इसमें कोई आश्चर्य नहीं कि हरित क्रान्ति के लाभ मुख्य तौर पर जमींदारों और धनी किसानों व बड़े भूस्वामियों के हाथ लगे।

इस शताब्दी के सातवें दशक में, डेनियल थॉर्नर ने शहरी आधार के ''सज्जन किसानों'' का देहातों में कुछ हरित क्रान्ति के क्षेत्रों की ओर भागने की स्थिति को रेखांकित किया है। इस तरह के किसानों में व्यापारी, व्यावसायिक लोग, सेवानिवृत्त सैनिक अधिकारी और सरकारी अधिकारी शामिल थे जिन्होंने जमीन खरीद कर कृषि उत्पादनों में पैसा लगाया। वास्तव में, इन ''प्रगतिशील किसानों'' की यह पूरी कार्यवाही एक सामंतवादी रियासत से कम और व्यापारिक उद्यम से ज्यादा मेल खाती थी।

खेतिहर संबंधों के अध्ययनों से यह बात सामने आयी है कि हरित क्रान्ति वाले क्षेत्रों में खेती के बहुत लाभदायक होने के कारण बड़े जमींदारों ने काश्तकारों को बेदखल करके और बटाईदारी खत्म करके जमीन को अपने लिये रख लिया। इसके फलस्वरूप कास्तकारों की भूमिहीन सर्वहारा वर्ग की ओर अधोगामी गतिशीलता की स्थिति बनी। अपनी कम और घाटे की जमीन और गरीबी के कारण ये किसान कृषि की महंगी आधुनिक लागत को वहन नहीं कर सकते। इसलिये, वे जमीन को पट्टे पर देकर खुद दिहाड़ी पर मजदूरी करना अधिक पसंद करते हैं। इसका परिणाम यह हुआ कि बड़े जमींदारों के पास वास्तविक नियंत्रण या कब्जे वाली जमीन की मात्रा बढ़ी है। खुद खेती करने वाले मध्यम किसानों को भी हरित क्रान्ति का अधिक लाभ नहीं मिला है क्योंकि उन्हें फसल के तुरन्त बाद अपना अनाज बेचना पड़ता है जब कीमतें कमहोती है। लेकिन बड़े

जमींदार अनाज की जमाखोरी करते हैं और उसे बाद में तब बेचते हैं जब कीमतें बढ़ जाती है, और इस तरह अधिक मुनाफा कमाते हैं।

तमिलनाडु के अध्ययन में कैंथलीन गफ ने देखा कि मुख्य तौर पर खेतिहर मजदूर वाले अर्ध सर्वहारा पूंजीवादी विकास के साथ और भी सर्वहारा हो गये थे। उनका अपने उपकरणों, पट्टे की भूमि, वित्तीय सहायता वाले भू–भागों, सामान्य जमीनों, कारखानों, या रोजी रोटी की दूसरे माध्यमों पर कम कब्जा रह गया था। उनमें से कुछ कम काश्तकार, बंधुआ मजदूर या दस्तकार थे जो गांव के प्रभुत्वशाली वर्ग की सेवा करते थे। कई और खेतिहर मजदूर थे जो कम से कम आंशिक तौर पर नकद दिहाड़ी पर निर्भर करते थे।

उत्सा पटनायक ने विभिन्न खेतिहर वर्गों की शिनाख्त की हैं ये हैं जमींदार और मजदूर और धनी मध्यम और निर्धन किसान। जमींदारसे भिन्न, एक धनी किसान खेती में कुछ शारीरिक श्रम भी कर लेता है। मध्यम किसान मुख्य तौर पर स्वरोजगार वाले होते हैं, जो परिवार के श्रम का सदुपयोग करते हैं। निर्धन किसान अपने आपको किराये पर उठाने पर बहुत अधिक निर्भर करते हैं क्योंकि उनके पास रोजी रोटी कमाने लायक अत्यधिक भूमि नहीं होती।

सामाजिक वर्ग : विविध परिप्रेक्ष्य

समाज, वर्ग और स्तरीकरण के अध्ययन के ऐतिहासिक द्वन्द्वात्मक उपागम के कार्ल मार्क्स प्रमुख प्रवर्तक हैं। मार्क्सवादी सिद्धान्त प्रौद्योगिकी या आर्थिक निर्धारण की एक सरल व्याख्या मात्र नहीं है। मार्क्स ने समाज के वृहद् सिद्धान्त का प्रतिपादन कियाहै। मार्क्स के अनुसार उत्पादन के सम्बन्धों की व्यवस्था द्वारा स्तरीकरण कानिर्धारण होताहै और एक व्यक्ति की 'प्रस्थिति' का निर्धारण, उत्पादन के साधनों के स्वामित्व और अस्वामित्व के संदर्भ में, उत्पादन व्यवस्था में व्यक्ति के पद–स्थान द्वारा होता है। मार्क्स ने, 'वर्ग' और 'सामाजिक स्तरीकरण' में कोई विभेद नहीं किया है। मार्क्स के लिए, 'उत्पादन', सामाजिक 'व्यक्तियों द्वारा होता है, और इसलिए, इसको 'सामाजिक संदर्भ' में समझना चाहिये। इस प्रकार, मार्क्स के वर्ग के सिद्धान्त को, 'प्रभावी उच्चता–निम्नता सम्बन्धों' पर आधारित, 'प्रभुत्व' और 'अधीनस्थता' के संदर्भ में, सामाजिक स्तरीकरण की एक व्यवस्था के रूप में समझा जा सकता है।

मार्क्स ने दुनिया को समझने और उसमें क्रान्ति लाने के लिए प्रकृति के वस्तुपरक नियमों, समाज और मानव विचार को समझकर, विश्लेषण करनेका प्रयास किया है। मार्क्स के दर्शन और विचारधारा के मुख्य बिन्दु इस प्रकार हैं :–

1. पूँजीवाद का अन्त
2. साम्यवादी समाज की विजय
3. समाज के विज्ञान की कल्पना/स्वप्न
4. सर्वहारा–एक क्राँन्तिकारी वर्ग की अन्याय और शोषण से मुक्ति
5. सर्वहारा का अधिनायकवाद/एकाधिकार
6. श्रमिक वर्ग की विचारधारा
7. क्राँन्तिकारी वर्ग संघर्ष

सामन्तवाद समाप्त हो चुका था, औरा पूँजीवाद पनप रहा था। नयी व्यवस्था के अन्तर्गत कृषक और कारीगर बर्बाद हो रहे थे। इसलिए सर्वहारा वर्ग के उभरने के कारण वर्ग संघर्ष और पूँजीपति समर्थित प्रजातांत्रिक व राष्ट्रीय मुक्ति आन्दोलन अस्तित्व में थे। मार्क्स ने हीगल, विशेषतः वामपंथी हीगलवादियों से, सीखा और प्रेरणा ली।

मार्क्स ने फ्रांस में और विशेषतः पेरिस में अत्यंत निर्धन लोगों के साथ समय बिताया और इस प्रकार मार्क्स इंग्लिश और फ्रेंच लोगों के अध्ययन में रूचि लेने लगे। इस तरह के अनुभव और समझ के परिणामस्वरूप, मार्क्स का आदर्शवाद से भौतिकवाद और क्राँन्तिकारी प्रवाह से साम्यवाद की ओर संक्रमण हुआ। अपने जर्मन, इंग्लिश और फ्रेंच अनुभवों से प्रेरित होकर, राजनीतिक अर्थव्यवस्था के संदर्भ में मार्क्स ने 'नागरिक समाज' (सिविल सोसाइटी) के बारे मेंसोचा। इसके बाद मार्क्स ने हीगल के द्वन्द्वात्मकता (मानव मस्तिष्क की द्वन्द्वात्मकता) को अस्वीकार किया और उसका पुनः आलोचनात्मक अवलोकन किया। एक गैर–यांत्रिक स्वरूप में, मार्क्स ने फ्यूरबैक के भौतिकवाद के मिश्रण से इतिहास, सामाजिक सम्बन्ध और राजनीति की समझ का विकास किया। मार्क्स ने अपने सिद्धान्त को 'वैज्ञानिक समाजवाद' का नाम देना पसन्द किया।

मार्क्स ने अपने विचारों की अभिव्यक्ति कम्युनिस्ट मैनिफेस्टो, कैपिटल (3 खण्ड), जर्मन आइडियोलॉजी, आदि कृतियों में की है। कैपिटल के तीसरे ग्रंथ में मार्क्स लिखते हैं–''मात्र श्रमशक्ति के स्वामी, पूँजी के मालिक और भूस्वामी, जिनके वेतन, लाभ और लगान, तद्नुसार आय के स्रोत हैं, दूसरे शब्दों में वेतनधारी श्रमिक, पूँजीपति और भूस्वामी उत्पादन की पूँजीवादी पद्धति पर आधारित आधुनिक समाज के तीन बड़े वर्ग हैं।'' इस तरह मार्क्स ने सर्वहारा और पूँजीपति दो प्रमुख वर्गों का वर्णन किया है, प्रथम सम्पत्तिविहीन है, और दूसरा सम्पत्तिवान हैं। अपने दो वर्गों के सिद्धान्त के समर्थन में मार्क्स ने यह भी कहा है कि हर जगह मध्यम और बीच के स्तरण इस विभाजन के कारण लुप्त हो जायेंगे। पूँजीवादी उत्पादन पद्धति के विकास की प्रवृत्ति के अधिक से अधिक बढ़ने के कारण श्रम, वेतन श्रम और उत्पादन के साधन पूँजी में रूपान्तरित होंगे। प्रदत्त सम्पत्ति (भूमि, मकान आदि) में भी पूँजीवादी उत्पादन पद्धति में परिवर्तित होने की प्रवृत्ति होती है। अब प्रश्न ये हैं–

1. वर्ग किन तत्वों से निर्मित होता है?
2. वेतन श्रमिक, पूँजीपति और भूस्वामी कैसे तीन बड़े सामाजिक वर्ग बनते हैं?

वास्तव में, मार्क्स ने केवल सर्वहारा और पूँजीपति – दो ही वर्गों का उल्लेख किया है। दूसरा और तीसरा वर्ग, जैसे पूर्व में वर्णन किया है, अन्ततः एक दूसरे में समाहित होकर एक ही वर्ग बन जाते हैं, लेकिन मार्क्स के वर्ग के सिद्धान्त की एक तर्कसंगत अवधारणा नहीं है। मार्क्स ने वर्ग और वर्ग संघर्ष की अपनी सामान्य रचना के आनुभविक संदर्भों पर अधिक बल दिया है। मार्क्स के वर्ग और स्तरीकरण के सिद्धान्त के मुख्य लक्षण इस प्रकार है–

1. आर्थिक हित तमाम अन्य प्रकार के संबंधों–सामाजिक, सांस्कृतिक, राजनीतिक आदि का आधार है।
2. दो वर्ग हैं–(अ) उत्पादन के साधनों क मालिक और (ब) श्रमिक (सर्वहारा वर्ग)

3. इन दोनों वर्गों के हितों में टकराव होता है क्योंकि पूँजीपति सर्वहारा का शोषण करता है और इसलिये वर्ग संघर्ष पाया जाता है।

4. पूँजीपति अपने उचित हिस्से से ज्यादा प्राप्त करता है, जिसको मार्क्स ने 'अतिरेक मूल्य का सिद्धान्त' कहा है। ऐसी परिस्थिति से वर्ग संघर्ष तेज होता है, जिससे अन्त में क्रान्ति आती है और समाज की स्तरीकरण व्यवस्था में आमूलचूल परिवर्तन होता है।

इस तरह से मार्क्सवादी सिद्धान्त में सामाजिक व्यवस्था के मूलभूत लक्षण हैं। उत्पादन व्यवस्था की प्रक्रियाओं से वर्ग उभरते हैं। पूँजीपति वर्ग उत्पादन के साधनों का स्वामी होता है और सर्वहारा वर्ग आवश्यक मानव श्रम व अन्य सेवायें प्रदान करता है। इस प्रकार, आर्थिक सम्बन्ध स्तरीकरण व्यवस्था का आधार है अैर इस व्यवस्था से दो वर्ग निर्मित होते हैं– पूँजीपति और सर्वहारा या सम्पत्तिवान और सम्पत्तिविहीन।

मार्क्स की दृष्टि में, वर्ग 'सामाजिक' है, एक सामाजिक वास्तविकता है, जीवन का एक विद्यमान तथ्य है। वर्ग एक सांख्यिकीय या एक संग्रहीत या एक निर्माणित प्रघटना नहीं है। वर्ग में एक वास्तविक समूह के रूप में, एक विकसित भाव औरअपने अस्तित्व, पद–स्थान, के बारे में चेतना होती है। वर्ग के दर्पणों से एक व्यक्ति समाज में सम्बन्धों की सम्पूर्णता को देख सकता है।

हितों के टकराव के कारण, दोनों वर्गों में एक–दूसरे के साथ संघर्ष होता है। दूसरे शब्दों में सम्पूर्ण समाज दो बड़े विरोधी धड़ों के रूप में दो वर्गोंमें विभाजित रहताहै। दोनों वर्ग संघर्ष करते हैं और अपने–अपने हितों की रक्षा के लिए संगठित भी होते हैं। एक निश्चित अंश तक, दोनों वर्गों के बीच सहयोग भी होता है, जिसको मार्क्स ने 'विरोधियों की एकता' का नाम दिया है। पूँजीपति और सर्वहारा के बीच ऐसी एकता की आवश्यकता उत्पादन व्यवस्था को सुचारू करने के लिए चाहिये, क्योंकि दोनों के जीवन का अस्तित्व इस पर निर्भर करता है। फिर भी मार्क्स ने पूँजीपति वर्ग के विरूद्ध सर्वहारा वर्ग को एक राजनीतिक संगठन के रूप में एकजुट होकर लड़ने का संदेश दिया है। मार्क्स के अनुसार, शासक वर्गों के विचार, इतिहास और समाज के हर युग (काल) में, 'शासक विचार' रहे हैं। मार्क्स का विश्वास है कि राजनीतिक शक्ति की धारणा, वर्ग शक्ति के अधीन है और राजनीतिक संघर्ष एक विशेष प्रकार का वर्ग संघर्ष है। राज्य पूँजीपति वर्ग के लिए कार्य करता है। इस प्रकार, मनुष्यों के भौतिक (आर्थिक) अस्तित्व द्वारा उनके जीवन की अवस्था और चेतना निर्धारित होती है। इसलिये वर्ग एक सामाजिक वास्तविकता है, जिसके द्वारा सम्पूर्ण सामाजिक संरचना को देखा जा सकता है।

मार्क्सवादी अध्ययन पद्धति :

मार्क्स ने इतिहास का तीन कालों (युगों) प्राचीन, सामन्तवाद और पूँजीवाद में वर्णन किया है। प्रत्येक काल में उत्पादन की एक प्रमुख पद्धति रही है और उस पर आधारित वर्ग संरचना से एक शासक वर्ग और एक शासित (दबा हुआ) वर्ग उभरते हैं। जैसाकि हमने पहले वर्णन किया है कि इन वर्गों के बीच संघर्ष द्वारा मनुष्यों के बीच सामाजिक सम्बन्ध निर्धारित होते हैं। सामाजिक सम्बन्ध अन्य सब संबंधों का आधार बनते हैं। ये सम्बन्ध उत्पादन के साधनों पर नियंत्रण को निर्धारित करते हैं और फिर, सम्पूर्ण नैतिक और बौद्धिक जीवन को नियंत्रित करते हैं। कानून और शासन, कला और साहित्य, विज्ञान और दर्शन, सब कमोबेश प्रत्यक्ष रूप से शासक वर्ग के हितों की पुष्टि करते हैं। इसलिये ये पहलू समाज की अधिसंचनायें हैं।

हर वर्ग अपने क्राँान्तिकारी ऊँचाई के काल में दो तरह से 'प्रगतिशील' होता है– (i) उसके आर्थिक हित तकनीकी प्रगति के जैसे होते हैं, और इसलिए अधिक मानव कल्याण के अनुरूप पाये जाते हैं और (ii) उन हितों के लिए किये गये प्रयास से वह वर्ग स्वतंत्रताजनक विचारों और संस्थाओं से जुड़ जाता है और उनके विरूद्ध हो जाता है जो तकनीकी प्रगति और मानव कल्याण को पीछे धकेलता है। ऊँचाई पर उठने वाला वर्ग शासक वर्ग भी बन सकता हैं परन्तु तब उसकी भूमिका भिन्न हो सकती है। इस तरह के वर्ग के विरूद्ध क्राँति का वही मार्ग अपनाया जायेगा। इस प्रकार, यह एक निरन्तर प्रक्रिया है, जिसके द्वारा समाज का क्राँतिकारी पुनर्गठन होता है। मार्क्सवादी सिद्धान्त में इसतरह एक सामाजिक वर्ग व्यक्तियों का एक संग्रहण है, जो उत्पादन के संगठन में एक ही तरह का कार्य करते हैं। कम्युनिस्ट मैनिफेस्टो में चित्रित किया गया है कि स्वतंत्र व्यक्ति और दास, उच्च लोग और आम व्यक्ति, मालिक और नौकर, उद्योग मालिक और साधारण कर्मी या संक्षेपमें शोषक और शोषित के दो वर्ग हैं।

टोम बोटोमोर और अन्य विद्वानों का मत है कि मार्क्सवादी सिद्धान्त में वर्ग की अवधारणा का एक केन्द्रीय (प्रमुख) महत्व है, यद्यपि मार्क्स ने इसको सुव्यवस्थित रूप में प्रतिपादित नहीं किया। मार्क्सवादी सिद्धान्त के लिये, प्रारम्भिक पूँजीवाद की वर्ग संरचना और वर्तमान समाज के इस स्वरूप में वर्ग संघर्ष मुख्य संदर्भ बिन्दु है। मार्क्सवादी सिद्धान्त में वर्ग संघर्ष और वर्ग चेतना दो अन्य महत्वपूर्ण विचार हैं। कम्युनिस्ट मैनिफेस्टो में कहा गया है कि ''आज तक के समाज का इतिहास वर्ग संघर्ष का इतिहास है।'' पूँजीवादी समाजों में वर्ग अधिक उभरा हुआ है। जर्मन आइडियोलॉजी में मार्क्स ने अवलोकित किया है कि ''वर्ग स्वयं पूँजीपति की उपज है। यद्यपि मार्क्स ने पूँजीवाद का व्यापक अध्ययन किया है, फिर भी सब प्रकार के समाजों में एक प्रमुख वर्ग विभाजन के अस्तित्व की उपस्थिति की बात मार्क्स बताना चाहते थे। मार्क्स लिखते हैं– ''हमेशा उत्पादन की अवस्था के स्वामियों और प्रत्यक्ष उत्पादकों के बीच प्रत्यक्ष सम्बन्ध द्वारा सम्पूर्ण सामाजिक भवन (इमारत) का अत्यन्त आन्तरिक रहस्य और छुपी हुई नींव (आधारशिला) दिखाई देती है।''

वर्ग की जड़ (नींव) और वर्ग चेतना के आधार को जाने के लिए मार्क्स के अनुसार 'अपने आपमें वर्ग' और 'अपने लिये वर्ग' के बीच अन्तर को भी समझना महत्वपूर्ण है। अपनी विख्यात कृति–दी पॉवरटी ऑफ फिलोसफी में मार्क्स कहते हैं कि ''सर्वप्रथम आर्थिक अवस्थाओं ने लोगों को श्रमिकों में परिवर्तित किया। पूँजी के प्रभुत्व के कारण इस वर्ग के लिए सामान्य परिस्थिति और सामान्य हित उत्पन्न हुए। इस प्रकार लोगों का यह समूह पूँजी के संदर्भ में वर्ग बना हुआ है, लेकिन यह अपने स्वयं के लिए अब भी वर्ग नहीं है। यह वर्ग समूह संगठित होता है और अपने लिए एक वर्ग में निर्मित करत है। जिन हितों की वह रक्षा करता है, वे वर्ग हित बन जाते हैं।'' इस तरह, मार्क्स ने 'अपने आप में वर्ग' और 'अपने लिये वर्ग' के बीच अन्तर किया है।

वर्ग और स्तरीकरण का मार्क्सवादी सिद्धान्त :

वर्ग और स्तरीकरण के मार्क्सवादी सिद्धान्त पर अब हम एक आलोचनात्मक दृष्टि डालेंगे। मार्क्स द्वारा कम्युनिस्ट मैनिफेस्टो में उल्लेखित अनेक वर्ग संघर्ष वास्तव में प्रस्थिति समूहों के बीच संघर्ष है। मार्क्स और एन्जिल्स दोनों इस बात से परिचित थे कि प्रत्येक जगह विभिन्न श्रेणियों के रूप में एक जटिल समाज व्यवस्था या सामाजिक श्रेणियों का बहुपक्षीय श्रेणीकरण पाया जाता था। मार्क्स के बाद के मार्क्सवादियों ने आधारभूत वर्गों के सम्बन्ध में सामाजिक

श्रेणीकरण या स्तरीकरण की 'जटिलताओं' को समझा। मार्क्स और एन्जिल्स दोनों ने यह अनुभव किया कि इंग्लैण्ड में मध्यम और संक्रमणकारी स्तरों के कारण वर्ग की सीमायें धूमिल हो जाती है। अतिरेक मूल्य क सिद्धान्तों में मार्क्स ने स्पष्ट रूप में वर्णन किया है कि मध्यम वर्ग का उभरना पूँजीवाद के विकास की एक प्रघटना जैसा है। मध्यम वर्गों के सदस्यों की निरन्तर वृद्धि के लिए पूँजीवादी वृद्धि को कारण माना था। आधुनिक आर्थिक विकास के संदर्भ में मध्यम वर्गों ने अपने लिये एक महत्वपूर्ण राजनीतिक स्थान बना लिया है।

निकोस पोलनजा और जॉर्ज लुकाज जैसे उत्तर– मार्क्सवादियों ने कुछ रूढ़िवादी मार्क्सवादी विचारों को ठुकराया है। पोलनजा ने 'अपने आप में वर्ग' और 'अपने आपके लिए वर्ग' के बीच भेद को अस्वीकार किया है, क्योंकि पूर्ण विकसित वर्ग चेतना और राजनीतिक संगठन के साथ वर्ग अस्तित्व में आये हैं। इसके विपरीत लुकाज के अनुसार सर्वहारा वर्ग में वर्ग चेतना के विकास में अत्यन्त महत्वपूर्ण भूमिका एक क्रान्तिकारी दल द्वारा बाहर से निभाई जाती है। आज के विभाजित संसार में यह कहना कठिन होगा कि चेतना की प्रकृति 'समाजवादी' या 'क्रान्तिकारी' या 'पूँजीवादी' होगी।

भूमण्डीकरण के कारण भी एक प्रकार की समान वर्ग चेतना उत्पन्न हुई है। विशिष्ट प्रकार के वर्ग हित और वर्ग चेतना में गिरावट के कारण वर्ग और वर्ग संघर्ष का मार्क्सवादी सिद्धान्त कम आकर्षक और लुभावना हो गया है। क्रान्तिकारी राजनीतिक आन्दोलन, स्त्रियों का आन्दोलन, और विभिन्न सजातीय व राष्ट्रीय आन्दोलन वर्ग–आधारित नहीं रहे हैं। सामाजिक जीवन में समूहों में गठजोड़ों और समीपताओं के कारण मार्क्सवादी सिद्धान्त के परिप्रेक्ष्य में वर्ग चेतना धूमिल हो चुकी है। मार्क्सवादी सिद्धान्त में विभिन्न प्रकारों के समाज की वर्ग संरचना में कृषक समाज को स्थान और उसकी राजनीतिक भूमिका को उचित महत्व नहीं दिया गया था। उदाहरण के लिए फ्रांस में कृषकों को पूर्ण रूप में एक वर्ग नहीं समझा गया था। तीसरी दुनिया के देशों में कृषकों ने क्रान्तिकारी आन्दोलनों में महत्वपूर्ण भाग लिया है।

पूर्ववर्ती समाजवादी देशों में विशिष्ट सामाजिक शक्तियों के कारण वर्ग संघर्ष नहीं के बराबर थे। उदाहरण के लिए हंगरी, चेकोस्लोवाकिया और पोलैण्ड में एक नयी वर्ग संरचना अभरकर आई। इन देशों के राष्ट्रीय आन्दोलनों में न केवल वर्गों ने ही भागीदारी की, बल्कि राष्ट्रीय, सजातीय या धार्मिक समूहों और स्त्रीवाद, पर्यावरणवाद व अणुशक्ति – विरोधी आन्दोलन के समर्थकों ने भी भागीदारी थी। आज मुकाबला (भिड़न्त) केवल पूँजीपति और सर्वहारा तक सीमित नहीं है, परन्तु विभिन्न सामाजिक समूहों में भी गठजोड़ उभरे हैं। एक ओर ऐसे समूह हैं जो आर्थिक व सामाजिक जीवन पर हावी है और उसको निर्देशित करते हैं। दूसरी ओर अधीनस्थ समूह है।

मार्क्स और भारतीय समाज का अध्ययन :

वर्ष 1940 के दशक से अब तक भारतीय विद्वत्जन मार्क्सवाद की विचारधारा और उसकी व्यावहारिकता पर सक्रिय चिंतन कर रहे हैं। वास्तव में मार्क्स भारत की जाति व्यवस्था और ग्रामीण समुदाय के परम्परात्मक भाव के प्रति बहुत सजग थे। 1853 में, मार्क्स ने भारत के बारे में न्यूयार्क डेली ट्रिब्यून में दो लेख लिखे। मार्क्स ने भारत के एशियायी निरंकुशवाद या 'एशियायी उत्पादउन की प्रविधि' को एक उदाहरण बताया। इस तरह की व्यवस्था के अन्तर्गत मार्क्स ने भूमि

को निजी सम्पत्ति नहीं समझा। लेकिन मार्क्स नेयह भी कहाकि समयोपरान्त भूमि को निजी सम्पत्ति भी माना गया।

भारत को पर–पूँजीवादी आर्थिक रचना की दृष्टि से भी देखा गया है, लेकिन भारत न तो वर्गविहीन और न ही स्थिर (जड़) था। यहाँ पर सोच यह है कि एशियाई प्रविधि में वर्ग विरोधाभासों और वर्ग संरचनाओं की भूमिका को नकारा नहीं जाता है। कार्ल ए. विट्टफोगल, एरिक हाब्सबॉम और डी.डी. कोसाम्बी का मत है कि भारत कभी भी एक स्थिररचना नहीं था। कोसाम्बी के अनुसार भारत में जाति व वर्ग–आधारित स्तरीकरण और शोषण एक साथ अस्तित्व में थे। इसी प्रकार दासता व बन्धन के विभिन्न स्वरूप और सामन्ती सम्बन्ध भी समान क्षेत्रों और समान समय पर विभिन्न मिश्रणों में पाये गये हैं। यहाँ पर दो प्रश्न किए जा सकते हैं:–

1. भारत की वर्ग संरचना का विश्लेषण कैसे किया जाये?
2. विभिन्न क्षेत्रों में जाति–वर्ग की कड़ी (जुड़ाव), उसके विभिन्न रूप, और अन्तरक्रियाएं क्या हैं?

अब जाति–वर्ग की कड़ी भारतीय सामाजिक रचना की एक मान्य वास्तविकता है। इन दोनों (जाति और वर्ग) को बिना एक–दूसरे से जोड़े, दोनों को न देखा जा सकता है और न ही अध्ययन किया जा सकता है। कोसाम्बी के अनुसार बंधुता में भी प्रथम पुत्र का उत्तरदायित्व, विरासत, सम्पत्ति का बंटवारा, तनाव, गुट और विभाजन के लिए प्रमुख आधार है। वी.एम. डांडेकर ने मार्क्सवादी सिद्धान्त और पद्धति की प्रशंसा करते हुए निम्न अवलोकन प्रस्तुत किये हैं–

1. मार्क्स ने यह नहीं सोचा था कि श्रमिक संगठनों और श्रमिकों की सामूहिक सौदेबाजी (समझौता) के कारण पूँजीवाद परिवर्तित होता।
2. मार्क्स ने 'विरोधियों की एकता' के साथ दो विरोधी वर्गों की चर्चा की है, परन्तु ये वर्ग विभक्त नहीं रहे हैं। इन दोनों वर्गों के बीचअन्य कई वर्ग विद्यमान है। आज नागरिक समाज और समूह राज्य पर उसकी प्रकृति और कार्यप्रणाली को परिवर्तित करने के लिए दबाव डाल रहे हैं।
3. एक भूमण्डलीय प्रघटना के रूप में मध्यम वर्गों के बढ़ते आकार के कारण वर्ग– विरोधाभास एक महत्वपूर्ण वास्तविकता नहीं है।
4. औद्योगिक समाजों में सर्वहारा वर्ग का पूँजीपतिकरण हुआ है।

विशेषतः स्वतंत्रता के पश्चात् भारतीय समाज में आधारभूत संरचनात्मक परिवर्तन और लम्बवत् गतिशीलता स्पष्ट दिखाई देती है।

डांडेकर ने निम्न पाँच वर्गों का उल्लेख किया है–

1. पर–पूँजीवादी वर्ग (कृषक, कृषि श्रमिक, घरेलूकर्मी)
2. पूँजीवादी समाज में स्वतंत्रकर्मी
3. श्रम–मालिक
4. सफेदपोशकर्मी
5. कारखानों/उद्योगों में कार्य करने वाले श्रमिक

इस बहुकारी वर्ग संरचना के अलावा, लाखों लोग लघु–स्तर और अत्यन्त छोटे उद्योगों व पारिवारिक स्वामित्व वाले प्रतिष्ठानों में कार्य करते हैं, और भारतीय अर्थव्यवस्था के इन क्षेत्रों में वर्ग संघर्ष व हड़तालें नहीं पायी जाती हैं।

भारत में भूमण्डलीकरण और निजीकरण के बावजूद, आज राज्य सबसे बड़ा रोजगारदाता है। संसार की अर्थव्यवस्था में, तात्कालिक मंदी (विशेषतः अमेरिका में) केकारण, व्यवसायों में प्रशिक्षित व दक्ष लोग सुरक्षा और सुरक्षित वेतन के कारण सरकारी नौकरियों की ओर झुक रहे हैं। इसके बावजूद भारत में कुछ कमाने वालों की पाँचवां हिस्सा ही संगठित क्षेत्र में कार्यरत है। इसतरह की परिस्थिति में पूँजीपति और सर्वहारा के संदर्भ में समाज का विभाजन और दोनों के बीच निहित वर्ग संघर्ष अनुचित प्रघटना प्रतीत होती है। भारत में हमें जो दिखाई देता है, वह मार्क्सवादी दृष्टि से बिल्कुल भिन्न है। भारतीय समाज में एकसाथवर्ग–दरार, शोषण, संरक्षण या गलत चेतना विद्यमान है। वर्ग संघर्ष से कहीं अधिक हमें अभिजात संघर्ष, दबाव–समूह, गुट और जाति प्रभाव–समूह दिखाई देते हैं। आज उच्च और निम्न वर्गों से कहीं अधिक, मध्यम वर्ग उभरे हुए हैं। उदाहरण के लिए, 'मिश्रित वर्ग' भी, सज्जन कृषकों के रूप में दिखाई देते हैं, जिनकी मिश्रत प्रस्थिति हैं और उनकी संसाधनों और अवसरों तक बहुकारी लगाव व पहुंच पाई जाती है।

वेबर ने वर्ग, प्रस्थिति और शक्ति के बीच एक स्पष्ट अन्तर किया है। वेबर के सामाजिक स्तरीकरण के सिद्धान्त की कुँजी शक्ति हैं वर्ग एक आर्थिक भाग है और 'बाजार परिस्थिति' की उत्पत्ति है। प्रस्थिति का निर्धारण 'प्रस्थिति सम्मान' से होता है। 'प्रस्थिति समूह' सम्मानपर आधारित सामाजिक संगठन को निर्मित करते हैं। सामाजिक स्तरीकरण की समझ के लिए जिस तरीके से 'प्रस्थिति सम्मान' को वितरित किया जाता है, वह महत्वपूर्ण है। वेबर ने यह स्पष्ट किया है कि वर्ग और प्रस्थिति समूह आवश्यक रूप से स्वतंत्र प्रघटनाएं नहीं हैं। 'वर्ग, प्रस्थिति और दल' का इतिहास समाज की तीन व्यवस्थाओं, अर्थात् आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक समाज की तीन व्यवस्थाओं, अर्थात् आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक के अनुरूप है, परन्तु तीनों व्यवस्थायें एक समान या स्वतंत्र नहीं है। एक व्यवस्था दूसरी से प्रभावित हो सकती है। इस प्रकार, शक्ति प्राप्त करने की लालसा हमेशा आर्थिक सम्पन्नता के लिए नहीं है। यह लालसा मात्र शक्ति प्राप्ति के लिए या सामाजिक सम्मान के लिए हो सकती है। यह भी है कि सब तरह की शक्ति से सामाजिक सम्मान प्राप्त नहीं होता और शक्ति सामाजिक सम्मान का एकमात्र स्रोत नहीं है। इस प्रकार प्रस्थिति का निर्धारण उस सामाजिक सम्मान से होता है जो एक व्यक्ति को आनन्दित करता है और सामाजिक सम्मान विभिन्न 'जीवन शैलियों' द्वारा प्रकट किया जाता है।

एक व्यक्ति विशेष के वर्ग–स्थान (पद) के निर्धारण में उसको बाजार में प्राप्त अवसर का प्रकार एक निर्णयकारी कारक है। वास्तव में, अन्ततः वर्ग परिस्थिति ही बाजार परिस्थिति है, लेकिन सम्पत्ति (धरोहर) प्रारम्भ में एकप्रभावी काकरक हो सकती है। बोहरा–कर्जदार सम्बन्ध वर्ग परिस्थितियों का आधार बनता है। वर्ग संघर्ष के परिणामतः एकाधिकार और धनी लोगों की सरकार भी सत्ता में आ सकती है। 'दास' एक प्रस्थिति समूह है।

वर्ग संघर्ष के प्रकार

एक वर्ग अपने आप में एक समुदाय नहीं होता है। फिर भी केवल सामुदायीकरण (समान आर्थिक हितों के लिए जुटाव) के आधार परही वर्ग

परिस्थितियाँ उभरती है। रमिों और उद्यमियों की वर्ग परिस्थिति श्रम बाजार और पूँजीवादी उद्यम द्वारा निर्धारित होती है। इस प्रकार, सामुदायिक क्रिया एक समान वर्ग के सदस्यों के बीच में मूलरूप से क्रिया नहीं है। पूँजीवादी उद्योग का अस्तित्व एक विशिष्ट प्रकार की विधि व्यवस्था द्वारा पूर्व–निर्धारित होता हैं प्रत्येक प्रकार की वर्ग परिस्थिति सम्पत्ति की शक्ति परनिर्भर करती है। प्रस्थिति समूह केवल बाजार सिद्धान्त के कठोर क्रियान्वयन में बाधा डालते हैं। वर्ग संघर्ष के प्रकार ये हैं– प्राचीन काल में कृषकों, कारीगरों आदि द्वारा वर्ग संघर्ष और आजकल प्रतियोगी संघर्ष, कीमत, युद्ध इत्यादि।

वेबर के अनुसार, वर्गों के विपरीत, प्रस्थिति समूह, प्रायः एक अस्पष्ट प्रकार के, साधारणतया समुदाय हैं। एक वर्ग परिस्थिति की तरह ही एक प्रस्थिति परिस्थिति भी है, जिसके द्वारा बहुत से लोगों के सम्मान का सामाजिक आकलन किया जा सकता हैं यह वर्ग परिस्थिति के निकट हो सकती है, और वर्ग परिस्थिति प्रस्थिति परिस्थिति के निकट पाई जा सकती है। प्रस्थिति सम्मान अनिवार्यतः एक वर्ग परिस्थिति से जुड़ा हुआ नहीं होता। साधारणतया, यह मात्र सम्पत्ति के दावों के स्पष्ट विरोध में रहताहे। सम्पत्तिवान और सम्पत्तिविहीन दोनों लोग एक ही प्रस्थिति समूह से जुड़े हुए हो सकते हैं और बहुधा, वे स्पष्ट परिणामों के साथ जुड़े हुए पाये जाते हैं। दीर्घकाल में इस प्रकार की समानता अनिश्चित व असुरक्षित भी हो सकती है।

वेबर ने 'जाति' का उदाहरण एक प्रस्थिति समूह के रूप में दिया है। प्रस्थिति विशिष्टतायें (विभेद) न केवल परम्पराओं और कानूनों द्वारा ही सुरक्षित रहते हैं, बल्कि धार्मिक कृत्यों/संस्कारों द्वारा भी वे बने रहते हैं। जातियाँ प्रस्थिति समूह है और जाति में आदर्श और भौतिक (आर्थिक) कारकों का सम्मिश्रण है। प्रत्येक ाति की अपनी एक जीवन शैली होती है। वेबर के अनुसार 'सामाजिक सम्मान' में एक 'जीवन–शैली की निर्णायक भूमिका का अभिप्राय यह है कि प्रस्थिति समूह 'परम्पराओं' के विशेष वाहक हैं। जीवन का 'शैलीकरण' प्रस्थिति समूहों से उत्पन्न होता है।

विशिष्ट 'जीवन शैलियों' के रूप में, 'वर्ग' अपने उपभोग के सिद्धान्तों के आधार भी स्तरीकृत होते हैं। एक 'व्यावसायिक समूह' भी, एक प्रस्थिति समूह है। उदाहरण के लिए ब्राह्मण एक प्रस्थिति समूह हैं, क्योंकि वे पूजा–पाठ का कार्य करते हैं, लेकिन प्रस्थिति द्वारा स्तरीकरण को तकनीकी परिवर्तन और आर्थिक रूपान्तरण से चुनौती मिलती है और इस कारण वर्ग परिस्थिति को बढ़ावा मिलता है।

'वर्ग परिस्थिति'/प्रस्थिति 'परिस्थिति' पार्टियों का निर्धारण कर सकती है। वे आंशिक रूप में वर्ग दल हैं और आंशिक रूप में प्रस्थिति दल है। परन्तु कभी–कभी वे दोनों ही नहीं है। पार्टियों में कर्मचारी और कार्य करने के नियम होते हैं। पार्टियाँ अस्थायी या स्थायी संरचनाओं का प्रतिनिधित्व कर सकती है। शक्ति प्राप्त करने के साधन नग्न हिंसा से लेकर, धन खर्च करके मतों के लिए प्रचार, सामाजिक प्रभाव, वजनदार भाषण, सुझाव, बेहूदा झूठ, आदि हो सकते हैं। दलों के बीच सामुदायिक क्रिया की प्रकृति के आधार पर अन्तर पाया जाता है। उसमें प्रस्थितियों या वर्गों के आधार पर समुदाय में पाये जाने वाले स्तरीकरण पर आधारित अन्तर भी पाये जाते हैं। पार्टियाँ समुदाय में व्याप्त प्रभुत्व की संरचना के अनुसार भिन्न होती है। पार्टियों का इतिहास समाज के इतिहास के संबंध में देखा जा सकता है।

एच.एच. गर्थ और सी. राइट मिल्स का मत है कि वेबर की पद्धति मार्क्स की ऐतिहासिक पद्धति का एक सकुशल उपयोग है। वेबर ने इस पद्धति का उपयोग एक 'विश्लेषणात्मक सिद्धान्त' के रूप में किया था। वैसे वेबर संसार के इतिहास के विचार या एक एकलकारणीय सिद्धान्त के पक्ष में नहीं थे। वेबर बहुतायत कारणकारी कारकों को एकल–कारक सूत्र (थ्योरेम) में घटाने (दिखाने) के विरूद्ध थे। वेबर सरलीकरण के पक्षधर भी नहीं थे। वेबर का शक्ति और राजनीतिक संरचनाओं का विश्लेषण मार्क्स के वर्ग और आर्थिक संरचनाओं के उपगम के निकट के समानान्तर प्रतीत होता है। मार्क्स ने आर्थिक शक्ति और राजनीतिक शक्ति के बीच भेद करने में कम सावधानी रखी है। वेबर ने उदारवादी होने के कारण, 'आर्थिक', 'आर्थिक रूप से निर्धारित' और 'आर्थिक दृष्टि से महत्वपूर्ण' इन तीनों क्षेत्रों के बीच स्पष्ट अन्तर किया है।

वेबर ने 'राजनीतिक शासन' के साधनों के लिए संघर्ष पर बल दिया है। राज्य के पास शक्ति का एकाधिकार है। मार्क्स की तरह वेबर ने भी विचारधारा की प्रघटनाओं का आर्थिक और राजनीतिक व्यवस्थाओं के भौतिक हितों के साथ सह–संबंध स्थापित किया है। वेबर ने 'औचित्यकरणों' पर तीखी नजर रखी है, जो उनकी 'आदर्श प्रकार', क्रिया, शासनतंत्र, पूँजीवाद आदि की अवधारणाओं में दिखाई देती है। वेबर ने 'हितों' और 'विचारधाराओं' दोनों पर समान बल दिया है। वेबर के विचार में आधुनिक पूँजीवाद अतार्किक नहीं है, यह तार्किकता/औचित्यतता का मुखौटा है।

पिअरे बूरदियो ने कृषकों, कला, बेरोजगारी, स्कूल शिक्षा, विधि, विज्ञान, साहित्य, बंधुता, वर्गों, धर्म, राजनीति, खेलकूद, भाषा, आवास, प्रबुद्धजन आदि विषयों पर प्रकाशन किया है, और प्रजातियों और संस्कृतियों के हालात्, सांख्यिकीय प्रारूप (मॉडल), निराकार अर्द्धसैद्धान्तिक और दार्शनिक दृष्टिकोणों को उपयोग में लिया है। यहाँ हम बूरदियो की 'पूँजी' और 'वर्ग' की अवधारणाओं तक ही, हमारे अवलोकनको सीमित रखेंगे। बूरदियो के अनुसार, किसी भी समाज को हम उसमें विभिन्न प्रकारों के संसाधन या 'पूँजी' के वितरण द्वारा समझ सकते हैं। बूरदियो के अनुसार, तीन तरह की पूँजी इस प्रकार है– (i) आर्थिक पूँजी (भौतिक सम्पदा–रुपये, स्टॉक और शेयर, सम्पत्ति इत्यादि); (ii) सांस्कृतिक पूँजी (ज्ञान, कौशल, सांस्कृतिक उपलब्धियाँ); और (iii) प्रतीकात्मक पूँजी (संचित प्रतिष्ठा और सम्मान)। इस तरह का वर्गीकरण, वेबर की आर्थिक, सामाजिक और कानूनी/राजनीतिक व्यवस्थाओं की रचना या उनके 'वर्ग' प्रस्थिति और दलों' के विचार से मिलता–जुलता है। हम कह सकते हैं कि बूरदियो ने मार्क्स द्वारा प्रस्तावित पूँजी की अवधारणा को संशोधित और व्यापक (वृहद्) किया है।

बूरदियो ने सामाजिक स्थान और वर्गों की उत्पत्ति को जोड़ कर देखा है। उसने इंगित किया है कि मार्क्सवादी सिद्धान्त में 'सैद्धान्तिक वर्ग' को एक 'वास्तविक वर्ग' नहीं समझा जा सकता है। एक वास्तविक वर्ग एक सक्रियातापूर्ण जुटाव समूह है। बूरदियो ने सामाजिक क्षेत्र की चर्चा की है, उसके लिए केवल आर्थिक क्षेत्र को बहुआयामी स्थान स्वीकृत नहीं किया जा सकता। आर्थिक उत्पादन के सामने अन्यआयाम घटाये नहीं जा सकते। बूरदियो के अनुसार, प्रतीकात्मक संघर्ष व सामाजिक संसार का प्रतिनिधित्व, और विशेषतः प्रत्येक क्षेत्र में सोपान तथा विभिन्न क्षेत्रों में सोपान को नजरअंदाज नहीं किया जा सकता। एक औपचारिक अर्थ में, बूरदियो ने 'पदों के स्थान' को 'कागज परवर्ग' के समान वर्णित किया है क्योंकि उसका अस्तित्व सैद्धान्तिक है। यह वास्तव में एक वर्ग, एक वास्तविक वर्ग, एक समूह बनने के अर्थ मे नहीं है। एक समूह संघर्ष के लिये

जुटता है। अधिक से अधिक इसको एक संभावित वर्ग कह सकते हैं। यह एक नाममात्रवादी सापेक्षिकवाद है। इस दृष्टिकोण से, वर्ग वे हैं जो सामाजिक स्थान में से वास्तविक समूहों, व्यावहारिक समूहों, परिवारों, क्लबों, समितियों, राजनीतिक संगठनों आदि के रूप मं देखे जा सकते हैं। वास्तविकता में, सम्बन्धों के एक स्थान, इनमें दूरी (विभिन्न ऊपर व निम्न) पर स्थित एजेंटों के गठन द्वारा, वास्तविकता में या नाममात्र रूप में, वर्ग का निर्माण होता है। मार्क्स ने 'अपने आपमें वर्ग' और 'अपने लिये वर्ग' के बीच अन्तर के बारे में बूरदियो ने टिप्पणी की है कि मार्क्स ने 'संघर्ष में समूह' के बारे में कुछ नहीं कहा है, क्योंकि संघर्ष्ज्ञरत समूह एक व्यक्तिकृत सामूहिक संगठन अपने उद्देश्यों को निर्धारित कर एक ऐतिहासिक एजेन्ट है, जिसका उठाव वस्तुपरक आर्थिक अवस्थाओं से हुआ है।

एक वृहद् अर्थ में, वेबर के सिद्धान्त को स्वीकार करते हुए बूरदियो का मत है कि राजनीतिक प्रघटनाओं, सामाजिक–आर्थिक प्रक्रियाओं या संबंधों और वर्गों के बीच विरोध मात्र एक प्रकटन नहीं है। संसार एक एकल–आयामी स्थान नहीं है। बहुआयामी सामाजिक क्षेत्रों में व्यक्तियों के पद–स्थानों का निर्धारण उनके द्वारा धारण पूँजी के विभिन्न प्रकारों की तादादों द्वारा होता है। वेबर ने भी इसके बारे में ऐसे ही सोचा था। इनमें 'समरूपतायें' हैं, लेकिन आवश्यक रूप में सदैव नहीं होती है। क्षेत्रों, पद–स्थानों, एजेन्टों पर आधारित विचार–निर्माण आवश्यक है। इस तरह से, बूरदियो के अनुसार मार्क्सवादी विश्लेषण में सैद्धान्तिक वर्गों को वास्तविक सामाजिक समूहों के साथ भ्रमित किया है। बूरदियो ने वर्गों को उत्पादन के साधनों के स्वामित्व और अस्वामित्व केसंदर्भ में परिभाषित नहीं किया है। बूरदियो ने लिये, वर्ग, एजेन्टों के पुँज हैं, जिनके सामाजिक क्षेत्र (स्थान) में एक जैसे पद–स्थान और समान पूँजी की तादाद जीवन अवसर और प्रवृत्तियाँ आदि है। ये वर्ग, 'सैद्धान्तिक रचनायें' हैं, वास्तविक सामाजिक समूहों के जैसे नहीं है, लेकिन इनसेक, वास्तविकता में, सामाजिक समूहों और एजेन्टों के पुँजों के अवलोकन में मदद प्राप्त होती है।

31.7 शहर वर्ग और सामाजिक गतिशीलता

भारत में शहरी केन्द्र युगों से रहे हैं। अब, देश की लगभग एक चौथाई आबादी कस्बों और शहरों में रहती है। शहरी लोग अधिकतर औद्योगिक और सेवा के क्षेत्र में काम करते हैं, जबकि देहाती क्षेत्र के लोग अधिकतर कृषि और सम्बन्धित क्षेत्र में काम करते हैं। आजादी के बाद भारत सरकार ने जो औद्योगिक नीति बनायी उसका लक्ष्य तेज औद्योगीकरण के जरिये देश का आर्थिक विकास करना है। 'मिश्रित अर्थव्यवस्था' की इस नीति में एक ऐसे ढांचे की व्यवस्था है जिसके तहत सामाजिक–आर्थिक विकास के काम को अंजाम देना है।

सामाजिक वर्ग : विविध परिप्रेक्ष्य

आजादी के बाद देश में औद्योगीकरण और शहरीकरा की गति में तेजी आने के साथ, यहां तीन मुख्य शहरी सामाजिक वर्गों–पूंजीवादी या बुर्जुआ, मजदूर वर्ग या सर्वहारा और मध्यम वर्ग की संख्या और प्रभाव में बढ़ोत्तरी देखने को मिली है।

पूंजीवादी वर्ग देश का सबसे शक्तिशाली वर्ग है। उनके पास औद्योगिक व्यापारिक और वित्तीय उद्यमों का स्वामित्व या नियंत्रण है। पूंजीवादियों का एकमात्र ध्येय निजी मुनाफे को अधिक से अधिक करना है, जो पूंजीवाद का बुनियादी सिद्धान्त है। वे मजदूरों को उनके द्वारा बनाये गये सामानें या उनकी

सेवाओं की तुलना में कहीं कम पैसे देकर उनका शोषण करते हैं। जमींदारों और धनी किसानों के साथ सांठ–गांठ करके, वे अपने हितों के लिए व साधनों की गरज से राज्य की मशीनरी पर कब्जा जमा लेते हैं। वे अपने मुनाफे बढ़ाने के लिए राजनीति, नौकरशाही और व्यावसायिक स्तरों के प्रभुत्वशाली लोगों के साथ घनिष्ठ सहयोग और सम्पर्क साधकर प्रौद्योगिक जानकारी और पूंजी निवेश हासिल कर लेते हैं, जिससे राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था और जीवन में उनका प्रभुत्व और मजबूत हो जाता है।

शहरी मजदूर वर्ग में संगठित और असंगठित दोनों क्षेत्रों के दिहाड़ी मजदूर आते हैं। इस वर्ग में स्वतः नियोजित मजदूर जैसे खोमचे वाले, फेरीवाले, रेहड़ी वाले और रिक्शा वाले आदि भी आते हैं। इस वर्ग के बहुत ही कम लोग संगठित क्षेत्र में काम करते हैं। जो जैसे–तैसे अपना गुजारा कर लेते हैं लेकिन शहरी सर्वहारा की एक बहुत बड़ी संख्या असंगठित क्षेत्र में काम कर रही है। शहरी मजदूर वर्ग गरीब, अशक्त और वर्णीय आधार पर अत्यधिक असंगठित है।

मध्यम वर्ग की स्थिति में आजादी के बाद बेहतरी आयी है। वे उत्पादन की प्रक्रिया से सीधे–सीधे नहीं जुड़े है। वे नौकरशाही, अध्यापन, पत्रकारिता, डाक्टरी औरकई अन्य सेवाओं में लगे हैं वे उद्योगों में क्लर्की,, निरीक्षण और अधिशासी स्थितियों में भी लगे हैं। मध्यम वर्ग के कुलीन वर्ग के लोग संख्या में बहुत कम हैं और उनकी जीवन दशा बेहतर है।

सामाजिक गतिशीलता

बढ़ते शहरीकरण, उद्योगीकरण और आधुनिकीकरण के कारण समस्तर और उर्ध्वाधर दोनों प्रकार की गतिशीलता संभव हुई है। रोजगार के नये अवसर और रास्ते खोल कर व्यवसाय के क्षेत्र में जो विविधता बनी उसने इस प्रक्रिया को सुगम कर दिया है। व्यक्तियों की सामाजिक गतिशीलता एक से दूसरी पीढ़ी के बीच अधिक है, एक ही पीढ़ी के व्यक्तियों के बीच कम। छोटे सामाजिक समूह और समुदाय भी वर्ग की सीमाओं के पार गतिशीलता पाने में समर्थ हुए है। जाति, समुदाय, गांव, पड़ोस, परिवार, धर्म और क्षेत्र के विशिष्ट बंधनों ने सामाजिक गतिशीलताकी प्रक्रिया में एक महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है। फिर भी, कुल मिलाकर सामाजिक गतिशीलता की दर बहुत कम रही है। पारंपरिक रूप से अच्छी स्थिति वाले वर्गों ने नये वर्गीय ढांचे में बेहतर स्थान प्राप्त कर लिये हैं। लेकिन पारंपरिक रूपसे प्रतिकूल परिस्थिति में रहने वाले लोग आज भी निम्न स्थितियों में जीवन व्यतीत कर रहे हैं।

उद्योगपतियों (पूंजीपतियों) की पृष्ठभूमि का आकलन करने से पता चलता है कि देश के विभिन्न क्षेत्रों में कुछ विशेष जातियों और समुदायों का प्रभुत्व है। पूंजीवादी वर्ग के लोग अधिकतर ऊँची जातियों के हैं। कलकत्ता में मारवाड़ियों का प्रभुत्व है, तो पश्चिम में गुजराती बनियों का, दक्षिण में चेतियारों का, और उत्तर में अग्रवालों और अन्य बनिया समुदायों का। लेकिन कुछ उदाहरण ऐसे भी मिल जाते हैं, जिनमं कुछ कारीगर और दस्तकार समुदायों ने उद्योग में कामयाबी हासिल की और उन्होंने ऊपर की ओर (उर्ध्वगामी) गतिशीलता बनायी। सतीश सबरलवार ने पंजाब में रामगरीया कारीगरों के उद्योगपति बन जाने के तथ्य को रेखांकित किया है। आगरा में ओपी. लिंच ने पाया कि नीची जाति के जाटवों ने जूता बनाने का उद्योग अपना लिया। लेकिन कारीगर और दस्ताकर लोग अधिकतर लघु स्तर के क्षेत्र में मिलते हैं। किसी विशेष समुदाय के कुछेक व्यक्ति या परिवार ही सबसे ऊंचे वर्ग में पहुंच पाये हैं। इसके अलावा, यह देखा गया है कि कुछ भू–स्वामी

जातियां भी उद्योग के क्षेत्र में जा रही है। इस कोटि में हाबड़ा के उद्योगपति, गुजरात के पटेदार, और आंध्र और तमिलनाडु के रेड्डी और नायडू आते हैं। कुछ उंची जातियों और समुदाय, जैसे ब्राह्मण और सीरियन ईसाई भी हाल के वर्षों में उद्योग के क्षेत्र में आ रहे हैं। मजदूर वर्ग में मुख्य तौर पर शहरी और देहाती क्षेत्र में इसके अपने ही वर्ग के लोग आते हैं। हम देखते हैं कि मध्यम वर्ग के निचले स्तरों के कुछ व्यक्ति सर्वहारा वर्ग में आ गये है। मजदूर वर्ग के कुछ व्यक्ति भी मध्यम वर्ग में चले जाते हैं। लेकिन सर्वहारा और बूर्जुआ वर्गों के बीच व्यक्तियों या परिवारों या समूहों की उर्ध्वाधर गतिशीलता बहुत ही कम देखने में आती है।

अंत में, हमें इस तथ्य पर ध्यान देना होगा कि देहाती लोगों के शहरों में जाने की जो स्थिति बनी उसमें वर्गीय हैसियत या स्थान के संदर्भ में बहुत अधिक समानता पायी जाती है। (अर्थात् ग्रामीण जिस प्रस्थिति से निकलकर शहरमें आते हैं, लगभग वैसी ही प्रस्थिति वाले काम वे शहर में करते हैं)। जमींदारों औरधनी किसानों के परिवारों के अधिकतर लोग शहरी क्षेत्रों के मध्यम वर्गीय व्यवसायों में प्रवेश कर जाते हैं। उनमें से कुछ शहरी पूंजीवादी उद्यमियों में भी शामिल हो जाते हैं। लेकिन भूमिहीन खेतिहर मजदूों, मार्जिनल और छोटे किसानों की पृष्ठभूमि में आये लोग शहरी मजदूर वर्ग में शामिल होते हैं। वास्तव में देहाती और शहरी दोनों क्षेत्रों में वर्ग की सीमाओं के पार सामाजिक गतिशीलता बहुत कम अंश में है।

31.8 सारांश

इस इकाई में हमने देखा कि मानव समाज के ढांचे ने एक आदिम और सरल रूप से एक विकसित और जटिल रूप में विकास किया है। इस प्रक्रिया में समाज का विभिन्न वर्गों में स्तरीकरण हुआ है। मानव जाति के इतिहास में विभिन्न सामाजिक वर्गों का उदय, विकास और पतन हुआ है। सामाजिक वर्गों की सम्पत्ति और शक्ति जैसे सामाजिक संसाधनों तक पहुंच में अन्तर है।

वर्ग के निर्माण की अवधारणा को लेकर दो महत्वपूर्ण दृष्टिकोण है। 'गुणात्मक' दृष्टिकोण में जोर, आय, व्यवसाय और शिक्षा जैसे व्यक्तिगत या पारिवारिक गुणों के आधार पर उच्च मध्यम या निम्न हैसियतें बनाने पर दिया गया है। लेकिन ''अंतरक्रियात्मक'' दृष्टिकोण में विभिन्न सामाजिक स्तरों के बीच संबंध जैसे, उत्पादन के साधनों से संबंध पर ध्यान दिया जाता है। इसके अलावा, हमने इस तथ्य को समझा कि वर्गीय स्तरीकरण पूरी तौर पर रूढ़ और बंद या अवरूद्ध नहीं रहा। व्यक्तियों, परिवारों छोटे समुदायों में सामाजिक गतिशीलता समस्तर और ऊर्ध्वाधर दोनों स्तरों पर हुई है। लेकिन, हमारे देश में सामाजिक गतिशीलता की दर बहुत सीमित रही है।

31.9 वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1. आधुनिक भारत में औद्योगीकरण के परिणामस्वरूप जिन नये प्रमुख सामाजिक वर्गों का उदय हुआ, वे हैं –

   (क) किसान व भूस्वामी (ख) जमींदार व पट्टेदार

   (ग) बुर्जुआ व सर्वहारा (घ) उपरोक्त सभी

2. खेतिहर वर्ग को मालिक, किसान व मजदूर वर्ग में बांटा–

(क) डेनियल थॉर्नर (ख) उत्सा पटनायक

(ग) कैथलीन गफ (घ) कोई नहीं

3. पूँजीवादी वर्ग से तात्पर्य है–

(क) उत्पादन के साधनों के मालिक

(ख) समाज के कमजोर वर्ग के लोग

(ग) सम्पत्ति के गैर मालिक

(घ) उपरोक्त सभी

4. वेबर जाति को मानते हैं–

(क) सामुदायिक समूह (ख) भूमिका समूह

(ग) प्रस्थिति समूह (घ) विशिष्ट हित समूह

31.10 वस्तुनिष्ठ प्रश्नों के उत्तर

1. ग
2. क
3. क
4. ग

इकाई–32

सामाजिक स्तरीकरण और सामाजिक परिवर्तन

इकाई की रूपरेखा

32.1 उद्देश्य

32.2 प्रस्तावना

32.3 जाति, वर्ग स्तरीकरण की व्याख्या

32.4 परिवर्तन की प्रक्रियाएं

32.5 ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

32.6 स्वतंत्रता के पश्चात् सामाजिक परिवर्तन

32.7 सारांश

32.8 वस्तुनिष्ठ प्रश्न

32.9 वस्तुनिष्ठ प्रश्नों के उत्तर

32.1 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के बाद छात्र–

1. सामाजिक स्तरीकरण एवं सामाजिक परिवर्तन की अवधारणाओं, नियमों (Principles) तथा प्रक्रियाओं (Processes) की विस्तृत जानकारी प्राप्त करेंगे।
2. अंग्रेजी शासन से पूर्व के भारत में सामाजिक स्तरीकरण एवं परिवर्तन के प्रतिमान को समझ सकेंगे।
3. स्वतंत्रता के पश्चात् सामाजिक स्तरीकरण के प्रतिमान तथा सामाजिक परिवर्तन की प्रक्रिया को समझ सकेंगे।

32.2 प्रस्तावना

सामाजिक स्तरीकरण का तात्पर्य समाज का विभिन्न सामाजिक स्तरों में विभाजन है। समाज में विभिन्न स्तरों का प्रतिनिधित्व करने वाले व्यक्ति के विभिन्न समूह, धन, सामाजिक प्रस्थिति एवं राजनैतिक शक्ति से सम्बन्धित संरचित असमानताओं की एक व्यवस्था बनाते हैं। हम सामाजिक स्तरों के मध्य आर्थिक असमानता देखते हैं, जैसे कि भूमि, कारखानों, वित्तीय संस्थाओं व वाणिज्यिक उद्यमों पर स्वामित्व व नियंत्रण आदि के मामले में। समृद्ध आर्थिक स्थिति को उच्च सामाजिक प्रस्थिति प्राप्त होती है तथा राजनैतिक संस्थाओं पर नियंत्रण एवं प्रभाव होता है। जबकि निम्न सामाजिक स्तरों को निम्न सामाजिक प्रस्थिति व

राजनैतिक प्रभाव भी निम्न प्राप्त होता है। इस प्रकार, विभिन्न सामाजिक स्तर सामाजिक रूप से ऊँच–नीच के क्रम विन्यास में रखे जाते हैं, जिसके कारण सम्पत्ति, प्रस्थिति एवं राजनैतिक शक्ति तक उनकी पहुँच भी विभेदीकृत होती है।

समृद्ध एवं वंचित स्तरों के मध्य संघर्ष के कारण समाज में क्रान्तिकारी ऐतिहासिक प्रयोग हुए हैं, ताकि संरचित सामाजिक असमानताओं का अंत किया जा सके तथा बीसवीं शताब्दी में एक समतावादी समाज व्यवस्था स्थापित की जा सके, जैसा कि सोवियत संघ, चीन एवं क्यूबा में हुआ। सर्वप्रथम हम क्रमशः सामाजिक स्तरीकरण व सामाजिक परिवर्तन के नियमों व प्रक्रियाओं की विवेचना करेंगे। तदुपरान्त हम पारम्परिक तथा औपनिवेशिक (colonial) भारत में सामाजिक स्तरीकरण व परिवर्तन पर संक्षिप्त चर्चा करेंगे ताकि इस विषय की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि की चर्चा की जा सके। अंततः स्वतंत्रता के बाद से परिवर्तन के कारकों और सामाजिक स्तरीकरण व परिवर्तन के ग्रामीण व नगरीय आयामों का विस्तार से अध्ययन करेंगे।

32.3 जाति, वर्ग स्तरीकरण की व्याख्या

सामाजिक स्तरीकरण एवं सामाजिक परिवर्तन की किसी भी प्रकार की समझ हेतु इसके नियमों व प्रक्रियाओं को समझना अत्यधिक महत्वपूर्ण है।

सामाजिक स्तरीकरण के अध्ययन में दो महत्वपूर्ण नियम अथवा प्रारूप प्रयुक्त किये गये हैं। ये सामाजिक स्तरीकरण के जाति प्रारूप व वर्ग प्रारूप है। मोटे तौर पर, जाति के आधार पर स्तरीकृत समाज को बंद, स्थिर, जन्म पर आधारित (ascriptive) कर्मकाण्डीय व ग्रामीण विशेषताओं वाला माना जाता है। जबकि वर्ग के आधार पर स्तरीकृत समाज को उच्च दर की सामाजिक गतिशीलता वाला खुला, अर्जितोन्मुख (achievement oriented), धर्मनिरपेक्ष व नगरीय माना जाता है। अतः सामाजिक स्तरीकरण के जाति व वर्ग प्रारूपों को परस्पर विपरीत माना जाता है।

जातिगत स्तरीकरण को पारम्परिक भारतीय समाज की विशेषता माना जाता है। धुरिये ने पारम्परिक जाति व्यवस्था की छः प्रमुख विशेषताएँ बताई हैं :

(i) समाज का खण्डात्मक (segmental) विभाजन,

(ii) समूहों का क्रमविन्यास (hierarchy),

(iii) खानपान व सामाजिक संसर्ग (Social Intercourse) पर निषेध,

(iv) विभिन्न सामाजिक समुदायों की नागरिक व धार्मिक निर्योग्यताएं तथा सुविधायें

(v) व्यवसायों के अप्रतिबंधित चयन का अभाव, तथा

(vi) विवाह पर निषेध।

इसके अतिरिक्त उन्होंने, अन्तर्विवाह (endogamy) को जाति व्यवस्था की प्रमुख विशेषता माना परन्तु हट्टन ने जाति व्यवस्था में कर्मकाण्डीय प्रस्थिति को प्रमुख माना। एम.एन. श्रीनिवास के अनुसार, जाति व्यवस्था में स्वायत्त समुदाय परस्पर ऊँच–नीच के क्रमविन्यास में बंधे हुए हैं। ड्यूमां जाति व्यवस्था की मूल विशेषता कर्मकांडीय श्रेणीबद्धता (hierarchy) को मानते हैं जो कि उनके अनुसार शुद्ध व अशुद्ध (purity-pollution) की धार्मिक विचारधारा (हिन्दू विचारधारा) से

उपजा है। उनके अनुसार, कर्मकांडीय क्रमविन्यास सर्वग्राही है, जिसमें सब कुछ समाया हुआ है। इसके अन्तर्गत आर्थिक व राजनैतिक सम्बन्ध शामिल हैं।

वृहत् स्तर (अखिल भारतीय स्तर) पर, जातिगत श्रेणीबद्धता वर्ण के संदर्भ में अभिव्यक्त होता है। वर्ण एक वृहत् कैटेगरी (संवर्ग) है। समाज, ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र नामक चार वर्णों में विभक्त है। अछूतों की पांचवीं संवर्ग समाज की वर्ण व्यवस्था से बाहर रखी गयी है तथा इसे जातिगत वंशानुक्रम में निम्न स्तर का माना गया है। ब्राह्मणों को कर्मकांडीय श्रेणीबद्धता में सर्वोच्च स्थान प्राप्त है। हालांकि, व्यवहार में जाति क्षेत्रीय व्यवस्था के रूप में कार्य करती है। जाति का नाम, एक क्षेत्र से दूसरे क्षेत्र में, बदल जाता है। विवाह एवं व्यावसायिक समांगता अथवा सामाजिक अंतरक्रिया के माध्यम से जातियों की अखिल भारतीय सम्पर्क व्यवस्था नहीं हैं परन्तु क्षेत्रीय या उपक्षेत्रीय स्तर पर, इनकी कुछ समान विशेषताएं हैं।

जाति की सदस्यता प्रदत्त (ascriptive) होती है। यह केवल जन्म पर आधारित होती है, अतः यह बंद होती है। किसी भी व्यक्ति को अपनी जाति में ही विवाह करने की अनुमति होती है। पारम्परिक रूप से, ब्राह्मण पुजारी थे। क्षत्रिय शासक थे। वैश्य व्यापार व कृषि करते थे तथा शूद्र इन तीनों द्विज जातियों की सेवा करते थे। यद्यपि अछूत अन्य लोगों की सेवा करते थे, उन्हें इस वर्ग क्रमविन्यास से बाहर रखा गया था। विभिन्न जातियों के लिये विभेदीकृत दण्ड व्यवस्था प्रचलित थी। अंतर्जातीय भोजन सम्बन्धी व्यवहार निषिद्ध था। विभिन्न जातियों के मध्य सामाजिक व्यवहार पर निषेध था। तथापि, पूरी व्यवस्था को एक अन्तरनिर्भर, अतिप्रयोगी, परस्पर विरोधहीन जातियों के क्रमविन्यास की व्यवस्था माना जाता था। इस व्यवस्था के सुचारू रूप से चलने के लिये, शासक, ग्राम पंचायत तथा जाति पंचायत उत्तरदायी थे।

इसके अतिरिक्त बेते ने जाति की खंडात्मक प्रकृति पर जोर दिया है। कोई भी जाति समूहों की एक विस्तृत श्रृंखला में विभाजित एवं उपविभाजित है। बेते तमिलनाडु का उदाहरण देते हैं। तमिल समाज, सर्वप्रथम, ब्राह्मण, अब्राह्मण तथा अस्पृश्य या आदि–द्रविड़ के संवर्गों में विभक्त है। इसके बाद, ब्राह्मण समर्थ, श्री वैष्णव, पंचकर्णम्, आदि में उपविभाजित है। समर्थ में भी व्रदम, वृहचरणम्, अष्टाशाथम् आदि के उपविभाजन हैं। वदम भी बड़ादेश वदम व छोटादेश वदम में उपविभक्त है। इस प्रकार, कोई भी व्यक्ति, समूहों की एक श्रृंखला से जुड़ा होता है, परन्तु प्रत्येक समूह के लिये वही एक शब्द "जाति" प्रयुक्त होता है।

वर्ग पर आधारित समाज का विभाजन सामाजिक स्तरीकरण का एक अन्य महत्वपूर्ण सिद्धान्त माना जाता है। वर्ग की अवधारणा पर विद्वान एकमत नहीं है। मार्क्स के अनुसार वर्ग ऐतिहासिक प्रघटना है। ये समाज में, श्रम विभाजन तथा निजी सम्पत्ति की संस्था के विकास के साथ–साथ विकसित हुई है। समाज में उत्पादन के साधनों के स्वामित्व के आधार पर दो मूलभूत वर्ग होते हैं, मालिक व गैर मालिक। इन साधनों के मालिक गैर–मालिकों के श्रम का शोषण, उत्पीड़न करते हैं तथा उसे हड़प लेते हैं। इन वर्गों के मध्य हितों का टकराव, वर्ग संघर्ष का कारण बनता है, जो कि इतिहास की प्रमुख वाहक शक्ति होती है। लेनिन ने वर्ग की मार्क्सवादी अवधारणा को विशिष्ट शब्दों में परिभाषित किया है। उसके अनुसार वर्ग "व्यक्तियों के वृहत् समूह हैं जो कि ऐतिहासिक रूप से निर्धारित सामाजिक उत्पादन में उनके स्थान के आधार पर, उत्पादन के साधनों के साथ उनके सम्बन्धों (जो कि प्रायः नियत व कानून द्वारा निरूपित होते हैं) श्रम के सामाजिक संगठन में उनकी भूमिका के तथा इसके फलस्वरूप, उन आयामों के

आधार पर परस्पर भिन्न होते हैं, जिनके द्वारा सामाजिक सम्पदा का बंटवारा होता है तथा उनको प्राप्त करने के तरीके निर्धारित होते हैं।"

सामाजिक स्तरीकरण पर अपने निरूपण में वेबर ने समाज में शक्ति वितरण पर जोर दिया। उनके अनुसार शक्ति के तीन आधार होते हैं। आर्थिक, सामाजिक व राजनैतिक। उसके अनुसार ये तीनों आधार एक दूसरे से स्वतंत्र होते हैं, चाहे वे वास्तविक सामाजिक जीवन में परस्पर सम्बन्धित हों। इसके अतिरिक्त डेहेरेनडार्फ के अनुसार, सत्ता का असमान वितरण सर्वाधिक महत्वपूर्ण होता है।

पारसंस, डेविड तथा मूर सामाजिक स्तरीकरण को सामाजिक इकाईयों के मध्य सामाजिक प्रस्थितियों अथवा रैंक (क्रम) भिन्नताओं की क्रम विन्यासी व्यवस्था के रूप में देखते हैं। उनकी यह मान्यता है कि समाज के सुचारू रूप से प्रकार्यरत रहने के लिये अनिवार्य है कि समाज में अधिकारों व सुविधाओं के संदर्भ में विभेदीकृत सामाजिक स्थितियों तथा विभेदीकृत पुरस्कार हों। उनका यह भी विचार है कि इस प्रकार की व्यवस्था समाज की प्रमुख मूल्य व्यवस्था द्वारा समर्थित व पोषित होती है। वर्ग स्तरीकरण पर एक अन्य योगदान वारनर ने दिया है। उसके अनुसार वर्ग से तात्पर्य व्यक्तियों का दो अथवा दो से अधिक क्रम अथवा व्यवस्था (order) से है, जिनको सामाजिक रूप से उच्च अथवा निम्न माना जाता है और तदनुसार, समुदाय के सदस्य उन्हें ऊँचा या नीचा स्थान देते हैं।

वस्तुतः वारनर द्वारा दिये गये विचार से वर्ग वह प्रस्थिति समूह है, जो कि समाज के सदस्यों के व्यक्तिपरक विश्वासों और अभिमत पर आधारित है।

वर्ग एवं स्तरीकरण की उपरोक्त सभी अवधारणाओं से पताचलता है कि इस सम्बन्ध में दो उपागम (Approach) उभरे हैं, गुणधर्म वाले (Attributional) तथा अंतरक्रियात्मक (Interactional)। सामाजिक स्तरीकरण का अंतरक्रियात्मक उपागम विभिन्न वर्गों के मध्य सम्बन्धों पर बल देता है। उदाहरण के लिये, उत्पादन के साधनों के साथ (मालिक व गैर मालिक) सम्बन्ध, श्रम के सामाजिक संगठन में भूमिका (उत्पादक श्रम, अनुत्पादक श्रम, या अश्रम), सामाजिक सम्पदा में हिस्सा तथा इसे प्राप्त करने के तरीके। हालांकि, गुणधर्म वाले उपागम में प्रस्थितियों का उच्च, मध्यम या निम्न संवर्गों में क्रम विन्यासित कर दिया जाता है। यह किसी भी व्यक्ति अथवा परिवार की प्रस्थिति के आय, व्यवसाय, शिक्षा जैसी (विशेषताओं) गुणों के समूह के आधार पर किया जाता है। समाज में सामाजिक स्तरीकरण के संदर्भ में व्यक्तिपरक–स्व–मूल्यांकन अथवा अन्य व्यक्तियों के अभिमत को प्राप्त किया जाता है।

इसके अतिरिक्त, यह भी देखा गया है कि भारतीय संदर्भ में जाति व वर्ग को पृथक करना दुष्कर है। जाति में वर्ग के तत्व होते हैं तथा वर्ग में जाति के सांस्कृतिक लक्षण विद्यमान रहते हैं। अतः विश्लेषण के स्तर पर भी स्तरीकरण की ये दो व्यवस्थाएं आसानी से अलग–अलग नहीं की जा सकतीं। भारत में वर्ग, अभी ही अस्तित्व में नहीं आये हैं। ये लगभग ईसा से 600 वर्ष पूर्व से अस्तित्व में रहे हैं। भारत में वर्ग एवं जाति परस्पर व्याप्त हैं। ये दोनों सावयवी रूप से एक दूसरे से सम्बन्धित है, अतः इनमें किसी भी प्रकार का विभेद पद्धतिशास्त्रीय हैं। प्रोफेसर के.एल. शर्मा के अनुसार : भारत में वर्ग आर्थिक सम्बन्धों की एक व्यवस्था मात्र नहीं है, तथा जाति कर्मकांडीय व धार्मिक कृत्यों की व्यवस्था मात्र नहीं है . . . वर्ग जाति व्यवस्था में पाये जाते हैं, अतः वर्ग व्यवस्था की अपनी एक संस्कृति है, तथा जाति व्यवस्था का अपना एक अर्थशास्त्र है।

32.4 परिवर्तन की प्रक्रियाएं

भारतीय समाज के बारे में जैसी मान्यता है वैसी बिल्कुल बंद एवं स्थिर प्रकृति का भारतीय समाज कभी नहीं रहा है। यह एक आदिम, सरल समतावादी संरचना से एक जटिल, वर्ग–जाति में विभक्त असमतावादी व्यवस्था में परिवर्तित हुआ है।

अब इसका उद्देश्य विकसित समतावादी धर्मनिरपेक्ष, प्रजातांत्रिक तथा समाजवादी समाज स्थापित करने का है। भारत में सामाजिक परिवर्तन का एक समेकित उपागम का निरूपण करते हुए योगेन्द्र सिंह के विचार में सांस्कृतिक संरचना तथा सामाजिक संरचना के दोनों ही स्तरों पर परिवर्तन वाह्यजनित (Heterogenetic) तथा अन्तजनित (Orthogenetic) कारकों के कारण हुए हैं। वस्तुतः, भारतीय समाज में सामाजिक गतिशीलता तथा क्रमिक संरचनात्मक रूपान्तरण की प्रक्रियाएं भिन्न–भिन्न गति से कार्यशील रही है।

सांस्कृतिक क्षेत्र में परिवर्तन की प्रक्रियाओं को संस्कृतिकरण, पश्चिमीकरण, आधुनिकीकरण, धर्म–परिवर्तन तथा सांस्कृतिक पुनर्जागरण (Cultural Renaissance) की अवधारणाओं के रूप में निरूपित की गई है। सामाजिक गतिशीलता की पारम्परिक प्रक्रिया का विवरण देने के लिये एम.एन. श्रीनिवास ने संस्कृतिकरण नाम अवधारणा का प्रयोग किया है। उनके अनुसार "संस्कृतिकरण" एक ऐसी प्रक्रिया है, जिसमें निम्न हिन्दू जाति, जनजाति अथवा अन्य समूह अपनी कर्मकाण्ड, विचारधारा तथ जीवनशैली को प्रायः किसी उच्च जाति के द्विज जाति के अनुरूप परिवर्तित करते हैं। सामान्यतया इन परिवर्तनों के बाद इस जाति अथवा समुदाय द्वारा जातिगत श्रेणीबद्धता में उच्च स्थिति का दावा किया जाता है और यह उच्च स्थिति के स्थानीय समुदाय में पारस्परिक रूप से प्राप्त इस जाति की स्थिति से ऊँची होती है।" इसके अतिरिक्त, एम.एन. श्रीनिवास ने पश्चिमीकरण की परिभाषा देते हुए बताया कि "पश्चिमीकरण की भारतीय समाज एवं संस्कृति में 150 वर्षों के अंग्रेजी शासन के परिणामस्वरूप आये परिवर्तन हैं और इस अवधारणा (पश्चिमीकरण) में प्रौद्योगिकी, संस्थायें, विचारधारा तथा मूल्यों आदि विभिन्न स्तरों पर आये परिवर्तन शामिल हैं।"

इसके अलावा हम जानते हैं कि भारत में हिन्दू, इस्लाम तथा अन्य धार्मिक परम्परायें साथ–साथ अस्तित्व में रही हैं। भारत में हिन्दू व मुस्लिम परम्परायें दोनों में सामंजस्य व सौहार्दपूर्ण ढंग से श्रेणीबद्धता, समग्रवाद (holism), निरन्तरता तथा पारलौकिकता के सिद्धांतों के आधार पर कार्यशील रही है। अतः आधुनिकीकरण का तात्पर्य एक मानसिक मानदण्डात्मक (Psychicnomative) चुनौती है, जिसका अर्थ श्रेणीबद्धता से समानता, समग्रवाद से व्यक्तिवाद, निरन्तरता से परिवर्तन, पारलौकिकता से ईहलौकिक तार्किकता तथा धर्मनिरपेक्ष में परिवर्तन से हैं भारतीय समाज में व्यक्तियों द्वारा एक धर्म से दूसरे धर्म में धर्म–परिवर्तन किये गये हैं। विशेषतः जाति व्यवस्था की कठोरता तथा अन्य बातों से बचने के लिये हिन्दू धर्म से इस्लाम व ईसाई धर्म में धर्म–परिवर्तन हुए हैं। इसके अतिरिक्त हमारे लम्बे इतिहास में सामाजिक, धार्मिक सुधार आंदोलनों की भी अनेक लहरें आई।

भारतीय समाज की सामाजिक संरचना में परिवर्तन आये हैं। यद्यपि उनकी दर धीमी रही है। लघु स्तर पर ये भूमिका–विभेदीकरण (Role-differentiation), नये विधानीकरण तथा प्रवास की प्रक्रियायें कार्यशील हैं और समाज में वृहत् स्तर पर राजनैतिक उन्नयन, अभिजन का संचरण, प्रशासन तंत्रीकरण

(bureaucratisation), नगरीकरण, तथा औद्योगीकरण इन सभी ने भारत में सामाजिक स्तरीकरण की व्यवस्था को प्रभावित किया हैं भारतीय इतिहास में प्राचीन सामाजिक स्तर के क्षरण व विलुप्तिकरण के साथ–साथ नये सामाजिक स्तर के उद्‌भव और वृद्धि को देखा गया है।

32.5 ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

सैद्धान्तिक स्तर पर जाति व वर्ग को सामाजिक स्तरीकरण की दो विशिष्ट नियमों के रूप में विवेचित किया गया है परन्तु हम जानते हैं कि इनको भारतीय समाज में वर्तमान स्थिति में परस्पर भिन्न तथा परस्पर विरोधी नहीं माना जा सकता। न तो वर्ग सिर्फ आर्थिक होता है न ही जाति की प्रकृति मात्र कर्मकाण्डीय है।

पारम्परिक अवस्था का उल्लेख

अंग्रेजी शासन से पूर्व के समाज में सामाजिक, आर्थिक एवं राजनैतिक क्षेत्रों में जाति एवं वर्ग में बहुत उच्च स्तर का साम्य था। उच्च जातियों एवं वर्गों की सामाजिक, आर्थिक प्रभुता को हमारी प्रभुत्वशील धार्मिक व्यवस्था और सबल बनती थी। श्रम का सामाजिक विभाजन जाति एवं वर्ग पर आधारित था। ब्राह्मण पुजारी का कार्य करते थे और उन्हें सर्वोच्च कर्मकाण्डीय प्रस्थिति प्राप्त थी तथा इसके साथ–साथ करों से मुक्ति जैसी अनेक विशिष्ट सुविधायें प्राप्त थीं। कर्मकाण्डीय श्रेणीबद्धता में क्षत्रियों का स्थान दूसरा था। सामान्यतया वैश्य व्यापार एवं वाणिज्य करते थे। उन्हें समाज की वर्ण व्यवस्था में तीसरा स्थान प्राप्त था। शूद्र, किसान, कारीगर, दस्तकार एवं श्रमिक थे, जो उच्च जातियों की सेवा करते थे। इसके अतिरिक्त अस्पृश्यों को सामाजिक श्रेणीबद्धता में निम्नतम स्थान प्राप्त था।

मुस्लिम और ईसाई जैसे गैर हिन्दू समुदाय भी स्तरीकृत थे। यद्यपि उनमें जाति व्यवस्था शास्त्रों के अनुरूप मान्यता प्राप्त नहीं थी, परन्तु समाज में जाति व्यवस्था के प्रचलन से वे अप्रभावित नहीं रह पाये। इसके अतिरिक्त हिन्दुओं की भांति वे सुविधा प्राप्त तथा वंचित वर्गों में विभक्त थे। सम्राट एवं राजा, पुजारी, जमींदार एवं जागीरदार जैसे सामन्तवादी भूपति तथा खट, मुकद्‌दम चौधरी, देशमुख तथा पाटिल जैसे स्थानीय मुखिया सुविधा–प्राप्त शासक वर्ग में आते थे। वंचित एवं शासित सामान्यजन के अन्तर्गत किसान, कारीगर, दस्तकार, खेतिहर, मजदूर तथा अन्य सेवक जातियां शामिल थी। कोसाम्बी के अनुसार प्राचीन भारत में जाति व्यवस्था वर्ग संरचना का प्रतिनिधित्व करता था। ईरफान हबीब ने भी यह पाया कि मध्य युगीन, मुगल शासन में कृषि उत्पादन के लिये स्थाई श्रम शक्ति सृजित करने के लिये अपरिवर्तनीय रूप से जाति व्यवस्था ने कार्य किया। तथापि भारत में सामाजिक स्तरीकरण की पारम्परिक व्यवस्था पूर्ण रूप से बन्द एवं कठोर नहीं थी, स्तरों के मध्य स्तर के भीतर प्रस्थिति की गतिशीलता तो थी, परन्तु बहुत सीमित स्तर पर थी। सिद्धांततः जाति व्यवस्था प्रस्थिति की गतिशीलता को अनुमति नहीं देती थी, परन्तु व्यवहार में गतिशीलता घटित हुई और इसके लिये अनेक तरीके उपलब्ध थे जैसे कि सम्पदा की प्राप्ति, राजनैतिक शक्ति की प्राप्ति, सुदूर स्थानों पर जाकर साधु बन जाना आदि। निम्न जाति एवं वर्ग प्रस्थिति के कुछ परिवारों अथवा समूहों द्वारा कुछ समय के अन्तराल पर अपनी आर्थिक एवं राजनैतिक प्रस्थिति में सुधार तथा संस्कृतिकरण एवं अपने विश्वदर्शन और जीवनशैली में उच्चतर सामाजिक प्रस्थिति प्राप्त करना सम्भव हुआ। निम्न जाति के अनेक व्यक्तियों द्वारा संसार को त्यागकर समाज के सभी स्तरों से श्रद्धा प्राप्त

करना सम्भव था, परन्तु सभी स्तरों पर अर्थात् वैयक्तिक, पारिवारिक एवं समूहों के स्तरों पर सामाजिक गतिशीलता की मात्रा बहुत कम थी। इसके अतिरिक्त अस्पृश्यों के लिये उच्चतर सामाजिक गतिशीलता लगभग असम्भव थी। मनु संहिता के अनुसार ईसा से 6 शताब्दी पूर्व बौद्ध धर्म, जैन धर्म, लौकायत भौतिकवाद तथा अन्य धार्मिक सम्प्रदायों की वृद्धि ने ब्राह्मणवादी श्रेष्ठता को चुनौती दी तथ उसका विरोध किया। बुद्ध ने भगवान पर बात करने से इन्कार कर दिया। बुद्ध की सामाजिक श्रेणीबद्धता की संघ व्यवस्था में ब्राह्मण के स्थान पर क्षत्रिय को सर्वोच्च स्थान दिया गया। बौद्ध एवं जैन धर्म ने बलि एवं कर्मकांडीय ब्राह्मणवाद का कड़ा विरोध किया तथा अहिंसा पर विशेष बल दिया। इसके अतिरिक्त कबीर, नानक, तुकाराम तथा चैतन्य जैसे सन्त कवियों द्वारा चलाये गये मध्ययुगीन भक्ति आंदोलन के अनुसार ईश्वर के समक्ष सभी समान हैं। सगुण और निर्गुण भक्ति मार्ग सभी जातियों, सम्प्रदायो के व्यक्तियों और स्त्री व पुरूषों के लिए खुला था।

औपनिवेशिक काल का उल्लेख

भारत में अंग्रेजी औपनिवेशिक शासन 18वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में प्रारम्भ हुआ तथा 20वीं शताब्दी के मध्य में अन्त हुआ। इस काल के दौरान, औपनिवेशिक शासकों ने भारत को पूर्ण रूप से अपने अधीनस्थ कर लिया ताकि ब्रिटेन में पूंजीवाद के विकास के माध्यम से वे अपने हितों का पोषण कर सकें। उन्होंने ऐसे अनेक कदम उठाये जिसके कारण नये स्तर गठित हुए। सामाजिक गतिशीलता के नये अवसर खुले तथा भारत में सामाजिक संघर्ष के नये स्वरूप उभर कर आये। नई भूमि राजस्व नीति की शुरूआत के कारण जमीन बाजार में बिकने लगी और नगद फसलों के उत्पादनको प्रोत्साहन मिला, जिसके कारण कृषक संरचना में परिवर्तन आये। कृषक वर्ग में जमींदार (भूमिपति), साहूकार, खातेदार तथा कारीगर और खेतिहर मजदूर थे। जमींदार भूमि के गैर कृषक मालिक थे तथा कर एकत्रित करते थे।

आधुनिक मशीनों पर आधारित उद्योगों के विकास ने नगरीय क्षेत्रों में नये वर्गों को जन्म दिया, जैसे कि, बुर्जुआ अथवा पूंजीपति वर्ग एवं सर्वहारा अथवा श्रमिक वर्ग। पूंजीपति वर्ग के पास उद्योग, व्यापार एवं वाणिज्य का स्वामित्व व नियंत्रण था। सर्वहारा वर्ग का पूंजीवादी उद्यमों पर किसी प्रकार का स्वामित्व या नियंत्रण नहीं था। इसके अतिरिक्त, शासन तंत्र, व्यवसाय एवं व्यापार जैसे नये क्षेत्रों में कार्यरत मध्यम वर्ग का विस्तार हुआ। पारम्परिक उद्योगों के ह्रास एवं विनाश के कारण शहरी दस्तकार गाँवों में प्रवास करने तथा आजीविका कमाने के लिये कृषि करने अथवा कृषक मजदूरी करने के लिये बाध्य हुए। इसके अतिरिक्त, नई नौरियों के अवसर बढ़ने तथा नई शिक्षा व्यवस्था के विकास के कारण, कुछ हद तक निम्न जातियों के व्यक्तियों के लिए भी सामाजिक गतिशीलता के नये अवसर प्राप्त हुए।

कुछ निम्न जातियों ने सामाजिक गतिशीलता प्राप्त करने के लिए संस्कृतिकरण की प्रक्रिया अपनाई। अंग्रेजों द्वारा की गई जनगणना ने भी उच्च जाति वाली प्रस्थिति का दावा करने का अवसर दिया। इस दिशा में निम्न जातियों के अनेक जाति संघों द्वारा, विशेषतः बीसवीं शती के प्रारम्भ में संगठित प्रयास किये गये। निम्न जातियों ने उच्च जातियों के विशेषतः ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्य जैसी स्थानीय प्रभुत्वशील जातियों के कर्मकाण्डों, विचारधाराओं, खान–पान तथा जीवनशैली का अनुकरण करके उच्च प्रस्थिति का दावा किया। परन्तु उच्च जातियों में गतिशीलता पश्चिमीकरण के माध्यम से अर्जित की गई, जिसके अन्तर्गत भारत में अंग्रेजी शासकों द्वारा उन्नयन किये गये सांस्कृतिक, वैज्ञानिक तथा प्रौद्योगिक

मूल्यों एवं भूमिकाओं की स्वीकृति थी। यहां, यह बात उल्लेखनीय है कि पश्चिमीकरण एक नगरीय तथा उच्च मध्यवर्गीय अथवा उच्च जातीय प्रघटना थी, जबकि संस्कृतिकरण में क्षेत्रीय स्तरीय और कभी–कभी ग्रामीण स्तरीय निम्न जातियों की गतिशीलता निहित थी। धार्मिक मिशनरियों के सक्रिय प्रयासों के कारण कुछ लोगों ने विशेषतया जनजातियों ने ईसाई धर्म अपना लिया।

इन सभी उच्चोन्मुख (Upward) व पतनोन्मुख (Downward) गतिशीलता के बावजूद जाति व वर्ग में एक सशक्त सम्बन्ध रहा। शिक्षित मध्यम वर्ग मुख्यतया ब्राह्मण, कायस्थ व क्षत्रियों जैसी जातियों में विकसित हुए जिनमें साहित्यिक परम्परायें पहले से विद्यमान थी। मेहनतकश व अर्द्ध कुशल श्रमिकों में अधिकांश शुद्र जातियों के किसान व कारीगर शामिल हुए। नगरीय क्षेत्रों में अस्पृश्य दलितों ने निम्नतम व सर्वाधिक, अकुशल नौकरियां की। खानों व बागानों के श्रमिक अधिकांशतः जनजातियों के थे। व्यापारी व साहूकार, वैश्य जाति के होते थे। इस सतर से धीरे–धीरे एक औद्योगिक व राष्ट्रीय बुर्जुआ वर्ग उभरा जो कि अंग्रेजों के सहयोग से उद्योग, व्यापार एवं वित्त का स्वामित्व एवं नियंत्रण करने लगे। ग्रामीण सामंतवादी वर्गों अर्थात् जिनमें राजपूत, ब्राह्मण, भूमिहर, बेल्लला, नायर, नम्बुदिरी, देखमुख आदि आते थे। वे सामन्त से भूमिपति बने। भूमिधारी किसान तथा खातेदार सामान्यतया शूद्र थे, और ये सब भूतपूर्व किसान जातियों तथा कारीगर जातियों के थे। अस्पृश्य श्रमिक अभी भी सामाजिक श्रेणीबद्धता में निम्नतम स्थान पर थे।

यद्यपि, अंग्रजों के शासनकाल में गतिशीलता की कुछ सम्भावना कराई गई, परन्तु व्यवस्था अत्यधिक शोषक व उत्पीड़क थी। इसके कारण सामंतवाद–विरोधी तथा उपनिवेशवाद–विरोधी प्रकृति के अनेक संघर्षों ने जन्म लिया। सामंतवाद–विरोधी किसान आंदोलनों को किसान सभाओं द्वारा आरम्भ किया गया, जिन्हें देश की वामपंथी शक्तियों का समर्थन प्राप्त था। इन किसान आन्दोलनों का कन्द्रीय मुद्दा जमींदारी की समाप्ति था। बंगाल के तेभागा किसान आंदोलन व तेलंगाना विद्रोह में ग्रामीण निर्धनों के बहुत बड़े भाग शामिल थे। जनजाति के लोगों ने भी सामंतवादी व औपनिवेशिक शोषण के विरूद्ध बहादुरी से संघर्ष किया। प्रचलित व्यवस्था में शोषण, उतपीड़न एवं अधीनीकरण के विरूद्ध संघर्ष में अस्पृश्य जातियों का नेतृत्व डा. बी.आर. अम्बेडकर ने किया।

32.6 स्वतंत्रता के पश्चात् सामाजिक परिवर्तन

अंग्रेजों के औपनिवेशिक शासन की जकड़ से स्वतंत्रता पाने के लिए समाज के अनेक वर्गों ने स्वतंत्रता संग्राम में भाग लिया। इस संग्राम के दौरान एक नये भारत की छवि का निर्माण हुआ और वो था श्रेणीबद्ध, असमतावादी, अर्द्धसामंतवादी व औपनिवेशिक भारतीय समाज को उपनिवेशवाद–विरोधी, साम्राज्यवाद–विरोधी, आधुनिक एवं समतावादी समाज में परिवर्तन करना। स्वतंत्र भारत में सामाजिक परिवर्तन हेतु प्रयास दो स्तरों पर किये गये हैं – ऊपर से राज्य प्रायोजित नीतियाँ एवं कार्यक्रम तथा नीचे से जन प्रेरित सक्रियकरण व आंदोलन। भारत का संविधान, सरकारी प्रयासों के लिए मूलभूत निर्देश दिया करता है। संविधान का संकल्प है कि भारत को एक समाजवादी, धर्मनिरपेक्ष, प्रजातांत्रिक गणतंत्र बनाया जाये तथा इसके सभी नागरिकों के लिए सामाजिक, आर्थिक एवं राजनैतिक न्याय, अभिव्यक्ति एवं विचारों की स्वतंत्रता तथा प्रस्थिति व अवसरों की समानता प्रदान की जाये।

भारत के सामाजिक–आर्थिक तथा राजनैतिक आधुनिकीकरण हेतु सरकार द्वारा अनेक प्रयास प्रारम्भ किये गये हैं। सावभौमिक वयस्क मताधिकार प्रदान किया गया है। देश के सर्वांगीण नियोजित विकास के लिए पंचवर्षीय योजनाएँ प्रारम्भ की गई हैं। तीव्र औद्योगिकरण के लिए अनेक वृहत् एवं मध्यम स्तरीय उद्योग स्थापित किये गये हैं। भूमि सुधार के कदम उठाये गये हैं। जिसमें जमींदारी व्यवस्था की समाप्ति, खातेदारी सुधार, भूमि के स्वामित्व का सीमा निर्धारण, अतिरिक्त भूमि का भूमिहीनों में वितरण, खेतिहर मजदूरों के वेतन में वृद्धि तथा बंधुआ मजदूरी की समाप्ति शामिल हैं। 1960 के दशक के मध्य में, हरित क्रान्ति प्रारम्भ की गई। सामाजिक परिवर्तन हेतु स्वयंसेवी प्रयासों को भी सरकार ने समर्थन दिया है।

इसके अतिरिक्त, समाज के पिछड़े वर्गों, विशेषतया अनुसूचित जातियों एवं अनुसूचित जनजातियों की दशा सुधारने के लिए सरकार ने अनेक विशेष कदम उठाये हैं। आरक्षण की नीति अपनाई गई, जिसके अन्तर्गत अनुसूचित जातियों व अनुसूचित जनजातियों के लिए लोकसभा व विधानसभा, सरकारी नौकरी तथा शैक्षणिक संस्थाओं में प्रवेश के लिए आरक्षण का प्रावधान है। समाज के इस भाग की आवश्यकताओं का ग्रामीण एवं जनजातीय विकास कार्यक्रमों के द्वारा विशेष ध्यान रखा गया है।

इसके अतिरिक्त, इस अत्धधिक असमतावादी सामाजिक व्यवस्था के परिवर्तन के लिए नीचे से जनता द्वारा प्रयास किये गये हैं। असंतुष्ट व क्षुब्ध किसान व श्रमिक अपने जीवन की दशाओं को बदलने के लिए सक्रियकृत हो गये हैं। भूमि सुधार प्रयासों की असफलता ने वंचित ग्रामीण जनता को 1960 के दशक में भूमि मुक्ति आंदोलन के लिए प्रेरित किया।

ग्रामीण सामाजिक स्तरीकरण एवं सामाजिक परिवर्तन

स्वतंत्रता के पश्चात् भारत में सामाजिक स्तरीकरण के विश्लेषण में ग्रामीण व नगरीय क्षेत्रों में सामाजिक गतिशीलता एवं सामाजिक परिवर्तन की संरचना व प्रक्रियाओं का अध्ययन करना पड़ेगा।

जातिगत स्तरीकरण में, स्वतंत्र्योत्तर काल में परिवर्तन हुए हैं। जाति व्यवस्था ने सामंजस्यकारक परिवर्तनों व व्यवस्थापन के माध्यम से इसके लचीलेपन का प्रमाण दिया है। जाति ने वैवाहिक, खान–पान सम्बन्धी तथा धार्मिक कर्मकांडों के क्षेत्र में, विशेषतया ग्रामीण क्षेत्रों में पारम्परिक मूलभूत प्रकार्यों को निभाया है। अंतर्जातीय सह–भोजन गाँवों में आम प्रघटना नहीं है। विवाह एवं मृत्यु जैसे विशेष अवसरों पर किसी भी परिवार द्वारा विभिन्न जातियों के लोगों को आमंत्रित किया जाता है। परन्तु, खाने के लिए उच्च, मध्यम एवं निम्न जातियों को अलग–अलग पंक्तियों में बिठाया जाता है। उच्च जाति के लोग निम्न जाति के घरों पर कच्चा भोजन नहीं करते। जातियों का पारम्परिक धार्मिक कर्मकाण्डीय श्रेणीबद्धता अभी भी प्रचलित है।

यद्यपि भारतीय संविधान ने अस्पृश्यता प्रथा को प्रतिबंधित कर दिया है, परन्तु ग्रामीण क्षेत्रों में यह प्रथा बहुत ही कम घटी है। गाँवों में, अधिकांश लोग आज भी अपने जातिगत व्यवसाय करते हैं। यह हमें बहुत कम ही देखने को मिलेगा कि उच्च जाति का हिन्दू ऐसा व्यवसाय करे जिससे उसकी प्रस्थिति नीची हो। शिक्षा में, उच्च जातियां मध्यम जातियों से बहुत आगे हैं। शिक्षा में, निम्न जातियाँ विशेषतया अनुसूचित जातियां व अनुसूचित जनजातियां अत्यधिक पिछड़ी हुई हैं।

निम्न जातियों के कुछ व्यक्ति व परिवार आर्थिक, राजनैतिक एवं शैक्षणिक क्षेत्रों में बेहतर स्थितियां अर्जित कर अपनी सामाजिक प्रस्थिति सुधारने में सफल हुए हैं। इन लोगों में उच्च जातियों की जीवनशैली अपनाने की प्रवृत्ति भी पाई जाती है। परन्तु स्वतंत्रता के पश्चात् जातियों की गतिशीलता के प्रतिमान में सामान्यतया परिवर्तन आया है, जिसमें आर्थिक व राजनैतिक संसाधनों को पाने के लिए ये संस्कृतिकरण–पश्चिमीकरण से लेकर बढ़ते राजनीतिकरण व सामाजिक सक्रियकरण तक में लिप्त हैं। जाति के नेताओं ने सामूहिक प्रस्थिति गतिशीलता अर्जित करने के लिए अपनी जाति के लोगों को जातिसंघ, जातिगत गुट तथा दबाव समूह के गठन के माध्यम से राजनैतिक व सांस्कृतिक रूप से सक्रियकृत किया है। पिछड़े वर्गों का आंदोलन इस प्रघटना का स्पष्ट उदाहरण है। अंतर्जातीय प्रतिस्पर्द्धा के अतिरिक्त, क्षेत्रीय स्तर पर राजनैतिक शक्ति प्राप्त करने के लिए जातियों के मध्य सहयोग व समझौते हो रहे हैं। इस सबका ग्रामीण स्तर की राजनीति पर गहरा प्रभाव पड़ा है। इन जैसे नये क्षेत्रों में जाति के प्रभावशील होने के बावजूद, आज भी यह पारम्परिक अर्थ में, गांवों में एक सक्रिय शक्ति है तथा परिवर्तन बहुत कम हुए हैं व अधिकांश सीमांत परिवर्तन ही रहे हैं।

इसके अतिरिक्त, भारतीय समाज जातिगत स्तरीकरण के साथ–साथवर्ग के आधार पर भी स्तरीकृत रहा है। ग्रामीण बंगाल में प्रमुखता जमींदार, जोतदार (रयोत तथा बड़े खातेदार), बरगदार (बटाईदार) एवं खेत मजदूर तथा व्यापारी एवं कारीगर हैं। तमिलनाडु में ग्रामीण जनसंख्या को मीरासदार या कामचीकार (भूमिपति), पायकारी (खातेदार), कामगार एवं कारीगर था आदिमाई एवं पड़ियाल (जोकि बंधुआ मजदूर एवं खेतिहर दास थे) में समूहबद्ध किया जा सकता है। बिहार में, हमें अशरफ (भूतिपति), वकार (ग्रामीण दुकानदार) पवानिया (कारीगर), जोतिया (लघु किसान) तथा निम्न जाति भूमिहीन श्रमिकों का वर्ग देखने को मिलता है। फिर भी सामान्यतया तीन वृहत् कृषक वर्गों को देखा जा सकता है – (1) भूतिपति एवं धनी किसान, (2) मध्यम स्तरीय किसान, तथा (3) निर्धन किसान एवं भूमिहीन कृषक मजदूर।

स्वतंत्र्योत्तर काल में, कृषि के क्षेत्र में, भूमि सुधारों एवं ''हरित क्रांति'' के फलस्वरूप सर्वहाराईकरण (Proletarianisation), बुर्जुआईकरण (Bourgeoisification) एवं किसान विभेदीकरण (Peasant differentiation) की प्रक्रियाएं देखने को मिली हैं। भूमिपति एवं धनी किसानों ने अपने पूर्व खातेदारों को भूमि से बेदखल कर दिया तथा जमीन पर स्वयं खेती कराने लगे हैं, जिसके कारण ये भूतपूर्व खातेदार भूमिहीन खेतिहर मजदूर बनरक रह गये हैं। कुछ भूमिपति परिवारों की प्रस्थिति भी घटी है। इसके अतिरिक्त, कुछ मध्यम जातियों के बड़े खातेदार अपनी कृषि भूमि को बढ़ाकर अपनी परिस्थिति सुधारने में सफल हुए हैं। इन लोगों ने कृषि की नई प्रौद्यौगिकी अपनाई है तथा समृद्धि हासिल की है। एक प्रकर से इन लोगों का बूर्जुआईकरण हुआ है। हरित क्रान्ति के फलस्वरूप कृषक समुदाय में विभेदीकरण हुआ है।

दक्षिण भारत में तंजौर जिले के श्रीपुरम् गांव के अपने अध्ययन में आंद्रे बेते ने बताया है कि गांव की पारिवारिक व्यवस्था में वर्ग व्यवस्था तथा शक्ति का वितरण दोनों बहुत अधिक सीमा तक जाति के अन्तर्गत ही था। 1940 तक गांव में वर्ग व जाति में प्रस्थिति साम्य बहुत ऊँची दर का था। पारम्परिक श्रीपुरम् गांव में 24 प्रतिशत ब्राह्मण, 49 प्रतिशत कारीगर तथा सेवक जातियों व 27 प्रतिशत अस्पृश्य आदि–द्रविड़ों पर सामाजिक, आर्थिक एवं राजनैतिक प्रभुता रखते थे। इन ब्राह्मणों के पास अधिकांश गांव की जमीन थी, ये गांव के मामले में भारी प्रभाव

रखते थे। इन्हें अनेक कर्मकांडीय एवं नागरिक सुविधाएं प्राप्त थी तथा उच्चस्तरीय सरकारी सत्ता के साथ प्रशासन पर एकाधिकार रखते थे। परन्तु देश में स्वतंत्रता के पश्चात् राजनैतिक एवं आर्थिक क्षेत्रों में अनेक परिवर्तनों के कारण इनकी राजनैकि एवं आर्थिक प्रस्थिति कमजोर हो गई है। बेते के अनुसार, कुछ भूमि ब्राह्मण मिरासदारों के हाथ से निकलकर गैर–ब्राह्मण जातियों के पास चली गई है। फिर भी, आज भी गांव में अधिकांश भूमि ब्राह्मणों के हाथ में है। इसके अतिरिक्त अब गांव में सामूहिक गतिविधियों को संगठित करने में गैर–ब्राह्मणों की महत्वपूर्ण भूमिका है। इन लोगों ने ग्राम पंचायत का नियंत्रण ब्राह्मणों से छीनकर अपने हाथ में ले लिया। राजनैतिक दल की सदस्यता, सरकारी अधिकारियों से सम्पर्क व उनसे मिले संरक्षण में रानजैतिक जीवन में जाति के अलावा महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है।

4 राज्यों में संकलित तथ्यों पर आधारित अपने अध्ययन के आधार पर अनिल भट्ट ने पाया कि सामाजिक स्तरीकरण के सामाजिक, आर्थिक एवं राजनैतिक आयाम अब प्रदत्त जाति आयाम से अधिकाधिक विभेदीकृत हो रहे हैं। उनके अनुसार अब सामाजिक, आर्थिक तथा राजनैतिक प्रस्थिति जाति प्रस्थिति से महत्वपूर्ण तरीके से जुड़ी हुई नहीं हैं, उनके निष्कर्षों के अनुसार यद्यपि ब्राह्मणों को कर्मकांडीय श्रेणीबद्धता में उच्चतम स्थिति प्राप्त है। सामाजिक, आर्थिक श्रेणीबद्धता में उन्हें दूसरी स्थिति प्राप्त है, तथा गांव के मामले में प्रभाव के क्षेत्र में उनकी स्थिति चौथी है, फिर भी जाति के श्रेणीबद्धता में चौथे स्थानपर स्थिति मध्यम जातियों, तीसरे स्थिति की सामाजिक, आर्थिक प्रस्थिति वाली है और गांव के मामले में प्रभाव के क्षेत्र में उन्हें सर्वोच्च स्थिति प्राप्त है। हरिजनों को आज भी सभी क्षेत्र में निम्नतम स्थिति प्राप्त है।

इसके अतिरिक्त अपने बिसीपारा अध्ययन में बेली ने यह पाया कि उड़ीसा में बोड जाति जो कि निम्न जाति है, उसमें उच्चोन्मुख गतिशीलता हुई है। नशाबन्दी नीति के परिणामस्वरूप बोड जाति के लोगों ने धन कमाया। उच्च जाति के लोगों से भूमि खरीदी और इस प्रकार गांव में योद्धा जाति केस्तर के समकक्ष आ गये। इस प्रक्रिया ने प्रस्थिति की पारम्परिक समीकरण को तोड़ दिया। इसके अतिरिक्त अनेक अध्ययनों में आर्थिक एवं राजनैतिक क्षेत्रों में जाति के भीतर विभेदीकरण की प्रक्रिया को देखा गया है। एक विशिष्ट जाति के कुछ व्यक्ति एवं परिवार आर्थिक एवं राजनैतिक क्रमविन्यास में ऊपर चढ़े हैं तो कुछ नीचे उतरे हैं और इस प्रकार जाति के भीतर विभेदीकरण हो गया है।

नगरीय सामाजिक स्तरीकरण एवं सामाजिक परिवर्तन

भारत में नगरीय क्षेत्रों में रहने वाली जनसंख्या का अनुपात धीरे–धीरे वढ़ रहा है। अब वे कुल जनसंख्या का एक चौथाई भाग है। गांवों तथा नगरीय औद्योगिक केन्द्रों के मध्य, ग्रामीण नगरीय प्रवास की प्रक्रिया के माध्यम से एक गहरा अन्तः सम्बन्ध है। नगरीय समाज भी जाति एवं वर्ग के आधार पर स्तरीकृत है, परन्तु ग्रामीण क्षेत्रों की तुलना में विशेषतः सार्वजनिक जीवन में नगरीय क्षेत्रों में जाति की पकड़ कमजोर है।

आधुनिक अर्थव्यवस्था के विकास ने निम्न जाति के लोगों में विशेषः नगरीय क्षेत्रों के अनुसूचित जाति को उच्चोन्मुख सामाजिक गतिशीलता के अवसर प्रदान किये हैं। ये लोग अब उद्योग धन्धों, व्यवसायों तथा सेवाओं में प्रविष्ट हो गये हैं और इस प्रकार काफी हद तक इन्होंने अपनी आर्थिक, राजनैतिक तथा सामाजिक प्रस्थिति सुधार ली है। इन लोगों ने आधुनिक शिक्षा भी ग्रहण की है, जो

सामाजिक गतिशीलता प्राप्त करने में इनकी सहायता करती है। ओ.एम. लिन्च ने आगरा की जाटव जाति का अध्ययन किया जो कि पारम्परिक रूपसे अशुद्ध चमड़े के कार्य में व्यवसायरत थे। जैसे–जैसे आधुनिक चमड़ा उद्योग विकसित हुआ, कुछ जाटवउद्यमी बन बये और उन्होंने अपनी जाति के लोगों को नौकरियां प्रदान की। उनकी आर्थिक प्रस्थिति काफी महत्वपूर्ण ढंग से सुधरी। इसके अतिरिक्त इन लोगों ने सामाजिक गतिशीलता अर्जित करने के लिए सर्वप्रथम संस्कृतिकरण (Sanskritisation) और बाद में राजनैतिकरण (Politicisation) अपनाया। पंजाब में पारम्परिक रूप से बढ़ई का काम करने वाले रामगढ़ियों के अध्ययन में सबरवाल ने पाया कि उनमें से कुछ उद्यमी कार्य करने लग गये हैं और धीरे–धीरे उच्च जातियों के सामाजिक व्यवस्था में प्रवेश कर गये हैं।

तथापि निम्न जातियों के भूमि समुदायों, जिनमें अनुसूचित जातियां भी शामिल है, की उच्चोन्मुख गतिशीलता काफी सीमित रही है। ये लोग प्रायः निम्न प्रस्थिति और निम्न आय वाले व्यवसाय में कार्यरत हैं जैसे कि फैक्ट्रियों में अकुशल एवं अर्द्धकुशल, श्रमिकों के रूप भवन निर्माण एवं कार्य में, जूते पालिसकरने, गन्दगी हटाने तथा असंगठित क्षेत्र में भी कार्य करने, नौकरियों में निम्न स्थानों में कार्यरत हैं। भारतीय गांव की तरह नगरीय क्षेत्रों में भी जाति के भीतर असमानता की प्रघटना देखी जाती है। एक ही जाति और समुदाय के लोग आर्थिक और राजनैतिक क्षेत्रों में असमान है। समान जाति की प्रस्थिति होते हुए भी लोग धनी एवं निर्धन, शिक्षित एवं अशिक्षित अधिकारी एवं हाथ के मजदूर, साहब तथा आम आदमी की श्रेणियों में विभक्त हैं।

नगरीय क्षेत्रों में व्यक्तियों, परिवारों एवं लघु सामाजिक समूहों की सामाजिक गतिशीलता हुई है। बढ़ते व्यावसायिक व्यापारीकरण की प्रक्रिया ने इस प्रक्रिया को बढ़ावा दिया है। जाति, समुदाय, गांव पड़ोसी, धर्म तथा क्षेत्र के बंधनों ने भी इसमें महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है। तथापित सामान्यतया सामाजिक गतिशीलता कीदर बहुत नीची रही है। पारम्परिक रूप से सुविधा प्राप्त जातियां एवं वर्गों ने नई नगरीय वर्ग संरचना में बेहतर स्थितियां हासिल कर ली है और पारम्परिक रूप से सुविधाओं से वंचित जातियां एवं वर्गों की प्रस्थिति अभी भी निम्न बनी हुई है। नगरीय भारत में यह एक प्रमुख प्रवृत्ति है।

अन्ततः, यह बात ध्यान रखने योग्य है कि ग्रामीण क्षेत्रों की तुलना में नगरीय क्षेत्र में व्यवसाय, आय तथा शिक्षा द्वारा व्यापारिक, सामाजिक गतिशीलता, की सम्भावनाओं को बहुत बढ़ा देती है। अतः नगरीय क्षेत्रों में जातिगत श्रेणीबद्धता तथा अन्य सामाजिक– आर्थिक श्रेणीबद्धता में असमानता देखने को मिलती है।

32.7 सारांश

सामाजिक स्तरीकरण समाज के विभिन्न सामाजिक, आर्थिक एवं राजनैतिक क्षेत्रों में विभिन्न सामाजिक स्तरों के मध्य संरचनात्मक असमानताओं की व्यवस्था है। इस प्रकार के सामाजिक स्तर एक सामाजिक श्रेणीबद्धता के रूप में व्यवस्थित होता हैं तथा समाज में प्रभुताशील मूल्य व्यवस्था द्वारा समर्थित होते हैं।

भारत में सामाजिक स्तरीकरण के अध्ययन में सामान्यतया दो नियमों का प्रयोग किया गया है। पहला– जाति प्रारूप तथा दूसरा वर्ग प्रारूप। जिस पर हमने प्रारम्भ में आपका ध्यान केन्द्रित किया। आदर्श रूप में ये दोनों परस्पर विरोधी प्रारूप माने जाते हैं। जैसा कि हमने देखा जाति स्तरीकरण को पारस्परिक भारतीय

समाज का एक विशिष्ट लक्षण माना जाता है, जिसमें कि समाज का खण्डात्मक विभाजन होता है और श्रेणीबद्धता, अन्तर्विवाह, सहभोज के साथ–साथ सामाजिक व्यवहार पर निषेध, वंशानुगत व्यवसाय, तथा जाति सम्बद्ध सुविधायें और नियोग्यतायें होती हैं। इसके अतिरिक्त हमने यह भी अध्ययन कियाहै कि किस प्रकार वर्ग को मार्क्स, लेनिन, वेबर, डेहरन डोर्फ, पारसन्स तथा वारनर जैसे विभिन्न विद्वानें ने अलग–अलग तरीक से परिभाषित किया है। तथापित इन परिभाषाओं में वर्ग के प्रति दो उपागम में सामाजिक स्तरीकरण को विभिन्न सामाजिक स्तृतों के उत्पादन के साधन और श्रम के सामाजिक संगठन में भूमिका के साथ सम्बन्धों के संदर्भ में देखे गये हैं, जबकि गुणधर्म वाले उपागम में सामाजिक स्तरीकरण की अवधारणा कुछ विशेषताओं के समूह के आधार पर बनाई गई है, जिसमें सम्पदा, आय तथा शिक्षा आदि आते हैं। भारत के मामले में जाति एवं वर्ग सदियों से अन्तःसम्बन्धित पाये गये हैं।

भारतीय समाज उतना स्थित नहीं है, जितना कि माना जाता है। सामाजिक गतिशलता और क्रमिक सामाजिक परिवर्तन की प्रक्रिया आन्तरिक एवं बाह्य कारकों के कारण कार्यशील रही है और इनके बारे में हमने क्या चर्चा की है? सांस्कृतिक क्षेत्र में गतिशीलता और परिवर्तन की प्रक्रिया संस्कृतिकरण, पश्चिमीकरण, आधुनिकरण, धर्म परिवर्तन एवं सांस्कृतिक पुनर्जागरण के रूप में देखा गया है। सामाजिक संरचना के क्षेत्र में, ये भूमि विभेदीकरण, नव वैधानिकरण, प्रवास, राजनैतिक उन्नयन, अभिजन वर्ग का संचरण, प्रशासनतंत्रीकरण तथा औद्योगिकीकरण के रूप में देखा गया है। इन प्रक्रियाओं के परिणामस्वरूप भारत में सामाजिक स्तरीकरण की व्यवस्था में परिवर्तन दिखाई दिये हैं।

तदुपरान्त हमने देखा कि ग्रामीण क्षेत्रों में अनेक स्तरों पर जाति व्यवस्था कमजोर पड़ रही है। परन्तु अन्तर्विवाह जैसे अभ्यन्तर क्षेत्र में यह अभी सशक्त है। आर्थिक और राजनैतिक क्षेत्रों में उच्च जातियों की सर्वोच्च स्थिति को मध्यम जातियां चुनौतियां दे रही हैं। प्रभुताशील ग्रामीण वर्गों मं भूमिपति, धनी किसान, धनी व्यवसायी एवं व्यापारी आते हैं। य लोग निर्धन किसानों और भूमिहीन खेतिहर मजदूरों का शोषण एवं उत्पीड़न करते हैं। जिन्होंने कि कुछ समय से अनेक क्षेत्रों में विरोध और संघर्ष करना प्रारम्भ कर दिया है। नगरीय क्षेत्रों में, बुर्जुआ तथा मध्यम वर्ग के ऊपरी हिस्से इसके प्रभुत्वशील भाग हैं। सर्वहारा वर्ग तथा निम्न मध्यम वर्ग आर्थिक एवं राजनैतिक रूप से वंचित होता है। श्रमिों के आंदोलन की प्रकृति इतनी क्रान्तिकारी नहीं रहीं है, क्योंकि यह राजनैतिक उद्देश्यों की बजाय आर्थिक उद्देश्यों से अधिक सम्बन्धित रहा है।

सामाजिक परिवर्तन की प्रक्रिया में सर्वहाराकरण, बुर्जुआईकरण, कृषक विभेदीकरण, राजनीतिकरण आदि शामिल है। बढ़ती व्यावसायिक व्यापकीकरण और राजनीतिकरण ने सामाजिक गतिशीलात के अवसर प्रदानकिये हैं। अंततः इस इकाई में हम देखते हैं कि किस प्रकार सामाजिक परितर्वन एवं गतिशीलता की प्रक्रिया ने प्रस्थिति की पारम्परिक समीकरण में किस प्रकार परिवर्तन किया है। हाल ही में सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक प्रस्थिति में विभेदीकरण बढ़ता हुआ नजर आया है। जाति के भीतर भी विभेदीकरण की प्रक्रिया को प्रोत्साहन मिला है। इसके बाद भी जाति एवं वर्ग के अन्तः सम्बन्ध आज भी बहुत सशक्त हैं।

32.8 वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1. वर्ग की मार्क्सवादी अवधारणा आधारित है–

   (क) सत्ता के वितरण (ख) राजनैतिक सत्ता

   (ग) उत्पादन के साधनों से संबंधों पर (घ) उपरोक्त सभी

2. जाति की सदस्यता होती है–

   (क) अर्जित (ख) प्रदत्त

   (ग) दोनों (घ) उपरोक्त में कोई नहीं

3. दक्षिण भारत में तंजौर के श्रीपुरम गांव का अध्ययन किया है–

   (क) आंद्रे बेते (ख) योगेन्द्र सिंह

   (ग) ए.आर. देसाई (घ) उपरोक्त में कोई नहीं

4. प्रो0 योगेन्द्र सिंह के अनुसार सांस्कृतिक तथा सामाजिक संरचना में परिवर्तन के करक हैं–

   (क) केवल वाह्यजनित (ख) केवल अंतर्जनित

   (ग) वाह्य एवं अंतर्जनित (घ) तकनीकी

32.9 वस्तुनिष्ठ प्रश्नों के उत्तर

1. ग
2. ख
3. क
4. ग